प्रथम संस्करण ११००

वीर स० २४८८

नोट—राजकोट (सौराष्ट्र) में परम उपकारी सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी की ७३ वीं जन्म जयंती मनाई गई थी उसके उपलक्ष में ज्ञान दान में जो रकम मिली उसमें से इस पुस्तक की कीमत घटाने के लिये १०००) रु० दिया गया है तथा १००) रु० श्री इन्द्रचन्दजी लोल्हा C/o. घासीलाल वंशीधर (रामगढ़-राज०) द्वारा मिला है।

मुद्रकः—

नेमीचन्द बाकलीवाल

कमल प्रिन्टर्स,

मदनगंज-किशनगढ़ (राज०)

❀ ॐ ❀

※ नमः श्रीसद्गुरुदेवाय ※

प्रस्तावना
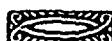
मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोस्तु मंगलम् ॥

आजसे २४७३ वर्ष पहले इस भरतक्षेत्रकी पुण्यभूमिमे जगत्पूज्य परम भट्टारक भगवान श्री महावीरस्वामी मोक्षमार्गका प्रकाश करनेके लिए समस्त पदार्थोका स्वरूप अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा प्रगट कर रहे थे। उनके निर्वाणके पश्चात् कालदोषसे क्रम क्रमसे अपार ज्ञानसिंधुके वहुतसे भागका तो विच्छेद होगया। तथा थोडेसे वचे हुये वीजभूत ज्ञानका प्रवाह आचार्योकी परम्परासे उत्तरोत्तर प्रवाहित होता रहा, जिसमेसे जिनशासनके स्तम्भ समान कितने ही आचार्य भगवन्तोने शास्त्रोको गूंथा। उन आचार्योंमे एक भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे, जिन्होने सर्वज्ञ भगवान महावीरसे चला आता हुआ ज्ञान गुरुपरम्परासे प्राप्त करके, उसमेसे पचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड आदि शास्त्र गूंथे और ससारनाशक श्रुतज्ञानको चिरजीव किया।

सर्वोत्कृष्ट आगम श्रीसमयसारके कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम सवत्की शुरुआतमे हुये हैं। दिगम्बर जैन परम्परामे भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवका स्थान सर्वोत्कृष्ट है। सर्वज्ञ भगवान श्रीमहावीरस्वामी और गणधर भगवान श्रीगौतमस्वामीके बाद तुरन्त ही भगवान कुन्दकुन्दाचार्यका स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु, अपनेको कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्पराका कहलानेमे गौरव मानते हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवके शास्त्र साक्षात् गणधरदेवके वचनों जितने ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके रचे हुए अनेको शास्त्र है, जिनमेसे कुछ एक हालमे विद्यमान हैं। त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेवके मुखसे वही हुई श्रुतामृतकी सरितामेसे भर लिए गए वे अमृत भाजन अव भी अनेक आत्मार्थियोंको आत्मजीवन अर्पित करते हैं। उनके सर्व शास्त्रोमे श्रीसमयसार महा अलौकिक शास्त्र है। आचार्य भगवानने इस जगतके जीवोपर परम करुणा करके यह शास्त्र रचा है। इसमे मोक्षमार्गका यथार्थ स्वरूप जैसेका तैसा कहनेमें आया है। अनन्तकालसे परिभ्रमण करते जीवोंको कुछ समझनेको बाकी रह गया है वह इस परमागममें समझाया है। परम कृपालु आचार्यभगवान समयसारशास्त्र शुरू करते हुए स्वयं ही कहते हैं:—'कामभोगबंधनकी कथा बहुतोने सुनी है, परिचय किया है, अनुभवी है, परन्तु परसे जुदे एकत्वकी प्राप्ति ही केवल दुर्लभ है। वह एकत्वकी–परसे भिन्न आत्माकी–वात मैं इस शास्त्रमे समस्त निज वैभवसे (आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभवसे) कहूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञापूर्वक आचार्यदेवने श्रीसमयसारमे आत्माका एकत्व–परद्रव्यसे और परभावोसे भिन्नपना–समझाया है। यथार्थ आत्मस्वरूपकी पहिचान कराना वह श्रीसमयसारका मुख्य उद्देश्य है। उस उद्देश्यतक पहुँचनेके निमित्त आचार्यभगवानने उसमे अनेक विपयोका निरूपण किया है। उसमे यह कर्ताकर्म अधिकार अलौकिक है क्योकि–"इस जगतमे मोही (अज्ञानी) जीवोका 'परद्रव्यको मैं करता हूँ' ऐसे परद्रव्यके कर्तृत्वका महा अहङ्काररूप अज्ञानाधकार–कि जो अत्यन्त दुर्निवार है वह—अनादि संसारसे चला आता है" उसे जडमेसे उच्छेद करनेके लिए अमोघ शस्त्र इस अधिकारका यथार्थ समझ है।

वर्तमानमे जानकार जगतके वहु भागमे ऐसी भ्रामक मान्यताएँ प्रचलित हैं कि–कर्ता बिना यह जगत वन नही सकता, एक आत्मा दूसरेका जीवन-मरण, सुख-दुःख, उपकार-अपकार कर सकता है, आत्माकी प्रेरणासे शरीर हलन-चलन, वोल सकना, कर्म आत्माको हैरान करते हैं, किसीके आशीर्वादसे दूसरेका कल्याण होता है वह शापसे अकल्याण

होता है, देव-गुरुकी कृपासे मोक्षकी प्राप्ति होती है, अपन बराबर सम्भाल रक्खें तो शरीर स्वस्थ रह सकता है और न रक्खें तो शरीर बिगड जाता है, कुम्हार घडा बना सकता है, सुनार गहने घड सकता है आदि। एवं 'अन्य जीवका हिताहित मैं ही करता हूँ ऐसा जो मानता है वह अपनेको अन्य जीवरूप मानता है उसीप्रकार पौद्गलिक पदार्थोंकी क्रियाको मैं ही करता हूँ ऐसा जो मानता है व स्वयको पुद्गल-द्रव्यरूप मानता है'। इसलिए इसप्रकारकी भ्रामक मान्यताओको तोडकर यह कर्ताकर्म अधिकार कहता है कि-"कर्ता एक द्रव्य होता है और उसका कर्म दूसरे द्रव्यकी पर्याय होती है" ऐसा कभी भी बन नही सकता, क्योकि-"जो परिणमे वह कर्ता, परिणाम वह कर्म और परिणति वह क्रिया—ये तीनो ही एक ही द्रव्यकी अभिन्न अवस्थाएँ हैं।" फिर "एक द्रव्यका कर्ता अन्य द्रव्य हो तो दोनो द्रव्य एक हो जाँय क्योकि—कर्ताकर्मपना अथवा परिणाम-परिणामीपना एक द्रव्यमे ही हो सकता है। जो एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप हो जाय तो उस द्रव्यका ही नाश हो जाय ऐसा बडा दोष आवे, इसलिये एक द्रव्यको अन्य द्रव्यका कर्ता कहना उचित नही।" फिर "वस्तुकी शक्तियें परकी अपेक्षा रखती नही।" वस्तुकी उस उस समयकी जो जो अवस्था (अद=निश्चय+स्था=स्थिति अर्थात् निश्चयसे अपनी अपनेमे स्थिति) वही उसकी व्यवस्था है। इसलिये उसकी व्यवस्था करनेके लिए किसी भी परपदार्थकी जरूरत नही पड़ती। ऐसी जिनकी मान्यता हो जाती है वे हरएक वस्तुको स्वतत्र तथा परिपूर्ण स्वीकारते हैं। परद्रव्यके परिणमनमे मेरा हाथ नही है न मेरे परिणमनमें किसी अन्य द्रव्यका हाथ है। ऐसा माननेमे परके कर्तापनेका अभिमान सहज ही टल जाता है इससे अज्ञानभावसे जो अनन्तवीर्य परमे रुकता था वह स्वमे लगा वही अनन्त पुरुषार्थ है एव उसीमे अनन्ती शाति है—यह दृष्टि वही द्रव्यदृष्टि हुई एव वही सम्यग्दृष्टि बनी।

हरएक द्रव्य अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे अस्तिरूप है व परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावसे नास्तिरूप है। एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे

अभाव है इसलिये जो अभावरूप है वह क्या लाभ हानि कर सकता है ? यह जो यथार्थपनेसे समझमे आ जाय तो परको इष्ट–अनिष्ट मानकर जो रागद्वेष होता है उसका अभाव हो जाय।

"दोनो द्रव्योकी क्रिया भिन्न ही है। जडकी क्रिया चेतन करता नही, चेतनकी क्रिया जड़ नही करता। जो पुरुष एक द्रव्यको दो क्रियाये करता मानता है वह मिथ्यादृष्टि है, कारण कि–दो द्रव्यकी क्रिया एक द्रव्य करता है ऐसा मानना वह जिनदेवका मत नही है।" क्योकि—"इस जगतमे वस्तु है वह अपना स्वभावमात्र ही है।" हरएक वस्तु द्रव्यसे–गुणसे–पर्यायसे परिपूर्ण स्वतंत्र है। ऐसी जाहिरात यह कर्ताकर्म अधिकार करता है। अतः आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिये वह स्वभावदशामे ज्ञानका ही कर्ता है व विभावदशामे अज्ञान, रागद्वेषका कर्ता है परन्तु परका कर्ता तो कभी भी होता नही। परभाव (विकार) भी कोई अन्य द्रव्य नही कराता क्योकि—एक द्रव्यकी दूसरे द्रव्यमे नास्ति है फिर भी पर्यायमे विकार तो होता है वह पुरुषार्थकी विपरीतता अथवा कमजोरीसे होता है परन्तु स्वभावमे वह नही है ऐसा ज्ञान होने पर विकारका नाश होता है।

यह तो कर्ताकर्म अधिकारका मात्र सक्षिप्त सार हुआ। वर्तमानमे अन्य किसी भी शास्त्रमे ऐसा स्पष्ट कर्ताकर्म अधिकार कही भी देखनेमे नही आता। इसकी एक एक गाथा महा मूल मंत्र हैं, ससार विषको शीघ्रतासे उतारनेवाली हैं। बाँसुरीके नादसे जिसप्रकार सर्प डोल उठता है उसीप्रकार इस गाथाके सुनने और यथार्थरूपसे समझनेपर अज्ञानदशामे सुप्त आत्मा जागृत हो 'मैं परिपूर्ण हूँ' ऐसा भान होते ही डोल उठती है। इसके मूल कर्ता भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव तथा टीकाकार भगवान् श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवका जगतके जीवोपर परम उपकार वर्त रहा है। इसलिये उन्हे अत्यन्त भक्ति भावसे वन्दना करता हूँ।

जिसप्रकार श्री समयसार शास्त्रके मूल कर्ता और टीकाकार

अत्यन्त आत्मस्थित आचार्यभगवन्त थे उसीप्रकार उनके प्रवचनकार भी स्वरूपानुभवी, वीतरागके परम भक्त, अनेक शास्त्रोंके पारगामी और आश्चर्यकारी प्रभावनाउदयके धारक युगप्रधान महापुरुष हैं। उनके इस समयसार–प्रवचन पढते ही पढनेवालेको उनके आत्म-अनुभव, गाढ अध्यात्मप्रेम, स्वरूपकी तरफ ढली हुई परिणति, वीतराग भक्तिके रङ्गमे रंगा हुआ चित्त, अगाध श्रुतज्ञान और परम कल्याणकारी वचनयोगका ख्याल आये विना नही रहता। अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभावना उदय गुरुदेवके वर्तता होनेसे, उन गुरुश्रीने गत १५ वर्षोमे समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड, कषायपाहुड, षट्खडागम, पद्मनन्दिपचविशति, तत्त्वार्थसार, इष्टोपदेश, पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय–कार्तिकेयानुप्रेक्षा, पचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अनुभवप्रकाश, आत्मसिद्धिशास्त्र, आत्मानुशासन आदि शास्त्रोपर आगम-रहस्यप्रकाशक स्वानुभवमुद्रित अपूर्व प्रवचन करके सौराष्ट्रमे (गुजरात और उत्तर भारतमे) आत्मविद्याका अतिप्रबल आन्दोलन फैलाया है। मात्र सौराष्ट्रमे ही नही, परन्तु अभी तो उनका पवित्र उपदेश पुस्तको द्वारा और 'आत्मधर्म' नामक मासिक पत्र द्वारा प्रकाशित होते रहनेसे सारे भारतवर्षमे अध्यात्मविद्याका आन्दोलन वेगपूर्वक फैलता जा रहा है। इसप्रकार, स्वभावसे सुगम होने पर भी गुरुगमकी लुप्तप्रायताके कारण एव अनादि अज्ञानके कारण अतिशय दुर्गम हो जानेवाले जिनागमके गम्भीर आशयोको यथार्थरूपसे और अतिशय स्पष्टरूपसे प्रगट करके, गुरुदेवने वीतराग विज्ञानकी बुझती हुई ज्योतिको सतेज की है। परम पवित्र जिनागमोमे तो वहुत ही भरा हुआ है—परम निधान भरे पडे हैं, परन्तु इन निधानोको देख सकनेवाली दृष्टि, परमकृपालु गुरुदेवके समागम विना और उनके परम करुणापूर्वक किये हुये प्रवचन—अजन विना हम अल्पबुद्धियोको कैसे प्राप्त होता? पचम-कालमे चतुर्थकालकी सुवास फैलानेवाले, परम शासनप्रभावक गुरुदेव श्री कानजी स्वामीने आगम रहस्य खोलकर मेरे समान हजारो जीवो पर जो अपार करुणाकी वर्षा की है उसका वर्णन करनेमे वाणी

अपनेको असमर्थ पाती है।

जिसप्रकार परमोपकारी गुरुदेवका प्रत्यक्ष समागम अनेक जीवो पर उपकार कर रहा है। उसीप्रकार उनके ये पवित्र प्रवचन भी इस कालके एवं भावी कालके हजारो जीवोको यथार्थ मोक्षमार्ग दर्शाकर अत्यन्त उपकारी होगा। इस दुपम कालमे जीव प्रायः बन्धमार्गको ही मोक्षमार्ग मानकर प्रवर्त रहा हैं। जिस स्वावलम्बी पुरुषार्थ विना निश्चयनयके आश्रय विना—मोक्षमार्गकी शुरुआत भी होती नही—उस पुरुषार्थकी गंध तक प्राप्त नही होती, और परावलम्वी भावोको ही—व्यवहाराभासके आश्रयको ही मोक्षमार्ग मान उसीका सेवन कर रहे हैं। स्वावलम्वी पुरुषार्थके उपदेश करनेवाले ज्ञानी पुरुषोंकी दुर्लभता वर्तती है और उसके निरूपण करनेवाले श्री समयसार—परमागमका अभ्यास अतिन्यून होगया है। कदाचित् कोई जीव उसका अभ्यास करता हैं तो भी उसे गुरुगमके विना मात्र उसके अक्षरोका ज्ञान होने जितना ही होता है। श्रीसमयसारके पुरुषार्थमूलक गहन सत्य मिथ्यात्व-मूढ़ हीनवीर्य जीवोको अनादि—अपरिचित होनेसे, ज्ञानीपुरुषके प्रत्यक्ष समागम विना अथवा उनके किये हुये विस्तृत विवेचन विना जीवोको उन सत्योका परमार्थ समझना अत्यन्त अत्यन्त कठिन पडता है। श्रीसमयसारकी प्राथमिक भूमिकाकी वातोको भी हीनसत्त्व जीव वहुत ऊँची भूमिकाकी कल्पना कर बैठते हैं, चतुर्थ गुणस्थानके भावोको तेरहवें गुणस्थानका मान लेते हैं और निरालम्बन (स्वावलम्वी) पुरुषार्थ तो कोई अनावश्यक कथनमात्र ही वस्तु हो ऐसे उनकी उपेक्षा करके सालम्बन (परावलम्वी) भावोके प्रति आग्रह छोडते नही। ऐसी करुणाजनक स्थितिमे—जब कि—सम्यक् उपदेष्टाओंकी अतिशय न्यूनताके कारण मोक्षमार्ग आवरणस्थितिमे पड़ा है तव—शासनोद्धारक युगप्रधान सत्पुरुष श्री कानजीस्वामीने श्री समयसारके विस्तृत विवेचन-रूप इन प्रवचनोद्वारा जिनागमोंके मर्मको खोलकर, मोक्षमार्गको अनावृत करके, वीतरागदर्शनका पुनरुद्धार किया है, मोक्षके महामंत्र समान समयसारकी प्रत्येक गाथाको सर्व तरफसे छानकर इन संक्षिप्त

सूत्रोंके विराट अर्थोंको गुरुदेवने इन प्रवचनोमे प्रगट किया है। सर्वको अनुभवमे आये हों ऐसे परिचित प्रसगोके अनेक उदाहरणो द्वारा, अतिशय मार्मिक तथा सुगम ऐसे अनेक न्यायो द्वारा और अनेक यथोचित दृष्टान्तो द्वारा कुन्दकुन्दभगवानके परमभक्त श्री कानजी-स्वामीने समयसारके अर्थगम्भीर सूक्ष्म सिद्धान्तोको अतिशय स्पष्ट और सरल बनाये हैं। श्री समयसारके मोक्षदायक भावोको, गले उतर जाय ऐसी असरकारक भाषामे एवं अतिशय मधुर, नित्य–नवीन, विविधतापूर्ण शैलीसे अत्यन्त स्पष्टरूपसे समझाकर गुरुदेवने जगतपर असीम उपकार किया है। समयसारमे भरे हुए अनमोल तत्त्व–रत्नोंके मूल्य ज्ञानियोके हृदयमे गुप्त थे उन्हे गुरुदेवने जगतविदित किया है।

किसी परम मगल योगमे दिव्यध्वनिके नवनीतस्वरूप श्री समयसार–परमागमकी रचना हुई, और उसके एक हजार वर्ष बाद जगतके महाभाग्योदयसे श्रीसमयसारके गहन तत्त्वोको विकसित करनेवाली श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा भगवती आत्मख्यातिकी रचना हुई, तत्पश्चात् हजारवर्ष बाद फिर महापुण्यका ज्वार आने पर, मन्द बुद्धियोको भी समयसारके मोक्षदायक तत्त्व सुग्राह्य करानेवाले परम कल्याणकारी समयसार–प्रवचन हुये। जीवोकी बुद्धि मदताको प्राप्त होती जाने पर भी पंचमकालके अन्ततक स्वानुभूतिका मार्ग अविच्छिन्न रहना है इसीलिये स्वानुभूतिके उत्कृष्ट निमित्तभूत श्री समयसारजीके गम्भीर आशय विशेष विशेष स्पष्ट होनेके परम पवित्र योग बनते रहे हैं। अन्तर्बाह्य परम पवित्र योगोमे प्रगट हुये, जगतके तीन महा दीपक-श्रीसमयसार, श्री आत्मख्याति और श्री समयसार प्रवचन–सदा जयवत–रहो और स्वानुभूतिके पंथको प्रकाशित करते रहो!

ये परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूतिके पथको अत्यन्त स्पष्टपने प्रकाशित करते हैं इतना ही नही, किन्तु साथ ही साथ मुमुक्षु जीवोंके हृदयमे स्वानुभवकी रुचि और पुरुषार्थ जागृत करके कुछ एक अशोमे सत्पुरुषके प्रत्यक्ष उपदेश जितना चमत्कारिक कार्य करते हैं। प्रवचनोकी वाणी इतनी सहज, भावार्द्र, चैतन्यवान और जोरदार है कि—

चैतन्यमूर्ति गुरुदेवके चैतन्यभाव ही मानो मूर्तिमान होकर वाणी-प्रवाहरूपमें वह रहे हो ! ऐसी अत्यन्त भाववाहिनी-अन्तर्वेदनको अति उग्रपने व्यक्त करती, शुद्धात्माके प्रति अनहद प्रेमसे विकसित होती हुई, हृदयस्पर्शी जोरदार वाणी सुपात्र जिज्ञासुके हृदयको झकझोर डालती है और उसकी विपरीत रुचिको क्षीण कर शुद्धात्मरुचिको जागृत करती है। प्रवचनके पन्ने पन्ने पर शुद्धात्ममहिमाका अत्यन्त भक्तिमय वातावरण गूंज रहा है एवं इसके प्रत्येक शब्दमेसे मधुर अनुभवरस नितर रहा है। इस शुद्धात्म भक्तिरससे और अनुभवरससे मुमुक्षुका हृदय भीग उठता है, उसे शुद्धात्माकी लौ लग जाती है, शुद्धात्मा सिवाय सर्व भाव उसे तुच्छ भासित होते हैं और पुरुषार्थ मानों हृदयमे उछालें ले रहा है। ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकारूढ वाणीमे क्वचित् ही देखनेमे आती है।

इस भागके प्रवचनोको दो महा पवित्र आत्माओने—परम पूज्य भगवती वहिन श्री चम्पाबेनने तथा परम पूज्य वहिन श्री शांताबेनने मनन कर अनुभवमे लिए हैं। परम पूज्य बहिनोने प्रवचनके प्रति भक्तिसे प्रेरित हो, इन गम्भीर प्रवचनोकी सावधानी पूर्वक नोध लेकर उनमेसे अतिशय परिश्रम पूर्वक पक्की कापी लिखकर तैय्यार करके मुमुक्षुओं पर महा उपकार किया है। इन प्रवचनोकी नोधमे कोई न्याय-विरुद्ध भाव न आ जांय उसका पूर्ण ध्यान रखा गया है।

इसप्रकार दिव्य तत्त्वज्ञानके गहन रहस्योको अमृत-झरती वाणीमें समझाकर और साथ ही साथ शुद्धात्मरुचिको जागृत करके पुरुषार्थको उग्र करके, प्रत्यक्ष सत्समागमकी झाकी करानेवाले ये प्रवचन जैन साहित्यमे अजोड हैं। प्रत्यक्ष सत्पुरुषके वियोगमे वर्तते हुए मुमुक्षुओको अथवा उनका निरन्तर सग दुष्प्राप्य हो ऐसे मुमुक्षुओको ये प्रवचन अनन्य-आधारभूत है। निरालम्बन पुरुषार्थ समझाना व उसकी ओर प्रेरित करना यही इस शास्त्रका प्रधान उद्देश्य होनेके कारण उनका सर्वांग स्पष्टीकरण करनेमे इन प्रवचनोमे समस्त शास्त्रोका समस्त प्रयोजनभूत तत्त्वोका स्पष्टीकरण आ गया है, श्रुतामृतका परम

आह्लादजनक महासागर जैसे इन प्रवचनोमे हिलारें ले रहा है। यह प्रवचन ग्रन्थ हजारो प्रश्नोके प्रगट करनेका महा कोप है। शुद्धात्माकी रुचि उत्पन्न कर, परके प्रति रुचि नष्ट करनेकी परम औषधि है। स्वानुभूतिका सुगम पथ है। भिन्न भिन्न कोटिके सर्व आत्मार्थियोको अत्यन्त उपकारक है। परमपूज्य गुरुदेवने इन अमृतसागर समान प्रवचनोकी भेट कर भारतवर्षके मुमुक्षुओको निहाल कर दिया है।

स्वरूपसुधाको प्राप्त करनेके इच्छुक जीवोको इन परम पवित्र प्रवचनोका बारम्बार मनन करना योग्य है। ससारविषवृक्षको छेदनेका यह अमोघ शस्त्र है। डाल पत्तियो पर न जाकर वह मूल पर ही प्रहार करता है। इस अल्पायुषी मनुष्य भवमे जीवका प्रथममे प्रथम कर्तव्य क्या है तो वह शुद्धात्माका बहुमान, प्रतीति एवं अनुभव है। वह बहुमानादि करानेमे ये प्रवचन परम निमित्तभूत हैं। मुमुक्षुगण अतिशय उल्लासपूर्वक उसका अभ्यास कर, उग्र पुरुषार्थसे उनमे कहे हुये भावोको सम्पूर्णरीत्या हृदयमे उतारकर, शुद्धात्माकी रुचि, प्रतीति तथा अनुभव करके, शाश्वत परमानन्दको प्राप्त होओ।

वैशाख वदी ८
वि० सं० २००३

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख
श्री दि० जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट

श्री समयसारके कर्ताकर्माधिकारकी

* विषयानुक्रमणिका *

★

—❀ श्री समयसार प्रवचन, चतुर्थ भाग ❀—

गाथा-कलश अनुक्रमणिका

-◎-

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव के सम्बंध में

उल्लेख

*

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुंदः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक-
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि पर्वत का शिलालेख]

अर्थः—कुन्द पुष्प की प्रभा धारण करने वाली जिनकी कीर्ति द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं, जो चारणो के—चारण-ऋद्धिधारी महामुनियोके—सुन्दर हस्तकमलो के भ्रमर थे और जिन पवित्रात्मा ने भरतक्षेत्र मे श्रुतकी प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नहीं हैं ?

*

......कोण्डकुंदो यतीन्द्रः ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-
र्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय
चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

[विंध्यगिरि-शिलालेख]

अर्थः—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्दस्वामी) रजःस्थानको-भूमितल को—छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश मे गमन करते थे उसके द्वारा मैं ऐसा समझता हूँ कि–वे अन्तर मे तथा बाह्य में रजसे (अपनी) अत्यंत अस्पृष्टता व्यक्त करते थे (—अन्तर में वे रागादिक मल से अस्पृष्ट थे और बाह्य में धूल से अस्पृष्ट थे) ।

❀

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥

—[दर्शनसार]

अर्थः—(महाविदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर देव) श्री सीमंधर स्वामी से प्राप्त हुए दिव्य ज्ञान द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ ने (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने) बोध न दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

❀

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधान में इस पामर को परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिये मैं आपको अत्यन्त भक्ति पूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

प्रवचन भक्ति

सर्वाङ्गी 'सन्मति' श्रुत धारा, गुरु गौतम ने मुख धारी;
थी करुणा हों भाव मरण बिन, तृषित तप्त भवि संसारी।
हृदय शुद्ध मुनि कुन्दकुन्दने वह संजीवन दया विचार;
घट 'प्रवचन', पंचास्ति, समय में ली लख शोषित अमृत धार ॥
कुन्द रचित पद सार्थक कर मुनि अमृत ने अमृत सींचा;
ग्रन्थराज त्रय तुमने अद्भुत मृदुरस ब्रह्म-भाव खींचा ॥

वीर वाक्य यह अहो नितारें साम्य सुधारस
भर हृदयान्जुलि पिवें मुमुक्षु वमे विषय विष
गहरी-मूर्छा प्रवल-मोह दुस्तर-मल उतरे
तज विभाव हो स्वमुख परणती ले निज लहरे

यह हैं निश्चय ग्रन्थ भंग संयोगी भेदे
अरु हैं प्रज्ञा-शस्त्र उदय-मति संधी छेदे
साधक साथी जगत सूर्य संदेश-वीर का
क्लान्त जगत विश्राम स्थान सतपथ सुधीरका

सुनें, समझलें, रुचे, जगत रुचि से अलसावे।
पड़े बन्धरस शिथिल हृदय ज्ञानी का पावे
कुन्दन—पत्र बना लिखे, अक्षर रत्न तथापि
कुन्द सूत्र के मूल्य का अंकन हो न कदापि

—"युगल" (कोटा)

शुद्धि-पत्र

पेज	लाइन	अशुद्धि	शुद्धि
३७	२४	ज्ञान है,	ज्ञान नहीं है,
४५	३	भेद को	भेद के
८४	३	जानने क्रिया	जानने की क्रिया
१५७	४	न किसी	न किसीने
१७४	१६	आत्मा	आत्मा का
१७५	४	उगना	उगते
१८८		तत्त्वना	तत्त्व का
१६०	अन्तिम	हा	×
२११	१३	भावोंका	भावोंको
२१५	२६	जा	जो
२२२	१८	न जाने से	न करनेसे
२२३	११	और	ओर
३०१	२	कर्त्ता	वास्तवमें कर्त्ता
३६०	१५	प्रकट	प्रगट
३६१	२४	"	"
३६५	४	"	"
३७३	४	और मोक्ष हो।	। ×
३७६	२७	आशक्ति से	अशक्ति से
३८०	१४	भावोंसे लाभ-हानि	भावोंका फल
३८५	७	लाते	करते हैं।
४८१	१६	क्षयोपशम	अपूर्ण, क्षायोपशमिक
४८८	२०	आकुलिक	आकुलित
५१४	१	प्रतिभा समय	प्रतिभासमय
५२०	२५	कदाच	कदाचित्
५२५	६	वृत्तिओं	वृत्तियों
५३८	१५-१६	नहीं ही हो	हो ही नहीं

ॐ नमः सिद्धेभ्यः

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी के

श्री समयसार शास्त्र पर प्रवचन

चौथा भाग

कर्ता-कर्म अधिकार

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ।।
अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

अब यह कर्ताकर्म अधिकार प्रारम्भ होता है, यह अधिकार ७६ गाथाओमे है । समस्त भरतक्षेत्रमे इसकाल—वर्तमानमे इस समयसारके अतिरिक्त ऐसा कर्ताकर्मका अधिकार अन्यत्र कही भी नही है । इससमय सनातन जैनदर्शनके हजारो शास्त्र है, किन्तु इतने विस्तार सहित यह कर्ताकर्मका अधिकार समयसारके अतिरिक्त अन्य कही पर नही है ।

यह समयसार इससमय इस भरतक्षेत्रका भगवान है। ऐसी गाथाएँ और ऐसी टीका अन्यत्र कही नही है। दैवी गाथा, दैवी टीका, और दैवी शब्द हैं। जो जागृत होकर समझे उसकी समझमे आ सकता है। यह समयसार तीर्थङ्करोकी साक्षात् वाणी है और दिव्यध्वनिमेसे प्रगट हुई है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने भगवानके निकटसे सुनकर इसकी रचना की है।

पहले अधिकारमें कुन्दकुन्दाचार्यदेवने जीवद्रव्यकी और अजीवद्रव्यकी वात की, जीव और अजीव—दोनो द्रव्योंको त्रिकालवर्ति स्वतंत्र-भिन्न पदार्थ वतलाया, एवं अन्य भी वहुत-सी वाते उस सम्वन्धमे कही हैं।

अव, इस अधिकारमे यह वतलाते हैं कि—जीव और अजीव दोनों पदार्थोकी पर्यायमे कहाँ भूल होती है। पर्यायमे भूल है इसलिये ससार है और संसार है तो उसके अभावरूप मोक्ष भी है।

कर्ताका अर्थ है स्वतंत्र करनेवाला, परिणमनेवाला, कार्यरूप होनेवाला, और कर्मका अर्थ है कर्तासे होनेवाला कार्य जो कर्ताने किया वह। द्रव्य कर्ता है और पर्याय कर्म है। जो स्वतंत्ररूपसे और तन्मय व्यापक होकर करे वह कर्ता, कर्ताका इष्ट सो कर्म, इष्ट अर्थात् प्रिय। अज्ञानीको कौनसा कर्तव्य प्रिय है, और ज्ञानीको कौनसा ? ज्ञानीका इष्ट है ज्ञान और अज्ञानीका इष्ट है रागद्वेष अज्ञान।

प्रत्येक वस्तु पराश्रयके विना, अन्यकी सहायताके विना, स्वतः अपनी पर्यायको करती है, परमाणुकी अवस्थाका कर्ता परमाणु है और आत्माकी अवस्थाका कर्ता आत्मा है। कोई कहे कि दहीका कर्ता कौन ? जामन डालनेवाला या दूध ?

उत्तरः—दहीका कर्ता दूध है, जामन डालनेवाला उसका कर्ता नही है। दूध स्वत. होनेवाला है—कर्ता है और दहीकी अवस्था हो वह कर्म है। दूध स्वतः दहीकी अवस्थारूप होता है। दूधमे जव दही वननेकी योग्यता हो, तव उसे जामन का निमित्त मिलता है, यदि

जामन डालनेवाला दहीका कर्ता हो तो वस्तु पराधीन हो जाये। जलमे जामन डालनेसे दही बनना चाहिये। परन्तु ऐसा नही है।

प्रथम पण्डित जयचन्द्रजी कर्ताकर्मके विषयमे माङ्गलिक पद कहते है —

"कर्ताकर्मविभावको, मेट ज्ञानमय होय,
कर्म नाशि शिवमें बसे, नमूँ तेह मद खोय।"

आत्माने अज्ञान भावसे विकारभाव किये, अर्थात् स्वतः विकारभावरूप हुआ, उस विभावके कर्तृत्वको जो ज्ञानभावसे छोड़ता है वह राग-द्वेषका कर्ता मिटकर ज्ञाता होता है। वह ज्ञायक आत्मा ज्ञाताभावसे रहकर कर्मका नाश करके शिवपुरमे वास करता है अर्थात् कल्याणपदको प्राप्त करता है, वैसे परमपवित्र आत्माको मैं मद खोकर अर्थात् निरभिमान होकर, अपवित्रताका नाश करके, पवित्र भावसे नमस्कार करता हूँ।

प्रथम नाटकके मञ्च पर जीव और अजीव एक ही वेषमे प्रवेश करते हैं, अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानते हैं कि जैसे जीव और अजीवमे कर्ताकर्मरूपसे सम्बन्ध हो। जैसे दो पुरुष ज्यो का त्यो कोई एक स्वाग धारण करके नाटकके मञ्च पर प्रवेश करें उसीप्रकार जीव और अजीव–दोनो भिन्न-भिन्न वस्तु हैं तथापि दोनो एक ही कर्ताकर्मका वेष धारण कर प्रवेश करते हैं अर्थात् जीव कर्ता और जड उसका कर्म हो–वैसा अज्ञानीको भासित होता है, मैं अबन्ध हूँ—ऐसी वृत्ति उठे तो अज्ञानी उसका कर्ता होता है, शुभाशुभ दोनो भावोका कर्ता अज्ञानी होता है, किन्तु ज्ञानी उनका कर्ता नही होता।

अब प्रथम, ज्ञान उस स्वागको यथार्थ जान लेता है, उस ज्ञानकी महिमाका श्लोक कहते है —

(मन्दाक्रान्ता)

एकः कर्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी।
इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्तृकर्मप्रवृत्तिम ॥

ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंतधीरं ।
साक्षात्कुर्वन्निरुपधिपृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ।। ४६ ।।

अर्थः—'इस लोकमें मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूँ, और क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं'—ऐसी जो अज्ञानियोंके कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है उसका सब ओरसे दमन करती हुई ज्ञानज्योति प्रस्फुटित होती है। कैसी है वह ज्ञानज्योति ? जो परम उदात्त है अर्थात् किसीके आधीन नही है, जो अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी भी प्रकारसे आकुलतारूप नही है और पराश्रयके विना भिन्न-भिन्न द्रव्योको प्रकाशित करनेका स्वभाव होनेसे जो समस्त लोकालोकको साक्षात् करती है—प्रत्यक्ष जानती है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं क्रोधादिका कर्ता हूँ और क्रोधादि मेरे कर्म हैं। यहाँपर प्रथम क्रोधको क्यो लिया है ? उसका कारण यह है कि—आत्मा निरा ज्ञायक है—उस स्वभावका न रुचना, न जमना—उसका नाम क्रोध है। स्वभाव न जमे सो अनन्तानुवन्धी क्रोध है, जो परसे भिन्न अकेला अखण्ड चैतन्यस्वभाव है सो मैं नही हूँ, इसप्रकार स्वभावकी अरुचि क्रोध है, ज्ञायक वस्तु अपने अनन्तगुणोका पिड अखण्ड है, विषमताके समस्त भङ्ग-भेद अजीवके सम्वन्धसे दिखाई देते हैं,—उस अखण्ड स्वभावकी पुष्टि, दृष्टिमे न होना, ज्ञातापनकी अरुचि सो **क्रोध** है, परपदार्थके प्रति अहंबुद्धि सो अनन्तानुवन्धी **मान** है, वस्तुके स्वभावको यथावत् न मानकर अन्य प्रकारसे स्वीकार करना सो अनन्तानुवन्धी **माया** है, स्वभावकी भावनासे च्युत होकर सयोग—विकारकी, पुण्यकी इच्छा करना सो अनन्तानुवन्धी **लोभ** है।

इस जगतके सम्वन्धमे मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा कर्ता हूँ और क्रोधादि भाव मेरे कर्म हैं—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। जडके विकारी भावोका कर्ता मैं हूँ, अन्तरङ्गमे जो पुण्य-पापकी वृत्तियाँ होती हैं वह मेरा कर्तव्य है, मेरे करनेसे वह होता है—ऐसी जो कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति

अज्ञानीके होती थी उसे सब ओरसे शान्त करती हुई ज्ञानज्योति प्रगट हुई है।

मैं निर्दोष, पवित्र आत्मा हूँ—ऐसा जिसे भान नहीं है और क्रोध, मान, माया, लोभ मेरा कर्तव्य है, मेरी कर्मण्यता है, मेरी क्रिया है, मैं इसका कर्ता हूँ—ऐसी कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिको सब ओरसे शमन करती ज्ञानज्योति प्रगट हुई।

अकेला ज्ञातापन नहीं चाहिये, क्रोधादि करनेसे लाभ है मैं अवगुणका कर्ता हूँ और अवगुण मेरा कार्य है—ऐसा अज्ञानी मानता है। और नित्य ज्ञातापना ही मेरा स्वभाव है शरीर, मन, वाणी तो मेरे नहीं हैं किन्तु अवगुणका कार्य भी मेरा नहीं है—इसप्रकार ज्ञानी अपनेको अवगुणसे भिन्न करना चाहता है। मैं अवगुणका अकारक हूँ नाशक हूँ किन्तु कर्ता नहीं—ऐसी ज्ञानज्योति सम्यग्ज्ञान होनेसे, सर्व प्रकारसे कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिको शमन करती हुई प्रगट होती है।

जिस भावसे सर्वार्थसिद्धिका पद मिले, तीर्थङ्कर पद प्राप्त हो—वह भाव भी मेरा कार्य नहीं है—मेरी कर्मण्यता नहीं है। अमुक शुभविकल्प अच्छा और अशुभ विकल्प बुरा–ऐसा कुछ भी स्वभाव दृष्टिमे नहीं है। चक्रवर्ती पद, वासुदेवपद, इन्द्रादिपद वह सब धूलके समान हैं, परमाणुकी अवस्था है—इसप्रकार सर्व ओरसे कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका शमन करती हुई ज्ञानज्योति प्रगट होती है।

ज्ञानज्योति परभावोमे कर्ताकर्मरूप अज्ञानके सर्व विकल्प-भावका अन्त करती हुई प्रस्फुटित होती है। कैसी है ज्ञानज्योति? पराधीन नहीं है स्वतंत्र है, अपने अधीन है। अज्ञानी कर्माधीन होकर-विकारी भावोंको अपना मानकर वहाँ रुक जाता है किन्तु उसे भान नहीं है कि मेरा स्वभाव उस विकारका नाशक है।

कोई ऐसा कहे कि विकारी भाव तो मेरा है या नहीं? परकी सहायता करना तो मेरा कर्तव्य है या नहीं?

उत्तरः—सभी पदार्थ स्वतंत्र हैं। परका कुछ कर भी नही सकता, वहाँ कर्तव्य कैसा ? यदि विकारी भाव अपना हो तो वह अपना स्वभाव हो जाये, दूर करनेसे दूर नही हो, जो अपना स्वभाव हो वह दुःखस्वरूप होता ही नही, किन्तु विकार प्रत्यक्ष दुःखरूप है इसलिये वह जीवका स्वभाव नही है।

प्रश्नः—धर्म ऐसा अनमेल कैसा है ?

उत्तरः—धर्म अनमेल है, रागद्वेषके मेलमे न मिले ऐसा अनमेल है। अनमेल अर्थात् परसे भिन्न है, स्वाधीन है, मेल रहित अखण्ड है इसलिये अनमेल है। आत्मा स्वाधीन है, क्षणमे मोक्ष प्राप्त करले—ऐसा स्वतत्र द्रव्य है।

अपने स्थानमे स्वतः अवगुण करता है, किन्तु ज्ञानसे वे कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति छूटने पर अल्पकालमे मुक्त हो—ऐसा इसका स्वरूप है।

पुनश्च वह ज्ञानज्योति कैसी है ? अत्यन्त धीर है, किसी प्रकारकी आकुलतारूप नही है। बच्चोको ऐसा बना दूँ, कुटुम्बका भला करदूँ—ऐसा करना धरना ज्ञानज्योतिमे नही है।

जीवोको कर्ताबुद्धिसे अनेक प्रकारकी आकुलता होती है, परके कार्य करनेके लिए इतनी आकुलता करते हैं जैसे स्वतः परके सभी कार्य कर ही सकते हो ? किन्तु अरे भाई! एक रजकणको भी परिवर्तित करनेकी शक्ति तुझमे नही है। तेरी ज्ञानज्योति अनाकुलस्वरूप है।

ज्ञानज्योति अत्यन्त धीर है। बाह्य प्रतिकूलताएँ चाहे जितनी हों परन्तु वे ज्ञानज्योतिको कुछ भी असर नही कर सकती। कितने ही कहते हैं कि हमारे सिर पर इतना बोझ है, हमे कोई सहायता नही देता, इतनी भारी प्रतिकूलताओमे, मैं कैसे निभ सकूँगा ? परन्तु यह सब धीर ज्ञानज्योतिको कुछ भी असर नही कर सकता। ज्ञान-ज्योति शांत होकर जानती है कि मैं परका कुछ नही कर सकती, पर

मेरा कुछ नही कर सकता, परपदार्थकी इच्छारूप आकुलता करना मेरा स्वभाव नही है, चाहे जैसे संयोगोको शात रहकर जानना मेरा स्वभाव है।

परकी सहायताके विना भिन्न-भिन्न पदार्थोको जाननेका जिसका स्वभाव होनेसे जो समस्त लोकालोकको साक्षात् करती है—प्रत्यक्ष जानती है, सभीको जाननेका चैतन्यका स्वभाव है किन्तु किसीका कुछ करनेका स्वभाव नही है। (भिन्न-भिन्न द्रव्य कहकर यह वतलाते है कि समस्त द्रव्य स्वतंत्र भिन्न हैं, कोई द्रव्य किसीके आधीन नही है।) समस्त द्रव्य कैसे स्थित हैं और उनकी अवस्था कैसे हो रही है—यह जाननेका जिसका स्वभाव है–ऐसी मेरी ज्ञान-ज्योति प्रगट हुई है। प्रत्यक्ष—साक्षात् जाननेका जिसका स्वभाव है ऐसी ज्ञानज्योति प्रस्फुटित होती है।

ऐसा भगवान ज्ञानस्वरूप आत्मा परवस्तुको अपना माननेके विपरीत अभिप्रायको दूर करके, अर्थात् असत्को सत् माननेका भाव दूर करके प्रगट होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि परवस्तुका कार्य करनेका मेरा स्वभाव नही है, किसी व्यवहारसे भी वह मेरा कार्य नही है; अरे! रागद्वेष मोहरूप अवगुणकी अवस्था करना भी मेरा कार्य नही है, मैं तो अपनी ज्ञानपर्यायका कर्ता हूँ और वह मेरा कार्य है।

अव, जहाँतक यह जीव आस्रवके और आत्माके विशेषको (अन्तरको) नही जाने वहाँतक आस्रवोका कर्ता वनकर वह अज्ञानी रहकर, स्वत आस्रवोमे लीन होकर कर्मोका वन्ध करता है।

आस्रवके दो भेद है, एक द्रव्य-आस्रव और दूसरा भाव-आस्रव। कर्मके रजकणोका आना सो द्रव्य-आस्रव और चैतन्यके विकारी–शुभाशुभ परिणाम सो भाव-आस्रव। जहाँ तक अज्ञान और रागद्वेषरूप भाव–आस्रवको करता है वहाँ तक नवीन कर्मवन्ध होता

ही रहता है और आत्मा और आस्रवका अन्तर अर्थात् दोनोको भिन्न नही जानता।

आत्मा तो निर्दोष ज्ञाता स्वभाव है और आस्रव सदोष बन्ध-स्वरूप है—इसप्रकार दोनोकी भिन्नताको न जाने तबतक वह आत्माके गुणोंसे अनभिज्ञ रहता हुआ—यही मेरा कार्य है और यही कर्तव्य है—ऐसा जानता हुआ स्वतत्रताके भावसे च्युत होकर परतंत्रताके भावको करता है–वह अब गाथामे कहते हैं:—

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णं पि।
अण्णाणी तावदु सो कोहाइसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोहाइसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदी।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७०॥

यावन्न वेत्ति विशेषांतरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्तते जीवः ॥६९॥
क्रोधादिषु वर्तमानस्य तस्य कर्मणः संचयो भवति।
जीवस्यैवं बंधो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥७०॥

अर्थः—जहाँ तक यह जीव, आत्मा और आस्रव—इन दोनोंके अन्तरको नही जानता वहाँ तक वह अज्ञानी रहता हुआ क्रोधादिक आस्रवोमे प्रवर्तमान रहता है, क्रोधादिकमे प्रवर्तन करते हुए उसे कर्मोका संचय होता है। वास्तवमें इसप्रकार जीवको कर्मोका बन्ध सर्वज्ञ देवोने कहा है।

आत्मा जहाँ तक अपना और आस्रवका भेद नही जानता वहाँ तक उसे अज्ञानके कारण कर्मबन्ध होता है, जैसे अन्धा मनुष्य दानेको और ककड़को भिन्न नही करता उसीप्रकार वह आत्मा और आस्रवको भिन्न नही करता, उसने क्षणिक उपाधि भावको भिन्न नही जाना इससे उसने परम सत्यको स्वीकार नही किया।

आचार्यदेवने प्रथम जीव कहा है और फिर आत्मा, अर्थात् उन्हे कही जीव और आत्माको भिन्न नही कहना है, परन्तु जीव और आत्मा दोनो एक ही वस्तु है—ऐसा आचार्यदेव कहते हैं।

नित्यस्थायी स्वभाव क्या ? और अस्थायी क्या ? इसप्रकार दोनोको भिन्न न समझे तो अनित्य विकारसे भिन्न प्रवर्तन कैसे करेगा ? जैसे बाल–बच्चेरूप प्रजाको अपनी मानता है उसीप्रकार आत्मामे पुण्य-पापकी वृत्तिरूप प्रजा होती है उसे अपना माने, वह मेरे उत्तर दायित्वको सभालेगे—ऐसा मानेगा वहाँ तक वह जीव कार्य करता ही रहेगा किन्तु उनसे भिन्न प्रवर्तन नही करेगा।

मै आत्मा ज्ञान हूँ, शात हूँ, निर्मल हूँ—ऐसे अपने स्वभावको भूलकर जो पुण्य-पापके विकारी भाव आत्मामे होते हैं उन्हे अपना इष्ट मानता है, वह अपने मूलधनको खोता है, उन विकारी भावोको अपना माने वही आस्रव है, अज्ञानी, विकारी पर्यायको अपना मानकर प्रवर्तन करता है, इससे उसे कर्मोका संचय होता है। वास्तवमे इसीप्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव सर्वदर्शीने बन्धनका स्वरूप कहा है।

जैसे यह आत्मा, जिनका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है अर्थात् स्वरूपसिद्ध सम्बन्ध है, त्रिकालस्वरूपका सम्बन्ध है—ऐसे आत्मा और ज्ञानमे विशेष (अन्तर, भिन्नलक्षण) न होनेसे उनका भेद (भिन्नत्व) न देखकर सम्यक्ज्ञानी जीव नि शक रीतिसे ज्ञानमे अपने रूपसे प्रवर्तन करता है।

ज्ञान, गुण है और आत्मा द्रव्य है—उन दोनोका त्रिकाल तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध है उसे अपना–स्वत का स्वरूप जानता हुआ नि शंकतासे ज्ञानमे अपने रूपमे प्रवर्तन करता है और जिस ज्ञानमे प्रवर्तन करता है वह ज्ञानक्रिया स्वभावभूत होनेके कारण उसका निषेध नही किया गया है। शरीरादिकी और रागादिकी जो क्रिया होती है उसे जान लेना सो वह ज्ञानकी परिणति–ज्ञानकी क्रिया है। शरीर और रागकी अवस्था मैं नही हूँ मै तो भिन्न ज्ञाता हूँ–ज्ञाताभावसे

रहकर उसे जान लेना सो ज्ञानकी क्रिया है, ज्ञान, ज्ञानमे एकाग्र हुआ वह ज्ञानकी क्रिया है।

आत्मा ज्ञाता-दृष्टा है। ज्ञानी जानते है कि मुझसे विरुद्ध यह रागादि है उसका मैं कर्ता नही हूँ किन्तु उसका ज्ञाता रहना मेरा कार्य है, वह मेरे ज्ञानकी क्रिया है। इस क्रियाका सर्वज्ञ-भगवानने निषेध नही किया है क्योंकि ज्ञानक्रियामे पुरुषार्थ है, ज्ञानक्रिया अपना स्वभाव है, और वह सद्भूत व्यवहार है।

चारित्रकी कमजोरीके कारण राग-द्वेषकी शुभाशुभ वृत्तियाँ होती है—वह चैतन्यकी अरूपी विकारी क्रिया है, वह आत्माकी अपनी अवस्था है। अज्ञान अवस्थामे विकारी क्रियाका कर्ता होता था और भान होने पर ज्ञानका कर्ता हुआ तथा ज्ञान इसकी क्रिया हुई। देखो, इसमें क्रिया आई, किन्तु चैतन्यकी क्रिया आई। जडकी क्रिया मेरी नही है, विकारी क्रिया मेरी नही है, किन्तु ज्ञानकी जो क्रिया है वह मेरी क्रिया है। इस क्रियासे बन्धनभाव दूर होकर स्वाधीन भाव होते हैं इसलिये इसका निषेध नही किया है।

ज्ञानी अपने ज्ञानमे स्व-परको जानता है किन्तु परका कर्ता नही होता, पहले विकाररूप परिणमित होता था उससे हटकर अब ज्ञातारूप परिणमन करता है। यह मोक्षमार्गकी—साधककी क्रिया है।

शरीरकी और रागादिकी क्रियाको अपनी मानता था, उस विपरीत अवस्थाको नित्य ज्ञाता स्वभावके आश्रय द्वारा बदलकर ऐसा मानने लगा कि ज्ञानकी क्रिया मेरी स्वभावभूत क्रिया है, वह क्रिया स्वभावभूत होनेके कारण उसका निषेध नही किया है।

उसीप्रकार यह आत्मा जबतक, जिनका संयोगसिद्ध सम्बन्ध है—ऐसे आत्मा और क्रोधादि आस्रवोंमे भी, अपने अज्ञानभावके कारण, विशेष न जानता हुआ उनका भेद नही देखता तबतक क्रोधादिमे नि.शंक रूपसे स्वतः प्रवर्तन करता है।

ज्ञान और आत्माका तो तादात्म्यरूप सम्बन्ध है, अर्थात् एक

स्वरूप है और आत्माकी पर्यायमे होने वाले विकारी आस्रव भावोका इस आत्माके साथ सयोगसिद्ध सम्बन्ध है।

गुड और मिठासका तादात्म्य सम्बन्ध है किन्तु मटकी और गुडका सयोगसिद्ध सम्बन्ध है, उसीप्रकार आत्माका और राग-द्वेषका संयोगसिद्ध सम्बन्ध है। जो विकारी भाव होते हैं वे परसयोगसे होते है, इसलिये उनके साथ आत्माका सयोगसिद्ध सम्बन्ध है। सयोग अर्थात् साथमे रहे हुए, और तादात्म्य अर्थात् तत्स्वरूप सम्बन्ध। विकारी भावोका आत्माके साथ क्षणिक सम्बन्ध है इसलिये वे सयोगी भाव हैं।

आचार्यदेवने इस गाथामे प्रथम क्रोधकी बात क्यो ली है ? आत्मा ज्ञायकस्वभावी है उस स्वभावका भलीभाँति न जमना सो क्रोध है, स्वभावकी अरुचि होना सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है। जगतको यह स्वभाव नही बैठता इससे आचार्यदेवने पहले क्रोधकी बात ली है।

मैं कर्ता हूँ और क्रोधादि मेरे कर्म है—ऐसा माननेसे क्रोधादिमे पुण्य-पापके दोनो भाव आजाते है।

कर्ताकर्मका अर्थ क्या है ? कर्तासे उसका कर्तव्य भिन्न नही होता, शरीरादि, राग इत्यादि आत्मासे पृथक् हो जाते है इसलिये वह ज्ञाताका कर्तव्य नही है।

शास्त्रमे तीन प्रकारके सम्बन्ध आते है। एक–तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध, दूसरा–सयोगसिद्ध सम्बन्ध और तीसरा–परस्पर अवगाह लक्षणसिद्ध सम्बन्ध।

ज्ञान और आत्माका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध इसप्रकार है जैसे अग्नि और उष्णताका सम्बन्ध है। ज्ञान और आत्माका तादात्म्यसिद्ध सम्बन्ध होनेसे ज्ञानक्रियाका निपेध नही किया है क्योकि ज्ञानिओके साधक दशामे ज्ञानक्रिया आये बिना नही रहती। क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उनका आत्माके साथ सयोगसिद्ध सम्बन्ध है, जिनका वियोग होता है उनका सयोगसिद्ध सम्बन्ध कहलाता है। जिनका सयोग होता है उनका वियोग भी होता

है। क्रोधादि एक समयमे नष्ट हो जाते हैं और दूसरे समय नवीन उत्पन्न होते हैं, आत्माका भान होने पर मिथ्यात्वरूप क्रोधादि समूल नष्ट हो जाते हैं, इसलिये क्रोधादि आत्माके साथ उत्पाद-व्यय सम्वन्धसे है किन्तु ध्रुव सम्बन्धसे नही है। ध्रुव सम्वन्ध नही है इसलिये सयोग सम्वन्ध है, किन्तु स्वभाव सम्वन्ध नही है।

पंच महाव्रतके शुभपरिणाम भी आत्माके साथ सयोग संवंधसे है। सयोग है इससे केवलज्ञान प्राप्त होने पर उन परिणामोंका वियोग होता है, जिनका उत्पाद हो उनका व्यय होता है।

कोई यह प्रश्न करे कि—ज्ञानकी अवस्था वदलती है न? उसका उत्पाद-व्यय होता है या नही? उसका उत्तर इसप्रकार है— ज्ञानकी पर्याय वदलती अवश्य है, उत्पाद-व्यय भी होता है, किन्तु जैसा चैतन्यका निर्मल स्वभाव है, उसीप्रकारका उत्पाद-व्यय होता है। पर्यायकी जाति वैसी की वैसी रहकर वदलती है, इसलिये ज्ञानकी पर्यायका आत्माके साथ तादात्म्य सम्वन्ध है। क्रोधादि विकारी परिणाम आत्माके स्वभावसे विरुद्ध स्वभाववाले हैं। क्रोधादिकी पर्याय प्रतिसमय भिन्न-भिन्न प्रकारसे वदलती है। रुचि, अरुचि, हर्ष, शोक इत्यादि भाव आत्माके शात स्वभावरूप नही हैं किन्तु विपरीत स्वभाव वाले हैं, इससे आत्माका उन विकारी परिणामोंके साथ सयोगसिद्ध सम्बन्ध है किन्तु तादात्म्यसिद्ध सम्वन्ध नही है।

जो विकारी और अविकारी भावोके अन्तरको नही जानता वह अज्ञानी, अज्ञानताके कारण विकारका कर्ता होकर प्रवर्तन करता है। अज्ञानी स्वभाव और विभावके भेदको न जानता हुआ, यह क्रोधादिकी वृत्तियाँ जैसे मुझमे ही होती हों—ऐसा निःशकरूपसे उन्हें अपना मानकर प्रवर्तन करता है। क्रोध, मान, माया, लोभको मैं उत्पन्न करता हूँ और वह मेरा कार्य है—इसप्रकार क्रोधादिका कर्ता होता है। अज्ञानी क्रोध, मान, मायामे अपने रूपसे प्रवर्तन करता है, उसे क्रोधादिकी क्रिया कहा गया है, किन्तु वह क्रिया परभावभूत होनेके

कारण उसका निषेध किया है, तो भी अज्ञानीको ऐसा अभ्यास हो गया है कि—क्रोध, मान, माया, लोभ मेरे स्वभावसे उत्पन्न होनेवाले भाव हैं। जैसे विष्टाके कीडेको पुन पुन उसमे जानेकी आदत पड जाती है वैसे ही अज्ञानीको पुनः पुनः क्रोधरूप मोहरूप परिणमन करनेकी आदत पड गई है, इससे वह नि शकरूपसे उनमे परिणमन करता है। अज्ञानी अपने अज्ञानभावके कारण, ज्ञानभवनमात्र जो सहज उदासीन (ज्ञातादृष्टा मात्र) अवस्था है उसका त्याग करके अज्ञानभवन-व्यापाररूप अर्थात् क्रोधादि व्यापाररूप प्रवर्तन करता हुआ प्रतिभासित होता है वह कर्ता है।

ज्ञानीके राग-द्वेष होते है—'हो जाते है' किन्तु उसको ऐसी बुद्धि नही होती कि मैं राग-द्वेषको उत्पन्न करता हूँ, उसका कर्ता हूँ।

अपना स्वभाव निर्दोष ज्ञानमूर्ति है, जो राग-द्वेष होते हैं उन्हे जाननेका और स्वत' को जाननेका स्व-पर प्रकाशक स्वभाव है,—ऐसी अपनी सहज वैराग्यरूप ज्ञाता–दृष्टा अवस्थाको भूलकर अज्ञानी क्रोधादि परकी वृत्तियोमे रुक जाता है इससे चैतन्यकी जागृति रुक जाती है, वह विकसित नही हो पाती। ज्ञान प्रतिभासित होनेके बदले मात्र क्रोधादि ही प्रतिभासित होते हैं। मैं इसीका कर्ता हूँ और यही मेरा कर्म है—ऐसा मिथ्या प्रतिभास उसे होता है। इसप्रकार नि शकतासे परिणमित होता हुआ प्रवर्तन करता है। आचार्यदेवकी प्रत्येक गाथामे अपूर्व रहस्य विद्यमान है।

जो अज्ञानभवनव्यापाररूप अर्थात् क्रोधादि व्यापाररूप प्रवर्तन करता हुआ प्रतिभासित होता है वह कर्ता है और ज्ञानभवनव्यापाररूप प्रवर्तनसे भिन्न जो क्रियमाण रूपसे अन्तरङ्गमे उत्पन्न होते हुए प्रति-भासित होते हैं—ऐसे क्रोधादिक कर्म हैं।

निर्दोष ज्ञानके होनेवाले प्रवर्तनसे भिन्न, क्रियमाणरूपसे इन क्रोधादिका मैं कर्ता हूँ, यह मेरा कर्म है—इसप्रकार, अपनेसे किये जा रहे प्रतिभासित होते हैं, यही मेरा कार्य है ऐसा मानता है किन्तु इससे भिन्न मेरा कार्य है—उसे नही जानता।

जीवको परका माहात्म्य आया है किन्तु स्वका माहात्म्य नही आया, जबतक स्वका माहात्म्य न आये तबतक दिशा कैसे बदल सकती है ?

जो ज्ञानव्यापारसे भिन्न लक्षण वाले क्षणिक विकार होते हैं, वे मेरे स्वभावभवनमे से ही होते हो ? पुण्य-पापकी सम्पत्ति मेरे स्वभावमे से ही निकलती हो ? विकार करना मेरा स्वभाव ही हो पराश्रय, शुभराग करना चाहिये, जानने माननेमे क्या रागादि, शरीरकी क्रिया, क्रोधादि मेरा कार्य है और यही मेरा कर्तव्य है—ऐसा अज्ञानी मानता है, किन्तु मैं इनसे भिन्न हूँ—ज्ञाता ही हूँ ऐसा उसे भासित नही होता अर्थात् नही जानता ।

मैं अपने स्वभावका और इन क्रोधादिका ज्ञान करने वाला हूँ, अपनेको जानते हुए अपनी ज्ञानदशामे, ज्ञाता रहकर अपना और परका भिन्नत्वका भास होना चाहिये—ऐसे स्व-पर प्रकाशक स्वभावको भूलकर, मैं क्रोधादि जितना ही हूँ, क्रोधादि मेरा स्वरूप है, पराश्रय-व्यवहार मेरा कर्तव्य है—इसप्रकार अज्ञानी परको अपने रूपसे ही जानता है ।

अपने भिन्न स्वभावका भान नही है इससे अज्ञानरूपसे ऐसा भासित होता है कि—पुण्य-पापकी जो विकारी अरूपी क्रिया है उसका मैं कर्ता हूँ, वह सब अपनी स्वभाव प्रवृत्तिरूप प्रतिभासित होता है—यही संसारका कारण है ।

अज्ञानी अज्ञान अवस्थाके कारण विकारी भावोका कर्ता होता है, परन्तु जडका कर्ता तो कोई व्यवहारसे भी हो ही नही सकता, अज्ञानी मानता है कि मैं जडका कर्ता होता हूँ—अपने भावोंमे ऐसी मिथ्यात्व पूर्वक रागादिककी न्यूनाधिकता किया करता है, परन्तु जडका कुछ कर ही नही सकता । इसप्रकार अनादिकालसे अज्ञान द्वारा हुई यह कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है ।

आत्मा परका अकर्ता है, आत्माका स्वरूप परसे भिन्न है, यह

स्वरूप समझने पर ही निवृत्ति है, इसके अतिरिक्त अन्य कोई रीति नही है। देखो न ! क्षणमात्रमे देह छोडकर चला जाता है, आज इस भवमे और कल अन्य किसी गतिमे ! स्वरूपको समझे विना कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति ऐसी की ऐसी बनी ही रहती है। इसलिये इस स्वरूपको समझने से ही भवका अन्त हो सकता है।

इसप्रकार अपने अज्ञानके कारण कर्ताकर्म भाव द्वारा क्रोधादिमे प्रवर्तमान इस आत्माको, क्रोधादिकी प्रवृत्तिरूप परिणामको निमित्तमात्र करके स्वतः अपने भावसे ही परिणमित पुद्गलकर्म एकत्रित होते है।

देखो ! कर्मने अज्ञान नही कराया। आचार्यदेव कहते है कि अपने अज्ञान द्वारा क्रोध, मान, माया और लोभमे प्रवर्तमान आत्माको बन्ध होता है।

जीव अज्ञानको लेकर क्रोधमे उलझा, मानमे फँसा, किन्तु आचार्यदेव कहते हैं कि–अरे भाई धैर्य रख ! स्वतत्र ज्ञाता स्वभावके तीव्र विरोधके फलमे तू एकेन्द्रिय निगोदमे चला गया था वहाँ मानादि कषाय व्यक्त करनेकी ताकत नही थी मूलीके साथ तू व्यर्थ बिक रहा था, अब मानव भये हो अब तो चेत ! तू तो तीनलोकनाथ भी है, तू परसे और अनित्य क्रोधादिसे भिन्न ज्ञानस्वरूप है प्रथम उसका भानकर ! लोभ और आकुलताको छोडदे।

आत्मा अज्ञान अवस्थासे क्रोधादिका कर्ता होता है, उन परिणामोका निमित्त पाकर नवीन रजकणोके बन्धन होता है, वह प्रारब्ध (किस्मत) जड रजकणोंके सामर्थ्यसे बधता है। रजकणमे भी परिवर्तित-परिणमित होनेकी स्वतत्र सामर्थ्य है।

रजकण अपने स्वतत्र परिणमनसे एकत्रित होते हैं, जब आत्मा अज्ञान अवस्थासे शुभाशुभ भावरूप परिणमित हो तब वे परिणाम कर्मबन्ध होनेमे बाह्य निमित्त होते है, कर्मरूप रजकण अपनी स्वतत्र योग्यतासे बंधते हैं किन्तु शुभाशुभ परिणाम उन्हे निमित्तरूप

होते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिकपना स्वतत्र सम्वन्ध है, कर्म रजकरण अपने आप ही स्वतत्र परिणमित होते हैं। जैसे चांवल, दाल आदि खाद्य पदार्थ पेटमे जाते हैं, पश्चात् वे अपने आप रक्तरूप, वातरूप, पित्तरूप आदि अवस्थारूपसे परिणमित हो जाते हैं, कोई उन्हे परिणमित नही करता, उसीप्रकार जड़ शक्तिवान पुद्गल स्वतः परिणमित हो जाते हैं।

इसप्रकार जीव और पुद्गलका, परस्पर क्षेत्रमे अवगाह जिसका लक्षण है—ऐसा सम्वन्धरूप वन्ध सिद्ध होता है। अनेकात्मक होने पर भी (अनादि) एक प्रवाहरूप होनेसे जिसमे से इतरेतराश्रय दोष दूर हुआ है—ऐसा वह वंध कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त जो अज्ञान है—उसका निमित्त है।

जीवके परिणामोका निमित्त पाकर पुद्गल स्वतः कर्मरूपसे परिणमित हो जाते हैं, एक दूसरेकी अवस्थाकी योग्यता ऐसी होती है कि दोनो एक क्षेत्रावगाह रूपमे एक स्थान पर व्याप्त होकर रहते हैं, उनका परस्पर अवगाह लक्षण सम्वन्ध कहलाता है। जीवके परिणामोका वाह्य निमित्त पाकर कर्मके पुद्गल एक ही स्थान पर अवगाहित होकर रहते हैं तो भी भावसे भिन्न हैं। जो एक स्थान पर रहते हैं उन्हे, अवगाह जिसका लक्षण है—ऐसा सम्वन्धरूप वन्ध कहा जाता है।

गुण-गुणी एक दूसरेसे भिन्न नही होते, तदाकार हैं इसलिये उनका तादात्म्यसिद्ध सम्वन्ध कहा जाता है।

रागादि विकारके सयोगका वियोग होता है इसलिये उसे संयोगसिद्ध सम्वन्व कहा जाता है। यहाँ पर तीन प्रकारका सम्वन्ध लिया है, किन्तु चौथा सम्वन्ध नही लिया। स्त्री और वस्त्रोका सम्वन्ध नही लिया है, जो सम्वन्ध ही नही है वह कैसे लिया जायगा ? वे तो अपनेसे विल्कुल भिन्न हैं, दूरवर्ती क्षेत्रमे रह रहे हैं, उनके साथ किंचित् भी सम्वन्व नही है। उनके प्रति राग है उस रागका सम्वन्ध आत्माके साथ है, किन्तु स्त्री वस्त्रोका सम्वन्ध तो आत्माके साथ किंचित् भी नही

है। किन्तु उनके प्रति राग है इससे उपचारसे अर्थात् मात्र आरोपसे कहा जाता है कि सम्बन्ध है, किन्तु वास्तवमे तो कोई सम्बन्ध नही है।

जीव और पुद्गलका जो वन्ध होता है उसमे इतरेतराश्रय दोप नही है। जीवके वहीके वही परिणामोंसे वन्ध हो और उसीके उसी वन्धसे पुनश्च वहीका वही राग हो तो इतरेतराश्रय दोप लगे, किन्तु वस्तुस्वरूप वैसा नही है, जैसे रूईकी एक पौनीके पश्चात् दूसरी पौनी पृथक् होती है तो भी सूत वनता जाता है, वैसे ही अमुक स्थिति तक कर्म आत्मामे रहते हैं, पुराने दूर होते जाते हैं और नवीन वधते जाते हैं किन्तु प्रवाह नही टूटता। जिस परिणामसे कर्मका वन्ध हुआ वह वध उसीके उसी परिणामका निमित्त नही होता किन्तु नवीन परिणामोका निमित्त होता है, और जो नवीन विकारी परिणाम हुए वे पुराने वन्धके निमित्त नही होते किन्तु नवीन वन्धके निमित्त होते हैं इसलिये इतरेतराश्रय दोप नही लगता।

पहले आत्मा शुद्ध था और पश्चात् अशुद्ध हो गया, पहले कर्म नही थे और फिर वध गये—ऐसा नही है अर्थात् आत्माके परिणामोसे कर्म हुए और कर्मोंसे आत्माके परिणाम हुए—ऐसा नही है, एक दूसरेके आधारसे दोनो सिद्ध हुए—वैसा नही है परन्तु अनादिकालसे स्वत सिद्ध हैं, अनादिसे कर्म, कर्मरूप और आत्माके परिणाम विकार-रूप स्वतत्र परिणमित होते आते हैं, दोनो द्रव्योंके परिणमन चक्र अनादिकालसे स्वतत्ररूपसे परिणमित होते चले आरहे हैं, कोई किसीके आधारसे सिद्ध नही होता, इसलिये इतरेतराश्रय दोप नही लगता।

अनादिकालसे जो ऐसा बन्ध है—वह कर्ता कर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त जो अज्ञान है उस अज्ञानका निमित्त है।

अज्ञान आत्माका मूल स्वभाव नही है, इससे जो पूर्वका वन्ध है वह अज्ञानका निमित्त है। अज्ञान-पर्याय उपादान है और उसका निमित्तकारण वन्ध है। जो वन्ध होता जाता है वह नवीन अज्ञानका निमित्त होता है। अज्ञानपर्याय अपने विपरीत पुरुषार्थके कारण वढती है। इससे तो ऐसा ज्ञात होता है कि यह कर्मरूपमे अन्य कोई वस्तु है,

कर्म कही राग-द्वेष या अज्ञान नही करा देते, किन्तु जो नवीन कर्म बंधते हैं वे भविष्यमे तबतक निमित्त होते है जबतक जीव स्वतः राग-द्वेष और अज्ञान करता रहता है।

आत्मा जबतक अपने निर्दोष ज्ञानस्वभावमे और क्रोधादिमे भेद नही जानता तबतक उसके कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति है।

कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका निमित्त अज्ञानपर्याय है और अज्ञान-पर्यायका निमित्त पूर्वका वन्ध है, इससे जिसके अज्ञानपर्याय दूर हो गई उसके वन्ध भी हट गया, और उसकी कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति भी दूर हो गई, इसप्रकार ज्ञान होनेसे ही अवन्ध हो गया।

जिसके अज्ञानपर्याय है उसके वन्ध भी है और कर्ताकर्मकी प्रवृत्ति भी है। ६९-७०।

अव शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो! इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अभाव कब होता है? देखो, शिष्यको तीव्राकाक्षा हुई है कि अहो! ऐसा चैतन्यस्वभाव हमे कब प्राप्त होगा? अनन्तकालसे ऐसेका ऐसा भटकना चला आरहा है वह कब रुक जायेगा? राग-द्वेष और आत्मस्वभावके भिन्नत्वकी जिसे खवर नही है—ऐसा अजान शिष्य समझनेके लिये आतुरतासे पूछता है।

शिष्यने जिज्ञासा पूर्वक प्रश्न किया कि इस कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अन्त कब आयेगा? उसका उत्तर गाथारूपमे कहते हैं:—

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव।
ज्ञातं विशेषांतरं तु तदा न बंधस्तस्य ॥ ७१ ॥

अर्थः—जब यह जीव आत्मा और आस्रवोके अन्तर और भेदको जान लेता है तव उसे वन्ध नही होता। "जइया" अर्थात् जब सच्चे भेदज्ञानके पुरुपार्थको करता है तव अपना हित होता है ऐसा

कहा है किन्तु कोई कर्म, काल निमित्तादिके कारण यह कार्य होता है ऐसा नही है।

जीवको जब अपने निर्दोष स्वभावका और विकारी भावका भेदज्ञान हो जाता है तब वह अबन्ध हो जाता है। जहाँतक विकारी भावोको अपना मानता है तबतक उसे बन्ध होता है। अनन्तकालसे जीवने वहुत किया परन्तु विकारी भावोंसे पृथक् होनेका प्रयत्न नही किया, अविकारी अबन्धस्वरूप आत्माको समझने पर ही मोक्षका पंथ प्रगट होता है, मोक्षकी साधन रूप डोरी हाथमे आती है, सम्यग्ज्ञान होते ही आस्रवोंसे भेदज्ञान होता है।

इस जगतमे जो वस्तु है वह (अपने) स्वभावमात्र ही है, और 'स्वका' भवन सो स्व-भाव है, इसलिये निश्चयसे ज्ञानका होना—ज्ञानरूप परिणमित होना सो आत्मा है और क्रोधादिका होना—परिणमित होना सो क्रोधादि हैं।

देखो! वस्तुकी व्याख्या की है, जिसमे विकारभाव हो वह वस्तु नही किन्तु वस्तु अपना 'स्वभाव मात्र' ही है—ऐसा कहा है। जितना स्वभाव है उतनी ही वस्तु है, जो विकार है वह वस्तु नही है। यह द्रव्यदृष्टिकी बात है। स्वभावमे परवस्तु तो नही है किन्तु क्रोधादिका होना—परिणमित होना भी वस्तु नही, वह भी वस्तु नही है।

आत्मा निर्दोष ज्ञानस्वरूप है, उसमे निरुपाधिकरूपसे स्वभावका होना—परिणमित होना सो वस्तुका स्वभाव है। वास्तवमे आत्माकी पर्यायमे जो करने–धरनेकी वृत्ति हो वह आत्माका होना—परिणमित होना नही है, पुण्य-पापकी जितनी वृत्तियाँ होती है वह आत्मा नही किन्तु क्रोधादिसे विलक्षण अपने ज्ञानस्वभावमे स्वतः परिणमित होना सो वस्तु है, वह आत्मा है।

पुण्य-पापकी किसी भी प्रकारकी वृत्तिकी उपाधिसे रहित मात्र ज्ञाताभाव ही आत्मा है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, रति, अरति, हास्य, शोक इत्यादि सभी परसयोगसे होनेवाले औपाधिक भावोंका होना–परिणमित होना सो क्रोधादि हैं, आत्मा नही। परवस्तुके प्रति अभिमान होना कि यह वस्तु मेरी है, यह परभाव मेरे हैं—वैसे मिथ्यात्वभावरूप अभिमानकी गिनती क्रोधादिकमें होती है, वह आत्मा नही है, वस्तुस्वरूप नही है। वस्तुस्वभावमे से जो कुछ भी नष्ट हो सकता है वह उसका स्वभाव नही है। क्रोधादि आत्माकी पर्यायमे होते है और उस पर्यायका नाश भी होता है, वे भाव आत्मामे निरन्तर एकरूपसे नही रहते इसलिये वे भाव आत्मा नही हैं, आत्माका स्वभाव नही हैं।

क्रोधादिका आत्माके साथ सयोगसिद्ध सम्बन्ध है, और निर्दोष ज्ञानस्वभाव सयोगी नही है किन्तु असयोगी स्वतः स्वभाव है। जिन भावोंसे सर्वार्थसिद्धिका भव मिले और तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध हो वे भाव भी आत्मा नही हैं, पर हैं—ऐसा यहाँ आचार्यदेवका कहना है। दुनियाँ न माने इसलिये कही सत्को असत् और असत्को सत् नही कहा जा सकता। दुनियाँ तो अनादिसे विपरीत मार्ग पर हैं और वह विपरीत ही कहेगी, क्योकि संसारमे परिभ्रमण करनेवाले जीवोका और ससारसे विरक्त जीवोके मार्ग भिन्न ही होते है, दोनोंके मार्ग एक दूसरेसे विपरीत ही होते हैं। यदि विपरीत न हों तो संसार–मोक्ष होगा ही नही।

जितना अपने ज्ञानमे युक्त हुआ उतना आत्मा, धर्म, स्वभाव और जिनशासन है, राग-द्वेषरूप होना, उसमे रुकना सो जिनशासन नही है, आत्मा नही है, आत्माका स्वभाव नही है और धर्म भी नही है।

पुनश्च जो ज्ञानका होना–परिणमित होना है वह क्रोधादिका होना–परिणमित होना भी नही है, कारण कि ज्ञान होने (परिणमन) के समय जैसे ज्ञानका होना प्रतीत होता है उसप्रकार क्रोधादि होते मालूम नहीं पडते।

निर्दोष ज्ञान, श्रद्धा तथा अन्तर चारित्रका होना सो आत्मा है, क्योकि ज्ञान होनेके समय ऐसा ज्ञात होता है कि मैं ज्ञाता द्रष्टा हूँ;

उससमय मिथ्यात्वादि आस्रवोंसे निवृत्ति होती प्रतीत होती है, ज्ञाताकी ज्ञान क्रिया हो रही भासित होती है, किन्तु क्रोधादिक होते प्रतीत नही होते।

जब स्वतः साक्षी होता है तब, अर्थात् जाननेके समय ज्ञान करना ही प्रतीत होता है, मैं ज्ञान करनेमे बढ रहा हूँ—ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु उससमय क्रोधादि विकारोंमे वृद्धि होती मालूम नही पड़ती। ज्ञानीके विकारी पर्यायका स्वामित्व नही है, विकार स्वभाव भवनमे नही हैं इससे उसमे दिखाई ही नही देते–ऐसा कहा है।

मैं ज्ञाता–दृष्टा हूँ। जब श्रद्धा, ज्ञान, और आचरणमे एकाग्र होता है तब उनमे राग, द्वेप, क्रोधादि मिश्रित प्रतीत नही होते, मिश्रित हैं ही नही, भिन्न हैं इसलिये मालूम नही पडते।

मैं तो शरीरादि और क्रोधादि विकार—सबका ज्ञाता हूँ, ऐसे भानमे ज्ञाता ही प्रतीत होता है, पर—क्रोधादिक अपने स्वभावमे प्रतीत नही होते। मैं परसे निराला हूँ ऐसे भानके समय, मैं परका साक्षी हूँ–ऐसा भासित होता है, किन्तु यह भासित नही होता कि पर मुझमें है। जब साक्षीकी साक्षी रूप पर्याय होती है उससमय क्रोधादिका कर्तृत्व नही होता, और होता हुआ दिखाई भी नही देता। ज्ञाता होनेके समय क्रोधादिक नही होते, उन्हे भिन्न माना है इससे कर्ता नही होता इसलिये ज्ञाता ही है, इसप्रकार जो ज्ञानका होना—परिणमित होना है वह क्रोधादिका होना–परिणमित होना नही है।

क्रोधादिका जो होना–परिणमित होना है वह ज्ञानका भी होना–परिणमित होना नही है, कारण कि क्रोधादिके होने–परिणमित होनेके समय जैसे क्रोधादि होते प्रतीत होते हैं उसीप्रकार ज्ञान होता मालूम नही पडता। इसप्रकार क्रोधादि और आत्माके निश्चयसे एकवस्तुपना नही है।

क्रोध, राग-द्वेप आदि मैं हूँ—इसप्रकार जो कर्ता होकर रुक गया है उसे उसके साथ ही यह प्रतीत नही होता कि मैं ज्ञाता हूँ। यहाँ तो पहली ही चोटमे वस्तुस्वभावको पृथक् कर दिया है।

जब ऐसे भाव रहते हैं कि—मैं क्रोध हूँ, मान हूँ, माया हूँ, लोभ हूँ—तब ऐसा भान नही होता कि मैं ज्ञाता भिन्न हूँ। विकार अपना स्वभाव नही है और ज्ञानादि अपना स्वभाव है इससे दोनो वस्तुओको बिल्कुल पृथक् कर दिया है।

जिससमय यह भासित होता है कि प्रथम कुछ व्यवहार—शुभराग करके धर्मका लाभ लूं, मैं रागी ही हूँ, मायाचारी ही हूँ—उससमय यह प्रतिभासित नही होता कि मैं असंयोगी ज्ञाता—पृथक् तत्त्व हूँ, यह समस्त विकार मुझ ज्ञाताके ज्ञेय हैं, इसलिये क्रोध, मान अपने स्वभावगृहके नही किन्तु पुद्गलके गृहके हैं (ऐसा भान अज्ञानमे कहा ?) अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं क्रोधादिका कर्ता हूँ और वे मेरे कर्म हैं, किन्तु उसे यह भासित नही होता कि मैं ज्ञाता हूँ। ज्ञानादि और क्रोधादि दोनों एक वस्तु नही किन्तु दोनो भिन्न हैं।

जब कर्ता हुआ तब ज्ञाता होनेका भान नही, इसलिये कर्ता ही है, ज्ञाता होनेके समय क्रोधादिका कर्ता नही है, अपनेसे भिन्न माना है इसलिये उनका कर्ता नही किन्तु ज्ञाता ही है। ज्ञाताके समय कर्ता नही होता और कर्ताके समय ज्ञाता नही होता।

ज्ञानी विचार करता है कि मैं कर्ता भी अपने स्वभावका हूँ और कार्य भी अपने स्वभावका है, रागका जो विकारी कार्य है वह मेरा नही है और मैं उसका कर्ता नही हूँ।

कोई कहेगा कि क्या केवलज्ञानी हो गया है ? मात्र जाननेमें पुरुषार्थ क्या आया ? अरे भाई ! इसमे अनन्त पुरुषार्थ है, द्रव्यके ऊपर दृष्टि डाली उसमे अनन्त पुरुषार्थ आगया। जब स्वभावकी ओर का अनन्त पुरुषार्थ विकसित हुआ तभी तो अनन्तानुबन्धी कषायका अभाव होगया; साक्षीरूप—ज्ञायकरूप रहनेमे ही अनन्त पुरुषार्थ है। द्रव्य दृष्टिमे द्रव्य और पर्यायका भेद दिखाई नही देता, अपूर्ण और पूर्ण पर्यायके बीच भेद प्रतिभासित नही होता, ज्ञान अपूर्ण और पूर्ण पर्यायको जानता है, परन्तु दृष्टिमे उसका भेद नही है। द्रव्यदृष्टिसे पूर्ण है, परन्तु

पर्यायदृष्टिसे अभी केवलज्ञान पर्याय प्रगट नही हुई है इससे अपूर्ण है, किन्तु वस्तुस्वभावको जाननेके पश्चात् जो अल्प रागद्वेष होता है वह दूर करनेके लिये है, रखनेके लिये नही, उसका कर्ता नही होता इससे वह ज्ञाताका ज्ञेय है।

साधकदशामे अल्प क्रोध होता है किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतामे उसे नही गिना है। यहाँ तो पहली ही चोटमे वस्तुस्वभावको पृथक् किया है, इससे शुभपरिणाम छोडकर अशुभपरिणाम करनेकी बात यहाँ नही है, किन्तु रागद्वेष मेरे है वह मेरा कार्य है—ऐसी मान्यता अज्ञानीकी है ज्ञानीकी नही—वैसा समझाते हैं।

मैं तो अपने स्वभावका कर्ता हूँ, परका कर्ता नही हूँ,—ऐसे ज्ञान भावसे परका–क्रोधादिकका आभास नही होता। अरे! यदि ज्ञानमे जाने तो भी स्वपरप्रकाशक है किन्तु स्वपरका कर्ता नही है।

विकारकी अस्वीकृति और अपने ज्ञायक स्वभावकी स्वीकृति ही आस्रव रोकनेका उपाय है।

मुनिओंके दस धर्मोंमे क्षमाधर्म प्रथम है। आचार्यदेव स्वत मुनिपद पर हैं इससे यहाँ क्रोधको पहले लिया है, कारण कि दशधा धर्ममे प्रथम उत्तम क्षमा है। (१) कर्मबन्ध होगा इसलिये मैं क्षमा करूँ–वह भाव पुण्यबन्धमे जाता है, (२) शास्त्राज्ञा है इसलिये क्षमा करूँ उस भावसे भी पुण्यबन्ध होता है। (३) क्षमा नही करूँगा तो दुर्गतिमे जाऊँगा—ऐसा विचार करके यदि क्षमाभाव रखे तो उससे भी पुण्यबन्ध होता है, (४) किन्तु मेरा ज्ञायकस्वभाव ही अकषाय है–उसके भानमे स्थिर रहना ही वास्तविक क्षमा है–वही यथार्थ धर्म है।

क्षमाके विपक्ष क्रोध है। व्रतसे, तपसे, पूजासे अथवा भक्तिसे धर्म होगा—ऐसा मानकर उसमे रुचि, और अपने स्वभावकी अरुचि सो अनन्तानुबन्धी क्रोध है। स्वत' अनन्तगुणोंके पिंडरूप वस्तु है और ज्ञायक स्वभावआश्रित ज्ञाता रहना वह ज्ञान क्रिया धर्म है। उसमे अपनेपनको स्वीकार न करके पराश्रय करनेरूप शुभाशुभभाव और

शरीरादिमे अपनापन—अहंपना स्वीकार करना सो अनन्तानुवन्धी मान है। अपना सरल स्वभाव जैसा है, उसप्रकार नही जानना और वाह्य क्रियाकाण्ड करूँ तो स्वभावका विकास हो ऐसे विपरीत परिणाम सो अनन्तानुबन्धी माया है। अपनी स्वभावपर्यायका विकास करूँ तभी यथार्थ सतोष है—ऐसा न मानकर शुभाशुभ परिणामोमे संतोष मानना सो अनन्तानुवन्धी लोभ है।

ज्ञाता रहे तो उसमे क्रोधादि होते दिखाई नही देते और क्रोधादि हों तो उनमे ज्ञाताका ज्ञान होता प्रतीत नही होता। 'प्रतीति होता है'—ऐसा कहा, उसमे स्वतः को प्रतीत होनेकी वात है अथवा परको? स्वतः को ही प्रतीत होनेकी वात है। स्वत. ही अपनेको निःशकतासे ज्ञानरूप भासित होता है, स्वतः ही अपनेको प्रतीत होता है—ऐसा ज्ञान हो तव स्वतः अपनेको क्रोधादिरूप होता प्रतिभासित नही होता किन्तु ज्ञानरूपसे निःशंकतापूर्वक भासित होता है, अन्यसे पूछने नही जाना पडता। यहाँपर केवलज्ञानीको अथवा परको प्रतीत होनेकी वात नही है किन्तु अपनी ही वात है।

छह मासके उपवास करनेसे आस्रव नही रुकता, मौन धारण करे तो भी आस्रव नही रुकता किन्तु आत्माके स्वभावका ज्ञान करनेसे आस्रव रुकता है। ज्ञाताका ज्ञानभाव प्रतिभासित हो उससमय क्रोधादिका भास नही होता, और जव क्रोधादि प्रतिभासित हो तव ज्ञाताका भास नही होता।

यह वात सुनते ही भन्ना उठता है, परन्तु भाई! सत्य वात तो येही है, यह समझे विना भवका अन्त नही आयेगा।

इसप्रकार जव आत्मा और आस्रवोंके विशेप (अन्तर) को देखकर यह भगवान आत्मा उनका भेद (भिन्नता) जानता है उस-समय इस आत्माके अनादिसे होनेपर भी वे (परमे) अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली कर्ताकर्मकी प्रवृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं।

कर्ताकर्मकी प्रवृत्तियाँ प्रवाहरूपसे—संतानरूपसे अनादि होने पर भी अज्ञानसे उत्पन्न हुई हैं. और अज्ञानसे उत्पन्न हुई हैं—इसलिये वे दूर हो सकती हैं, वे आत्माके स्वभावसे उत्पन्न नहीं हुई हैं इसलिये उनकी निवृत्ति हो सकती है।

कर्ताकर्मकी निवृत्ति होनेसे पौद्गलिक कर्मका अर्थात् नवीन द्रव्यकर्मोका बन्ध भी निवृत्त होता है—ऐसा होनेसे ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि क्रोधादिक और आत्मा—दोनों भिन्न वस्तुएं हैं जो क्रोधादिक विकारी भाव होते हैं वे चैतन्यकी पर्यायमें होते हैं, किन्तु वे अपने विपरीत पुरुषार्थ द्वारा परनिमित्तसे होनेवाले भाव हैं इसलिये पर हैं—ऐसा द्रव्यदृष्टिके बलमें कहते हैं।

ज्ञानमें क्रोध, मान नहीं है और क्रोध, मानमें भगवान आत्मा नहीं है—इसप्रकार दोनोंमें स्वभावभेद है और स्वभाव भेद है इसलिये वस्तुभेद है। इसप्रकार जब क्रोधका और आत्माका भेदज्ञान हो तब उनका एकत्वरूप अज्ञान दूर हो और ज्ञानपर्याय प्रगट हो, तथा कर्मबन्ध न हो। इसप्रकार ज्ञान होनेसे ही बन्धका निरोध होता है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—जो शुभाशुभ परिणाम हैं सो मैं हूँ, मैं परका कर सकता हूँ और पर मेरा कर सकता है—ऐसे मिथ्या-प्रलापके बिना एकदिन भी नहीं जाता ? भाई ! एकदिन तो ऐसे प्रलापको बन्द रख ! ज्ञानी विचार करते हैं कि पर्यायका अर्थ है प्रजा; अल्प रागद्वेषकी प्रजा हो उसमें रुकना मुझे रुचिकर नहीं है. मैं तो निर्दोष ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ। ज्ञानीको द्रव्यदृष्टिके बलसे अल्प विकारी पर्यायमें रुकना पसन्द नहीं है, वे उसे अलग करते हैं—समाधान करते हैं।

भाई ! द्रव्यदृष्टिके बलमें निःसन्देह—निःशंक हो जाओ ! श्रद्धाके बलमें चारित्र और केवलज्ञानके सभी भाव विद्यमान हैं वे प्रगट होंगे। इस समयसार शास्त्रकी रचना ऐसे बलवान योग हुई है कि जो पात्र हो वह तुरन्त समझ जाता है।

अधिकाश व्यक्ति कहते हैं कि इसमे तो मात्र ज्ञान ही ज्ञान आता है, परन्तु यहाँपर तो आचार्यदेवको ज्ञान कहकर सम्पूर्ण आत्माका वर्णन करना है। ज्ञानका अर्थ है आत्मा, ज्ञानकी प्रसिद्धिसे आत्माकी प्रसिद्धि है, मिठासके द्वारा गुडकी पहिचान होती है—उसीप्रकार ज्ञानमें सम्पूर्ण आत्माका कथन करना है किन्तु एक गुणका नही। ज्ञानमे श्रद्धा, चारित्र आदि अनन्त गुण आजाते हैं। बालक–बालिकायें–सभी ज्ञानसे समझ सकते है इसलिये आत्माको पहिचाननेके लिये ज्ञान ही मुख्य लक्षण कहा है, परन्तु वहाँ एक गुण न समझकर सम्पूर्ण आत्मा ही समझना चाहिये। ज्ञान स्वभावी आत्माका ज्ञान करना, उसकी प्रतीति और उसमे रमणता करना ही मोक्षमार्ग है।

जो विकारी भाव हैं सो मैं हूँ और यह मेरा कार्य है—ऐसा मिथ्या भाव दूर करनेसे ज्ञानपर्याय प्रगट होती है और उससे बन्धका निरोध होता है। ७१।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि—ऐसा क्यों कहा है कि ज्ञान-मात्रसे ही बन्धका निरोध होता है ? अरे भाई! ज्ञानमात्रका अर्थ है—बीचमें विकारका न होना, परके बन्धन और पुण्य-पाप वृत्तियोंसे रहित अकेला ज्ञानमात्रभाव, और उस ज्ञानमे दर्शन–ज्ञान–चारित्र सब कुछ आ जाता है। ज्ञानकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और एकाग्रता—तीनो आ जाते हैं।

ज्ञानमात्रसे अबन्ध किसप्रकार है—उसके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्ति कुणदि जीवो।७२।

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीत भावं च।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीव ॥७२॥

अर्थः—आस्रवोकी अशुचिता और विपरीतता जानकर तथा वे दुःखके कारण है—ऐसा जानकर जीव उनसे निवृत्ति करता है।

आचार्यदेव कहते है कि आस्रव, अशुचिमय हैं, शुभाशुभ—दोनो भाव आस्रव हैं, वे दोनो मलिन हैं और अशुचिमय है। अशुभभाव तो मलिन है ही, परन्तु शुभभावोको मलिन कौन कहता है ? जिसने ऐसा निर्णय किया हो कि—आत्मस्वभाव शुभाशुभ भावोंसे रहित महा निर्मल एव शुद्ध है। जिसने स्वभावका आस्वाद लिया हो वह पुरुष कहता है कि शुभभाव भी आस्रव है—मलिन है और मात्र शुभभावमे ही धर्म माननेवाले अज्ञानी जीव अकेले अशुभ भावोको आस्रव कहते हैं, किन्तु शुभभावोको आस्रव न कहकर धर्म कहते हैं—यह उनकी अज्ञानता है—मूढता है।

ज्ञानी पुरुष यह जानकर कि—शुभाशुभ भावरूप आस्रव दुःखरूप हैं—दुःखके कारण हैं, उनसे निवृत्ति करते है और ज्ञानमात्र आत्मस्वभावमे प्रवृत्ति करते है। आचार्यदेवने इस गाथाको वहुत उच्च स्तर पर रखा है।

जलमे जो काई है वह मल है—मैल है। जलमे जो हरे रङ्गके लोथडे जमे रहते है वे भिन्न है और स्वच्छजल भिन्न है, उसी-प्रकार काई की भाँति आस्रव मलिन है और आत्मा तो निर्मल पवित्र है, वह आस्रवोसे पृथक् है। आस्रवोका वेदन क्रोधादि—मलिनरूप होनेसे वे मैले है। जिन भावोंसे तीर्थङ्कर गोत्रका वन्ध होता है वे भाव भी अशुचिमय है, गन्दे है, मैले हैं, राग है। जिन भावोसे इन्द्रपदकी प्राप्ति होती है वे भी आत्मामे काई की भाति है, मैले है, वह अपना स्वभाव नही है, इसलिये त्याग करने योग्य—हेय है। सम्यक्त्वी जीव उन भावोंको आदरणीय नही मानता किन्तु छोडनेयोग्य ही जानता है। अज्ञानी उन भावोको आदरणीय मानता है, तथापि उसके इंद्रपद, तीर्थङ्कर पद इत्यादि उच्च पदवीके शुभभाव नही होते, इससे वैसा उच्चपुण्य भी उसके नही वँधता। ज्ञानी शुभपरिणामोको हेय मानता

है तो भी उतनी उच्च पदवीके शुभपरिणाम उसके होते हैं, इससे तीर्थङ्करपद, इन्द्रपद आदिका पुण्यवन्ध भी उसके होता है।

आस्रवोको अशुचिमय कहा है, तो क्या उनसे दुर्गंध आती होगी ? हाँ ! पुण्य-पापके परिणाम अशुचिमय हैं, अपवित्र हैं, दुर्गंधयुक्त है, और आत्माके स्वभावसे विल्कुल विरुद्ध जातिके हैं।

भगवान आत्मा तो निरन्तर अत्यन्त निर्मल, चैतन्यमात्र-स्वभावरूप अनुभवमे आता है इसलिये शुचि है—पवित्र है—उज्ज्वल है।

देखो ! भगवान आत्माको अत्यन्त निर्मल कहा है, मात्र निर्मल नही कहा, किन्तु अतिनिर्मल कहा है। पदार्थ स्वतः निर्मल है, उसका गुण निर्मल है और उसकी कारणपर्याय भी निर्मल है—इस-प्रकार तीनोकाल पदार्थ अतिनिर्मल है। जो त्रिकाल वीतरागविज्ञान स्वरूप हो उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा तो अत्यन्त शुचि, पवित्र और उज्ज्वल है, एवं वैसे परमपवित्र भगवान आत्माका भान होने पर आत्मा यथावत् ज्ञात होता है, अनुभवमें आता है। भगवान आत्माका स्वाद तो मिष्ट-मधुर है, परम-पवित्र है, शुचिमय है, और शुभाशुभ परिणामरूप आस्रवोका स्वाद मलिनरूप अनुभवमें आता है, शुभाशुभ दोनो परिणाम आकुलतामय हैं, दुःखरूप हैं, अपवित्र हैं, इसलिये अशुचि हैं।

नदी—सरोवरका जल तो निर्मल है किन्तु ऊपर जो काई है वह मैली है, इसीप्रकार आत्मा तो निर्मल है परन्तु वर्तमान पर्यायमे होनेवाले विकार मैले हैं।

पुण्य-पापकी वृत्तिरूप आस्रव स्वतः अपनेको नही जानते किन्तु अन्य द्वारा ज्ञात होने योग्य हैं इसलिये जड हैं। पुण्यास्रवरूप शुभराग भी क्रोधादि है—क्रोधादिके विकारमे आत्माकी ज्ञाता शक्ति रुकती है, जाननेकी जागृति नही रहती, इससे वह आत्माका स्वभाव नही है किन्तु जड़ है, जड़के निमित्तसे होनेवाला विकार सो जड़ है।

क्रोध, मान, माया इत्यादिको यह खबर नही है कि हम क्रोध, मान, माया हैं अर्थात् उनमे परिणमन करनेवाला ज्ञान उस-समय अन्ध है, और उन क्रोधादि विकारोंसे भिन्न रहनेवाला ज्ञान उन्हे जान सकता है तथा अपने आत्माको भी जान सकता है। क्रोधादि मे परिणमित ज्ञान क्रोधादि–विकारको नही जान सकता और आत्माको भी नही जान सकता इससे वह अन्ध है।

आचार्यदेवने प्रत्येक गाथामे भगवान आत्माको ही स्थापित किया है, ऐसी अपूर्व बातमे इन्कार मत करना, आँगनमे आकर लौटना मत।

भगवान आत्मा तो, स्वत. को निरन्तर विज्ञानघनस्वभावरूप होनेसे, स्वतः ही चेतक (ज्ञाता) है (स्वत को और परको जानता है) इसलिये चैतन्यसे अनन्य स्वभाव वाला है (अर्थात् चैतन्यसे अन्य स्वभाववाला नही है)।

विज्ञानघन कहनेमे परिपूर्ण निर्मल विज्ञानघन लिया है, विज्ञानघन अर्थात् आत्मा ज्ञानका पिंड है, वह **निबिड** है, कठिन है, निर्भेद्य है कि जिसमे किसी परका प्रवेश नही हो सकता, ऐसा ज्ञाता निर्भेद्य आत्मा स्वतः चेतक है—ज्ञाता है, वह अपने द्रव्य, गुण, पर्यायको जानता है और अन्य समस्त पदार्थोंके द्रव्य, गुण, पर्यायको भी जानता है। परपदार्थके अनन्तभावोको जानता है तथापि परका कोई अश अपनेमे प्रवेश नही कर सकता—ऐसा ज्ञाता घनरूप है—निर्बन्धरूप है। ज्ञाता स्वभाव आत्माका अनन्य स्वभाव है, एकरूप है, पृथक् स्वभाव नही है। पराश्रयरूप व्यवहार रत्नत्रय है वे विकारी भाव अपनेको भी नही जानते और परको भी नही जानते। विज्ञानघन आत्मा स्वत. अपनेको भी जानता है और परको भी जानता है।

ऐसे विज्ञानघन चैतन्यस्वभावको जाननेसे ही स्व–परका यथार्थ ज्ञान होता है और उसीसे बन्धन रुकते है, स्वभावको प्रगट करनेका और बन्धनको रोकनेका यह एक ही उपाय है, अन्य कोई नही।

कोई कहे कि—यह जाननेमे प्रत्याख्यान तो नही आया, फिर वन्धन कैसे रुकेगा ? अरे ! चैतन्यतत्त्वका यथार्थ ज्ञान होने पर उसमें नि शंकतासे स्थिर हुआ वही प्रत्याख्यान है। यथार्थ ज्ञानके विना अज्ञानी प्रत्याख्यानके स्वरूपको नही जान सकेगा वह शुभभावरूप प्रत्याख्यानको ही प्रत्याख्यान मानेगा, परन्तु शुभभावरूप प्रत्याख्यान वन्धनरूप है और स्वरूपकी रमणता–स्थिरतारूप प्रत्याख्यान ही अवन्धनरूप है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होनेपर ही अनन्त संसारके कारणरूप वन्ध रुक जाता है। पश्चात् अल्पवन्ध रहता है उसे गिनतीमे नही लिया है और वह भी स्वरूप स्थिरता होने पर अल्पकालमे नाश होना ही है इसलिये सम्यग्ज्ञान होने पर ही वन्धन रुक जाता है। ससारके नाश करनेका उपाय चैतन्यस्वरूप आत्माको पहिचानना ही है, अन्य कोई उपाय नही।

यह अधिकार कर्ताकर्मका चल रहा है। कर्ता अर्थात् होनेवाला, वह यथार्थ रीतिसे तो अपने स्वभावका ही होनेवाला है और जो स्वभावरूप अवस्था होती है वही वास्तवमे कर्ताका कर्म है। विकारभावरूप कार्यका कर्ता वह वास्तवमे नही है।

यहाँ टीकाके प्रथम वोलमे कहा है कि आस्रव मलिन हैं और आत्मा निर्मल है, फिर दूसरे वोलमे कहा है कि—आस्रव जड हैं इसलिये वे स्व-परको नही जानते और भगवान आत्मा विज्ञानघन स्वभाव होनेसे चेतक—ज्ञाता है, इससे स्व और परको जानता है। शुभाशुभ परिणामरूप आस्रव जडके निमित्तसे होते है, इसलिये उन्हे जड कहा है, उन विकार भावोको स्व-परका ज्ञान नही होता इससे भी उन्हे जड कहा है।

ज्ञानी विचार करता है कि मैं विज्ञानघन हूँ, विभाव विभावोको नही जानते और मुझे भी नही जानते, मैं विभावोको जानता हूँ और अपनेको भी जानता हूँ—ऐसा विज्ञानघन स्वभाव हूँ।

अनेक व्यक्ति कहते हैं कि यह वात तो धनवालोको और सुशिक्षित पुरुषोके रुचने योग्य है, कुछ करना नही है और मात्र बातें

बनाना अनुकूल पडता है इसलिये धनवान और विद्वान सभी एकत्रित होते है, किन्तु अरे भाई ! धर्मका तो महान चक्रवर्ती, वासुदेव और बलदेवोने भी आदर किया है, वे ससारमे राजपाट आदि करते थे तथापि अन्तरङ्गमे तो उनसे विरक्त थे, राज्य और लक्ष्मी पर विद्यमान अपनेको ऐसा मानते थे जैसे विष्टाके ढेर पर बैठे हो। लोग बाह्य योगोको धर्म मानते हैं किन्तु आत्माका धर्म आत्मामे होगा अथवा जडमे ? गृहस्थाश्रममे रहते हुए भी आत्माकी श्रद्धा और ज्ञान हो सकते हैं, आत्माका भान होनेपर परके कारण राग नही मानता पर-पदार्थोंके प्रति अनन्तगुना राग-द्वेष दूर हो जाता है, सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेके पश्चात् पाँचवी भूमिका आनेसे स्वरूपस्थिरतामे वृद्धि होने पर अणुव्रतके शुभपरिणाम आते हैं और विशेष वृद्धि होनेसे मुनित्व आता है। प्रथम यथार्थप्रतीति होती है फिर यथार्थ व्रत होते है। यथार्थ प्रतीति–रुचिके बिना यथार्थ ज्ञान नही होता और व्यवहार ज्ञान भी मिथ्यारूप–व्यवहाराभास होते है। अन्तरङ्गसे परपदार्थोंकी रुचि हटकर जब आत्माकी रुचि जागृत होती है उससमय अन्तरङ्गमे यह बात जमती है। जिन्हे आत्माकी रुचि जागृत हो, वे सभी (निर्धन अथवा धनवान) इस बातको सुलभतासे समझ सकते हैं। सत्यको सुनकर जो उसे समझनेका प्रयास करते है उन्हे यथार्थ प्रतीति होती है, सम्यग्दर्शन होता है और फिर सच्चे व्रत आते है। दुनियाँ दोरङ्गी है, जिसे जैसा अनुकूल पडता है वैसा ही कहता है, परन्तु सत्य त्रिकाल सत् है ।

क्रिया–कष्ट वालोको ऐसा विरोध लगता है कि कुछ क्रिया कष्ट करना नही ऐसी यह भेदज्ञानकी बातें अच्छी ढूँढ निकाली हैं ! अहा, क्या कहना है ! ऐसे भावोंका फल तो उस आत्माकी पर्यायमे आता रहता है ।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो ! ज्ञानघन आत्माकी श्रद्धा होनेसे अनन्त आस्रवका अभावरूप निर्जरा हो जाती है और उसमे स्थिरताकी वृद्धि होने पर केवलज्ञान होता है—ऐसी भेदज्ञानकी

महिमा है। भेदज्ञानका अस्वीकार करनेवाले अनन्तसंसारमें वृद्धि करनेवाले हैं।

अव तीसरे वोलमे कहते हैं कि आस्रव आकुलता प्रगट करनेवाले होनेसे दुःखके कारण हैं।

पुण्य–पापके दोनो भाव आकुलता प्रगट करनेवाले हैं, वे दोनो भाव वर्तमान समयमे भी दु.खरूप हैं और भविष्यमें भी दुःखके कारण हैं। कोई कहे कि जव विविध प्रकारके पक्वान्न–मिष्टान्न खाते हैं तव आकुलता कहाँ दिखाई देती है ? अरे भाई ! स्वतः को भूलकर परमे युक्त होना, उसमे हर्ष मानना ही आकुलता है, परवस्तुकी इच्छा की और परका उपभोग करने के भाव किये वही आकुलता है और दुःखमय भाव हैं।

पुण्य-पापके भाव आकुलता उत्पन्न करनेवाले हैं, और आत्माकी शांतिमें भङ्ग करनेवाले हैं इसलिये वे दुःखके ही कारण हैं। जिन भावोंसे इन्द्रपद मिले, चक्रवर्तीका राज्य मिले–वे भाव भी आकुलतामय हैं, इसलिये दुःखके कारण हैं। चक्रवर्तीका राज्य भी विनाशीक है वह आत्माको शरणभूत नही है इसलिये वे भाव भी दु खरूप हैं।

शुभभावोंसे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और अशुभभावोसे नर्कादि गतियोमे परिभ्रमण करता है, किन्तु वे दोनो भाव वन्धनरूप ही हैं। इसका अर्थ यह नही है कि पुण्यभाव छोड़कर पापभाव करना चाहिये, ऐसी तो वात ही नही होती, किसी ज्ञानीके वचन ही ऐसे नही होते।

परन्तु पुण्यभाव करते–करते धर्म होगा–ऐसा कभी हुआ ही नही, होता नही, और न होगा ही। पुण्य-पापके भाव तो कर्मके निमित्तका कार्य है इसलिये वे दु खके कारण हैं।

पुनश्च, भगवान आत्मा तो, निरन्तर निराकुलता–स्वभावके कारण किसीका कार्य और कारण न होनेसे दुःखका अकारण है, (अर्थात् दु.खका कारण नही है)

भगवान आत्मा निरन्तर–सदाके लिये निराकुलस्वभावरूप है इसलिये आत्मा पुण्य-पापकी वृत्तियोका कारण भी नही, और उनका कार्य भी नही है ।

चिदानन्द आत्मा तो स्वय सिद्ध है, वह किसीसे उत्पन्न नही हुआ इसलिये वह किसीका कार्य भी नही है, और आत्माने किसीको उत्पन्न नही किया । अरे ! पुण्य-पापके भावोको भी आत्माने उत्पन्न नही किया इसलिये वह उसीका कारण भी नही है । आत्मामे निर्मल श्रद्धा–ज्ञान चारित्रका होना वह विकारका कार्य नही है और विकारको आत्माने नही किया है । अज्ञानदशामे अज्ञानी विकार भावोका कर्ता है किन्तु वस्तुस्वभाव दृष्टिसे आत्मा कर्ता नही है, इसलिये आस्रव दु:खके कारण है और आत्मा दु:खका कारण नही है अर्थात् दु:खका अकारण है ।

इसप्रकार विशेष (अन्तर) देखकर जब यह आत्मा, आत्मा और आस्रवोका भेद जाने उसीसमय क्रोधादि आस्रवोंसे निवृत्त होता है ।

जब यह आत्मा ऐसा जानता है कि यह जो शुभाशुभ वृत्तिओकी मलिन अवस्था, क्षणिक अवस्था है सो मैं नही हूँ, मैं तो ज्ञाता आत्मा त्रिकाल निर्मल–पवित्र हूँ—इसप्रकार आत्मा और आस्रवोंके अन्तरको जाने उससमय परमे एकाग्र होना रुक जाता है और उसीसमय क्रोधादि–विकारी परिणामोसे निवृत्त होता है । क्योकि यदि उनसे निवृत्त न होता हो तो उसे आत्मा और आस्रवोके पारमार्थिक (सच्चे) भेदज्ञानकी सिद्धि ही नही हुई है । इसलिये क्रोधादिक आस्रवोकी निवृत्तिके साथ जो अविनाभावी है–ऐसे ज्ञानमात्रसे ही अज्ञानसे होनेवाले पौद्गलिक कर्मबन्धका निरोध होता है ।

आत्मस्वभावकी पहिचान, प्रतीति करके जो क्रोधादि भावोसे पृथक् नही होता, निवृत्त नही होता, भेद नही करता उसे भेदज्ञानकी सिद्धि ही नही होती । कोई कहे कि पहले क्रोधादिसे निवृत्त हो और

फिर भेदज्ञान हो जाये तो ? यह बात बिल्कुल मिथ्या है। जिस समय सम्यग्ज्ञान प्रगट होता है उसीसमय क्रोधादिकी निवृत्ति होती है, दोनोका समकाल है, प्रथम–पश्चात् है ही नही, अविनाभावीरूपसे एक साथ हैं। उपयोग परमे एकाकार है, उसमे से हटकर अपने स्वभावमे उपयोगकी रुचि और एकाग्रता होते ही क्रोधादि आस्रव निवृत्त होते है अर्थात् सम्यग्ज्ञान प्रगट होनेसे ही, अज्ञानसे जो कर्मबन्ध होता था वह रुक जाता है।

यह केवलज्ञानीकी बात नही, किन्तु अव्रती सम्यग्दृष्टिकी बात है। यह जो कहा गया है सो ही मार्ग है, यही सत्य पंथ है। सत्यके पथ पर सत्य मिलता है किंतु असत्यके पथपर सत्य नही मिलता। अनन्तकालसे पराङ्मुख दृष्टि रखकर जीवोने बहुत किया—शास्त्रोका अभ्यास किया, तप किये, व्रत किये, अरे ! दिगम्बर मुनि भी अनन्तबार हुआ है, वनमे फिरा, कठिनसे कठिन तप किये एकान्तवास किया, किन्तु वह सब पराङ्मुख दृष्टि रखकर किया और माना कि हमारा मोक्ष हो जायेगा किन्तु उससे कल्याणका एक अंश भी नही हुआ। मोक्षपर्याय प्रगट करनेकी जो रीति है और जो विधि है उस विधिके अनुसार प्रयत्न करे, माने और अन्तरङ्ग-वर्तन करे तो मोक्षमार्ग और मोक्षपर्याय प्रगट हो, तथा जो अपनेको अनुकूल हो वैसा मान लेनेसे मोक्षमार्ग अथवा मोक्षपर्याय प्रगट हो जाये—ऐसा तीनकाल, तीनलोकमे नही हो सकता।

एक भी व्रत, प्रत्याख्यान न हो तथापि आत्मप्रतीति हो सकती है। वह प्रतीति ऐसी होती है कि जैसी केवलज्ञानी और सिद्ध भगवानको होती है, वैसी प्रतीति स्त्री-पुरुष सभीको हो सकती है, अरे ! आठ वर्षकी बालिकाको भी हो सकती है। इससमय विदेह क्षेत्रमे आठ-आठ वर्षकी बालिकाएँ और बालक वैसी प्रतीति कर रहे है।

अज्ञानदशामे जैसे रागद्वेष करता है, वैसेके वैसे ज्ञानदशा होने पर नही करता, उनमे अन्तर हो जाता है, अधिक आसक्ति कम हो जाती है। कोई कहे कि अपनेको ऐसी खबर कब होती है कि अब मुझे सम्यग्ज्ञान हो गया है ? जैसे पैसा हो जाये तो खबर पड़ जाती है

उसीप्रकार यथार्थ–प्रतीति होने पर स्वतः को खबर पड ही जाती है। अपने यहाँ लक्ष्मी हो तो किसीसे पूछने नही जाना पडता, जब कि वह परवस्तु है और सम्यग्ज्ञान तो अपनी वस्तु है इसलिये वह स्वत से छिपी नही रहती।

जैसे दुर्जन और सज्जन–दोनो प्रतीति होने पर सज्जनकी ओर उन्मुखता होती है और दुर्जनकी उपेक्षा होती है उसीप्रकार आत्मा और आस्रवोका ज्ञान होनेसे आत्माकी ओर उन्मुखता बढती है और आस्रवोंसे छूट जाता है। ज्ञान होने पर कर्म सर्वथा नही छूट जाते किन्तु प्रथम विपरीत–मान्यता सर्वथा छूटती है और पश्चात् क्रमश रागादि सब छूट जाता है।

जैसे सर्पको सर्प समझकर पकडे और सर्पको रस्सी समझकर पकडे तो उसमे अन्तर है। सर्प पडा हो, किन्तु उसे रस्सी जानकर उठा ले तो उससे बचनेका उपाय वह नही कर सकेगा, बच्चेके झूलेकी ओर सर्प जा रहा हो, उससमय खबर पडे कि अरे! यह तो सर्प जा रहा है, तो होशियारी रखकर झट मुँहकी ओरसे उसे पकडकर बाहर फेंक देता है किन्तु बच्चेको नही काटने देता और ऐसी चालाकीसे पकडता है कि अपने हाथमे भी न काट ले। उसीप्रकार आत्मा और आस्रवोके भेदको न जाने तो आस्रवोंसे बचनेका उपाय भी न रहे, किन्तु मैं आत्मा ज्ञाता–द्रष्टा हूँ और यह क्रोधादिक मैं नही हूँ—ऐसा विवेक होनेके पश्चात् अल्प क्रोधादि होते अवश्य है किन्तु वे अपने आत्माको न काट लें—ऐसी होशियारी और जागृति तो उसके रहती ही है। अज्ञान अवस्थामे जो रागद्वेष होते है वे उसके ज्ञान–श्रद्धानको काट खाते हैं अर्थात् उसके विवेककी जागृति नही रहती, किन्तु आत्मा और आस्रवोका विवेक होनेके पश्चात्, भेद करनेके पश्चात् पहलेकी तरह क्रोधादिमे युक्त नही होता, अल्पभावसे युक्त होता है परन्तु उनमे भेद किये बिना नही रहता, और जो अल्प क्रोधादि होते है वे भी अल्प-कालमे छूटने ही वाले हैं।

शिष्य कहता है कि हे भगवन्! सम्यग्दर्शनका इतना अधिक

क्या माहात्म्य है ? यथार्थ ज्ञानमात्रसे ही बन्ध दूर हो जाता है, सो किसप्रकार ? उससे आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! सुन, परसे भिन्नत्वका जो ज्ञान है वह अज्ञान है अथवा ज्ञान ? यदि वह अज्ञान है, तो जो विकार है सो मैं हूँ, विकार मेरे हैं—इसप्रकार विकार और आत्मा–दोनोको अज्ञानतासे अभेद मानता था और ज्ञान होने पर भी वैसा ही हुआ, उससे विशेष कुछ नही हुआ ।

परके साथ एकत्वकी जो बुद्धि है सो अज्ञान है और भेदत्वकी बुद्धि है सो ज्ञान है । यदि एकत्वकी बुद्धिसे प्रवर्तन करता हो तो ज्ञान होनेसे कोई विशेषता नही हुई ।

पुनश्च, आत्मा और आस्रवोंका जो भेदज्ञान है, वह यदि ज्ञान हो तो वह विकारमे एकमेक होकर प्रवर्तन कर रहा है अथवा उसमें से कुछ निवृत्त हुआ है ? यदि वह उसीके उसीप्रकारसे राग-द्वेषमे युक्त होता हो तो अविवेकी ज्ञानमे और इस नाममात्र भेदज्ञानमे कुछ भी अंतर नही हुआ ।

यदि भगवान आत्मा ज्ञान होनेपर, पुण्य–पाप मेरे हैं और मैं इनका कर्ता हूँ—ऐसे भावोंसे मुक्त हुआ है, विकारोंसे पृथक् होगया है, ज्ञान आस्रवोंसे निवृत्त होगया है तो फिर ज्ञानसे ही बन्धका निरोध सिद्ध हुआ ।

जो अल्प राग-द्वेष होता है उसे यहाँ नही गिना है, यथार्थ दृष्टिके बलमे अल्प रागद्वेषकी गिनती नही है । ज्ञान होनेके पश्चात् अन्तरसे राग-द्वेष और विषय वासनासे निवृत्त हुआ है, उदास हुआ है; परका मैं कर्ता नही हूँ और यह मेरा कार्य नही है, मैं तो अपने ज्ञानका कर्ता हूँ और यही मेरा कार्य है–ऐसा भान करके, अंशतः स्वभावमे स्थित हुआ—इससे ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता है, जो अल्प राग-द्वेष रह गये वे सम्यग्दर्शनके बलसे दूर हो ही जायेगे, जो रह गया वह दूर होनेके लिये ही है, रहनेके लिये नही है, इसलिये ज्ञानमात्रसे ही बन्धका निरोध सिद्ध होता है ।

ऐसा सिद्ध होनेसे, पुण्यकी क्रियासे आत्माको दर्शन, ज्ञान, चारित्र होंगे—ऐसा विपरीत मानकर ज्ञानका निषेध करनेवाला अज्ञानका अंश जो क्रियानय है उसका खण्डन हुआ—क्रिया जडका खण्डन होगया।

और जो आत्मा एवं आस्रवोंका भेदज्ञान है वह भी यदि आस्रवोंसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है, सम्यग्ज्ञान होने पर राग-द्वेष यथावत् बने रहे, ऐसा नहीं होता, यह बाह्यक्रियाकी बात नहीं है किन्तु अन्तर-परिणतिकी बात है। पंचेन्द्रियके विषयोंमें ऐसी की ऐसी मिठासके वेदन करता हो, उनमें से सुखका स्वाद आ रहा है, ऐसा मानता हो, रुचिमें किंचित् परिवर्तन न हो, इन्द्रियविषयोंसे अंश-मात्र विरक्ति न हो, राग-द्वेष बिल्कुल न घटे और कहे कि मुझे ज्ञान हुआ है—तो वह शुष्कज्ञानी है किन्तु सम्यग्ज्ञानी नहीं है। इसप्रकार एकान्त ज्ञाननयका खण्डन हुआ।

सम्यग्ज्ञान अस्तिरूपसे है और राग-द्वेषका अभाव नास्तिरूप है। अस्ति-नास्ति दोनों स्वभावके पक्ष आना चाहिये, इसप्रकार यदि दोनों पक्ष आयें तो वह सम्यग्ज्ञान है।

दया, दान, पूजा, भक्ति, व्रत, प्रत्याख्यान आदि शुभभावोंसे आत्मा प्रगट नहीं होता, क्योंकि पुण्यादिभावोंकी आत्मामें नास्ति है, इससे नास्तिसे अस्ति प्रगट नहीं होती, असत्से सत्का विकास नहीं होता, इसप्रकार पुण्यादि भावोंसे आत्मा प्रगट नहीं होता, इससे अज्ञानका अंश जो क्रियानय है उसका खण्डन होगया।

पुनश्च, जो आत्मा है वह प्रगट ज्ञानरूप है और विकाररूप नहीं है—इसप्रकार यदि पर्याय सम्मिलित न आये, परसे निवृत्त हुई पर्याय साथमें न आये तो अस्तिका यथार्थ ज्ञान नहीं है, मात्र शुष्कज्ञान है, एकान्त ज्ञाननय है।

मात्र ज्ञान ही ज्ञान करता रहता है, किन्तु ज्ञानमें परकी—रागद्वेष की निवृत्ति नहीं होती—नास्ति नहीं होती। उसे अस्ति-नास्तिका अर्थात्

सम्पूर्ण आत्माका ज्ञान नही है इसलिये वह अकेला ज्ञान, ज्ञान करता है, वह अस्तिका ज्ञान भी मिथ्या है।

आत्मा ज्ञानरूप है और विकारभावरूप नही है। 'है' इसमे यदि क्षणिक विकारकी 'रहितता' न आये तो "त्रिकाल ज्ञानानन्दरूप सहितता" का सच्चा ज्ञान नही है, 'है'-'नही है' दोनो साथ नही आये, इसलिये सामान्य-विशेष दोनो एकत्रित नही हुए, सामान्य-विशेषका सम्पूर्ण ज्ञान नही हुआ, अनेकान्त नही हुआ, किन्तु एकान्त हुआ। निर्जरा अधिकारमे ज्ञान-वैराग्य दो शक्तियोका वर्णन किया है। 'सम्यग्दृष्टेर्भवति नियत ज्ञानवैराग्य शक्तिः' 'सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान और वैराग्य शक्ति होती है, वहाँ भी अस्ति-नास्ति दो भाव लिये है। सत्‌ज्ञान प्रगट हो और उतने अशमे विकार भावोका अभाव न हो, विकारभाव दूर न हो तो यथार्थ ज्ञान नही है किन्तु शुष्कज्ञान है, एकान्त ज्ञाननय है।

ज्ञानीके अल्प राग-द्वेष होते हैं तो भी वह अन्तरसे उनके प्रति उदास होता है। जैसे विल्ली उसी मुँहसे अपने वच्चोको पकडती है उसीसे चूहेको पकडती है, किन्तु 'पकडने, पकडनेमे अन्तर है' उसीप्रकार ज्ञानी गृहस्थाश्रममे हो, राज-पाटमें स्थित हो, स्त्री-बच्चे हो, अल्प राग-द्वेष होता हो, तथापि अन्तरसे उदास होते है, वे राज-पाट आदि सव संयोग उसे स्मशानमे रखे हुए पुष्पोकी भाँति प्रतीत होते हैं। चक्रवर्ती राजा ९६ हजार स्त्रियोंके समूहमे खडा हो किन्तु स्त्रियोसे कहता है—अरे रानियो! तुम यह न समझना कि हम तुम्हारे लिये यहाँपर रुके हुए हैं किन्तु हम अपने रागके कारण यहाँ पर रह रहे है, जब हम उस रागका त्याग कर देंगे उससमय एक क्षणमात्र भी नही रुकेंगे—ऐसा तुम निश्चय समझो। रानियाँ मनमे तो समझती ही हैं कि जव यह विरक्त होगा तव किसीके भी रोकनेसे नही रुकेगा, यह महावैराग्यकी मूर्ति है, यह तो अल्प रागके कारण यहाँ रहा है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टिका हृदय उदास होता है।

मिथ्यादृष्टिके राजपाट इत्यादि समस्त संयोग होते है, किन्तु

वह उनमे लिप्त रहता है, उनमे उसकी तन्मयबुद्धि होती है, सुखबुद्धि होती है। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी सयोगकी क्रिया एक सी दिखाई देती है किन्तु भावोमे उदय-अस्तका अन्तर होता है, दोनोके हृदय बिल्कुल विपरीत होते हैं। बिल्लीकी पकडकी भाँति–क्रिया तो एक तथापि भावोमे अन्तर होता है।

एक सास और वहू थी, उनमे बिल्कुल बनती नही थी। सासके एक लडकी थी जिसपर उसका अपार प्रेम था, किन्तु बहूसे हमेशा झगडती ही रहती थी, कभी उसके साथ मेल नही होता था। एकवार उसके लडकेने कहा–माँ अभी कमाई अच्छी हुई है तुम कहो तो दो हजारका गहना बहिनको और दो हजारका तुम्हारी बहूको बनवादूँ। तब माँ बोली बेटा! बहिनके लिये इतने गहनेकी आवश्यकता नही है, उसे तो पाँच सौ का ही गहना वहुत हो जायेगा, वहूको भले ही दो हजारका बनवा ले। तब लडकेको विचार आया कि ऐसा कैसे? प्रेम तो बहिनके ऊपर अधिक है, वहूके साथ तो बनती ही नही, परन्तु ठीक है! बहिन तो गहना लेकर दूसरेके घर चली जायेगी और बहूका गहना घरमे ही रहेगा, इससे माँ ऐसा कह रही है। देखो! जगतके जीव स्वार्थमे भी ऐसा विवेक करते है।

ज्ञानीको विवेक है कि मेरा स्वभाव तो मेरे घरमे ही रहेगा और विकार पर निमित्तसे होनेवाले भाव है, इससे परका है, इसलिये वह दूर हो जायेगा। अपने स्वभावकी प्रगट अवस्था घरमे रहेगी और विकारी अवस्था नष्ट होकर बदल जायेगी।

आस्रव अशुचिमय है, जड हैं, दु:खके कारण हैं, और भगवान आत्मा तो पवित्र है, ज्ञाता है, सुखरूप है। इसप्रकार लक्षणभेदसे दोनोको भिन्न जानकर आत्मा आस्रवोसे निवृत्त होता है और कर्मोंका बन्ध नही होता। आत्मा और आस्रवोका भेद जानने पर भी यदि आत्मा आस्रवोंसे निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही नहीं है।

अज्ञानभावसे जैसी आसक्ति करता था यदि वैसी की वैसी आसक्तिका पोषण किया करे तो वह ज्ञान ही नही, अज्ञान है।

शिष्य प्रश्न करता है कि अविरति सम्यग्दृष्टि ज्ञानीको मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धीके अतिरिक्त अन्य कर्म–आवरण तो बँधते हैं, तब फिर उसे ज्ञानी कहा जाये या अज्ञानी ?

उत्तरः—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही है। सम्यग्ज्ञानी अभिप्राय पूर्वकके आस्रवोंसे निवृत्त है, परके स्वामित्वसे निवृत्त है इससे उसे प्रकृतिओंका जो बन्ध होता है वह अभिप्रायपूर्वक नही होता।

जैसे किसीके शरीरमें रोग हो जाये तो क्या उस रोगके प्रति प्रेम होता है ? नही होता। इसीप्रकार ज्ञानी भोगको रोग समान जानते हैं, उसे उपसर्ग समझते हैं, और उपसर्गका प्रेम किसीको नही होता। ज्ञानीको भोगका योग आये तब उन्हे ऐसा लगता है कि अरे ! यह क्या ! वे उसको उपसर्ग समझते हैं, कठिन रोगकी पीड़ा मानते हैं, दुःखरूप जानते हैं। वे समझते हैं कि अरे ! यह मेरा स्वरूप नही है। ज्ञानी संसारमे स्त्री-कुटुम्बादिमे स्थित हों, तथापि वे उनके स्वामी नहीं होते, यह मेरे आश्रित हैं और मैं इनका रक्षक हूँ—ऐसा स्वामित्व वे स्वीकार नही करते। जैसे कोई पुरुष अपने मार्ग पर जा रहा हो और वहाँ कहींसे दुर्गन्ध आई, किन्तु वह गन्ध लेनेकी उसे रुचि नही है; वैसे ही ज्ञानीको आत्मारामरूपी उपवनकी प्रतीति होने पर, बीचमे पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण वह भले ही स्त्री-कुटुम्बके रागमे स्थित हों किन्तु उसे वे विष्टाकी दुर्गन्ध मानते हैं, वह गन्ध लेनेकी रुचि ज्ञानीको नही है; अल्प राग-द्वेष हो जाते हैं किन्तु उनका राग ज्ञानीको नहीं है, विकारकी विष्टामे खडे रहनेकी रुचि नहीं है—इससे उनके बन्ध नही होता।

ज्ञानी पापकी वृत्तियोंको तो उपसर्ग मानते ही हैं किन्तु पुण्यकी वृत्तियोंको भी उपसर्ग समझते हैं, दुःखरूप जानते हैं। वे पुण्यपरिणामोंके भी स्वामी नहीं होते। जबतक अपूर्ण हैं तबतक अशुभ परिणामोंसे बचनेके लिये बीचमे पुण्य-परिणाम आते अवश्य हैं, किन्तु ज्ञानी उनके स्वामी नही होते, उन्हे हेय जानते हैं, उनसे निवृत्त होनेकी ही इच्छा रखते हैं इससे उनके बन्धन नही होता।

जहाँ ज्ञानस्वरूप आत्माके स्वभावका ज्ञान हुआ कि, फिर ज्ञानी विकारभावोका कर्ता नही होता और उसका वह कार्य भी नही है। ज्ञान होनेके पश्चात् कितने ही राग-द्वेप रहते है परन्तु जो मिथ्यात्व सम्बन्धी बन्ध नही है। मिथ्यात्व सम्बन्धी वन्ध जो कि अनन्त-ससारका कारण है, वह यहाँ पर प्रधानरूपसे विवक्षित (कहनेकी धारणा) है, अविरति आदिसे जो बन्ध होता है वह अल्पस्थिति-अनुभाग वाला है, दीर्घ संसारका कारण नही है, इससे वह प्रधान नही गिना है।

धर्मी राजकाजमे हो परन्तु उसे भान है कि मै तो एक पृथक् शुद्ध पवित्र वस्तु हूँ-इसप्रकार शुद्धताका भान हुआ वहाँ-स्व शुद्धताके भानमे, यदि अल्प अशुद्धता हो तो उस बन्धको यहाँ नही गिना है, अल्प है वह दूर करनेके लिये ही है, फिर वह भले ही चक्रवर्तीका राज्य हो, बाह्यके योग अघातिकर्मके उदयके कारण अधिक हो परन्तु अन्तरङ्गमे परसे निराले चैतन्यस्वभावका भान है इससे उसे बन्ध नही है। सैन्यमे खडा हो, क्रोध करता हो, किन्तु वह उनका स्वामी नही, साक्षी है। यह जो विभाव हैं सो मेरा स्वभाव नही है, विकारसे अशत निवृत्त हुआ है, और पूर्णस्वरूपके आश्रय पूर्वक स्वभावमे अशतः स्थिर हुआ है; अनन्तानुबन्धी दूर होकर स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ है, परन्तु पाँचवी भूमिका नही है, व्रतके परिणाम नही आये हैं, चारित्र ग्रहण करने योग्य अन्तरआसक्ति दूर नही हुई है-इससे अल्पबध होता है, परन्तु उसे यहाँ नही गिना है।

किसी ज्ञानीके अघातिकर्मके उदयसे बाह्य योग अधिकाधिक दिखाई दे और अज्ञानी नग्न-दिगम्बर मुनि होकर बैठा हो, तो भी वास्तवमे वह त्यागी नही है, बाह्यके त्याग-अत्याग परसे अन्तरङ्गका माप नही है। अज्ञानी बाहरसे शात दिखाई देता हो, ईंधन रखकर जला डाले तो भी क्रोध न करे, किन्तु परसे पृथक् स्वाश्रय आत्माका भान नही है इससे वह बन्धमे पडा है, मोक्षमार्गमे नही।

ज्ञानीके किंचित् क्रोध आजाये, अस्थिरता होजाये, किन्तु मेरा क्षमावन्त वीतराग स्वभाव पृथक् है—उसका भान है, अस्थिरताको दूर करनेका और स्थिरतामे वृद्धि करनेका प्रयास है—इससे वह बन्धमार्गमे नही किन्तु मोक्षमार्गमे प्रवर्तमान है ।

प्रथम नम्बरके अज्ञानी बाह्यवेषको देखकर परीक्षा करते हैं । दूसरेके नंबर अज्ञानी बाह्यक्रियाको देखकर परीक्षा करते है । और तीसरे नम्बरके जीव तत्त्वदृष्टिसे परीक्षा करते है कि इसे परसे भिन्न आत्माकी प्रतीति है या नही ? पर-शरीरादि और अन्तरङ्गमे होनेवाली पुण्य-पापकी जो वृत्तियाँ हैं उनका मैं कर्ता नही हूँ और वह मेरा कार्य नही –ऐसी निरुपाधि श्रद्धा प्रगट हुई है या नही ? इसप्रकार परीक्षा करते हैं । ऐसी तीसरे नम्बरकी परीक्षा करने वाला पात्रजीव है ।

श्री कुन्थुनाथ, श्री शातिनाथ और श्री अरहनाथ–यह तीन तीर्थङ्कर भगवान चक्रवर्ति थे, तीर्थङ्कर पद पर आये थे और उसी भवमे मोक्ष जानेवाले थे । ससारमे थे तब छह खण्डकी साधना करते थे, अपने राज्यकी वृद्धिके लिये अन्य राजाओसे युद्ध करने जाते थे । चक्रवर्तिके पास एक ऐसा खड्ग होता है कि जिसकी सेवा हजार देव मिलकर करते हैं, उनकी आयुधशालामे एक ऐसा चक्ररत्न होता है जिसकी हजार देव सेवा करते है, उनके यहाँ एक शिल्पकार, किसान आदि होते हैं उनकी सेवाको भी हजार देव रहते हैं–इत्यादि चक्रवर्तीकी ऋद्धि इतनी अधिक होती है कि साधारण जीवोको उसका विचार आना भी असम्भव है । चक्रवर्ती ससारमे थे परन्तु अन्तरङ्गसे उदास थे, युद्ध करने जाते, परन्तु परसे भिन्न स्वाश्रय चैतन्य भगवानका भान था । परसे निराला मेरा आनन्दघन चैतन्यस्वभाव भिन्न है—उसका भान प्रवर्तमान रहता है, बाह्यसंयोग और अन्तरमे उठनेवाली वृत्तियाँ भी मेरे आत्मभानको लाभ-हानि नही कर सकती, यह जो अपूर्ण पर्याय है सो मेरे पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण है, मेरे गुण मुझमे विद्यमान हैं, मैं अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे अपूर्ण हूँ–ऐसा बराबर जानता है, जो अल्प अस्थिरता होती है वह मेरे सम्यग्दर्शनको हानि नही पहुंचा सकती—

ऐसा श्रद्धाका बल ज्ञानीको होता है। वाह्यसे क्रियामे अधिकाश कपाय हो—ऐसा दिखाई दे, परन्तु अन्तरसे अल्प कषाय होती है।

भरत चक्रवर्ती और बाहुबली दोनो भाइयोमे जब युद्ध हुआ, तब सर्वसाधारणको ऐसा लगा कि—दोनो भाई सम्यग्ज्ञानी है, और इसी भवमे मोक्ष जानेवाले हैं फिर यह क्या ? परन्तु युद्धके समय भी भान है कि मैं इस सबसे भिन्न हूँ। युद्धका ज्ञाता है, क्रोध होता है, उसका भी ज्ञाता है, अपने शुद्ध, पवित्र, आनन्दघन स्वभावका भान प्रवर्तमान है, परन्तु अल्प अस्थिरता होती है इससे युद्ध कर रहे हैं। दोनो भाइयोमे युद्ध हुआ उसमे भरत चक्रवर्ती जीत न सके, तब अतमे उन्होने बाहुबलिजी पर चक्र फेका, परन्तु चक्र गोत्र गरदन नही करता, और फिर बाहुवलीजी चरमशरीरी थे इससे भी चक्र काम नही करता था। उससमय वाहुवलीजीको वैराग्य आया कि धिक्कार है इस राज्यको ! अरे ! इस जीवनमे राज्यके लिये यह क्या ? ज्ञानी पुण्यसे भी सन्तुष्ट नही और न पुण्यके फलसे ही। बाहुबलीजीको विचार आये कि मैं चिदानन्द आत्मा परसे भिन्न हूँ, यह मुझे शोभा नही देता ! इसप्रकार वैराग्य आने पर मुनित्व ग्रहण किया। बिल्ली जिस मुँहसे अपने वच्चेको पकडती है उसी मुँहसे चूहेको भी पकडती है, किन्तु पकडमे अन्तर है, उसीप्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी क्रियाएँ एक सी दिखाई दे किन्तु भावोमे अन्तर होता है।

मिथ्यात्व सहित ज्ञानको अज्ञान कहा जाता है, और जब सम्यग्दर्शन प्रगट हो तब अज्ञान नही किन्तु ज्ञान ही है। चारित्र सम्वन्धी कमजोरीसे जो विकार है उसका स्वामी ज्ञानी नही होता, इससे ज्ञानीके वन्ध नही है, क्योकि जो विकार है सो बन्धरूप है और बन्धका कारण है, वह तो बन्धकी पक्तिमे है, ज्ञानकी पंक्तिमे नही है इसलिये ज्ञानीके बन्ध नही है।

यहाँ कलशरूप काव्य कहते है—

(मालिनी)

परपरिणतिमुज्झत् खंडयद्भेदवादा-
निदमुदितमखण्डं ज्ञान मुच्चंडमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्ते-
रिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबंधः ॥४७॥

अर्थः—पर परिणतिको छोड़ता हुआ, भेदके कथनोको नष्ट करता हुआ, यह अखण्ड एव अति प्रचण्ड ज्ञान प्रत्यक्ष उदयको प्राप्त हुआ है। अहो! ऐसे ज्ञानमे (परद्रव्यके) कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिका अवकाश कैसे हो सकता है? और पौद्गलिक कर्मवन्ध भी कैसे हो सकता है? (नही ही हो सकता।)

मैं आत्मा निर्मल हूँ, पवित्र हूँ, शुद्ध चिदानन्द मूर्ति हूँ, पुण्य-पापके भाव मेरे स्वरूपमे नही हैं—ऐसा भान होने पर परिणतिका त्याग करता हुआ, भेदके कथनोको विदीर्ण करता हुआ, अत्यन्त प्रचड अर्थात् तीक्ष्ण ज्ञान प्रत्यक्ष उदित हुआ है।

अहो! मेरे सच्चिदानन्द स्वरूपमे ऐसा कैसे हो सकता है कि मैं पर पदार्थोका कर्ता हूँ, और पर-पदार्थ मेरे कार्य हैं? ऐसे ज्ञानमे कर्ताकर्मका अवकाश ही कैसे हो सकता है? नही हो सकता। इसलिये नवीन कर्मबन्ध भी कहाँसे होगा? नही ही होगा।

आत्मा परसे और रागादिसे निराला है—ऐसा भान हुआ, अर्थात् शेष राग भी नाशके खातेमे पहुँच गया, रखनेके लिये नही रहा, इससे ज्ञानीको नवीन वन्ध होता ही नही।

जो परसे निराली शुद्ध अवस्था परिणमित होती है, परिवर्तित होती है, उसमे कर्ताकर्मको और नवीन वन्धको स्थान ही कहाँ है? अवकाश ही कहाँ है?

अल्प विकाशके कारण ज्ञेयके निमित्तसे ज्ञानमे जो खण्ड होते थे, खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे उनके वदले अव अखण्ड ज्ञान उदित हुआ अर्थात् एक ज्ञानमात्र आत्मा अनुभवमे आया।

मैं अखण्ड ब्रह्ममूर्ति हूँ, उसमे राग-द्वेषकी अवस्थाके भेद नही हैं। इस विकारकी तो बात ही क्या है! किन्तु मतिश्रुतकी अवस्थाके भेद भी अखण्ड स्वरूपमे नही हैं, इसप्रकार भेदकेके कथनोको खण्डित करता हुआ अखण्ड ज्ञान उदयको प्राप्त हुआ है। अहो! अखण्ड प्रचण्ड परसे पृथक् ज्ञान पिण्ड उदित हुआ है।

पर-परिणति अर्थात् विकारी भावोको त्याग करता ज्ञान उदित हुआ है, अर्थात् पहले तो छोटे-छोटे कामोमे, विकारी भावोमे रुकता था, लडका कुछ अच्छी तरहसे बुलाये तो फूल उठे, सुन्दर मकान देखे तो प्रसन्न हो जाये, घरमे गायके बछडा पैदा हो तो देखकर आनन्दकी मर्यादा न रहे, अरे! और तो और कोई एक बीडी या पान लाकर दे तो लट्टू हो जाये—इसप्रकार तुच्छसे तुच्छ बातोमे सन्तुष्ट होता था, परन्तु जहाँ श्री गुरुके प्रतापसे भेदज्ञान प्रगट हुआ, प्रचण्ड–तीक्ष्ण ज्ञान उदित हुआ कि कही न रुककर अपने स्वभावमे ही स्थिर हो गया। अरे! मेरे स्थिर होनेका स्थान अन्यत्र नही है, राग-द्वेष, क्रोध, विषयवासना–यह मेरा स्वभाव नही है, मेरा गुण तो मेरे पास ही है, मेरे चैतन्यस्वभावके अतिरिक्त जगतमे कोई श्रेष्ठ नही है, मेरे स्वभावका मुझसे किसी भी दिन वियोग नही होगा, इसलिये मेरे रुकनेका स्थान तो मेरा स्वभाव ही है—ऐसा आत्माका अपूर्व भान होनेसे विकारको छोडता हुआ–परपरिणतिको नष्ट करता हुआ ज्ञान प्रगट हुआ, इससे जो ज्ञान परमे युक्त होता था वह स्वत मे स्थिर होने लगा।

प्रचण्ड है अर्थात् ज्ञान बलवान, तेजवान है, तीक्ष्ण है। जैसे तेज अग्नि सूखे ईंधनको तो जलाती ही है, किन्तु गीली लकडियोको भी जला देती है, इसीप्रकार मैं शुद्ध चैतन्यमूर्ति हूँ—ऐसी उग्रता ज्ञानमे हुई कि रागद्वेषको जलाकर भस्म कर देता है और कर्मोके चाहे जैसे प्रबल विपाकके रसको जला डालता है। जैसे सूर्यका तेज सर्दीको हटा देता है उसीप्रकार चैतन्यसूर्य–ज्ञानसूर्यकी उग्रता होने पर नवीन बन्ध नही हो पाता।

ज्ञेयोंके निमित्तसे तथा क्षयोपशमके विशेषसे ज्ञानमें अनेक खण्डरूप–रागरूप प्रतिभासित होते थे अर्थात् ज्ञान परोन्मुख होता था, ज्ञेयोंमें रुकता था–इससे खण्ड होते थे। जब वह ज्ञान अपने अभेदस्वरूपकी ओर उन्मुख हुआ तब उसे अखण्ड विशेषण दिया। मतिज्ञानादि जो ज्ञानके भङ्ग-भेद हैं, भेदोंकी ओरसे ज्ञान अपने स्वभावकी ओर उन्मुख हुआ; वह भेदकी ओर नहीं किन्तु अभेद स्वभावकी ओर ढला–इसलिये भेदके कथनोंको विनष्ट करता हुआ–ऐसा कहा, और ज्ञान स्वोन्मुख हुआ अर्थात् पर परिणतिको छोड़ता हुआ प्रगट हुआ–वैसा कहा। स्वोन्मुख हुआ इससे परपरिणति सहज ही छूट गई। स्वतः की ओर उन्मुख हुआ इसलिये ज्ञान बलवान हुआ।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभु ! किसप्रकार यह आत्मा पुण्य–पापके भावोंसे निवृत्त होता है ? उनका उत्तर गाथारूपमें कहते हैं :—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो।
तह्मि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७३॥

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥७३॥

अर्थः—ज्ञानी विचार करता है कि मैं निश्चयसे एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूँ। उस स्वभावमें रहता हुआ, उसमें (उस चैतन्य-अनुभवमें) लीन होता हुआ (मैं) इन क्रोधादिक सर्व आस्रवोंको क्षयकी प्राप्ति कराता हूँ।

धर्मात्मा–धर्मी जीव ऐसा विचार करता है कि मेरा आत्मा वास्तवमें एक ही है, मेरा आत्मा मलिनता रहित बिल्कुल शुद्ध है, मैं आत्मा ममत्वरहित हूँ, ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूँ, अर्थात् जानने और देखनेसे ही मैं परिपूर्ण हूँ; ज्ञाता-द्रष्टा और उसमें स्थिरता करनेवाला मैं चैतन्यके अनुभवमें लीन होता हुआ इन क्रोधादि आस्रवोंको क्षयकी प्राप्ति कराता

हूँ। विपरीत दृष्टि, काम, क्रोध, स्नेह-राग, यह सब मेरा स्वरूप नही है अर्थात् मैं उन सबका नाशक ही हूँ।

कोई कहे कि आत्मा पूर्ण कब कहलाता है ? उसका उत्तर यह है कि वस्तुतासे आत्मा त्रिकाल पूर्ण ही है, वर्तमानमे भी रागद्वेष होने पर भी वस्तुदृष्टिसे पूर्ण है, परन्तु पर्यायदृष्टिसे अपूर्ण है।

धर्मात्मा विचार करता है कि—मैं आत्मा प्रत्यक्ष अखण्ड, अनन्त चिन्मात्रज्योति, अनादिअनन्त, नित्यउदयरूप विज्ञानघन स्वभाव-रूप होनेके कारण एक हूँ।

प्रश्नः—स्वरूपकी दशाके साधक मुनिओका शरीर तो सूख जाता है न ?

उत्तरः—ऐसे प्रत्यक्ष चिन्मात्रआत्माका भान हो इसलिये बाह्यमे शरीर सूख जाये—ऐसा कोई नियम नही है। एक मुनिको देखकर किसी राजा ने यह विचार किया कि यह मुनि क्या खाते होगे ? क्या पीते होगे ? जिससे मुनिका शरीर इतना सुन्दर है ? मैं इतना महान राजा, तथापि मेरा शरीर ऐसा क्यो नही ? इसप्रकार मुनिको देखकर राजा आश्चर्यचकित हो गया। मुनिकी बाह्यऋद्धि देखकर राजाको अन्तरङ्ग आत्माका बहुमान आया और उससे उन्होंने धर्मका यथार्थ स्वरूप समझ लिया। शरीर और आत्मा बिल्कुल भिन्न है, दोनो पदार्थ पृथक् है—इत्यादि स्वरूप समझा। आत्माकी साधकदशाके साधनेवाले मुनिओका शरीर सुन्दर—सुशोभित भी होता है इससे यह सिद्ध होता है कि आत्माके स्वभावरूपी खाद्यपदार्थमे रमण करनेवाले मुनिओका शरीर सूख ही जाता हो—ऐसा कोई नियम नही है, उसीप्रकार मोक्षपर्यायके साधक मुनियोंके शरीरमे रोग नही आता, और उनके अन्तर आत्मामे अहिंसा प्रगट हुई है, इसलिये उस अहिंसाका प्रभाव बाह्यमे दूसरो पर भी पडे—ऐसा भी कोई नियम नही है। मुनियोंके शरीरमे रोग भी आते हैं और उन्हे सिंह—बाघ भी खा जाते हैं, क्योकि शरीर और आत्मा बिल्कुल भिन्न पदार्थ हैं। जहाँ आत्मस्वभावका भान

है वहाँ शान्तरसका प्रवाह होता है; शरीर और आत्माका वहाँ सम्बन्ध ही क्या है ? शरीर सशक्त रहे तो भी क्या ! और दुर्बल हो जाये तो भी क्या ! वह कही आत्माका स्वरूप नही है। आत्माके शान्तरसमे क्रीडा करनेके लिये लिये शरीरके साथ कोई सम्बन्ध नही है।

धर्मात्मा जीव विचार करता है कि मैं आत्मा प्रत्यक्ष अखण्ड, अनन्त चिन्मात्रज्योति हूँ; निश्चयसे मैं प्रत्यक्ष हूँ। यहाँ, प्रत्यक्ष है ऐसा कहा है, परोक्ष नही कहा, आत्मा तो प्रत्यक्ष ही है न ? आत्मा परोक्ष हो सकता है ! मतिश्रुतज्ञानी आत्माको यथार्थतया निःशंकरूपसे जान सकते हैं इसलिये वह प्रत्यक्ष है, और सम्पूर्णरूपसे केवलज्ञानी जान सकते है, इस अपेक्षासे परोक्ष है। परन्तु परमार्थसे-द्रव्यदृष्टिसे आत्मा प्रत्यक्ष है, क्योकि मतिश्रुतज्ञानी आत्माको बराबर जान सकते है। पुनश्च, कैसा है ? अखण्ड है-जिसमे कर्मके निमित्तसे भङ्ग या भेद नही होते।

और फिर अनन्त अपार स्वभाववाला है। आत्माका आदि भी नही और अन्त भी नही। धर्मात्मा विचार करता है कि मैं अनादि-अनन्त हूँ, स्वतःसिद्ध हूँ।

आत्मा कैसा है ? नित्य उदयरूप है। इस विशेषणमे बिल्कुल द्रव्यदृष्टिको लिया है, निमित्तकी अपेक्षाको निकाल दिया है। अपूर्ण और पूर्ण, मोक्ष और मोक्षमार्गकी पर्याय मुझमे नहीं है। द्रव्यसे, गुणसे, पर्यायसे-सर्वप्रकारसे मैं निर्मल हूँ। द्रव्य, गुण और द्रव्यकी कारणपर्याय-तीनो प्रगट है, आवरणरहित हैं; आत्मा प्रतिसमय-नित्य प्रगट है।

और ज्ञानी ऐसा समझते है कि विज्ञानघनस्वभावरूप होनेके कारण मैं एक हूँ, ज्ञानका घन हूँ अर्थात् निर्बन्ध हूँ, कर्मके निमित्तसे होनेवाले भाव मुझमे नही हैं, मैं तो उनसे रहित विज्ञानघन हूँ। द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे-तीनोसे स्थायी वस्तु हूँ, एक हूँ, जो अनेक विकारी भाव होते हैं वे मुझमे नही हैं।

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणस्वरूप सर्व कारकोके समूहकी प्रक्रियासे पार उतरी हुई जो निर्मल अनुभूति है—उस अनुभूतिमात्रके कारण मैं शुद्ध हूँ।

मैं राग-द्वेषका कर्ता[1] नही रहा, वे मेरे कार्य[2] नही रहे, मैं उनका साधन[3] नही हूँ, मैंने उन्हे रखा[4] नही है, वे मुझमे[5] से हुए नही हैं और उनको मेरा आधार[6] नही है। ऐसा विचार कौन करता है? धर्मी—ज्ञानी जीव विचार करता है कि मेरे स्वभावमे यह छह प्रकार हैं ही नही, यह रागद्वेष मेरे आधारसे हुए हो—ऐसा त्रिकालमे है ही नही।

मैं अवगुणोमे छह प्रकारसे कर्ता हूँ ही नही, क्योकि मेरे गुणोमे से कभी भेद पडे ही नही, इससे मैं अवगुणोका कर्ता हुआ ही नही, इसलिये मैं कर्ताकर्मकी प्रक्रियासे पार उतरा हुआ हूँ, उनके समूहसे पार हूँ।

" बन्ध—मोक्षकी पर्याय मैं नही हूँ, रागद्वेष भी मैं नही हूँ, वह मेरा कार्य नही है—ऐसा भान होने पर जो अल्प राग-द्वेष रहा उसका मैं स्वामी नही हूँ, मेरा स्वभाव तो निर्मल अनुभूति है, मैं निर्मल अनुभूतिस्वरूप हूँ इससे मैं शुद्ध हूँ, मैं आत्मा कर्ता और निर्मल अनुभूति मेरा कार्य है उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा कार्य नही है।

ज्ञान-दर्शनपूर्ण हूँ—ऐसा कहकर पर्यायसे भी परिपूर्ण लिया है। टीकामे यह कहकर कि मैं प्रत्यक्ष हूँ, परका आश्रय नही है, परोक्ष नही हूँ—यह तात्पर्य लिया है। अनादि-अनन्त कहकर कालसे अनादि-अनन्तता कहना सो उपचारसे है किन्तु नित्य-उदयरूप कहकर वर्तमानमे ही अपने समस्त भावोसे पूर्ण है। इस कर्ताकर्म अधिकारमें भेदज्ञानकी बात है अर्थात् पर्यायकी बात है, तथापि स्वतः अपूर्ण—अधूरी पर्याय जितना नही है अर्थात् अपूर्ण पर्यायसे भिन्न किया। और पर्यायसे परिपूर्ण है—वैसा बतलाते हैं। नित्य—उदयरूप विज्ञानघनस्व-भावभाव कहकर यह बताते हैं कि नित्य द्रव्य-गुण-पर्यायसे परिपूर्ण है। पर्यायकी परिपूर्णतामे त्रिकाली ध्रुवरूप कारण पर्याय ली है।

यदि अवस्थादृष्टिका लक्ष्य छोड़ दें तो वस्तु, वस्तु ही है, एकरूप ही है; परन्तु लोगोंको अन्तर बात समझमे नही आती, इसलिये जहाँ पर बाह्यकी बाते आती हैं वहाँ प्रसन्न हो जाते हैं, कोई बाह्यसे धर्म करना बतादे तो अनुकूल पड़ता है, यदि बच्चोको मिठाई बाँट दे तो धर्म होना मान लेते है, दूसरे लोगोंसे कहते हैं देखा ! हम कैसा धर्ममे पैसा लगाते हैं—इसप्रकार कर्तृत्वका अभिमान करते हैं, और यदि कुछ पैसा खर्च करते हैं तो इसप्रकार खर्च करेगे जिसमे चारो ओर नाम फैल जाये—ख्याति प्राप्त हो। ऐसे अभिमान के हेतुसे पैसा खर्च करनेमे कोई पुण्य नही होता, फिर धर्मकी तो बात ही क्या है।

अपनेको जाने बिना परके कर्तृत्वका अभिमान दूर नही होता। धर्मात्मा जीव राजकाजमें हो तथापि वह कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिसे निवृत्त ही होता है, कर्ताकर्मकी अवस्थासे पार हो गया है, अन्तरङ्गसे भ्रमका त्याग हो गया है, किन्तु ऐसा माननेवाला सारा घरबार छोड़कर त्यागी ही हो जाता है—ऐसा कुछ नही है, तथापि अन्तरसे भ्रान्ति दूर हो जाती है, यह बात यथार्थ है। भ्रान्तिका त्याग होनेसे ज्ञानी ऐसा मानते हैं कि परका अनुसरण करके होनेवाले जो भाव हैं वह मेरा कार्य नही है, मेरी कर्मण्यता नही है; किन्तु अपने चैतन्यका अनुसरण करके होनेवाले जो भाव हैं वह मेरा कार्य है। धर्मात्माके निर्मल अनुभूतिकी अवस्था प्रगट हुई है और स्वतः भी त्रिकाल उसरूप है, धर्मी जीव स्वतः ही शुद्धपर्यायमे वृद्धि करते-करते वीतराग होता है, दृष्टि और ज्ञान कारण है तथा चारित्र, उसका कार्य है।

पुद्गलद्रव्य जिसका स्वामी है—ऐसी जो क्रोधादि भावोकी विश्वव्यापकता है, उसके स्वामीरूपसे निरन्तर स्वतः परिणमित न होनेसे मैं ममत्वरहित हूँ।

धर्मात्मा जीव समझते हैं कि क्रोध, मान, राग-द्वेषादिका स्वामित्व जड़का है, मैं तो निर्दोष क्षमावन्त वीतरागस्वरूप हूँ और रागद्वेपका ज्ञाता हूँ; राग-द्वेष चैतन्यकी पर्यायमे होते हैं, तथापि मैं उनका ज्ञाता हूँ। क्रोधादि भावोंकी जो विश्वव्यापकता अर्थात् अनेकता

है उसके स्वामीरूप मैं नही होता, वे जडके निमित्तसे होनेके कारण जड हैं मैं विकारी भावोका स्वामी नही होनेसे ममत्वरहित हूँ, अल्प राग-द्वेप होते है, तथापि मैं स्वतः उनके स्वामीरूपसे परिणमित नही होता इसलिये मै ममत्वरहित हूँ। इसमे अनन्तपुरुषार्थ है, आत्माका भान होने पर अनन्तपुरुषार्थ प्रगट होता है और कर्तृत्व छूट जाता है, अनन्तपुरुषार्थ प्रगट होने पर ही कर्तृत्व छूटता है।

कितने ही लोग तो केवली भगवानको **ईरिया वहीया** क्रियाका कर्ता वतलाते है। अरे रे! विचारे जीव तत्त्वको नही समझते इसलिये कहाँसे कहाँ कर्तृत्वको लगा दिया। जो कर्तृत्व अज्ञानीके पहले गुण-स्थानमे होता है, उसे तेरहवें गुणस्थानमें केवली भगवानके कह दिया है। देखो तो! कितनी मूढता है, कितनी अज्ञानता है! कर्तृत्व तो चौथे गुणस्थानमे ही सम्यग्दर्शन होने पर छूट जाता है, फिर केवली भगवानके तो वह होगा ही कहाँसे? केवली भगवान तो सम्पूर्ण वीतराग हुए हैं, उनके एक विकल्पमात्र भी नही है फिर कर्तृत्वकी तो वात ही क्या है?

ज्ञानीके अल्प अस्थिरता होती अवश्य है, शुभाशुभभावरूप मलिन परिणाम भी होते हैं, परन्तु उन्हे ऐसी दृढ प्रतीति है कि मैं उसरूप किसी दिन नही हुआ, धर्मी जीव विकारी अवस्थाके कर्ता नही होते, किन्तु अपने स्वभावकी ही अवस्थाके कर्ता होते हैं।

ज्ञानी ऐसा समझते हैं कि पहले मैं अज्ञानतासे पर पदार्थको अपना माननेरूप अभिमान करता था, परकी खतौनी अपने खातेमे और अपनी परके खातेमे करता था, परपदार्थोंमेसे सुख प्राप्त करनेकी लालसा थी, स्वभावकी अरुचि थी, परन्तु वे परभाव कभी भी मेरे रूपमे नही थे। मैं अज्ञानताके कारण भले ही उन भावोंको अपनेरूप मानता था, तथापि कभी भी वे भाव मुझरूप नही हुए। जो अपनेरूप हो गया हो वह कभी हट नही सकता, परमार्थसे आत्मा यदि सदोषरूप होगया हो तो कभी निर्दोषरूप नही हो सकता, इससे मैं आत्मा त्रिकाल

निर्दोप पवित्र हूँ, ऐसे पवित्र स्वभावका भान होने पर ऐसा जानता है कि वे सदोष भाव कभी मुझमे थे ही नही, वे मेरा स्वरूप नहीं हैं, मैं उनका स्वामी नही हूँ, वे भाव परनिमित्तसे होते हैं इसलिये उनका स्वामी जड़ है। शुभाशुभ वृत्तियाँ चैतन्यकी पर्यायमे होती हैं परन्तु द्रव्यदृष्टिके वलसे उन्हे जड कह दिया है।

चैतन्यद्रव्यमे वे विकारीभाव थे नही, हैं नही, और होगे भी नही। देखो यह सम्यग्दृष्टिकी अन्तरप्रतीति! ऐसे निराले चैतन्यस्वरूपको जाने विना, प्रतीतिमे लिये विना भवका अन्त कैसे होगा? सम्यग्दृष्टिकी अन्तरोन्मुखता अपने शुद्ध स्वभावकी ओर होती है, यही अन्तरङ्ग भावना और यही अन्तरका जप है।

जो क्रोध, मान, राग इत्यादि विकारी भाव हैं उनके रूपमें परिणमित न होनेसे मैं ममत्वरहित हूँ, ममतारहित कहकर नास्तित्व वताया है। पहले यह कहकर आचार्यदेवने अस्तित्व वताया कि मैं एक हूँ, और शुद्ध हूँ। तत्पश्चात् यह कहकर कि विकारी भावोंका स्वामित्व मुझमे नही है, इससे मैं ममतारहित हूँ, नास्तित्व वताया।

चिन्मात्रज्योतिका (आत्माका) वस्तुस्वभावसे ही, सामान्य और विशेप द्वारा परिपूर्णत्व (सम्पूर्णत्व) होनेसे, मैं ज्ञान-दर्शन द्वारा परिपूर्ण हूँ। (वस्तुका स्वभाव सामान्य–विशेपरूप है। आत्मा भी वस्तु होनेसे वह सामान्य–विशेषरूप है अर्थात् दर्शन–ज्ञानस्वरूप है)

जव सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है तव मै भगवान आत्मा सामान्य और विशेपसे अर्थात् ज्ञाता–दृष्टा स्वभावसे परिपूर्ण हूँ, मेरे स्वभावमे पुण्य-पाप है ही नही–ऐसी दृढ प्रतीति होती है। इस-प्रकार प्रतीति और ज्ञान करके धर्मात्मा स्वरूपमे स्थिर होता है और स्थिरतामे वृद्धि करते–करते वीतराग होता है–उसका नाम चारित्र है।

प्रश्नः—धर्मीकी क्रिया यह है?

उत्तरः—हाँ, यह धर्मीकी अनन्त क्रिया है; चैतन्यके धर्मकी क्रिया चैतन्यमे होती है, परमे नही होती।

दर्शनोपयोग सामान्य है और ज्ञानोपयोग विशेष है। सामान्य अर्थात् भेद किये बिना। ज्ञान होनेसे पूर्व, परविषयसे रहित जो सत्ता-मात्र आत्मव्यापार है सो दर्शनोपयोग है, और प्रत्येक वस्तुको भिन्न-भिन्नरूप, रागके विकल्पके बिना जानना सो ज्ञानोपयोग है।

आत्मा कभी भी पुण्य-पापके विकारी भावरूप नही हुआ, और कभी दर्शन-ज्ञानसे पृथक् नही हुआ। आत्मा अनन्त गुणोका पिण्ड अनादि-अनन्त, परसे निराला, अखण्ड है-ऐसी प्रतीति करके उसमे स्थिर होना सो प्रतिक्रमण है, इसका नाम प्रायश्चित है। इस प्रतिक्रमण और प्रायश्चितसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। अब, चैतन्यकी अन्य द्रव्योके साथ तुलना करके उसे भिन्न बताते है।

इस गाथामे शिष्यने यह प्रश्न किया था कि आत्मा किसप्रकार आस्रवोंसे निवृत्त होता है? उसके उत्तरमे आचार्यदेवने कहा कि—मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्वरहित हूँ, ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूँ—ऐसा भान होनेसे आत्मा आस्रवोंसे निवृत्त होता है, बन्धन खुल जाते हैं। ऐसा-मैं आकाशादि द्रव्योकी भाँति पारमार्थिक वस्तु विशेष हूँ।

धर्मात्मा ऐसा समझते हैं कि—धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, काल इत्यादिकी भाँति मैं भी अरूपी वस्तु हूँ। आकाश-द्रव्य, उसके अनन्त गुण और पर्याय-वे सभी अनादि-अनन्त है आकाश अरूपी, उसके गुण अरूपी, उसकी पर्याय भी अरूपी है, वे तीनो एक होकर अखण्ड वस्तु है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और परमाणु इत्यादि वस्तु, वस्तुके गुण, और उमकी पर्याय अनादि-अनन्त निर्मल है। वे सब वस्तु है, वैसे ही मैं भी एक वस्तु हूँ, इसलिये मैं भी द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे अनादि-अनन्त निर्मल हूँ।

ऐसा-मैं आकाशादि वस्तुओकी भाँति पारमार्थिक वस्तु-विशेष हूँ, सभी द्रव्य, द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे त्रिकाल निर्मल है एक पृथक् परमाणु भी द्रव्य, गुण और पर्यायसे निर्मल है, तो फिर

मुझमे यह मलिनता कहाँसे आगई ? परके निमित्तसे होनेवाली सापेक्ष पर्यायमे मलिनता हुई है किन्तु मेरी निरपेक्ष पर्याय आकाशादि द्रव्योंकी भाँति अनादि–अनन्त निर्मल है ।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल और परमाणु जैसे मुख्य वस्तु है, मुख्य-मुख्य पृथक् पदार्थ हैं, उसीप्रकार मैं भी 'मुख्य' भिन्न पदार्थ हूँ, उन सबके स्वभावकी अपेक्षा मेरे स्वभावमे अन्तर है । मैं एक, शुद्ध, ममत्वरहित हूँ, और ज्ञानदर्शनसे पूर्ण हूँ; आकाशादि द्रव्य तो जडस्वभावी हैं किन्तु मैं चैतन्यस्वभावी हूँ ।

जैसे आकाशादि 'मुख्य' पदार्थ हैं वैसे ही मैं भी एक 'मुख्य' पदार्थ हूँ । आकाशादि द्रव्य मलिन नही होते, और मैं क्यो मलिन होता हूँ ? इसलिये निरपेक्ष दृष्टिसे देखने पर मैं पर्यायसे भी मलिन नहीं हुआ । निरपेक्ष पर्यायमे मलिनता नही, किन्तु सापेक्ष पर्यायमे मलिनता है ।

यदि कर्मकी अपेक्षाको छोड़ दे तो आत्मा त्रिकाल–द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे निर्मल है । जैसे आकाशादि पदार्थ भिन्न–भिन्न, अनादि–अनन्त द्रव्य, गुण और पर्यायसे निरपेक्ष पडे है उसीप्रकार आत्मा भी त्रिकाल द्रव्य, गुण और पर्यायसे अखण्ड निरपेक्षरूप परसे पृथक् है । आत्मा एक वस्तु है–पदार्थ है, तो, जैसी वस्तु हो वैसा ही उसका वर्तमान भी होता ही है । जिसप्रकार वस्तु अखण्ड त्रिकाल निर्मल, ध्रुव है उसीप्रकार उसका वर्तमान अश भी ध्रुव है, निर्मल है, निरपेक्ष है ।

जैसे आकाशादि द्रव्योमे परकी अपेक्षा नही है वैसे ही आत्मामेसे कर्मके निमित्तके सद्भाव–अभावकी अपेक्षाको निकाल दे तो वस्तु, उसके गुण और उसकी अंशरूप पर्याय परकी अपेक्षाके बिना त्रिकाल स्थायी हैं ।

कर्मके निमित्तके अभावकी अपेक्षासे मुझमे मोक्षका उत्पाद और संसारका व्यय दिखाई देता है । ऐसे उत्पाद–व्यय परनिमित्तसे

दिखाई देते हैं किन्तु यदि वस्तुका यथार्थ स्वभाव लक्ष्यमे लिया जाये तो वस्तु, अनादि-अनन्त, निरपेक्षरूपसे स्वाकार–परिणामी है। मेरी वस्तुको किसी अन्यकी अपेक्षा नही है, मात्र निरपेक्ष वस्तु है, वह वस्तु द्रव्य, गुण, पर्यायसे त्रिकाल निर्मल है।

आकाशादि पदार्थोंकी भाँति मैं यथार्थ स्वभावसे पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ, आकाशादि द्रव्योमे परका कर्ताकर्मपना उनके स्वभावमे नही है, वैसे ही मैं रागद्वेषका कर्ता और वह मेरा कर्म–वह मेरे आत्मवस्तु स्वभावमे ही नही है। देखो! इस सम्यग्दर्शन स्वभावमे से कर्ताकर्म इसप्रकार निकाल दिये और मुक्त होनेका उपाय बतलाया है।

मैं वस्तुविशेष हूँ, इससे मैं समस्त परद्रव्य–प्रवृत्तिसे निवृत्ति द्वारा इसी आत्मस्वभावमे निश्चल रहता हुआ, समस्त परद्रव्योंके निमित्तसे विशेषरूप चेतनमे होनेवाली जो चञ्चल कल्लोलें है उनके निरोध द्वारा इसीका (इस चैतन्यस्वरूपका ही) अनुभवन करता हुआ, अपने अज्ञान द्वारा आत्मामे उत्पन्न होनेवाले जो यह क्रोधादिक भाव हैं उन सबका क्षय करता हूँ।

राग–द्वेष, क्रोध, मान, माया, हास्य, रति, अरति इत्यादि जो परद्रव्योकी प्रवृत्तियाँ हैं उनसे निवृत्ति लेता हुआ मैं अपने चैतन्य आत्माका अनुभवन करता हूँ। शरीरादि तो जड है हीं, परन्तु रागद्वेषके परिणामोको भी जड कहा है–पर कहा है।

समस्त परद्रव्योके निमित्तसे चैतन्यमे संकल्प–विकल्पोकी जो चञ्चल कल्लोलें उठती हैं उनका सम्यक्पुरुषार्थके द्वारा निरोध करके स्वभावका अनुभवन करता हुआ सर्व कर्मोको क्षय करता हूँ। राग-द्वेषको दूर करनेका पुरुषार्थ सो अवस्थाका पुरुषार्थ है, द्रव्यको प्रगट करनेका पुरुषार्थ होता ही नही, क्योकि द्रव्य तो सदा प्रगट ही है, द्रव्यके ऊपर दृष्टि करना–वह दृष्टि भी अवस्था है, इसलिये पुरुषार्थ पर्याय प्रगट करनेका ही होता है। स्वभावमे तो विकार नही है, किन्तु परद्रव्यकी ओर ढलती हुई जो अवस्था है उसे स्वभावोन्मुख करता

हुआ, चैतन्यका ही अनुभवन करता हुआ अर्थात् स्वभावकी स्थिति-रूप होता हुआ मैं समस्त क्रोधादि भावोका क्षय करता हूँ।

पहले कहा था कि मैं पारमार्थिक वस्तुविशेष हूँ, ऐसा कहकर फिर यह कहा कि मेरा द्रव्य अन्य द्रव्योसे भिन्न है, और यहाँ पर्यायकी विशेषता कहते है कि परद्रव्यके निमित्तसे विशेषरूप चैतन्यमे होनेवाली जो चञ्चल कल्लोलें हैं, उन्हे शात करके मैं आत्माका ही अनुभवन करता हूँ। ज्ञानी कहते हैं कि मेरे अज्ञानभावसे पहले मुझमे राग-द्वेष होते थे, उन्हे अब मैं सम्यग्ज्ञानके द्वारा नष्ट करता हूँ। देखो! इसमे पुरुषार्थको लिया है। अपने पुरुषार्थकी अशक्तिसे उनमे युक्त होता था अब पुरुषार्थकी शक्तिसे आत्मानुभव द्वारा उन सबका क्षय करता हूँ।

प्रथम वस्तुदृष्टि कही और अब यहाँ पर्यायदृष्टि कही है। कोई ऐसा माने कि विकारीपर्याय मुझमे होती ही नही उससे ऐसा कहते हैं कि विकार तेरी अवस्थामे होता है और तेरे ही पुरुषार्थ द्वारा दूर होता है—ऐसा कहकर पर्यायका ज्ञान भी साथ ही बताते हैं। आचार्यदेवने अपार करुणा करके अखण्ड स्वरूपको बताया है। यह समयसार भरत क्षेत्रका भगवान है, और इससे मोक्षके वीज बोये गये है।

टीकामे कहा है कि 'क्षय करता हूँ' वह द्रव्यदृष्टिसे क्षय करना कहा है। दृष्टिमे सर्व कर्मोंकी स्वतः नास्ति है और सर्व कर्मोंको क्षय करनेका पुरुषार्थ है, इससे क्षय करता हूँ—वैसा कहा है। जो अल्प अस्थिरता रह जाती है उसे ज्ञानी अपना स्वभाव नही मानता और वह अल्पकालमे ही क्षय होनेवाली है, इससे क्षय करता हूँ कहा है।

कर्मोंका मैं क्षय ही करता हूँ—ऐसा निश्चय करके, अधिक समयसे पकड़ा हुआ जहाज जिसने छोड दिया है—ऐसे समुद्रके तूफानकी भाँति जिसने सर्व विकल्पोका शीघ्र ही वमन कर दिया है ऐसे निर्विकल्प, अचलित, निर्मल आत्माका अवलम्बन लेता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ, यह आत्मा आस्रवोंसे निवृत्त होता है।

जैसे समुद्रके झंझावातमे फँसा हुआ जहाज़ उसने छोड दिया है, वैसे ही जिसने सर्व विकल्पोको शीघ्र छोड दिया है, आत्मस्वभावका अवलम्बन लेता, निर्विकल्प होता हुआ जिसने सर्व विकल्पोको शीघ्र छोड दिया है (जैसे हाथमे कोई वस्तु ले रखी हो और उसे छोड दे, वैसे ही विज्ञानघन होते हुए जिसने सर्व विकल्पोका वमन कर दिया है) वह शीघ्र ही आस्रवोसे निवृत्त होता है।

जैसे समुद्रका झंझावात अपने आप ही छूटता है, वैसा ही आत्मामे नही है। उस सिद्धान्तमे एक देश दृष्टान्त लागू पडता है, क्योकि राग-द्वेप विकल्प अपने आप नही छूटते किन्तु जब स्वत. पुरुषार्थ करके विकल्पोको छोडता है तब छूटते है।

राग-द्वेषकी आँधी मेरी नही है, मेरा तो निर्मल-पवित्र स्वभाव है, उसके भानमे विकल्पोका वमन कर दिया है—ऐसा मैं, निर्विकल्प अर्थात् विकल्पोंसे रहित, अचलित अर्थात् निश्चल, निर्मल अर्थात् राग-द्वेषके मैलसे रहित—ऐसे आत्माका अवलम्बन करता हुआ, विज्ञानघन होता हुआ आस्रवोंसे निवृत्त होता हूँ।

एक ओरसे परसे बिल्कुल पृथक् कहा, पुनश्च, दूसरी ओरसे पर्यायसे 'निवृत्त होता है' वैसा कहा है। आस्रवोसे निवृत्त होता है वह बात पर्यायकी अपेक्षासे है, पर्यायमे जो वृत्तियाँ होती थी अर्थात् ज्ञान डगमग होता था—अस्थिर होता था, उस ज्ञान द्रव्यके अवलम्बनसे स्थिर होता है, एकरूप होता है—इससे अवस्थाकी मलिनता दूर हो जाती है, अर्थात् आस्रवोंसे निवृत्त होता है।

ज्ञानीने शुद्धनयसे आत्माका ऐसा निश्चय किया है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ। शुद्धनय अर्थात् आत्माको देखनेवाली दृष्टिसे ऐसा निश्चय किया कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, रागद्वेषादि विकारोका कर्ता नही हूँ, रागद्वेषका कर्ता, साधन आदि छह कारकोंके भेदोंसे मैं रहित हूँ, परद्रव्योंके प्रति ममत्वरहित हूँ, ज्ञान-दर्शनसे पूर्ण वस्तु हूँ। जब वह ज्ञानी–आत्मा, ऐसे अपने स्वरूपमे स्थिर होता हुआ उसीके अनुभवरूप

होता है तब क्रोधादिक आस्रव क्षयको प्राप्त होते हैं। जैसे समुद्रके झंझावातने वहत समयसे जहाजको पकड रखा हो किन्तु जब वह शान्त होता है तब जहाजको छोड़ देता है, उसीप्रकार आत्मा विकल्पोके तूफानका शमन करता हुआ आस्रवोको छोड देता है। यहाँ पर तो क्षय करनेकी और वमन कर देनेकी ही बात है। यह रागद्वेषके कार्य मेरे कार्य नही हैं, मेरा कार्य तो ज्ञानमात्र स्वभावका है—ऐसा निश्चय करके स्वभावका अवलम्बन लेता हुआ राग-द्वेषका वमन कर देता है।

अब शिष्य पूछता है कि ज्ञान होनेका और आस्रवोकी निवृत्तिका समकाल किसप्रकार है? वह कहता है कि—अन्तरमे ज्ञान हो और ज्ञान होनेसे विकार दूर हो जाये, वह दोनों एक ही साथ हैं अथवा एकके वाद एक—क्रमशः?

जीवणिवद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य।
दुक्खा दुक्खफलात्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥७४॥

जीवनिवद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्तते तेभ्यः ॥७४॥

अर्थः—यह आस्रव जीवके साथ निवद्ध हैं, अध्रुव हैं, अनित्य हैं और अशरण है, पुनश्च, वे दुःखरूप हैं, दुःख ही जिसका फल है—ऐसे हैं। ऐसा जानकर ज्ञानी उनसे निवृत्ति करता है।

यह गाथा वहुत अच्छी है, इसमे अधिकांश न्याय आयेंगे। इसमें दुःखसे मुक्त होनेका वास्तविक उपाय कहा है।

आत्मामे नवीन वन्धन होनेके जो भाव हैं वे जीवके साथ निवद्ध हैं, पुण्य-पापके भाव आत्माके साथ वँधे हुए हैं किन्तु वह आत्माका स्वभाव नही है। जो विकारी भाव हैं वे अध्रुव हैं, एकरूप नही रहते, अनित्य अर्थात् क्षणिक हैं, शरणहीन हैं, अर्थात् पुण्य-पापके भावोंमे आत्माको कही भी शरण नही मिलती—विश्रांति नही मिलती; और फिर वे दुःखरूप हैं अर्थात् पुण्य-पापके भावोमे कही भी सुख नहीं

मिलता—शाति नही मिलती, किन्तु मात्र आकुलताका ही वेदन होता है, और उन भावोका भविष्यमे जो फल आता है वह भी दुःखरूप ही है और पुण्य—पापके भावोसे पृथक् जो आत्मस्वभाव है वही सुखरूप है—शातिरूप है—शरणरूप है—ऐसा जानकर धर्मात्मा उनसे निवृत्त होते हैं। निवृत्त होना ही सच्ची क्रिया है।

वृक्ष और लाखकी भाँति वध्य—घातकस्वभावपना होनेसे आस्रव जीवके साथ बधे हुए हैं, परन्तु अविरुद्धस्वभावपनेका अभाव होनेसे वे जीव ही नही हैं। (लाखके निमित्तसे पीपल आदि वृक्ष नष्ट होते हैं। लाख घातक अर्थात् घात करनेवाली है और वृक्ष वध्य घात होने योग्य है। इसप्रकार लाख और वृक्षकास्वभाव एक दूसरे से विरुद्ध है इसलिये लाख वृक्षके से बधी हुई ही है, वह स्वतः वृक्ष नही है। उसीप्रकार आस्रव घातक हैं और आत्मा वध्य है। इसप्रकार विरुद्ध स्वभाव होनेसे आस्रव स्वतः जीव नही है।)

आत्मामे जो भी व्रत—अव्रतके, पूजा—भक्तिके, दया—हिंसादिके भाव होते हैं वे सब विकारीभाव हैं, वे आत्माके साथ बंधे हुए हैं, लाख और वृक्षकी भाँति उनका सम्बन्ध है। वृक्ष, वध्य अर्थात् हने जाने योग्य है और लाख हनने वाली अथवा घात करने वाली है। वध्य, वृक्षको लागू होता है और घातक, लाखको लागू पडता है। यह तो दृष्टान्त है किन्तु वैसा आत्मामे समझनेके लिये कहा है।

आत्मा घात होने योग्य है अर्थात् पुण्य—पाप और मिथ्या अभिप्रायके जो परिणाम होते हैं उनसे आत्माके स्वभावका घात होता है और पुण्य-पापके परिणाम घातक हैं। आत्मामे जितनी पुण्य-पापकी वृत्तियाँ होती हैं उनसे भगवान आत्मा पृथक् है। वृक्षमे से जब लाख निकलती है तब वृक्षका नाश होता है। जैसे पीपलके वृक्षमे लाख होती है वह पीपलका क्षय करनेवाली है, वैसा ही आत्मामे व्रत—अव्रतके जो शुभाशुभभाव उदित होते हैं वे आत्माका क्षय करनेवाले हैं। आत्माका क्षय करनेवाले हैं, यह उपचारसे कहा है, वास्तवमे आत्माकी निर्मल

अवस्थाका क्षय करनेवाले हैं, इससे पुण्यभाव छोड़कर पापभाव करनेकी बात नही कही है किन्तु पुण्य पापभाव आत्माके स्वभावका घात करनेवाले हैं—ऐसा समझनेकी बात है।

जिन भावोंसे स्वर्गका भव मिले, अथवा जिनसे नरकका भव धारण करना पडे वे सभी भाव जीवके साथ बंधे हुए हैं। जहाँ तक रागद्वेष है वहाँतक वे जीवको हानि करते हैं, चैतन्य ज्ञाता–दृष्टा है, और राग-द्वेषमें चैतन्यके स्वभाव सदृश स्वभावका अभावरूप स्वसे च्युतिरूप है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव होनेसे पुण्य-पापके भाव जीव नही किन्तु जड़ हैं। विरुद्ध स्वभाव होनेसे और जडके निमित्तसे उत्पन्न होनेसे वे जड़ हैं।

जिस ताँबेका मेल सोनेको पन्दर वान कहलाये वह ताँबा वास्तवमे सोना नही है किन्तु सोनेसे विरुद्ध जातिवाला ताँबा ही है। उसीप्रकार जडकर्मोके निमित्तसे शुभाशुभरूप विकारी भाव हो और उन भावोंके कारण आत्मा विकारी कहा जाये, वे विकारीभाव वास्तवमें आत्माका स्वभाव नही हैं। आत्मा–चैतन्य ज्ञान, दर्शन, आनन्दका रसकन्द है और शुभाशुभभाव वास्तवमे उससे विजातीय हैं, इसलिये वे उसका स्वभाव हैं ही नही।

लाख और वृक्षका स्वभाव एक दूसरेसे विरुद्ध है, इसलिये लाख वृक्षके साथ मात्र बंधी हुई है किन्तु वह वृक्षका स्वभाव नहीं है और वह स्वतः वृक्ष भी नही है। इसीप्रकार आत्मामे जो शुभाशुभ भाव होते हैं वे आत्मासे विरुद्ध हैं, वे कर्मके निमित्तसे मात्र अवस्थामें होते हैं, इससे आत्माका स्वभाव नही है, वैसे ही अवस्था स्वतः भी आत्मा नही है, परन्तु वह आत्माकी घातक है। पहले कहा था कि आत्माका कभी भी घात नही होता, और फिर यहाँ कहा है कि आत्माका घात होता है, तो उसका आशय ऐसा समझना चाहिये कि आत्माका घात नही होता किन्तु उसकी निर्मल पर्याय नष्ट होती है; पर्याय नष्ट होनेसे आत्माका घात होता है वह उपचारसे कहा जाता है।

कितने ही लोग कहते हैं कि मोक्षमार्गमे बीचमे शुभभाव आयें

उन्हे घातक कैसे कहते हो ? वे शुभभाव विकार है इसलिये घातक ही है, यह साफ, दो और दो चार जैसी वात है। यह जीवनिबद्धका प्रथम वोल हुआ।

अब दूसरा बोल कहते है। आस्रव वायुवेगकी भाँति वढते-घटते होनेसे अध्रुव हैं, चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है।

जैसे कितने ही मनुष्योको मूर्च्छाका रोग होता है, वह रोग क्षणभरमे वढ जाता है और क्षणमे कम हो जाता है। उसीप्रकार पुण्य-पापके भावरूप आस्रव क्षणमे बढते हैं और क्षणमे घटते हैं। जैसे किसी मनुष्यके दान देनेके शुभभाव हो कि इस जगह इतने हजार रुपए देदूं; फिर वहाँ विचार वदले कि इतने अधिक रुपए देनेसे लोगोको ऐसा लगेगा कि इसके पास वहुत पैसा है, और इससे चन्दा लेनेवाले भी आने लगेंगे इसलिये यह प्रगट नही करना चाहिये कि हम पैसे वाले हैं, इतना अधिक पैसा नही देना चाहिए। देखो! क्षण भर पूर्व कितना दान देनेके भाव थे और घडी भरमे ही वे कम हो गये, इसप्रकार आस्रव न्यूनाधिक होते हैं।

पुनश्च, किसीके हिंसाका भाव हो तव एकाएक जोशमे आकर खून कर देता है, और जव वह भाव मन्द होता है तव विचार करता है कि अरे रे! इस वेचारेको विल्कुल न मारा होता तो अच्छा होता। फिर उससे कोई पूछे कि यह खून किसने किया ? तो कहता है कि मैंने किया है, मैं अपराधी हूँ मुझे वन्दी वना लो। देखो! क्षणभर पूर्व खून करनेके भाव थे और क्षणमें वे भाव बदल गये इसप्रकार आस्रव वढते-घटते है।

किसी-किसी समय ऐसा वैराग्य हो जाता है कि यह ससार असार है। ससारसे एकदम अरुचि हो जाती है, उसका राग मन्द पड जाता है, और जव फिरसे अनुकूलताएँ मिलती हैं तो सब भूल जाता है और राग पुन वढ जाता है। इसप्रकार आस्रव न्यूनाधिक होते रहते हैं, क्योकि वे अध्रुव हैं।

इसमे से ऐसा नही समझना चाहिये कि शुभभाव अपने आप ही होते हैं। जब स्वतः अशुभ भावोको कम करके शुभभाव करता है तब होते हैं, वे शुभभाव आस्रव हैं—ऐसा कहकर वस्तुस्वभाव बतलाते हैं।

जब किसी समय कोई प्रतिकूलताका प्रसग बन जाता है तब संसारसे उदास दिखाई देने लगता है, वैरागी जैसा हो जाता है। और जब फिरसे मान एवं बडप्पन मिलने लगता है तब सोचता है कि चलो मान मिला तो सब कुछ मिल गया—ऐसा राग बढ जाता है। इसप्रकार मूर्च्छाके वेगकी भाँति यह आस्रव घटते—बढते रहते हैं। चैतन्य आत्मा ज्ञाता—दृष्टा स्वभावसे ध्रुव है, ऐसे ध्रुव—अध्रुव स्वरूपको जानकर ज्ञानी पुरुष आस्रवोसे निवृत्त होते है।

प्रथम आचार्यदेवने ऐसा कहा कि—आस्रव आत्माके साथ वध्य—घातक स्वभावरूपसे हैं। आत्मा घात होने योग्य है और आस्रव उसका घात करनेवाले हैं। फिर दूसरे बोलमे कहा है कि आस्रव मूर्च्छाके वेगकी भाँति बढ़ते—घटते हैं, जैसे राग क्षणमे बढ़ जाता है और क्षणमे घट जाता है तथा आत्मा ध्रुव है। पुण्य—पापके भाव नाशवान हैं और मैं अविनाशी, ज्ञानवन्त ध्रुव हूँ—ऐसा भिन्न विवेक हुआ कि आस्रवोसे निवृत्ति होती है।

शिष्यने प्रश्न किया था कि यथार्थ ज्ञान प्रगट होनेका और शुभाशुभ आस्रवभावोंके दूर होनेका एक ही काल किसप्रकार है? आचार्यदेव उसे उत्तर देते हैं कि आत्मा नाश होने योग्य है और आस्रव नाशक हैं, दोनो बिल्कुल विरुद्ध स्वभाववाले हैं, इसलिये पृथक् हैं। आत्माकी पर्यायमे विकार होनेकी योग्यता तभी तक है जबतक वह पराधीन होता है, तभीतक वह घात होने योग्य है—ऐसा समझना चाहिये। आस्रव अध्रुव हैं और आत्मा ध्रुव है, जहाँ इसप्रकार आत्मा और आस्रवोंका भिन्न विवेक हुआ कि उसी क्षण आस्रवोका निरोध होता है। जो पुण्य—पापके भावरूप आस्रव हैं सो आत्मा नही है और आत्मा पुण्य—पापके भाव नही है—ऐसा पृथक् भान करके जितने अंगमे स्वरूपमें स्थिर हुआ उतने ही अंगमे उसी क्षण आस्रव दूर हो जाते है, इसप्रकार आस्रवोके टलनेका और ज्ञान होनेका समकाल है।

आस्रव शीतदाहज्वरके आवेशकी भाँति अनुक्रमसे उत्पन्न होते है इसलिये अनित्य है। जिसका विज्ञानघन स्वभाव है—ऐसा जीव ही नित्य है।

अध्रुवमे न्यूनाधिकताके भाव थे और अनित्यमे शीतदाहज्वरकी भाँति–दोनोमे एकदम अन्तर है, इतना अन्तर लिया है कि भाव बिल्कुल वदल जाता है। जब इकतरा बुखार आता है तब रजाइयाँ ओढकर सोता है, शरीर कँपने लगता है, और जव कँपकँपी मिट जाती है और बुखार बढता है तब पानीमे भीगे हुए पोते सिर पर रखता है–इसप्रकार अनित्यके वोलमे विल्कुल परिवर्तन लिया है।

उसीप्रकार पुण्य–पापके परिणाम ठण्डे–गरम बुखारके आवेशकी भाँति क्रमशः उत्पन्न होते है, इसलिये अनित्य हैं। जैसे एक–एक मासके उपवास करता है, दया, दान, भक्ति करता है, और ऐसे शुभपरिणाम करता है कि नवमे ग्रैवेयकमे जाता है, वहाँ शुक्ल–लेश्याके उज्ज्वल परिणाम होते है और फिर वहाँसे मरकर मनुष्य होता है तो वहुत कजूस होता है, क्रोध, मान, माया और लोभके इतने तीव्र परिणाम करता है कि वहाँसे मरकर फिर नरकमे जाता है। देखो! इसप्रकार परिणामोमे एकदम परिवर्तन हो जाता है। पूर्वभवमे मुनि हुआ था, उसके फलस्वरूप नवमे ग्रैवेयकमे गया और इस भवमे पुन क्रोधादिकी तीव्रता करके नरकमे गया–इसप्रकार ठण्डे-गरम बुखारकी भाँति परिणामोमे एकदम अन्तर हो जाता है।

पुण्य–पापके परिणाम अनुक्रमसे उत्पन्न होते है, अर्थात् जब हिंसाके भाव होते हैं तब दयाके भाव नही होते, और जब दयाके भाव होते है तब हिंसाके भाव नही होते, तथापि अपनापन माननेमे दृष्टिका दोष तो दोनोमे साथ ही है, विपरीत मान्यताकी शल्य तो दया–हिंसाके भावोंके समय साथ ही होती है। व्रत, तप, पूजा, दया, दान, हिंसा, झूठ इत्यादि परिणाम ठण्डे–गरम बुखारकी भाँति अनित्य है, परिवर्तित होनेवाले है, नाश होनेवाले हैं, और विज्ञानघन आत्मा अर्थात् निर्बन्ध ज्ञानका घन आत्मा नित्य चैतन्य स्वभाव ही है, ऐसे आत्माका विवेक

करे कि आस्रवोंसे उसी क्षण अंशत. निवृत्ति होती है। चैतन्यस्वरूप आत्माका विवेक होनेसे जो निर्मलपर्याय प्रगट हुई है वह नित्यस्वभावी द्रव्यके वलसे प्रगटी है इससे नित्यस्वभावमे उसका समावेश किया है।

पुनश्च, कहते हैं कि आस्रव अशरण हैं, अर्थात् पुण्य–पापके भाव अशरण हैं। आचार्यदेव कहते है कि जैसे काम सेवनमे वीर्यपात होते ही दारुण कामका संस्कार नाशको प्राप्त होता है, किसीसे रोका नही जा सकता, उसीप्रकार कर्मोदयके छूटते ही आस्रव नष्ट हो जाते हैं, वे रोके नही जा सकते इसलिये अशरण है।

पुण्य-पापके परिणाम अशरण हैं। कर्मोदय छूट जानेके पश्चात् उन विकारी भावोको आत्मा नही ला सकता, उसका अर्थ यह है कि अकेले आत्माका स्वभाव पुण्य-पाप करनेका नही है, शुभभाव आये और फिर छूट जाये, उससमय कोई कहे कि पुन वैसेका वैसा शुभभाव लाऊँ किन्तु पुनः वैसेका वैसा भाव नही आता। शुभाशुभ भावोको पकड़कर नही रखा जा सकता इसलिये आस्रव अशरण है। आस्रव अपना स्वभाव नही हैं, वे विपरीत पुरुपार्थसे होते हैं, अपनी चैतन्य पर्यायमें भी वे परनिमित्तसे होनेवाले भाव हैं, अपना स्वभाव नही हैं, इससे उन्हे पकड़ा नही जा सकता; इसलिये पुण्य-पापके परिणाम आत्माको शरणरूप नही हैं। आस्रव अशरण हैं उनमें आत्माको शरण नही मिलती, किन्तु अपना चैतन्य स्वभाव ही शरणरूप है। अपने आप (स्वतः से ही) रक्षित, सहज चित्शक्तिरूप जीव ही शरण सहित है। जो पुण्य–पापके भाव किये वे रक्षा नही कर सकते परन्तु आत्मा स्वतः अपनेसे ही अपने आप रक्षित है उसकी रक्षा नही करना पड़ती। रक्षित ही है, इसलिये वह आत्मा ही सहज स्वभावसे शरण सहित है—ऐसे आत्मस्वभावका विवेक होते ही–उसी क्षण आस्रव निवृत्तिको प्राप्त होते हैं।

आस्रव निरन्तर आकुलस्वभाववाले होनेसे दु.खरूप हैं, सदैव निराकुल स्वभावयुक्त जीव ही अदुःखरूप अर्थात् सुखरूप है।

व्रत–अव्रत, पूजा-भक्ति, दया-हिंसा, झूठ–चोरी और विषयके परिणाम–यह सभी दु:खरूप हैं, चैतन्यका स्वभाव नही है चैतन्यका स्वभाव तो सुखरूप है। पुण्यके परिणाम भी दु:खरूप हैं—ऐसा कहा है, उससे यह तात्पर्य नही निकालना कि शुभपरिणाम छोडकर अशुभ-परिणाम करना चाहिये। परन्तु शुभपरिणाम भी दुःखरूप हैं—ऐसी श्रद्धा करनेकी वात है।

चैतन्य पदार्थ अनादि-अनन्त पृथक् तत्त्व है। आस्रव आकुल स्वभाववाले होनेसे वर्तमानमे ही दुखरूप हैं, जिससमय शुभाशुभ परिणाम होते हैं उसीसमय दु खरूप हैं, आकुलतारूप हैं। जव वे परिणाम उत्पन्न होते हैं तव आत्माकी शाति भङ्ग होती है और जब आत्माकी शाति भङ्ग होती है तभी वे परिणाम होते हैं। शुभाशुभ परिणामोका वेदन ही आकुलतामय है, आत्मा स्वत ही निराकुल स्वभाववाला होनेसे सुखरूप है।

नरकमे अनन्तानन्त दु'ख भोगे, पानीकी बूंद और अन्नका दाना भी न मिला उससमय आकुलित होकर दु.ख सहे, किन्तु भाई! विचार तो कर, तुझे अपने सुखके लिये पर द्रव्यकी क्या आवश्यकता है? तेरा सुख तो तुझमे ही विद्यमान है। आजकल मँहगाईका समय है इसलिये लोग अनाजको इकट्ठा करके रखते हैं और आकुलता करते है, परन्तु त्रिलोकीनाथ चैतन्य भगवान आत्माको अनाजके दाने शरण रूप नही हो सकते। चिदानन्द भगवान आत्माको एक विकल्प अथवा एक रजकणकी भी आवश्यकता नही है—ऐसी प्रथम श्रद्धा करेगा तो समाधान हो जायेगा ऐसा श्री आचार्यदेव कहते हैं।

पुण्यभाव हो या पापभाव हो, वे दोनो दु.खरूप हैं और आत्माका स्वभाव आनन्दकन्द है। वस्तु तो निरन्तर त्रिकाल आनन्द-रूप ही है, परन्तु जव मोक्ष और मोक्षमार्गकी अवस्था प्रगट हो तब उस आनन्दका वेदन होता है, वर्तमानपर्यायके आनन्दका वेदन होता है।

अरे भाई! इस ससारमे सन्तुष्ट होकर पडा है किन्तु वह सव पड़ा रहेगा, ऐसा करलू वैसा करदू—वे सभी भाव दु ख रूप हैं। आत्मा

निराकुलस्वभावी है—इसका भान करे तो आस्रवोंका बन्धन ढीला पड़ता जायगा, टूटता जायेगा।

पुण्यरूप शुभराग भी भविष्यकालमें आकुलताके उत्पादक जो पुद्गल परिणाम हैं—उनका हेतु होनेसे शुभास्रव दुःखफलरूप हैं; (अर्थात् दुःख ही उनका फल है) जीव ही समस्त पुद्गलपरिणामोंका अहेतु होनेसे सुखफलरूप है (अर्थात् दुःखफलरूप नहीं है।)

पुण्य—पापके भाव भविष्यमें भी दुःखफलरूप हैं; क्योंकि जो आकुलताके फलरूप हों—ऐसे पुद्गल परिणामका हेतु है, और वर्तमानमें भी आकुलता रूप हैं, इसलिये दुःखरूप हैं।

प्रश्नः—जिनसे पुण्यानुबन्धी पुण्यका बन्ध हो, वैसे सम्यक् दृष्टिके शुभ परिणाम सुखरूप होते हैं या नहीं ?

उत्तरः—चाहे जैसे पुण्यके परिणाम हो वर्तमानमें भी दुःख रूप हैं और भविष्यमें भी दुःखरूप हैं। पुण्यानुबन्धी पुण्य भी भविष्यमें आकुलता होने निमित्त है, किन्तु वह आत्माकी शांतिका निमित्त नही है।

पुद्गलके निमित्तसे होनेवाले विकारी भाव और उन विकारी भावोंके निमित्तसे बंधनेवाले जड़कर्म भविष्यमें आकुलताके परिणाम उत्पन्न होनेमें निमित्त हैं किन्तु आत्माकी शांति-समाधिमें वे निमित्त नहीं हैं।

आकुलताके परिणाम जड़के निमित्तसे होते हैं इसलिये उन्हें जड़ कह दिया है और आकुलताके फलमें भी जड़कर्मोंका बन्ध होता है, इसप्रकार जड़का फल जड़ ही आता है। आकुलताके परिणाम होते तो चैतन्यकी ही पर्यायमें हैं, किन्तु वह जड़की ओर उन्मुख होनेका भाव है इसलिये उन्हे जड़ कह दिया है। चैतन्यकी निर्मल पर्यायका फल शांति, निराकुलता, समाधिरूप है, इसलिये वह चैतन्यकी पर्याय है उसमें जड़कर्मोंका निमित्त नहीं है चैतन्यकी निर्मल पर्याय चेतनरूप है और विकारी पर्याय जड़रूप है।

इन्द्र-अहिमिन्द्रका भव अथवा चक्रवर्ती वलदेव, वासुदेवका भव भी आकुलता उत्पन्न होनेके निमित्त हैं। भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा, निर्विकल्प, निरुपाधिस्वरूप है, उसकी श्रद्धा, ज्ञान और रमणता किसी भी पुद्गल परिणामका हेतु नही है इसलिये वह दु ख रूप नही है, किन्तु वर्तमानमे भी एकान्त सुखरूप है और भविष्यमे भी सुख फलरूप है। इसके अतिरिक्त जितने भी पुण्य-पापके परिणाम होते हैं वे सब वर्तमानमे दु खरूप हैं और भविष्यमे भी दुःख होनेके निमित्त हैं।

एक मनुष्य बोला—महाराज एकबार तो कहो कि पुण्यका फल मीठा है ! कैसे कहे ? विकार तीनकालमे भी मीठा नही हो सकता, शुभाशुभ रूप विकार परिणाम और उसके फलको मीठा मानने वाले एव मनवाने वाले—दोनो अनन्त ससारमे परिभ्रमण करनेवाले हैं।

आत्मा शुद्ध है, निर्मल है, ज्ञायक ध्रुवमूर्ति है—ऐसे स्वभावकी श्रद्धा करने पर उसमे स्थिर न हो सके, उतना विकल्पमे युक्त होता है, किन्तु वह विकल्प मिठासका कारण है ही नही, और ज्ञानी उसमे मिठास मानते भी नही हैं, उसमे जितना अशुभराग दूर हुआ उतना ही लाभका कारण है, जो शुभराग रहा वह लाभका कारण नही है, जो शेष रहा है वह तो दुःखरूप और दु खफलरूप ही है। यही स्थिति है, इसमे अन्य कुछ है ही नही। ज्ञायकमूर्ति आत्माके श्रद्धा-ज्ञान हो वह सुखरूप है और उनमे वृद्धि हो वह भी सुखरूप है।

आस्रवो और आत्माको पृथक् करनेके लिये छह प्रकार बताये हैं—लाख और वृक्षकी भाँति वध्य-घातक कहा, मूर्च्छाके वेगकी तरह न्यूनाधिक कहा, शीत और दाहज्वरकी भाँति अनुक्रमसे उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य कहा, वीर्यके रजकण छूटते ही कामका संस्कार भी छूट जाता है—उसकी भाँति अशरण कहा, आकुलतामय होनेसे दु खरूप कहा, और आस्रवोका फल भी दुःखरूप है इसलिये उन्हे दु खफलरूप कहा है, इसप्रकार आस्रवोको और आत्माको भिन्न स्वभाववाला कहा है।

इसप्रकार आस्रवोका और जीवका भेदज्ञान होनेसे जिसमे कर्मविपाक शिथिल हो गया है—ऐसा यह आत्मा, बादलोंके समूहसे रहित दिशाके विस्तारकी भाँति अमर्यादित स्वच्छता जिसका विस्तार है ऐसा, सहजरूपसे विकसित होनेवाली चित्शक्तिके द्वारा ज्यो-ज्यों विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है वैसे ही वैसे आस्रवोसे निवृत्त होता जाता है, और जैसे-जैसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है वैसे ही विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है।

आस्रव निबद्ध है, अध्रुव है, शरण हीन है, अनित्य हैं, दुःखरूप हैं और दुःखफलरूप है। आत्माका स्वभाव आस्रवोसे भिन्न जातिका है, आत्मा अबन्ध है, ध्रुव है शरण सहित है, नित्य है, सुखरूप है और सुखफलरूप है—इसप्रकार आस्रवोसे भिन्न यथार्थ ज्ञान हुआ कि वहाँ, जिसप्रकार बादलोंके झुण्ड खण्डित हो जाते है और दिशाएँ स्वच्छ-निर्मल, कालिमा रहित हो जाती हैं, उसीप्रकार अमर्यादित, सहजरूपसे विकसित होनेवाली चित्शक्तिके द्वारा जैसे-जैसे विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है, वैसे ही वैसे आस्रवोसे निवृत्ति होती जाती है।

मैं आत्मा ज्ञाता हूँ, मेरी चित्शक्ति निर्दोष और निर्मल है, मेरा स्वरूप आस्रवोसे भिन्न है—ऐसा विवेक होनेसे कर्ममेघोका रस शिथिल पड जाता है, कर्मकी रचना खण्डित हो जाती है, और जैसे-जैसे सहजरूपसे विकसित होती हुई चैतन्यशक्ति द्वारा स्वरूप स्थिरता बढती जाती है वैसे ही वैसे आस्रवोसे निवृत्त होता जाता है, और ज्यो-ज्यो आस्रवोसे निवृत्त होता है वैसे ही वैसे स्वरूप स्थिरतामे वृद्धि होती है।

शुभाशुभ विकल्परूप जो विकार है सो मैं नही हूँ—ऐसा विवेक हुआ कि ज्ञान निबिड होता जाता है और ज्यों-ज्यो ज्ञानघन-स्वभाव निबिड होता जाता है वैसे ही पुण्य-पापके भाव अल्प होते जाते है अर्थात् आस्रव निवृत्त होते जाते है, जैसे-जैसे स्वमे एकाग्र होता जाता है अर्थात् घट होता जाता है वैसे ही वैसे उतने आस्रवोसे निवृत्त होता ही जाता है।

अमर्याद अर्थात् ज्ञान-दर्शनकी अनन्त शक्ति युक्त स्वभावमे एकाग्र हो उतना आसृव दूर होता है और जितना आसृव दूर होता है उतनी ही एकाग्रता होती है। विकल्पमे न रुककर, आत्मामे रुकना सो यथार्थ उपवास है। शुभपरिणामरूप उपवास तो पुण्यबन्धका कारण है परन्तु आत्मामे रुकने रूप जो उपवास है वह मोक्षका कारण है।

सम्यक्प्रकारसे, आसृवोसे जितना निवृत्त होता है उतना ही विज्ञानघन स्वभाव होता है और जितना विज्ञानघन स्वभाव होता है उतना ही सम्यक्प्रकारसे आसृवोंसे निवृत्त होता है। इसप्रकार ज्ञान और आसृवोकी निवृत्तिकी समकालीनता है।

यहाँ सम्यक् शब्द पर जोर दिया है। सम्यक्प्रकारसे आसृवोसे निवृत्त होता है—ऐसा सम्यक् शब्द आचार्यदेवने लिया है, क्योकि पुण्य-पापके भावरूप आसृव प्रतिक्षण समस्त जीवोके परिवर्तित होते हैं, परन्तु अज्ञानियोने अपने स्वभावका भान नही किया इसलिये वे सम्यक्प्रकारसे विज्ञानघन नही होते, इससे आसृवोंसे निवृत्त नही होते, इसलिये उन्हे निवृत्त होनेका सम्यक्प्रकार लागू नही होता, किन्तु वह ज्ञानियोको ही लागू होता है।

ज्ञानीको आत्माकी पहिचान होती है कि मैं अखण्ड चिदानंद, ज्ञान पिण्ड आत्मा हूँ, उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी पर द्रव्य मेरे नही है, उनका कोई भी कर्तव्य मेरा नही है, मैं पर द्रव्यका कर्ता नही किंतु अपने स्वभावका ही कर्ता हूँ—ऐसा सम्यक्ज्ञान होनेके पश्चात् जितना-जितना स्वरूपमे एकाग्र होता है, उतना ही राग द्वेषसे मुक्त होता है और जितना रागद्वेषसे मुक्त होता है उतना ही स्वरूपमे एकाग्र होता है। जितनी स्वरूप स्थिरता होती जाती है, उतनी ही अस्थिरता दूर होती है और जितनी अस्थिरता दूर होती है उतनी ही स्वरूप स्थिरता होती है। जितना स्वाश्रयरूप ज्ञाता पंथमे युक्त हुआ उतना ही परा-श्रयरूप आसृवोंसे निवृत्त होता है और जितना आस्रवो से निवृत्त होता है उतना ही ज्ञान करनेके पथमे रुकता है। इसप्रकार विकार भावरूप आसृवोंके दूर होनेका और सम्यग्ज्ञान प्रगट होनेका समकाल है, अर्थात् एक ही काल है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि भेदज्ञान ही आस्रवोंसे निवृत्त होनेका उपाय है। अत्यन्त सारगर्भित टीका की है। जिसने इस भेदज्ञानकी मालाको पहिन लिया है उसका व्याह नही रुक सकता, वह अल्पकालमें ही अविनाशी मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्राप्त करता ही है।

जैसे लोक व्यवहारमे व्याहके समय माला डल चुकी है, पश्चात् उसके कुटुम्बमे चाहे जिसप्रकारका विघ्न आये किन्तु व्याह नही रुक सकता; उसीप्रकार भेदज्ञानरूपी माला पहिननेके बाद चाहे जैसे कर्मोका उदय आये तो भी उसकी अल्पकालमे होनेवाली मुक्ति टल नही सकती।

देखो! यहाँ पर यह लिया है कि भेदज्ञान ही आस्रवोंसे निवृत्त होनेका एकमात्र उपाय है—अन्य कोई उपाय नही कहा है। व्रत, तप, पूजादि करनेसे आस्रवोंसे निवृत्त होता है—ऐसा नही कहा है, क्योकि व्रत, तपादिभाव स्वतः ही शुभास्रव हैं इसलिये उनमे प्रवर्तन करनेसे आस्रव कैसे रुकेंगे? किन्तु उन भावोसे हटकर निर्विकारी स्वरूपमे स्थित हो तब आस्रवोसे निवृत्त हो सकता है।

आत्मा क्या है, उसका स्वरूप क्या है, उसमे स्थिर होना—रुकना किसप्रकार होता है,—यह सब ज्ञान हुए बिना आस्रव कैसे दूर होगे? इसीलिये इस गाथामें आचार्यदेवने आस्रवोका यथावत् चित्र खीचकर जीवोको खयाल कराया है कि तुम आस्रवोंके स्वरूपको इस-प्रकार जानो, और उनसे विपरीत भगवान आत्माका स्वरूप इसप्रकार समझो। यदि सम्यक्प्रकारसे ऐसा ज्ञान करोगे तो आस्रवोसे निवृत्ति होगी और आत्मस्वरूपमे स्थिति होगी।

धर्मके बहाने जितने पुण्यभाव और अशुभ कार्यके बहाने जितने पापभाव होते हैं वे सब आस्रव हैं। जैसा समझा है, उसी मार्गका अवलम्बन करते हुए जितने अंशमे रागद्वेषकी अस्थिरता घटती जाती है उतने ही अंशमे आत्मा विज्ञानघन स्वभाव होता जाता है और आस्रवोंसे उतने अंशमे निवृत्ति होती है। और जब सम्पूर्ण विज्ञानघन स्वभाव होता है तब समस्त आस्रवोसे निवृत्त होता है। भेद विज्ञानमे

वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण ज्ञान जम जाता है, विज्ञानघन पिण्ड परिपूर्ण पृथक् हो जाता है तब सम्पूर्ण आस्रवोंसे निवृत्त होता है।

यहाँ पर यह कहा है कि भेदज्ञान होनेसे आस्रव निवृत्त होते हैं। इसप्रकार चारित्रमें भी जितना भेदज्ञान करते-करते स्थिर होता जाता है-एकाग्र होता जाता है उतना ही आस्रवोंसे निवृत्त होता जाता है। चारित्रमे भी भेदज्ञानके अभ्याससे ही आगे बढ़ा जाता है।

सम्यग्ज्ञान होने पर कर्मकी ४१ प्रकृतियोंका बन्ध तो सहज ही रुक जाता है। वह सम्यक्त्वी धर्मात्मा भले ही राज्य करता हो, युद्ध कर रहा हो, तो भी ४१ प्रकृतियोंका बन्ध तो होता ही नहीं और पश्चात् जैसे-जैसे स्थिर होता जाये-स्वरूपमे दृढ़ होता जाये, वैसे ही अधिक प्रकृतियोंका बन्ध भी रुकता जाता है।

सच्चिदानन्द शांतमूर्ति आत्माका भान होनेसे अनन्तसंसार दूर हो जाता है और वर्तमानमें ४१ प्रकृतियोंका नवीन बन्ध प्रति क्षण क्रमशः रुक जाता है और भविष्यमें नरक, तिर्यञ्च-दो गतियोंसे छूट जाता है; मनुष्य गति मिले तो उसमे भी दशांगी सुख प्राप्त होता है, देवगतिमे जाये तो वहाँ भी उच्च-जातिका देव होता है, इसप्रकार सम्यग्दर्शनकी भूमिकामें पुण्य भी अपूर्व बंधता है। कोई कहे कि उसने ऐसा क्या किया ? अरे भाई ! उसने तो जो अनन्तकालमें नहीं किया था ऐसा अपूर्व किया है. आत्मामे अपूर्व भान प्रगट किया कि वहाँ अनन्त-संसारका नाश हो गया। यह सम्यग्दर्शनका फल है।

प्रश्नः—आत्मा विज्ञानघन होता जाता है, इसका क्या अर्थ है ?

उत्तरः—अपने स्वभावमें स्थिर होता जाता है—अपनी कृतकृत्यता जमती जाती है। जहाँ तक ऐसा माने कि पुण्य-पापके भावोंका मैं कर्ता हूँ, स्वामी हूँ, वे मुझे गुण-लाभ करेंगे, वहाँ तक भले ही ज्ञानका विकास नवपूर्व जितना हो किन्तु वह सभी अज्ञान है। अन्तरङ्गमें मिथ्या अभिप्राय भरा हो तबतक ज्ञानका विकास चाहे

जितना हो किन्तु उस ज्ञानको अर्थात् ज्ञातृत्वको अज्ञान कहा जाता है।

आत्माके भान पूर्वक भले ही अल्पज्ञानका विकास हो तो भी उसे ज्ञान कहते है। वस्तु स्वभाव परसे निराला है, अखण्डानन्द स्वरूप है—उसका भान हो, पश्चात् भले ही अल्पज्ञान हो तो भी उसे विज्ञान कहते है, क्योकि उस ज्ञानके फलमे केवलज्ञान प्रगट होगा। यथार्थ सम्यग्ज्ञानका स्वीकार सो वस्तुस्वभावका स्वीकार है, वस्तुस्वभावका स्वीकार सो सम्यग्ज्ञानका स्वीकार है।

जैसे–जैसे वह सम्यग्ज्ञान अर्थात् विज्ञान जमता–दृढ होता–स्थिर होता जाता है वैसे–वैसे आस्रवोसे निवृत्ति होती जाती है, जैसे-जैसे आस्रवोसे निवृत्ति होती जाती है वैसे ही वैसे विज्ञान जमता–दृढ़ होता–स्थिर होता जाता है।

शरीरके टुकड़े हो जाये, चूर्ण हो जाये, चाहे जैसी प्रतिकूलता आये, संयोगोमे चाहे जैसा परिवर्तन हो तो भी जो सम्यग्ज्ञान प्रगट हुआ है उसे कोई उलटा करनेमे समर्थ नही है एक रचमात्र भी कोई उसे हिलाने–डुलानेमे समर्थ नही है; महान् वज्रपात हो, तो भी वह सम्यग्दर्शनमे कोई परिवर्तन करनेमे समर्थ नही है। सम्यग्दर्शन हुआ कि केवलज्ञानकी प्राप्ति होगी ही, दोयज हुई कि पूर्णमासी होगी ही,–ऐसा सम्यग्दर्शनका माहात्म्य है।

अब इसी अर्थका कलशरूप और आगेके कथनकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं.—

(शार्दूलविक्रीडित)

इत्येवं विरचय्य संप्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां।
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं
ज्ञानीभूय इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान्॥४८॥

अर्थः—इसप्रकार पूर्व कथित विधानसे, इसीसमय परद्रव्यसे उत्कृष्ट (सर्व प्रकारसे) निवृत्ति करके, विज्ञानघन स्वभावरूप, मात्र

अपने पर निर्भयरूपसे आरूढ होता हुआ अर्थात् अपना ही आश्रय करता हुआ (अथवा अपनेको नि शकरूपसे आस्तिकभावसे स्थिर करता हुआ,) अज्ञानसे उत्पन्न हुई कर्ताकर्मकी प्रवृत्तियोंके अभ्याससे हुए क्लेशसे निवृत्त हुआ, स्वतः ज्ञानस्वरूप होता हुआ, जगतका साक्षी (ज्ञाता–द्दष्टा,) पुराण पुरुष (आत्मा) यहाँसे अब प्रकाशमान होता है ।

पूर्वोक्त विधिसे जहाँ ज्ञान किया कि, उसीममय परवस्तुसे मर्व प्रकारसे निवृत्ति करके विज्ञानघन अर्थात् अपने ज्ञाता–द्दष्टा स्वभावके अतिरिक्त परका कुछ न करता हुआ, किन्तु अपनेमे स्थिर होता हुआ ज्ञान, मात्र अपने पर नि शकरूपसे आरूढ होता अर्थात् अपनेमे निःशंक-रूपसे–निःसन्देहरूपसे स्थिर होता हुआ—अपनी सत्तामे द्दढरूपसे स्थिर होता हुआ, कर्ताकर्मकी प्रवृत्तिके क्लेशसे निवृत्त होता है । राग मेरा है, मैं रागका हूँ, एक क्षणिकपर्यायका मैं कर्ता होता था और वह मेरा कार्य होता था, अब ज्ञान हुआ कि मैं तो ज्ञाता हूँ, ध्रुव हूँ, स्थिर हूँ वैसे ही ज्ञाताकी स्थिरताके वलमे, अभानरूपसे कर्ताकर्मके अभ्याससे हुआ जो क्लेश–दु ख है उससे निवृत्ति होती है और उसी क्षण ज्ञान-स्वरूप होता हुआ जगतका साक्षी अर्थात् जितने जगतके भाव होते है उन्हे माक्षीरूपसे देखनेवाला किन्तु उनका कर्ता होनेवाला नही, चाहे जो पुण्य पापकी वृत्ति हो उसका ज्ञाता–द्दष्टा अर्थात् साक्षीरूपसे रहने-वाला, अनादिका पुराणपुरुष–भगवान् आत्मा अब यहाँसे प्रकाशमान होता है । ७४ ।

अब शिष्य पूछता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप अर्थात् ज्ञानी हो गया—ऐसा कैसे जाना जा सकता है ? उसका चिह्न (लक्षण) कहो !

यह जीव धर्मातमा है, धर्म करता है–ऐमा किसप्रकार जाना जाता है ? ऐसे ज्ञानी आत्माका लक्षण अथवा अनुमान क्या है ? ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा कैसे पहिचाना जाता है ? उसके समाधानके लिये यह गाथा कहते हैं ।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥७५॥

कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामम् ।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥७५॥

अर्थः—जो आत्मा इन कर्मके परिणामोंको और नोकर्मके परिणामोको करता नहीं, किन्तु जानता है वह ज्ञानी है ।

जो आत्मा जड़-कर्मोंकी अवस्था और शरीरादिकी अवस्थाको नही करता उसे अपना कर्तव्य नहीं मानता, उसमें तन्मय बुद्धिसे परिणमन नही करता, किन्तु मात्र जानता है अर्थात् तटस्थ रहता हुआ —साक्षीरूपसे जानता है वह आत्मा ज्ञानी है ।

निश्चयसे मोह, राग, द्वेष, सुख, दुःख आदिरूपसे अन्तरङ्गमें उत्पन्न होनेवाला जो कर्मका परिणाम; और स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, बंध, संस्थान, स्थूलता, सूक्ष्मता आदिरूपसे बाह्यमे उत्पन्न होनेवाले जो नोकर्मके परिणाम हैं वे सभी पुद्गल परिणाम हैं ।

मोह अर्थात् परवस्तुके प्रति उत्साह भाव; राग अर्थात् प्रेम; द्वेष अर्थात् ईर्ष्या, सुख, दुःखादि अन्तरङ्गमे उत्पन्न होनेवाले परिणाम पुद्गलपरिणाम हैं । मोह, राग, द्वेषादि विकारी अवस्थाएँ आत्माकी पर्यायमें उत्पन्न हैं तो भी वे जड़की ही अवस्थाये हैं—ऐसा यहाँ पर कहा है, क्योकि वे जड़की ओर उन्मुख होनेवाले भाव हैं इसलिये उन्हे जड़ कहा है । वे भाव आत्माका स्वभाव नही हैं और उनकी मूल उत्पत्ति आत्मामेंसे नही है इसलिये उन्हे जड़ कहा है ।

अन्तरङ्गमें उत्पन्न होनेवाले हर्ष—शोक, रति—अरति इत्यादिके जो परिणाम हैं सो सभी जड हैं । जो अज्ञान भावसे राग—द्वेषादि करे वह आत्मा नही है, क्योकि वे आत्माका यथार्थ स्वभाव नहीं हैं, वे भाव करना आत्माका कर्तव्य नही है तथापि अज्ञान भावसे वे मिथ्यात्व भाव करता है इससे वह आत्मा नही है । जो राग—द्वेषादि भावों जितना ही आत्माको माने वह आत्मा ही नही है ।

जो चौरासीमे रुलता है वह जीव ही नही है। चैतन्यकी जागृति नही रही इससे जड जैसा हो गया है, इसलिये आचार्यदेवने उसे जड़ ही कहा है। भूल करना मेरा स्वभाव ही नही है, मैं भूलका नाशक हूँ—ऐसा जो नही मानता वह आत्मा ही नही है, क्योकि जिसने भूलको अपना माना, अपनेको नित्य भूल करनेवाला माना उसने आत्माका पवित्र स्वभाव अपना नही माना, किन्तु अपनेको अपवित्र ही माना है, इसलिये इस अपेक्षासे वह आत्मा ही नही है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि जो राग-द्वेष, हर्ष-शोक है वही मेरा कर्तव्य है। भले ही कदाचित् शुभभाव हों तो वह भी विकारी भाव ही हैं इसलिये जिसने ऐसा माना कि वे भाव मेरा कर्तव्य है और मैं उनका कर्ता हूँ, उसने यह नही माना कि शुभाशुभ भावरहित वीतरागी, असंग, अबद्ध, सच्चिदानन्द स्वभावको प्रगट करना मेरा कर्तव्य है—कार्य है; इसलिये वह जड़ है।

मैं रागादिका उत्पादक नही हूँ, आत्मा तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है, मैं ज्ञातापनेका कार्य कर सकता हूँ—ऐसा नही माना और मैं परवस्तुका कुछ कर सकता हूँ—शुभराग-व्यवहार तो करना चाहिये यह माना, इसलिये उसकी अपने चैतन्यकी जागृति दब गई है—इससे इस अपेक्षासे वह जड है। इससे ऐसा नही समझना चाहिये कि चैतन्यका नाश होकर जडद्रव्य हो जाता है, यदि आत्मा जड हो जाता हो तो "तू समझ, आत्माको पहिचान"—ऐसा भी नही कहा जा सकता। यह तो कई बार कहते हैं कि बालक-बालिकाएँ, राजा-रंक, सभी आत्मा प्रभु हैं—परिपूर्ण भगवान हैं, वर्तमानमे भी सभी आत्मा अनंत गुणोंसे युक्त हैं, किन्तु उसका भान नही करता-पहिचान नही करता और जडके कर्तव्यको अपना कर्तव्य मानता है, जडके स्वरूपको अपना स्वरूप मानता है, उसकी दृष्टिमें उसे जडका ही प्रतिभास होता है इसलिये उसे जड़ कहा है।

शरीर, वाणी, इत्यादि पुद्गलका स्थूल परिणाम है, और कार्मण शरीर पुद्गलका सूक्ष्म परिणाम है। ठण्डा-गरम स्पर्श मैं कर

सकता हूँ—मैं बना सकता हूँ; ऐसा माननेवाला पुद्गलके स्पर्शगुणकी पर्यायका कर्ता होता है, इसलिये वह जड़ है।

स्वादिष्ट-रसमय भोजन हम बना सकते हैं, आमका, दूधपाकका, श्रीखण्डका स्वादिष्ट रस हम कर सकते हैं—ऐसा माननेवाला पुद्गल द्रव्यके रसगुणकी पर्यायका कर्ता होता है इसलिये वह जड़ है।

पुष्प लताओंको हम यदि अच्छी तरह लगायें तो उनमें बहुत फूल हों, यदि ध्यानसे देखरेख करें तो फुलवाड़ी सुन्दर हो जाये और अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्प आयें—ऐसा माननेवाला पुद्गल द्रव्यके गंधगुणकी अवस्थाके कर्ता होते हैं।

हम कपडोंको बिल्कुल सफेद निकाल सकते हैं; बढ़िया साबुन हो, स्वच्छ पानी हो और थोड़ा सा नील भी हो तो कपडे बिल्कुल सफेद धुलेंगे। मैलका नाम तक नहीं रहेगा। ऐसा माननेवाला पुद्गलके वर्ण गुणकी अवस्थाका कर्ता होता है। अरे भाई! कपड़ेकी सफेद अवस्था पुद्गलके वर्ण गुणमेंसे परिणमित होकर आती है, उस पर्यायका तू कर्ता नहीं है, तू अपने भावोंका कर्ता है। पुद्गलकी वर्ण, गन्ध, रस इत्यादि पर्यायोंके होते समय तेरा मात्र निमित्त था किन्तु उनका तू कर्ता नहीं है; पुद्गल गुणकी पर्याय पुद्गल गुणमें से परिणमित होकर आती है। जब मिट्टीसे घड़ा बनना होता है उससमय कुम्हारकी उपस्थिति होती है, किन्तु धोबीकी उपस्थिति नहीं होती। जिस कार्यके लिये जो निमित्त अनुकूल होता है उसीकी उपस्थिति उससमय होती है।

वाणी मैं बोलता हूँ, अच्छा भाषण दूँ तो जनता प्रसन्न हो जाये, धीरेसे-चिल्लाकर जैसे बोलना हो उसप्रकार मैं बोल सकता हूँ—ऐसा माननेवाला वाणीकी अवस्थाका कर्ता होता है। वाणी तो पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, वह चैतन्यका स्वभाव नहीं है, तथापि मैं वाणी बोल सकता हूँ—ऐसा माननेवाला जड़की अवस्थाका कर्ता होता है। कोई कहे वाणी यदि अपने आप उसकी इच्छासे निकलती हो तो फिर वह इच्छानुसार और व्यवस्थित क्यों बोली जाती है? अण्डवण्ड

क्यों नही निकलती ? उसका कारण यह है कि बोलनेकी इच्छाका, ज्ञानका, और वाणीका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसी इच्छा हो, जैसा ज्ञान परिणमित हो, उसीप्रकार वाणी परिणमित होगी—ऐसा लगभग निमित्त-नैमित्तिक स्वतंत्र रहकर-सम्बन्ध है तथापि कोई किसीका कर्ता नहीं है, सभी द्रव्योंकी पर्याय स्वतंत्र परिणमित होती है।

बन्धन अर्थात् रजकणके पिण्डका बन्धन। जैसे कि जलेबीके मैंदेको बराबर गलाकर हम अच्छी जलेबी बना सकते हैं, दूध हम अच्छा जमा सकते हैं, दूधमें यदि इस तरह जामन डाला जाये तो अच्छा दही बनता है; और कितनी ही स्त्रियाँ तो कहती हैं अरे! सब आना चाहिये, सब चीजोंके मिलानेका अटकल होना चाहिये तो सब अच्छा बन सकता है; हमें तो यह सब आता है, इससे सब अच्छा बना सकते हैं—ऐसा माननेवाला पुद्‌गल द्रव्यकी बन्धनरूप अवस्थाका कर्ता होता है। दही जब बिगड़ना होगा तब तेरी कोई चतुराई वहाँ काम नहीं आयेगी; तेरी शक्ति नही है कि दहीको बिगड़ना हो और तू उसे सुधार दे, और दही यदि अच्छा होना होगा तो वह चाहे जिसप्रकारसे अच्छा हो जायेगा; इसमें तूने क्या किया ? जो कार्य सुधरना अथवा बिगड़ना होते हैं तब उन्हे अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, जामनका निमित्त, स्त्रीका निमित्त आदि निमित्त होते हैं, इससे उपचारसे कहा जाता है कि इस स्त्रीने यह कार्य किया है; किन्तु कोई किसीका कर्ता नहीं है, सभी द्रव्य स्वतंत्र परिणमन करते हैं। इसीप्रकार समस्त परद्रव्योंके कार्यमें समझना चाहिये।

संस्थान अर्थात् पुद्‌गल द्रव्यके आकार। उन आकारोंका कर्ता जीव नहीं है, पुद्‌गल द्रव्य स्वतः ही आकाररूप परिणमित होता है। हम ऐसा सुन्दर मकान बना सकते हैं, उसमे सुन्दर चित्रकारी कर सकते हैं—ऐसा माननेवाला जड़की अवस्थाका कर्ता होता है; मैं शरीरका आकार अच्छा रख सकता हूँ; सुन्दर कपड़े पहने जाये तो शरीर सुन्दर दिखाई देता है—उन सबका अपनेको कर्ता माननेवाला

जड है। आत्मा ज्ञाता है, उस ज्ञायक स्वभावका उसे भान नही है। शरीरादि स्थूल पुद्‌गल परिणाम और कार्मण शरीरके सूक्ष्म पुद्‌गल-परिणाम—वे सब मैं हूँ, उतना ही मैं हूँ—ऐसा माननेवाला जड़ है। जीव स्वतः जड नही हो गया है, किन्तु पुद्‌गल पर दृष्टि है, उसकी दृष्टिमे पुद्‌गल ही प्रतिभासित होता है–इस अपेक्षामे उसे जड कहा है।

आत्मा चिदानन्द वीतरागस्वरूप ज्ञाता है, इसकी जिसे खबर नही है और यह मानता है कि—शरीर, हर्ष–शोकका, कर्ता मैं हूँ, यह मेरे कार्य हैं—कर्तव्य है, उसने पुद्‌गलकी अवस्थाको अपना माना है, इससे वह जड़ है–आत्मा नही।

वास्तवमें हिलने–डुलनेकी समस्त क्रिया जडकी ही है, जड़ ही इसका कर्ता है, इसीप्रकार वाणी भी जड़की अवस्था है। कोई कहे कि हम चुपचाप रहे तो? किन्तु भाई! उसमे भी तू यह मानता है कि मैं चुपचाप रहा, इससे जडकी पर्यायका कर्ता हो गया। वाणी बोलना भी आत्माका स्वभाव नही है और मौन रहना भी आत्माका स्वभाव नही है, इससे मैं वाणी बोला और मैं चुपचाप रहा—ऐसा माननेवाला पुद्‌गलकी पर्यायका कर्ता होता है, किन्तु ज्ञायक आत्माका भान करके ज्ञातारूपसे जिसका परिणमन है वह पुद्‌गलकी अवस्थाका कर्ता नही होता किन्तु मात्र ज्ञायक ही रहता है।

परमार्थसे, जैसे घडे और मिट्टीके व्याप्यव्यापकभावका (व्याप्यव्यापकताका) सद्‌भाव होनेसे कर्ताकर्मपना है, वैसे ही पुद्‌-गलपरिणामके और पुद्‌गलके, व्याप्यव्यापकभावका सद्‌भाव होनेसे कर्ताकर्मपना है।

मिट्टी स्वतः व्यापक होकर–फैलकर घडेका कार्य करती है। मिट्टी व्यापक है और घडा व्याप्य है, जो व्यापक है सो द्रव्य है और व्याप्य है सो पर्याय है।

इसीप्रकार आत्मामें जो हर्ष–शोककी वृत्तियाँ होती हैं वे कर्मके निमित्तसे होनेके कारण जड़ हैं, उसमे पुद्‌गल द्रव्यका प्रसार होता है, हर्ष–शोककी वृत्तियाँ व्याप्य हैं और पुद्‌गल व्यापक है।

अज्ञानीकी दृष्टि विकार पर है। जो अवगुणकी क्रिया होती है उतना ही वह अपनेको मानता है, अपने त्रिकाल अखण्ड गुणको भूलता है, इससे वह अपनेको जड मानता है।

मुक्ति और मुक्तिका मार्ग आत्मामे ही है, वाहर नही है। अन्तरङ्गमे उत्पन्न होनेवाले रागद्वेषके सभी भाव औरशरीरादि नोकर्म—इस सबमे पुद्गलद्रव्यका प्रसार होता है, इसलिये सब पुद्गल ही हैं। उन समस्त भावोका कर्ता पुद्गल ही है, आत्मा तो उनका ज्ञाता है। यहाँ पर चैतन्यके विकारी परिणामोको जड कहा है किन्तु आगे कथन आयेगा कि विकारी परिणाम चैतन्यके हैं, वे जडके निमित्तसे होते हैं किन्तु वह चैतन्यका स्वभाव नही है इससे जड हैं, परन्तु चैतन्यकी अवस्थामें होते हैं, इसलिये चैतन्यके हैं।

शरीर, वाणी, वर्ण, रस, गध, राग, द्वेप आदि सभीमे पुद्गलका प्रसार होता है इसलिये पुद्गल ही उनका कर्ता है और वे पुद्गलका कार्य है।

स्वाश्रय द्वारा आत्मामे तो गुणोकी निर्मल पर्यायोकी ही उत्पत्ति होती है, जो मलिन अवस्था हैं उनकी उत्पत्तिमे तो पर द्रव्यका सग कारण है अत· रागादिमे जडका ही कारण है। मिट्टी फैलकर घडा हुआ, वैसे ही पुद्गल बढकर अर्थात् पुद्गलकी पर्याय परिवर्तित होते-होते राग द्वेषादिकी अवस्था आती है।

स्वात्माके आश्रयमे तो आत्माकी अवस्था परिवर्तित होते-होते वीतरागताकी अवस्था आती है, आत्माकी अवस्थामे परिवर्तन होते-होते रागकी अवस्था नही आती—ऐसी यहाँ बात है। राग-द्वेष, हर्ष-शोक की पर्याय होती तो आत्मामे ही है, किन्तु आत्माके मूल स्वरूपमे वे परिणाम है ही नही, तीनकाल और तीनलोकमे वे आत्मामे नही हैं, वे परोन्मुखतावाले—विरुद्ध भाव हैं इसलिये परके हैं।

यहाँ तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका लक्षण वताया जाता है। सम्यग्ज्ञानी समझते हैं कि हर्ष-शोक, राग-द्वेष, शरीरादि कुछ भी मेरे नही हैं, मै तो शुद्ध चैतन्य ज्ञायक हूँ।

चैतन्यकी अवस्थामे क्षणिक विकार होते है, इससे कही सम्पूर्ण आत्मा नही बिगड़ गया है ।

प्रश्न:—वस्तुको बुरा कहे तो, अथवा आत्मा बिगड़ गया है—ऐसा कहे तो क्या आपत्ति है ?

उत्तर:—यदि आत्माको बाह्यसे-प्रगट एक समयकी दशामें बिगडा हुआ कहो तो वह सुधर सकता है, किन्तु परमार्थसे बिगडा हुआ कहोगे तो सुधारा भी नही जा सकता । यथार्थ रीतिसे देखा जाये तो आत्मा बिगडा नही है किन्तु मात्र वर्तमान पर्यायमे विकार हुआ है इसलिये सुधारा जा सकता है, दूर किया जा सकता है । समस्त विकारी परिणाम कर्माधीन होते हैं, उन्हे ज्ञाता स्वरूप भूलकर अपना स्वभाव माने, मैं उनका उत्पादक-कर्ता हूँ, ऐसा माने वह अज्ञानी है, किन्तु जो ऐसा मानता है कि रागादि आस्रवोका मैं कर्ता नही हूँ, वह मेरा कार्य नही है, मैं उनका उत्पादक नही हूँ, वे मेरे नही हैं, वे मेरे स्वभावमे नही हैं—वह सम्यग्ज्ञानी है ।

पुद्गल द्रव्य स्वतत्र व्यापक होनेसे पुद्गलपरिणामोका कर्ता है, और पुद्गलपरिणाम उस व्यापकके द्वारा स्वय व्याप्त होनेसे (व्याप्यरूप होनेसे) कर्म है । इससे पुद्गल द्वारा कर्ता होकर कर्मरूपसे किये जानेवाले जो समस्त कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलपरिणाम हैं, उनको जो आत्मा, (पुद्गलपरिणाम और आत्माको) घडा और कुम्हारकी भाँति व्याप्य-व्यापकभावके अभावके कारण कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि होनेसे परमार्थसे नही करता परन्तु (मात्र) पुद्गलपरिणामोके ज्ञानको (आत्माके) कर्मरूप (ज्ञप्ति क्रियारूप)से करता हुआ अपने आत्माको जानता है, वह आत्मा (कर्म-नोकर्मसे) अत्यन्त भिन्न, ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है । यह-देखो ज्ञानीकी पहिचान ।

कुम्हार घडेका कुछ नही करता, मात्र बाहर रहकर देखता ही है; किन्तु अज्ञानी मानता है कि यह मुझसे हो रहा है । व्याप्यरूप होनेवाली जो मिट्टी की अवस्था है उसमे व्याप्त होकर कहीं कुम्हार

घडारूप नही हुआ है; कुम्हारका कोई गुण अथवा कोई अवस्था मिट्टी-रूप नही हुए हैं। कुम्हार अति क्रोधी हो तो क्या घडेमें कुम्हारका क्रोध आता है ? यदि वास्तवमें कुम्हार घडेका कर्ता हो तो कुम्हारका क्रोध घडेमे घुस जाना चाहिये, किन्तु ऐसा कभी भी नही वनता। घडा अपनी शीतलताको नही छोडता, उसमे यदि पानी डाले तो वह ठण्डा होता है। कुम्हारका क्रोध किसी भी प्रकारसे घडेमे नही पहुँचा है, इसलिये कुम्हार और घडा विल्कुल पृथक् हैं, तब फिर कुम्हारने क्या किया ? मात्र घडा वनानेकी इच्छा की है; वह इच्छा कुम्हारके आत्माकी पर्यायमे हुई, और उससमय इच्छानुकूल योगका उदय होनेसे, इच्छानुकूल हाथकी क्रिया हुई, वह हाथकी क्रिया हाथमे हुई है किन्तु हाथका कोई भी भाग घडेमे नही गया है। यदि कुम्हारके हाथने घडा वनाया है तो हाथका कोई भी भाग घडेमें जाना चाहिये और उसके हाथमे से कुछ भाग कम होना चाहिये, परन्तु ऐसा कभी होता ही नही, इसलिये घडा और कुम्हारमे व्याप्य-व्यापकताके अभावके कारण कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है अर्थात् कुम्हार और घडा विल्कुल भिन्न-भिन्न हैं। और जहाँ जहाँ इच्छा हो वहाँ वहाँ घडा उत्पन्न हो ऐसा नही है क्योकि भिन्न सत्तामे कर्तापन नही है।

मिट्टीकी अवस्था परिणमित होकर घडारूप हुई है, किन्तु कुम्हारकी किसी भी अवस्था घडारूप नही हुई है। यदि कुम्हार घडारूप हो गया हो तो उससे पृथक् होकर वह कुछ भी कार्य नही कर सकता। इसलिये कुम्हार घडेका कर्ता नही है।

उसीप्रकार, आत्मा कर्ता है और राग-द्वेष उसका कार्य है— ऐसा नही है। यदि वास्तवमें आत्मा रागद्वेष रूप हो गया हो तो त्रिकाल उसीरूप रहेगा किन्तु उससे भिन्न पर्याय प्रगट नही कर सकेगा और अपने आनन्दादि अनन्त स्वभावोंका अनुभव नही कर सकेगा, परन्तु आत्मा तो नित्य चैतन्यमूर्ति ज्ञाता–दृष्टा है उसमे अनित्य रागद्वेषका प्रवेश नही हुआ है, वह पर्यायमे एक क्षणमात्र ऊपर–ऊपर होता है, यदि वह आत्माके मूलस्वभावमें घुस गया हो तो कभी भी

निकल नही सकता, इसलिये जव आत्मा शुभाशुभ विकारी परिणामोका कर्ता नही है तो फिर जड-कर्म और शरीर वाणी, मन, तथा मकान लक्ष्मी इत्यादिका कर्ता तो होगा ही कैसे ? "जड ते जड त्रणकालमें, चेतन चेतनरूप, कोई कोई पलटे नहि त्रणेकाल द्वयरूप ।"

वस्तु और वस्तुकी अवस्थाका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है, एक वस्तुका सम्वन्ध दूसरी वस्तुकी अवस्थाके साथ नही है । जैसे आत्मा वस्तु व्यापक है और शरीर, वाणी तथा राग-द्वेपरूप जो अवस्था है वह उसका व्याप्य है—ऐसा है ही नही । एक द्रव्यका दूसरेमे व्याप्य-व्यापकपना है ही नही ।

आत्मद्रव्य व्यापक है और उसकी जो निर्मल अवस्था है सो व्याप्य है, उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य व्यापक है और शरीर, वाणी तथा उसका राग व्याप्य है, इसप्रकार द्रव्यका और उसकी पर्यायका व्याप्य-व्यापक सम्वन्ध है ।

मिट्टीरूप वस्तु और उसकी घडेरूप पर्यायके साथ कुम्हारका व्याप्य-व्यापकपना नही है । कुम्हार व्यापक और घडारूप अवस्था व्याप्य—इसप्रकार व्याप्य-व्यापक सम्वन्ध नही है, किन्तु मिट्टी व्यापक और घडारूप पर्याय व्याप्य है । मिट्टी स्वतः परिणमित करके घड़ेरूप अवस्था हुई है, किन्तु कुम्हार परिणमित होकर घडारूप अवस्था नही हुई है, इससे मिट्टीने ही कर्ता होकर घडा वनाया है, कुम्हारने नही, कुम्हार तो मात्र निमित्तरूप है । वास्तवमे जहाँ जिसका व्याप्य-व्यापकपना हो वही कर्ताकर्मपना होता है ।

भगवान आत्मा अनादि स्वतंत्र वस्तु है, वह अपनेको भूलकर कर्मोमे युक्त होकर अनादिसे रुका हुआ है, किन्तु वह कर्मोकी अवस्था आत्माका व्याप्य नही है ।

जैसे कुम्हारका और घड़ेका व्याप्य-व्यापक सम्वन्ध नही है इसलिये कर्ताकर्म सम्वन्ध भी नही है, उसीप्रकार पुद्गलपरिणामोंके ज्ञानको कर्मरूप करता हुआ ज्ञानी अपने आत्माको जानता है ।

राग-द्वेप, शरीर, वर्ण, गध, स्पर्शादि जो-जो अवस्थाएँ होती हैं उनके साथ आत्माका व्याप्यव्यापकपना नही है, इससे कर्ताकर्मपना भी नही है। उन रागादिक अवस्थाओका ज्ञान करना आत्माका कर्म है और आत्मा उस ज्ञानकर्मका कर्ता है। आत्मा ज्ञानकी पर्याय करता है, वैसा कहना भी सद्भूतव्यवहार है। गुण और पर्यायका भेद हुआ इसलिये व्यवहार है, परन्तु वस्तुदृष्टिसे गुण-पर्यायमे भेद नही है किन्तु लक्षणादि भेदसे भेद है इसलिये व्यवहार कहा है।

जो शरीर, मन, वाणी, वर्ण, गध, रस और स्पर्श, राग-द्वेषादिको जाननेके परिणामरूप कार्य है, जाननेकी सत्क्रियारूप कार्य है, उस जाननेमात्र सत्कर्मको करता हुआ ज्ञानी अपने आत्माको जानता है। द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मसे अत्यन्त भिन्न निरन्तर सर्वत्र ज्ञानपर्यायको करता हुआ—ज्ञानस्वरूप होता हुआ ज्ञानी है।

आत्मा ज्ञाता—दृष्टा है। उस ज्ञाता—दृष्टारूपसे रहना ही उसका कर्तव्य है, और उसके अतिरिक्त राग करनेका अथवा शरीरको सुधारनेका कर्तव्य आत्माका नही है, तथापि जो ऐसा मानता है वह अज्ञानी है।

परमार्थसे अर्थात् यथार्थ रीतिसे घडा और कुम्हारका व्याप्यव्यापकपना नही है, वैसे ही राग—द्वेष और शरीरकी अवस्थाका। ज्ञातारूप आत्माकी पर्यायके साथ भी व्याप्यव्यापकपना नही है। यहाँ राग-द्वेषके परिणामोको भी पुद्गलका परिणाम कहा है। पुद्गल परिणामोंके ज्ञानका अर्थात् राग-द्वेषरूप परिणामोंके ज्ञानका और राग—द्वेपरूप अवस्थाका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नही है और इससे कर्ताकर्मपना भी नही है।

जैसे कुम्हार और मिट्टीके भीतरी सम्बन्धका अभाव है, वैसे ही ज्ञानपर्यायका राग-द्वेपकी पर्यायके साथ तथा शरीरादिकी पर्यायके साथ भीतरी सम्बन्ध नही है। जैसे घडा और मिट्टीका आन्तरिक सम्बन्ध है वैसे ही आत्मा और ज्ञानका भी आन्तरिक सम्बन्ध है।

ज्ञान ही आत्माका कार्य है; किन्तु राग-द्वेष आत्माका कार्य नही है। आत्माका कार्य स्व-पर प्रकाशक है, आत्मा स्वतः को भी जानता है और परको भी। जानने क्रिया आत्माका कार्य है, यह सद्भूतव्यवहार है। यह गाथा अलौकिक, अपूर्व है। यह वस्तुस्वरूप समझना कठिन है, सत्समागमके विना यह नही समझा जा सकता।

जो राग-द्वेष और अज्ञान है सो व्यवहार है तथा उसका फल संसार है, अज्ञान भी व्यवहार और संसार भी व्यवहार—दोनो व्यवहार हैं। जिसका कारण व्यवहार हो उसका कार्य भी व्यवहार ही होता है। आत्माकी जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्मल पर्याय प्रगट होती है उसके फलस्वरूप मोक्ष प्रगट होता है। जिसका कारण निश्चय है, उसका कार्य भी निश्चयरूप होता है, जिसका कारण निर्मल उसका कार्य भी निर्मल होता है। यहाँ आत्माकी निर्मलपर्यायको निश्चयनय कहा है और मलिनपर्यायको व्यवहार कहा है। आत्माकी निर्मलपर्यायको व्यवहार कहा जाता है परन्तु यहाँ स्वद्रव्यकी अपेक्षासे अपनी पर्याय है, इसलिये निश्चय कहा है।

आत्मा ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूपी है, उसे भूलकर उसकी अवस्थामें पराश्रयपना करे तो दोष होते हैं, उसे मलिन अवस्था कहो, कर्मोंमें युक्त हुआ कहो, एकान्त दृष्टिमे अटकना कहो, अथवा अपना भान भूलकर कर्माधीन हुआ कहो—वे सभी एकार्थवाची हैं। उन सभीमे अज्ञानताका दोष है इसलिये यहाँ पर उन्हे आत्मा नही कहा है, क्योकि जिनके फलस्वरूप एकेन्द्रिय–निगोदमे जाये उन्हे आत्मा कैसे कहे ? अज्ञानपर्यायमे वर्तमानमे भी मूढ़ता है और उसके फल स्वरूप भविष्यमे भी निगोदादिमे मूढ़ होकर जाना है उसे आत्मा कैसे कहा जाये ?

आत्मा तो उसे कहते हैं कि जिससे वर्तमानमे भी विकास दिखाई दे और भविष्यमे विकासकी वृद्धि हो, वह विकास वर्तमानमें सुख–शांति एवं निराकुलता युक्त होता है और भविष्यमें भी उनकी वृद्धि होती ही रहती है, वह पूर्ण होने पर मुक्त हो जाये उसीको

आत्मा कहते हैं। जिसकी दृष्टि जड़के ऊपर है, जिसका ज्ञान मूढताको प्राप्त होता है उस आत्माको जड़ कहा है; क्योंकि अपनी जागृतिका भान नहीं है—उस अपेक्षासे वह जड है। वस्तुस्वरूपको यथावत् समझे विना भवका अन्त नहीं आ सकता। ज्ञानीको आत्माकी जागृतिका भान है, उसकी वात इस गाथामें कही है।

धर्मात्मा जीवका लक्षण क्या है वह वतलाते हैं। शिष्यने पूछा था कि प्रभो! ज्ञानी जीवको पहिचाननेका चिह्न क्या है? उसे कैसे जाना जा सकता है? उसका कुछ अनुमान या चिह्न वताइये। यह जीव आत्माका पूर्ण हित करनेके पथ पर है—यह कैसे जाना जाये? इसकी मिथ्या वुद्धिका नाश हुआ है और यथार्थ वुद्धि प्रगट हुई है यह कैसे समझा जा सकता है? यह लडका धर्मी है, यह स्त्री अथवा यह पुरुष धर्मात्मा है यह कैसे अनुमान लगायें? लोक व्यवहारमें नीति और सज्जनताके कार्य करे इससे धर्मात्मा कहलाता है, किन्तु इस लोकोत्तर मार्ग—मोक्षमार्गमें धर्मीकी पहिचान करनेका लक्षण, चिह्न अथवा अनुमान क्या है, वह कहिये। यह अजान शिष्य प्रश्न करता है उनका उत्तर इस गाथामें अत्यन्त स्पष्टरूपसे दिया गया है।

धर्मात्मा जीव यह नहीं मानता कि शरीरादि मेरे कार्य हैं और मैं उनका कर्ता हूँ। एक आत्माके अतिरिक्त अन्य कोई भी पर-पदार्थ मुझे लाभ-हानि कर सकते हैं—ऐसा मानना सो मोह है, ऐसा मोह ज्ञानीके नहीं होता इसलिये वह धर्मात्मा है। शरीरमें चलनेकी, वाणीमें वोलनेकी, कर्ममें कर्मोंका फल देनेकी शक्ति है वह सव पुद्गलकी अवस्था है, उसका कर्ता पुद्गल है, राग-द्वेष अपना स्वभाव नहीं है, अपनेसे वह उत्पन्न नहीं होता, वह अपनी अवस्थामें होता अवश्य है किन्तु अपना स्वभाव न होनेसे उसे जड़का कहा है। धर्मात्मा राग-द्वेषके भावोंका और शरीरादिका कर्ता नहीं होता किन्तु ज्ञाता है, रागद्वेषका कर्ता नहीं हुआ और साक्षी रहा अर्थात् राग-द्वेषसे मुक्त हुआ और स्वमें स्थिर हुआ। यह धर्मीका अन्तरलक्षण है, अन्तर चिह्न है। ज्ञानी राग-द्वेषसे छूटकर स्वमें स्थिर होना अपना कर्तव्य समझते हैं। चौथे

गुणस्थानमे अपनी भूमिकानुसार धर्मात्मा जीव कभी-कभी वाह्यका लक्ष्य छोड़कर स्वरूपमे स्थिर हो जाते हैं और सिद्ध समान अंशतः अनुभव करते हैं, पाँचवी भूमिकामे स्वरूपरमणताकी वृद्धि होती है और छठवी भूमिकामे मुनित्व आता है। वहाँपर स्वरूपरमणतामे विशेष वृद्धि होती है; अन्तर्मुहूर्तमे छट्ठे और अन्तर्मुहूर्तमे सातवें गुणस्थानमे मुनि भूलते हैं, क्षणमे स्वरूपमे स्थिर होते हैं और क्षणमे वाह्यमें अर्थात् विकल्पमें आ जाते है; इसप्रकार पुनः पुनः हजारोवार आना–जाना मुनि करते हैं। जो-जो भाव आते हैं उनका ज्ञाता रहकर, अस्थिरताको दूर करके वीतरागता प्रगट करना ज्ञानीका कर्तव्य है। अज्ञानी राग-द्वेषको अपना मानते हैं इससे उन्हे रखना वे अपना कर्तव्य समझते हैं।

परमार्थसे पुद्गल परिणामोंके ज्ञानका और पुद्गलका घट और कुम्हारकी भाँति व्याप्यव्यापकभावका अभाव होनेसे कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है और जैसे घडे और मिट्टीका व्याप्यव्यापक भावका सद्भाव होनेसे कर्ताकर्मपना है वैसे ही आत्मपरिणामों और आत्माका व्याप्य-व्यापक भावका सद्भाव होनेसे कर्ताकर्मपना है।

कुम्हार घड़ेमें प्रवेश नही कर जाता, मिट्टीमे नही घुस जाता, कुम्हारके स्वभावमें मिट्टी प्रवेश नही कर जाती, उसके स्वभावरूपसे नही हो जाती, इसलिये मिट्टी घड़ेकी कर्ता है, कुम्हार नही। मिट्टीमें घडा होनेकी जो क्रमवद्ध योग्यता है उसके द्वारा उसकी पर्याय क्रमवद्ध होती है। जब मिट्टीमे घड़ा होनेकी योग्यता होती है तव कुम्हारका निमित्त होता है—ऐसा वस्तुका स्वभाव है।

कुम्हारने पहले ज्ञात किया था कि मिट्टीमे से घडा वनेगा, उसके ध्यानमे भी ऐसा ही है कि मिट्टीमे से घड़ा होगा, वालूमे से घडा होगा वैसा उसने नही जाना है। अव, जिससमय घड़ा वनता है उस-समय भी ऐसा जानता है कि इस मिट्टीमे से घड़ा हो रहा है, घड़ा 'होता है,' 'होता है,' 'होता है'—ऐसा कुम्हार जानता है, किन्तु मुझमे से घड़ा हो रहा है, वैसा कुम्हार नही जानता। इससे कुम्हार घड़ेका

कर्ता नही है, किन्तु मात्र ज्ञाता ही है—ऐसा सिद्ध हुआ, तथापि कर्ता मानता है उसकी अज्ञानता और भ्राति है।

देखो न ! तुम सभी मकान बननेके विषयमे क्या करते हो, उसमे भी ऐसा ही है। पहले भी ऐसा जाना है कि मकान चूना, पत्थर और ईंटोंसे बनेगा, और फिर जब मकान बनता है तब भी तुम ऐसा जानते हो कि यह मकान चूना, पत्थरसे "बन रहा है, बन रहा है, बन रहा है" किन्तु मुझमे से यह मकान हो रहा है ऐसा नही जानते, तथापि अज्ञानी मिथ्याभिमान करता है कि यह मकान मैंने बनाया है। जब मकान होना होता है तब उसे अनुकूल निमित्त उपस्थित होने हैं। मकान बनना हो वह जीवको मकान बनवानेका विकल्प नही करा देता, परन्तु गृहस्थाश्रमके रागमे विद्यमान जीवके अपने कारणसे उसका वीर्य विभावमे युक्त होता है उससे विकल्प आता है, विकल्पसे मकान नही बनता किन्तु जब मकान बनना होता है तब ऐसा विकल्प-रागवाला जीव आदि अनुकूल निमित्त स्वत अपने कारणसे उपस्थित हो जाते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

जब इस पुस्तकको सीना प्रारम्भ किया तब सीनेवालेने क्या किया ? उसे खबर है कि सुई इस कागजको छेदेगी, कागज सिलेगा, डोरा चलेगा—ऐसा जो ज्ञान है वह ज्ञान, जब जाननेकी क्रिया करता है उससमय अपनी इच्छानुसार हाथकी क्रियाका अनुकूल उदय हो तो हाथकी क्रिया होती है, उसने तो मात्र जाननेकी क्रिया की है, हाथकी क्रिया होना थी इसलिये कागज सीया जाना था इसलिये सीया गया, जिसमे जो स्वभाव हो वह कार्य होता है उसमे तूने क्या किया है ? यदि तू कागज सीनेवाला-कर्ता हो तो पत्थरोको साथमे सी दे, वह तो नही कर सकता, तो फिर जो भी कुछ हुआ है वह उसके स्वभावसे हुआ है उसमे तूने क्या किया ? कागजमे जब पुस्तकरूप होनेकी योग्यता हो उससमय उसे अनुकूल निमित्त प्राप्त होते है—ऐसा स्वतंत्र भिन्न भिन्न दो चीजमे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है किन्तु कर्ता-कर्म सम्बन्ध नही है।

पुस्तकके, प्रभावनाके, दयाके, दान इत्यादिके शुभ परिणाम जीव स्वतः करता है। कोई कहे कि जब जैसा होना होगा वैसे शुभ-विकल्प आयेगे, ऐसा माननेवाला शुष्क है, उसे धर्मसे प्रेम नही है। अशुभपरिणामोंको बदलकर जीव स्वयं शुभपरिणाम कर सकता है; ज्ञानी, धर्मात्मा भी जबतक स्वरूपमे स्थिर नही हो सकते तबतक अशुभसे बचनेके लिये शुभपरिणामोमे पुरुषार्थ द्वारा युक्त होते हैं किन्तु उनके कर्ता नही होते।

शुभपरिणामको जैसा बनना होता है उसप्रकार कर्म नही ला देता, परन्तु अशुभपरिणामोमे से छूटकर शुभमे स्वतः पुरुषार्थके द्वारा युक्त होता है और उन शुभपरिणामोंके अनुसार दया, दान, प्रभावनादिके बाह्य कार्य होना हो तो होते हैं। जब वे कार्य होते हैं उससमय जीवके शुभपरिणामोका निमित्त होता है—ऐसा लगभग निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है, इससे अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो जाता है कि यह कार्य मैंने किये, परन्तु सभी द्रव्य स्वत अपने स्वतन्त्र कारणसे परिणमित होते हैं। निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी कोई किसीका कर्ता नही है। कोई यह कहे कि हमारे भाव तो दान देनेके हैं किन्तु बाह्य–क्रिया जब होना हो तभी होती है—ऐसा कहनेवाला मिथ्या बचाव करता है; दान करनेके भाव हो तो दान देनेकी क्रिया होती है–ऐसा लगभग निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

हाथका अनुकूल उदय न हो, हाथको लकवा हो गया हो तो बात दूसरी है, बाह्यमे सभी प्रकारका अनुकूल उदय हो और दान देनेकी क्रिया न हो, वैसा नही हो सकता, स्वतः को दान नही करना है इससे मिथ्या बचाव करता है। यहाँ बचाव करनेकी बात नही है किन्तु कहना यह है कि निमित्त–नैमित्तिक होने पर भी तू परद्रव्यका कर्ता नही है। सभी द्रव्य स्वतंत्र परिणमन करते हैं, कोई किसीका कर्ता नही है। ज्ञानी, धर्मात्मा शुद्धस्वरूपमे स्थिर होनेके लिये ही उद्यत रहते हैं, शुभपरिणाम आते हैं किन्तु वे उनके कर्ता नही होते। व्यवहारसे कर्तापनका कथन आते हो किन्तु व्यवहारसे भी किसी भी

परद्रव्यके कर्ता ज्ञानी या अज्ञानी नहीं है। अज्ञानी भी किसी परद्रव्यका कार्य नहीं कर सकता किन्तु मात्र अभिमान करता है कि यह कार्य मैंने किया है। व्यवहार से भी कोई किसीका कुछ कर ही नहीं सकता। व्यवहारकी मुख्यतासे कथन होता है परन्तु कार्य नहीं होता।

✓ कोई स्त्री जब रोटी बनाती है तब भी वह जानती है परन्तु परद्रव्यका कुछ कर नहीं सकती। उसने प्रथम जाना है कि गेहूँके आटे की रोटी बनेगी, दाल और चांवलकी खिचड़ी बनेगी, और फिर जब वह बनती है उससमय भी पहलेकी ही भाँति जानती है कि गेहूँके आटेकी रोटी बन रही है, किन्तु यह नहीं जानती कि रोटी मुझमेंसे हो रही है। उस स्त्रीमेंसे रोटी नहीं बन रही है तथापि वह व्यर्थका मिथ्याभिमान करती है कि "रोटी मैंने बनाई" परन्तु उसमें तूने क्या किया? तूने बहुत किया तो अज्ञानभावसे इच्छा की है कि रोटी 'करूँ-करूँ' किन्तु रोटी तो गेहूँकी ही बनी है। यदि तुझमें रोटीको बनानेकी शक्ति हो तो लोहे-पत्थरकी रोटी बना दे, तब तो कहेगी नहीं, उससे रोटी नहीं बन सकती, रोटी तो आटेमें ही बनेगी। फिर उसमें तूने क्या किया? जिसका जो स्वभाव था वह उसमें से प्रगट हुआ उसमें जो शक्ति न हो तो वह कहाँसे आती? व्यर्थका मिथ्याभिमान करके मूढ़ताका सेवन करती है। जब गेहूँके आटेमें रोटी होनी हो उससमय उपस्थित जीवके विकल्पका, हाथकी क्रियाका, चकला-बेलन, तवा और अग्नि आदिका निमित्त उसे प्राप्त होता है। ज्ञानीके भी रोटी करनेकी इच्छा तो होती है किन्तु उस इच्छाका, हाथका अथवा रोटी आदि किसीका भी कर्ता नहीं होता, परन्तु जो कुछ होता है उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है। आटेमें से जब रोटी होना हो तब उसके अनुकूल निमित्तोंको रोटी होनेकी योग्यतावाले पुद्गल कहीं खींचकर नहीं लाते किन्तु सभी अनुकूल निमित्त स्वतः अपने-अपने कारणसे उपस्थित होते हैं।

जैसे मिट्टी और घड़ेका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध है, वैसे ही ज्ञानीका अपनी पर्यायके साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध होनेसे उसके

आत्माका और आत्माकी पर्यायका कर्ताकर्म सम्बन्ध है। परन्तु पुद्गल परिणामके साथ, रागादिकके साथ व्याप्यव्यापक सम्बन्ध नही है इससे कर्ताकर्म सम्बन्ध भी नही है।

√ इस शरीरकी जो चलने-बैठनेकी क्रिया होती है उसका कर्ता पुद्गल है और चलना-बैठना उसकी क्रिया है। वह क्रिया शरीररूपसे होती है किन्तु आत्मारूपसे नही होती, यदि वह आत्मारूप होती हो तो ज्ञानदर्शन आदि गुण उसमे मिल जाना चाहिये परन्तु वैसा तो नही होता। शरीरकी क्रिया भिन्न होती है और आत्माकी भिन्न, जो होता है उसे ज्ञानी जानता है, जाननेकी क्रिया आत्माके साथ व्याप्य है और आत्मा स्वतः व्यापक है; आत्मा स्वतः कर्ता है और ज्ञानपर्याय उसका कार्य है—इसप्रकार कर्ताकर्म सम्बन्ध है।

विपरीत पुरुषार्थ द्वारा आत्माकी पर्यायमे जो हर्ष-शोककी वृत्तियाँ होती हैं वह आत्माका स्वभाव नही है, इससे ज्ञानी जानता है कि हर्ष-शोककी अवस्थामे मैं उत्पन्न नही होता और वह मुझमे उत्पन्न नही होती। मैं अपनेमे उत्पन्न होता हूँ। अपूर्ण हूँ इससे अल्प अस्थिरता होती है, वह अस्थिरता पुरुषार्थकी मन्दतासे मेरी अवस्थामे होती है किन्तु वह मेरा स्वभाव नही है, वह परनिमित्तसे होनेवाला भाव है इसलिये परका है। इसप्रकार ज्ञानी, जो-जो अवस्थाएँ होती हैं उनका ज्ञान करता है। वह ज्ञान आत्माका कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है।

चलने, बैठने, बोलने आदिकी, तथा अन्तरमे हर्ष-शोककी जो-जो अवस्थाएँ होती हैं उन्हे ज्ञानी जानता है, यह सब जो मेरे आत्मस्वभावसे बाहर होता है उसका मैं ज्ञायक हूँ। जो होता है उसे ज्ञानी देखता है अर्थात् ज्ञानकी पर्याय करता है, ज्ञान मेरा कार्य है, मेरा धर्म है उस ज्ञानकी पर्याय अपनेमे विस्तृत हुई है, प्रसारित हुई है और स्वतः मे ही व्याप्त हुई है। ज्ञानी जानता है कि मेरे आत्माके बाहर जो पैदावारी दिखाई दे रही है वह सब जडकी फसल है, मेरी पैदावारी तो मुझमे है, मेरे अंकुर मुझमे ही हैं, मैं अनन्त गुणकी मूर्ति हूँ

और अनन्त गुणोकी पर्यायसे अपनेमे ही अंकुरित होता हूँ, बढता हूँ, और अपने स्वभावमे फलता हूँ, जडसे मेरी फसल नही होती। विकारोकी पैदावारी अज्ञानभावोकी है, वह मेरे आत्माकी फसल नही है, जब मैं अपने ज्ञानस्वभावमे स्थिर होता हूँ तब दूर हो जाती है। ज्ञानी कर्ता है और ज्ञान उसका कार्य उसप्रकार है जैसे मिट्टी कर्ता और घडा उसका कार्य। परन्तु कुम्हार कर्ता और घडा उसका कार्य—ऐसी अज्ञानीकी बात यहाँ नही है, यहाँ तो धर्मात्माकी बात है। ज्ञानी, ज्ञानस्वरूपसे है, किन्तु रागस्वरूपसे ज्ञानी नही है। अपनेमे अनन्तगुण हैं वे वस्तु-रूपसे अभेद हैं—ऐसी अभेददृष्टि करके, उसमे एकाग्र होकर, विभावोंसे भिन्न होकर जो पुण्य-पापकी वृत्तियाँ होती हैं उनका ज्ञाता ही रहता है।

कुम्हार कर्ता और घडा उसका कार्य—वैसी कर्ताकर्मकी सिद्धि है ही नही। उसीप्रकार पुद्गल और ज्ञानके भी कर्ताकर्मपनेकी सिद्धि है ही नही। जैसे घडेका और मिट्टीका कर्ताकर्मपन है, वैसे ही आत्म-परिणामोका अर्थात् ज्ञानका और आत्माका कर्ताकर्मपना है। ज्ञानी द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म—सभीका ज्ञाता है किन्तु कर्ता नही है। यह बात बडे-बडे महन्त (दुनियाँमे कहे जानेवाले महा पुरुष) अज्ञानीको भी खटके ऐसी है, किन्तु उससे कही वस्तुस्वभाव नही बदल जायेगा। वस्तुस्वभाव तो जैसा है वैसा ही है, त्रिकाल ऐसा ही है।

घडा अर्थात् यह शरीर। शरीरका आकार घडेकी भाँति है, और अपनेको उस शरीरकी अवस्थाका कर्ता माननेवाला कुम्हार जैसा है, कुम्हारने माना है कि घडा मैं बनाता हूँ और अज्ञानी मानता है कि शरीरकी अवस्था मैं करता हूँ इसलिये दोनो कुम्हार है।

ज्ञानी सबका ज्ञाता है। मकान, दुकान, लक्ष्मी, कुटुम्बादि सभीका ज्ञाता है। यह बात सर्वज्ञकी नही है किन्तु यह तो वस्तुस्वरूप जैसा है उसे जाननेवाले ज्ञानीकी बात है, जिसके राग-द्वेष, शरीरादिकी क्रिया होती है, अल्प हर्ष—शोक होता है, अर्थात् चौथे गुणस्थानकी

वात है, सम्यग्दर्शन–सम्यग्ज्ञानकी वात है। वस्तुस्वरूपको यथावत् समझे विना भवका अन्त नही है।

अरे भाई ! यह शरीर, मकान, स्त्री, कुटुम्व इत्यादि सभीको तू अपना मानता है वे सभी झझाके झकोरेके समान क्षरण भंगुर होनेसे पवनकी भाँति उड जाँयगे। पुण्य-पापके शुभाशुभ भावोको तूं अपना मानता है परन्तु वे सव तो क्षरिणक है, प्रतिक्षरण परिर्वातत होते रहते हैं; इसलिये यदि तुझे सुखकी आवश्यकता है तो शाश्वत आत्माका भान कर ! अशुभपरिरणाम तो विकार ही है किन्तु दया, दान, व्रत, पूजा आदिके जो शुभपरिरणाम होते हैं वह भी आस्रव है–अनात्मा है, विकार है। आत्माके निर्विकार स्वभावसे वे भाव भिन्न हैं, परन्तु अशुभपरिरणामोंसे वचनेके लिये शुभपरिरणाम आये विना नही रहते; ज्ञानी भी अशुभपरिरणामोसे वचनेके लिये शुभमें विद्यमान रहते है; पूर्ण वीतरागता प्रगट नही हुई है पूर्ण स्वरूपमे स्थिर नही हुआ जा सकता–इससे शुभपरिरणामोमे युक्त होते हैं। ज्ञानी शुद्धस्वरूपमे स्थिर होनेके उद्यमी रहते हैं परन्तु जहाँतक पूर्ण स्थिरता नही हो सकती वहाँतक शुभपरिरणामोमे भी युक्त होते हैं, किन्तु उनके कर्ता नही होते, उनके भी ज्ञाता ही रहते है, अशुभपरिरणामोके, शरीरकी क्रियाके और वाह्यके अनुकूल-प्रतिकूल संयोगोंके भी ज्ञाता ही हैं—इसप्रकार सवके ज्ञाता ही हैं। विकारी अवस्था तो अपने पुरुपार्थकी मन्दतासे, अपनी अस्थिरताके कारण होती है तो भी उसके ज्ञाता है। द्रव्यको, उसके स्वभावको और उसकी शुद्ध-अशुद्ध पर्यायको ज्ञानी वरावर जानते हैं, कर्ताकर्मके स्वरूपको एवं निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्धको भी वे वरावर जानते है, जो अल्प अस्थिरता होती है उसे दूर करके वीतराग होनेका प्रयास है, भावना है।

जिसे आत्माके स्वभावकी खवर नही है उसे जडके स्वभावकी भी खवर नही है; जिसे आत्माके स्वभावकी खवर है उसे जड़के स्वभावकी भी खवर है।

मैने पुण्य किया, दान किये, परको मैं सुखी कर सकता हूँ, दु:खी कर सकता हूँ, मैं ही शरीरको चला सकता हूँ, वाणी मैं ही वोल सकता हूँ—इसप्रकार परकी क्रियाका स्वामी होनेवाला–परकी क्रियाको अपनी माननेवाला यहाँसे जाकर बीचमे एक या दो भव राजा अथवा देवके लेकर पश्चात् निगोद और नरकमे सडेगा, वह अधर्मी है। परन्तु जिसने परसे भिन्न आत्माका सच्चा स्वरूप समझनेकी यथार्थ जिज्ञासा की होगी वह भविष्यमे अवश्य पुरुषार्थकी वृद्धि करके स्वरूपको समझेगा और उसके भवका अन्त आयेगा।

आत्मद्रव्य स्वतत्र व्यापक होनेसे आत्मपरिणामोका अर्थात् पुद्गलपरिणामोंके ज्ञानका कर्ता है, और जो पुद्गलपरिणामोका ज्ञान है वह व्यापक द्वारा स्वत· व्याप्त होनेसे (व्याप्यरूप होता होनेसे) कर्म है। और इसप्रकार (ज्ञाता पुद्गलपरिणामोका ज्ञान करता है इससे) ऐसा भी नही है कि पुद्गलपरिणाम ज्ञाताका व्याप्य है, क्योकि पुद्गल और आत्माका ज्ञेयज्ञायक सम्बन्धका व्यवहारमात्र होने पर भी पुद्गल-परिणाम जिसके निमित्त हैं—ऐसा ज्ञान ही ज्ञाताका व्याप्य है, पुद्गलपरिणामोका ज्ञेयरूप निमित्त है। ज्ञान जानता तो स्वत के ही द्वारा है किन्तु ज्ञेय निमित्त है। (इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है)

आत्मा स्वतः अपनेमे व्याप्त होकर अपने आत्मपरिणामोका कर्ता है और आत्मपरिणाम अर्थात् ज्ञानपरिणाम उसका कार्य है। द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मका ज्ञान (उसे जाननेवाला ज्ञानकर्म) आत्मामे व्याप्त है, कही परमे व्याप्त नही है इसलिये वह आत्माका कर्म है, वह स्वतत्र व्यापक द्वारा ही स्वत मे व्याप्त होनेसे आत्माका कर्म है। फिर आत्मा पुद्गलपरिणामोका ज्ञान करता है इससे पुद्गलके परिणाम हैं वे ज्ञाताकी अवस्था हो जायें—ऐसा नही है। शरीर इसप्रकार चला, रोटी इसप्रकार खाई, पैसा ऐसे हुआ, उन सबका ज्ञान किया इससे कही वह सब जडकी अवस्था आत्माकी नही हो जाती। आत्माका स्वभाव स्व-परको जाननेका है इससे कही ज्ञेय ज्ञानरूप और ज्ञान

ज्ञेयरूप नही हो जाता; मात्र ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध है परन्तु उससे कही एक दूसरेमे प्रवेश नही कर जाते। प्रवेश किये बिना कर्ता मानना वह अज्ञानियोका उपचार है।

रागादि या तृष्णाको कम करनेकी अवस्था आत्मामे होती है, इससे वह मन्दरागरूप अवस्था कही आत्माका स्वभाव नही हो जाती। आत्मा शरीरकी अवस्थाके ज्ञाता और तृष्णाको कम करनेकी अवस्थाके ज्ञाता हैं कर्ता नही कारण कि आत्माकी ज्ञानरूप निर्मल अवस्था शरीररूप नही हो जाती, वैसे ही शुभाशुभपरिणामरूप नही हो जाती, क्योकि ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध व्यवहारमात्र होने पर भी पुद्गल-परिणाम जिसका निमित्त है—ऐसा वह ज्ञान ही ज्ञाताका व्याप्य है इसलिये ज्ञान ही ज्ञाताका कर्म है, उस ज्ञान क्रियाका आत्मा कर्ता है।

संयोग और विकार मैं नही हूँ कारण कि मैं शरीर, वाणी, मनरूप नही हूँ, रागद्वेष भी नही हूँ किन्तु उन सबसे भिन्न आत्मा हूँ—ऐसा ज्ञान करके स्वरूपमे स्थिर हुआ वह निर्मल श्रद्धा–ज्ञान और स्वरूपाचरण आत्माकी पर्याय है। शरीर, वाणी तो स्थूल हैं, उनका आत्माके साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नही है, परन्तु शरीर और रागादि ज्ञाता नही है, ज्ञात होने योग्य है और आत्मा ही ज्ञाता है—ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है, पुण्य-पापके परिणामोके साथ भी आत्माका ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है परन्तु कर्ताकर्म सम्बन्ध नही है। आत्मा ज्ञाता है और पुण्य-पापके परिणाम ज्ञेय–ज्ञानके विषय बनने योग्य हैं। धर्मात्माका कार्य उन सबको जाननेका है; परका कुछ भी करनेका कार्य धर्मीका नही है।

शरीर अथवा एक तृणका भी कुछ करनेमे ज्ञानी या अज्ञानी कोई समर्थ नही है। अज्ञानी मानता है कि मैं परका कर सकता हूँ, तो वह अपने विपरीत भाव ही करता है किन्तु परका कुछ नही कर सकता, मैं परवस्तुका कर सकता हूँ—ऐसा जो मानता है वह महा-मूढ़ है।

अब इसी अर्थके समर्थनका कलशरूप काव्य कहते हैं—

(शार्दूल विक्रीडित)

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि
व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहोभारेण भिंदंस्तमो
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

अर्थः—व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूपमे ही होता है, अतत्स्वरूपमे नही होता। और व्याप्यव्यापक भावके सम्भव बिना कर्ताकर्मकी स्थिति कैसी ? अर्थात् कर्ताकर्मकी स्थिति नही ही होती। ऐसा प्रवल विवेकरूप और सवको ग्रासीभूत करनेका जिसका स्वभाव है—ऐसा जो ज्ञान प्रकाश है उसके वलसे अज्ञानाधकारको विदीर्ण करता हुआ यह आत्मा ज्ञानस्वरूप होकर, कर्तृत्वरहित हुआ उसकाल दीप्त होता है।

देखो ! आचार्यदेव कलशमे फिरसे सक्षेपमे कहते हैं कि व्याप्य-व्यापकपना तत्स्वरूपमे ही होता है, अर्थात् जड़की अवस्था व्याप्य और जडवस्तु स्वत: व्यापक है, इसप्रकार व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूपमे ही होता है। प्रतिक्षण जो अवस्था होती है वह वस्तुके आधारसे ही होती है, वस्तुमे व्याप्त होकर ही होती है। व्यापक अर्थात् होनेवाला और व्याप्य अर्थात् जो होता है वह। अवस्था कही अन्यत्र हो और होनेवाला कही पृथक् रह जाये—ऐसा नही हो सकता। शरीर–वाणीकी अवस्था पुद्गल द्रव्यमे ही व्याप्त है, पुद्गलद्रव्यके ही आधारसे है इसलिये होनेका और होनेवालेका–दोनोका मेल है। एक तत्त्वसे दूसरे तत्त्वका कुछ भी न तो कभी हुआ है, न होता है और न होगा ही।

यदि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमे व्याप्त हो तो एक द्रव्य दूसरेका कार्य कर सके, कर्ता हो सके, परन्तु एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमे व्याप्त होना जहाँ सम्भव ही नही, अवकाश ही नही वहाँ कर्ताकर्मकी स्थिति होगी ही कहाँसे ? अर्थात् कर्ताकर्मकी स्थिति नही ही होती।

इसप्रकार समस्त परपदार्थसे कर्ताकर्मकी स्थिति रहित द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे परसे भिन्न–पृथक् आत्मा है। शरीरादि और स्त्री–कुटुम्बादि परकी ओर उन्मुख वाले जो रागादि भाव हैं वह मेरा स्वभाव नही है—ऐसा प्रबल विवेक होने पर ज्ञानप्रकाश उदित हो उठता है, आत्मज्योति झलकने लगती है और सर्वको ग्रासीभूत करनेका जिसका स्वभाव है, अर्थात् सर्वको जान लेनेका ज्ञानप्रकाशका स्वभाव है, सर्वको जान लेना ज्ञानकी सत्क्रिया भी है, शुभाशुभ भावोका होना असत्क्रिया है। देखो! शरीरकी क्रिया नही कही परन्तु शुभाशुभ-भावोका होना असत् क्रिया है।

अज्ञानी राग-द्वेषको अपना मानकर रखना चाहता है, इसलिये राग-द्वेष उसके हैं, और ज्ञानी राग-द्वेषको अपना स्वभाव नही मानते इससे उन्हे दूर करना चाहते है, इससे वे उसके नही हैं किन्तु ज्ञान उसका है। अज्ञानीका ज्ञान नही किन्तु रागद्वेष हैं।

अज्ञानीका आत्मा कितना है? जितना उसका अज्ञानभाव है, अर्थात् वर्तमान अवस्था जितना; अथवा एक समयके पुण्य–पाप जितना। अज्ञानी त्रैकालिक शुद्ध स्वभावको नही मानता इसलिये वह त्रैकालिक आत्मा अज्ञानीका नही है, उसका जो शुद्ध त्रैकालिक स्वभाव है वह तो जायेगा ही कहाँ, परन्तु यहाँ उसकी मान्यताकी अपेक्षासे बात है।

ज्ञानीका आत्मा त्रिकाल ज्ञाता–दृष्टा ध्रुव है, अखण्ड है, क्योकि जैसा चैतन्यका स्वभाव है वैसा ही ज्ञानीने प्रतीतिमे लिया है इसलिये ज्ञानीका आत्मा अखण्ड त्रिकाल शुद्ध है।

ऐसा ज्ञानप्रकाश ज्ञानीके अतरंगमे प्रगट हुआ है। उस ज्ञानप्रकाशके बलसे अज्ञानांधकारका भेदन हो जाता है, उसका नाश होता है, राग-द्वेष और पुण्य–पाप भाव मेरे नही है, मैं उनका कर्ता नही हूँ, वह मेरा स्वरूप नही है, मेरा स्वरूप तो चिदानन्द आनन्दघन है, उस स्वभावका मैं कर्ता हूँ, परन्तु परभावोका मैं कर्ता नही हूँ—इसप्रकार ज्ञानस्वरूप होकर कर्तृत्वरहित होता हुआ, निर्मल

निर्दोषरूपसे उसकाल शोभित–दीप्त हो रहा है। उसकाल अर्थात् पहले अज्ञानी था वह अज्ञान दूर होकर अब ज्ञानी हुआ अर्थात् ज्ञानकी अपूर्व अन्तरक्रिया विकसित हुई, उस ज्ञानप्रकाशके बलसे ज्ञानमे समा जाता है अर्थात् उसकाल शोभायमान हो रहा है। यह केवलज्ञानीकी बात नही है—सम्यग्दृष्टि जीवकी बात है। अद्भुत बात कही है! जो जागृत होकर समझे उसे ज्ञात होने योग्य है।

शरीर, वाणी और मन आदिकी जो प्रतिक्षण अवस्था होती है उसका कर्ता आत्मा नही हैं, पृथक् द्रव्यकी पर्याय पृथक् द्रव्यमें, और आत्माकी पर्याय आत्मामे होती है।

जो सर्व अवस्थाओमे व्याप्त हो वह तो व्यापक है और कोई एक अवस्थाविशेष सो व्यापकका व्याप्य है। ऐसा होनेसे द्रव्य तो व्यापक है और पर्याय व्याप्य है, क्योकि द्रव्य तो समस्त अवस्थाओमे व्यापक ही है और पर्याय एक अवस्थाविशेष है, इसलिये वह व्याप्य है। द्रव्य–पर्याय अभेदरूप ही हैं वे पृथक्-पृथक् नही हैं इसलिये जो द्रव्यका आत्मा–स्वरूप अथवा सत्व है वही पर्यायका आत्मा, स्वरूप और सत्व है। ऐसा होनेसे द्रव्य पर्यायमे व्याप्त होती है और पर्याय, द्रव्यके द्वारा व्याप्त हो जाती है। ऐसा व्याप्यव्यापकपना तत्स्वरूपमे ही होता है।

पुद्गलद्रव्य व्यापक है और वर्ण–गध–रस–स्पर्शकी पर्याय व्याप्य है। वह द्रव्य और पर्याय–दोनो अभेद हैं, जो द्रव्यका स्वरूप और सत्व है वही पर्यायका स्वरूप और सत्व है।

आत्मा व्यापक है और ज्ञानादि गुणोकी पर्याय उसका व्याप्य है। जो आत्माका स्वरूप और सत्व है वही पर्यायका भी है, द्रव्य और पर्याय दोनो अभेद हैं। इसप्रकार व्याप्यव्यापकपन तत्स्वरूपमे होता है किन्तु अतत्स्वरूपमे नही होता, अर्थात् जिनके सत्व–सत्ता भिन्न–भिन्न हैं ऐसे पदार्थोमे व्याप्यव्यापकपना नही होता। जैसे शरीरादि पुद्गल द्रव्य व्यापक और आत्माकी पर्याय व्याप्य—इसप्रकार व्याप्यव्यापकता नही होती। क्योकि दोनोंके स्वरूप और सत्व भिन्न-भिन्न हैं। पुनश्च,

आत्मा व्यापक और पुद्गलद्रव्य–शरीरादिकी एवं राग-द्वेषकी पर्याय व्याप्य–ऐसा भी नही होता क्योकि दोनोके स्वरूप और सत्ता तीनों-काल भिन्न–भिन्न हैं।

प्रत्येक वस्तुमें, आत्मामे और अन्य पदार्थोमे उत्पाद व्यय होता रहता है। नवीन अवस्थाका उत्पाद और पुरानी अवस्थाका व्यय होता है और वस्तु ध्रुवरूपसे स्थायी रहती है—इसप्रकार प्रत्येक वस्तुमे उत्पाद–व्यय–ध्रुव होते ही रहते है। वह वस्तु स्वत: स्वतत्ररूप परिणमित होकर स्थित रहती है, कोई अन्य पदार्थ उसका कर्ता नही है।

मकानका बनानेवाला पुरुष नही है, खिचडीको राँधनेवाली स्त्री नही है। चावल–दालका जो पाक आया है वह चावल–दालमेंसे आया है, तपेली या स्त्रीमेसे नही आया, जब खिचडी वनना होती है तब स्त्रीका निमित्त उपस्थित होता है, निमित्त उपस्थित होता है इस-लिये व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि इस स्त्रीने यह खिचडी वनाई है, निमित्त है इसलिये व्यवहारसे कहा जाता है। ज्ञानीके भी जवतक गृहस्थाश्रममे है तवतक अस्थिरता है इससे मकान वनवानेका विकल्प आता है, खिचडी राँधनेका विकल्प आता है, यह करूँ, वह करूँ–ऐसे विकल्प अस्थिरताके कारण आते है इससे ज्ञानीको भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धके कारण मकानादिका कर्ता उपचारसे कहा जाता है। असद्भूत व्यवहारनयसे ज्ञानीको भी मकान, खिचडी और अस्थिरताका कर्ता कहा जाता है क्योकि अस्थिरताकी ओर वीर्य युक्त होता है। अस्थिरता होती है, हो जाती है इससे पर्यायदृष्टिसे कर्ता कहा जाता है, परन्तु वास्तवमे द्रव्यदृष्टिसे कर्ता है ही नही। ज्ञानीके जो अस्थिरताके विकल्प आते हैं उनका वह स्वामी नही होनेसे अपना स्वभाव नहीं मानता, उसमे उसे कर्ताबुद्धि नही है, अपनेसे भिन्न मानता है इससे ज्ञाता रहता है किन्तु कर्ता नही होता तो फिर परद्रव्यका कर्ता तो होगा ही कहाँसे ? ज्ञानी तो ज्ञानका ही कर्ता है, परद्रव्य और परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाले विकारोसे ज्ञानी स्वतः को भिन्न मानता

है, इससे उसके कर्ताबुद्धि नही है, किन्तु वीर्यकी मन्दतासे अस्थिरता हो जाती है, इससे मात्र उपचारसे कर्ता कहा है।

जब मकान, खिचडी इत्यादि होनेकी योग्यता पुद्गल द्रव्यमे होती है तब सामनेवाले जीवका विकल्प इत्यादि अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं, उन सभी निमित्तोको खिचडी और मकान होनेकी योग्यतावाले पुद्गल नही ला देते परन्तु सभी अनुकूल निमित्त अपने-अपने कारणसे उपस्थित होते हैं।

स्त्रीने खिचडी अच्छी बनाई—ऐसा निमित्तसे कहा जाता है, खिचडी बनते समय जो निमित्त उपस्थित होता है उस पर आरोप करके कहा जाता है कि यह खिचडी इसने अच्छी बनाई है, यह कार्य इसने अच्छा किया है। यदि स्त्री खिचडी पका देती हो तो ककडोंसे खिचडी बनादे! तीनकाल और तीनलोकमे भी परद्रव्यकी अवस्थाको कोई कर ही नही सकता। ज्ञानी जबतक गृहस्थाश्रममे हो तबतक उसे खिचडी आदिके करनेका विकल्प आता है, किन्तु वह उसका कर्ता नही है, सम्यक्त्वी धर्मात्मा गृहस्थाश्रममे हो परन्तु मुझसे अच्छा कार्य हुआ, मकान मैंने अच्छा बनाया, रसोई मुझसे अच्छी बनी, सेवा मैंने की—इत्यादि कार्योंका कर्ता नही होता। वस्तुमे जो पर्याय होनेकी शक्ति है वह वस्तुमे से क्रमश: बदलते-बदलते प्रगट होती है।

चूना-पत्थरमे से जब मकानकी अवस्था होनी होती है तब कारीगर, मजदूर इत्यादिकी उपस्थिति होती है। जिस वस्तुमे से जो अवस्था होना होती है तब उसे वैसा ही अनुकूल निमित्त उपस्थित होता है, जिस वस्तुमेसे जो अवस्था आये उस अवस्थाका कर्ता वह वस्तु है।

भजिये बन रहे हो और तेलकी कडाही पाँवके ऊपर गिरी, पाँव जल गया और पीडा होने लगी। जब जैसा होना होता है वह होता ही है, उसे रोकनेके लिये कोई समर्थ नही है, जडकी जो अवस्था होना हो उसे रोकनेमे किसीकी शक्ति समर्थ नही है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैंने ध्यान नही रखा इसलिये ऐसा हो गया, और ज्ञानी

जानता है कि उस वस्तुकी अवस्था वैसी होती थी इसलिये हुई है, उसमे किसी अन्यकी शक्ति ऐसी नही जो उसे रोक सके। ज्ञानीका ज्ञान सच्चा है इससे उसे समाधान–शाति रहती है, अज्ञानी शरीरकी जलनमे एकाग्र होता है इससे उसे आकुलताका दुःख होता है, ज्ञानीको अस्थिरताके कारण अल्प राग-द्वेष होता है किन्तु उसे अज्ञानी जैसी आकुलता नही होती।

प्रश्नः—ज्ञानीके अल्प राग-द्वेष क्यो कहते हो ?

उत्तरः—ज्ञानीके अनन्तानुबन्धी कषाय दूर होनेसे अनन्त राग-द्वेष दूर हो गया है, इससे अल्प राग-द्वेष होता है। जो अल्प राग–द्वेष होता है उसमे भी वह ऐसा मानता है कि मेरे पुरुषार्थकी निर्बलताके कारण अल्प राग-द्वेष होता है, जल जानेके कारण अथवा दु.ख होनेसे रागद्वेष होता है—ऐसा नही है।

दूधका लोटा लेकर लड़की आई और हाथमेसे लोटा गिर गया, उससमय जड़की जो अवस्था होनी थी वह हुई है। लोटा फूटना न हो और यथावत् रहना हो तो भी वह जडकी अवस्था है, उसकी फूटनेकी या तदनुसार रहनेकी अवस्था आत्माने नही की है, उस अवस्थाका कर्ता जड है परन्तु अज्ञानी उसकी अवस्थाका कर्ता होता है। अज्ञानीको परमे अहङ्कार और ममकारबुद्धि रहती है। अहङ्कारका अर्थ है—परका मैं कर सकता हूँ, और ममकार अर्थात् परवस्तु मेरी है।

नामकर्मकी प्रकृतिके कारण शरीरकी चलनेकी गति अच्छी हो तो अज्ञानी मानता है कि हमे कैसा चलना आता है ? हम कैसी मस्तानी–हाथीकी चालसे चलते हैं, और दूसरे कितने ही तो गधेकी तरह चलते हैं, भाई ! चलना आना चाहिये। ज्ञानी उससे कहते हैं कि अरे भाई ! व्यर्थका अभिमान क्या कर रहा है ? वह परवस्तुकी अवस्था जैसी होनी हो वैसी होती है, उसमे तू कुछ भी करनेमे समर्थ नही है। यदि चलनेका कार्य तेरे हाथमे हो तो पाँवमे जब काँटा

लग गया हो और चलनेमे कठिनाई होती हो, उससमय यदि तू उसका कर्ता हो तो मस्तानी चालसे चलकर बतला दे, तब तो कहेगा कि नही भाई उससमय कैसे चला जा सकता है ? तो फिर ज्ञानी उससे कहते हैं कि जो होना था सो हुआ, उसमे तूने नवीन क्या किया ? पुद्गलद्रव्यमे क्रियावती शक्ति है उसके कारण पुद्गल गतिक्रिया करते है। यह मेरा और यह पराया—ऐसे मिथ्याभिमानको छोड, और वस्तु-स्वभावको यथावत् समझ।

अज्ञानतासे जो अहङ्कार, ममकार होता है वह सम्यग्ज्ञान होनेसे दूर होता है, सम्यग्ज्ञान होनेके पश्चात् भी अल्प राग-द्वेष होता है वह परके कारण नही होता, किन्तु अपने पुरुषार्थकी मन्दताके कारण होता है। उस पुरुषार्थकी निर्बलताको ज्ञानी अपना स्वरूप नही मानता, अल्प राग-द्वेषकी जो वृत्ति होती है उसे ज्ञातारूपसे जानता है। ज्ञाता जानता है, उस जाननेकी अवस्थाके अतिरिक्त उसका अन्य कोई कार्य नही है, जाननेकी उग्रता होने पर अल्प राग-द्वेष भी दूर हो जाता है, इसप्रकार ज्ञाता जीव धर्मात्मा होता है। धर्म आठो पहर होता है अथवा घडी दो-चार घडी ? धर्मात्माका धर्म आठो पहर होता है। धर्मात्मा जीव—सम्यग्दृष्टि जीव परसे अपनेको लाभ नही मानता परन्तु वह जगत्का ज्ञाता दृष्टा—साक्षी होता है, कर्ता नही होता। यह बात चौदहवे गुणस्थान वालोकी नही, परन्तु चौथे गुणस्थानवाले—अविरत सम्यग्दृष्टि की है। कोई ऐसा कहे कि ज्ञानीसे भले ही परके कार्य न हो परन्तु हमसे तो होते हैं ? किसीसे परके कार्य होते ही नही मात्र विपरीत मानते हैं। ७५।

अब शिष्य पूछता है कि पुद्गलकर्मके ज्ञाता जीवको, पुद्गल-कर्मके साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है अथवा नही ?

शिष्य यह पूछता है कि जीवका पुद्गलकर्मके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नही है इससे कर्ताकर्मपना नही है, परन्तु ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है, इससे कर्ताकर्म सम्बन्ध है या नही ? उसका उत्तर गाथामे कहते हैं —

णवि परिणमदि ण गिह्वदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥७६॥

अर्थः—ज्ञानी अनेक प्रकारके पुद्गलकर्मोंको जानता है, तथापि निश्चयसे परद्रव्यकी पर्यायमे परिणमित नही होता, उसे ग्रहण नही करता और उसरूप उत्पन्न नही होता। परद्रव्यके साथ कर्तापनेका व्यवहारसे कथन होते हैं—कार्य तो प्रत्येक द्रव्यमे स्वतत्र शक्तिसे ही होते हैं।

बात श्रेष्ठ है, सूक्ष्म है, उच्च है। आचार्यदेव कहते है कि धर्मी जीव—चतुर्थ गुणस्थानवाला जीव, धर्मी अर्थात् पूर्णदशाको प्रगट करनेवाला जीव ऐसा मानता है कि परवस्तुको परिवर्तित करनेकी शक्ति मुझमे नही है, मैं परवस्तु को ग्रहण नही करता और उसरूप मैं उत्पन्न नही होता, वह सब जड़का कार्य है, उसे जड ही करता है।

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य जो व्याप्यलक्षणवाला (जिसका लक्षण व्याप्य है) पुद्गलके परिणामस्वरूप कर्म (कर्ताका कार्य) है, उसमे स्वतः अन्तर्व्यापक होकर, आदि-मध्य-अन्तमे व्याप्त होकर, उसे ग्रहण करता हुआ, उसरूप परिणमित होता हुआ और उत्पन्न होता हुआ पुद्गलद्रव्य स्वय पुद्गलपरिणामोका कर्ता है। एक आकाश क्षेत्रमे छहो द्रव्य हैं सभी निरन्तर अपने अपने परिणामोके कर्ता है, किसीके कारण या आधार द्वारा किसीका परिणाम हो ऐसा कभी नही बनता।

देखो ! इसमे क्या कहते हैं—यह हरेक द्रव्यमे प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप अवस्था निरन्तर होती है वह उसका कर्म है—कार्य है। जैसे एक ग्राम हो और उस ग्राममे मनुष्य पहुँच जाये वह प्राप्य, एक पर्यायसे दूसरी पर्याय होनेमे जो परिवर्तन आया वह विकार्य और जो नवीन अवस्थाकी उत्पत्ति होती है वह निर्वर्त्य।

जड़, जडकी अवस्थाको प्राप्त होता है, जडकी अवस्थाको परिर्वातत करता है, जड़की अवस्थाको उत्पन्न करता है।

कर्म होने योग्य परमाणु अपनी अवस्थाको प्राप्त होते हैं, स्वतः परिवर्तित होकर कर्म होते हैं और स्वत कर्मकी अवस्थारूप उत्पन्न होते हैं, परन्तु आत्मा उन्हे प्राप्त करता है, आत्मा वदलता है और आत्मा उत्पन्न होता है—वैसा नही है।

यह सूक्ष्म वात है। यदि व्यापारमे कमाईका अवसर हो तो अत्यन्त उल्लास आता है, और उसीकी बातमें भी वहुत हर्ष होता है परन्तु भाई ! यह तो आत्माकी रोकड–अक्षय निधान कमानेकी बात है उसमें वरावर ध्यान रखे तो वस्तु स्वरूप यथावत् समझमे आये।

यदि हाथ भी उठाना हो तो आत्मा नही कर सकता, हाथ ऊँचा करनेमे नोकर्म जो शरीर है वे स्वतः समर्थ हो वह प्राप्य, शरीर स्वत. परिर्वातत हो वह विकार्य और शरीर स्वतः वदलकर नवीन अवस्थाकी उत्पत्ति करता है वह निर्वर्त्य। वैसे ही जो द्रव्यकर्म है उसमे भी पुद्गल स्वतः पहुँच जाता है, पुद्गल स्वतः कर्मकी अवस्था-रूप वदलता है और स्वतः कर्मकी अवस्थारूपसे उत्पन्न होता है। आत्मा उस कर्मको प्राप्त नही होता, आत्मा परिर्वातत नही होता और आत्मा उत्पन्न भी नही होता। आत्मा तो अपने भावोको प्राप्त करता है, अपने भावरूप परिर्वातत होता है और अपने भावरूप उत्पन्न होता है।

प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—तीनो अवस्थाओमे पुद्गलद्रव्य व्याप्त होकर कर्मकी अवस्थारूपसे परिणमित होता है। यहाँ पर चैतन्यके विकारी परिणामोको भी जड़ कह दिया है। यहाँ अशुद्ध निश्चयनयरूप व्यवहार दृष्टिकी वात नही है, किन्तु द्रव्यदृष्टिकी बात है, दो द्रव्योको विल्कुल पृथक् किया है। स्वपरको जाने सो चेतन, और न जाने सो अचेतन पुण्यपाप समस्त रागादि भाव अचेतन है चैतन्य स्वभावरूप नही होनेसे जीव उसका कर्ता नही वनता।

पुद्गलद्रव्यकी पर्यायमे प्रारम्भमे भी परमाणु, मध्यमे भी परमाणु और अन्तमे भी परमाणु। वे तीनों जड़कर्मकी अवस्थाएँ होनेसे जड़ करता है, व्यवहारसे भी आत्मा जडकी अवस्थाको नही करता, कारण कि पुद्गलकर्मकी अवस्थाके आदि—मध्य और अन्तमे पुद्गल ही व्याप्त होता है, परन्तु आत्मा व्याप्त नही होता।

मिट्टी घडेको प्राप्त होती है, घडारूप परिवर्तित होती है और घडेरूपसे उत्पन्न होती है। मिट्टीके शीतल स्वभावको कुम्हार प्राप्त नही होता, शीतल स्वभावको कुम्हार परिवर्तित नही करता और कुम्हार शीतल स्वभावको उत्पन्न नही करता। मिट्टी स्वतः घडेमे प्रविष्ट हो गई है, वह घडेमे प्रवेश करके घडेको प्राप्त होती है, घडेको परिवर्तित करती है और घडेको उत्पन्न करती है। घडेके प्रारम्भमें मिट्टी, मध्यमे मिट्टी और अन्तमे भी मिट्टी। वह मिट्टी घडेको ग्रहण करती है, घड़े रूपमे परिवर्तित होती है और घडेरूप उत्पन्न होती है।

जैसे कुम्हार घडेको जानता है परन्तु घडेमे प्रविष्ट नही होता, वैसे ही धर्मात्मा जीव पुद्गलपरिणामको जानते हैं तथापि बाह्यस्थित परद्रव्यके परिणाममे अन्तर्व्यापक होकर उसे ग्रहण नही करते, उसरूप परिणमित नही होते और उत्पन्न भी नही होते।

धर्मी जीव जडकी अवस्थामे अर्थात् कर्ममे, मनमे, वाणीमे, शरीरमे प्रविष्ट नही होता, उन्हे ग्रहण नही करता और उनके रूपमे परिवर्तित नही होता तथा उत्पन्न भी नही होता। शरीर, वाणी, मनकी अवस्थाके प्रारम्भमे भी जड, मध्यमे भी जड और अन्तमें भी जड़। ज्ञानी शरीर, मन, वाणीकी अवस्थाके प्रारम्भमे, मध्यमे अथवा अन्तमे व्याप्त होकर उसे ग्रहण नही करता, उसरूप परिवर्तित नही होता और उत्पन्न भी नही होता। जो-जो अवस्थाये होती है उन्हे ज्ञानी जानता है तथापि प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य जो व्याप्य—लक्षणवाला, परद्रव्यपरिणामस्वरूप कर्म है उसे न करते हुए (कर्ता नही बन सकता इसलिये) ज्ञानीको पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नही है।

मिथ्यादृष्टि–मूढ जीव मानता है कि मैंने इसप्रकारसे जडके कार्य किये है, कितने अच्छे कार्य किये है—ऐसा माननेवालेने अपने वीर्यको विपरीत कर दिया है। विपरीत माननेमे भी अनन्त वीर्य और सीधा माननेमे भी अनन्तवीर्य, जीव उल्टा पडा है तो भी बलवान है और सीधा खडा भी बलवान है, परन्तु भाई ! विपरीत मान्यतामे अनन्तकाल हो गया, अनन्त जन्म-मरण कर चुका, अब यदि आत्महित करना हो तो यथार्थ प्रतीति कर ले।

वायुयान ऊपरसे नीचे गिरता है वह भी जडकी पर्याय है। जब वह वायुयान नीचे गिरना होता है तब किसीकी शक्ति नही जो उसे रोक सके। जडकी अवस्था जडके परिणमनसे होती है, प्रत्येक द्रव्यका परिणमन स्वतंत्र–भिन्न है, कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यके परिणमनको रोक नही सकता।

कोई कहे कि हमारे करनेसे काम अच्छा होता है, किन्तु वह उसका मात्र अभिमान है। अनेक स्त्रियाँ मोतियोके तोरण–वन्दनवार बनाती हैं, सीने–पिरोनेका कार्य करती हैं, परन्तु वे ऐसा मानती हैं कि हम कितना सुन्दर काम करते है वह उनका मात्र अभिमान ही है। सिलाई–कढाईका कार्य अच्छा होना हो तब वे कार्य आते हैं—ऐसा जीवको अनुकूल निमित्त होता है, परन्तु दूसरे कार्योंमे कुशल हो और ऐसे कामोमे कुशल न हो—ऐसे जीवका निमित्त उससमय अनुकूलरूपसे उपस्थित नही होता। जो कार्य जैसे होना होते हैं उन्हे वैसे ही अनुकूल निमित्त प्राप्त होते हैं, परन्तु यदि वे सिलाई–कढाई आदिके कार्य बिगडना हो तो स्त्रियोकी शक्ति नही जो उन्हे सुधार दें, उनकी कोई भी चतुराई उससमय काम नही आयेगी। तीनकाल और तीनलोकमे कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कुछ भी करनेमे समर्थ नही है।

वह कार्य यदि ठीक होना होता है तो उससमय अनुकूल निमित्त उपस्थित होते हैं, तब फिर जो कार्य होना ही था उसमे स्त्रियोने क्या किया ? मात्र अभिमान किया है। किसी भी द्रव्यमे जब कोई अवस्था होना होती है अर्थात् क्षेत्रान्तर होना होता है, अथवा

रूपान्तर होना होता है उस समय उसके अनुकूल निमित्तोंकी उपस्थिति होती ही है, व्यवहारसे भी उस परद्रव्यका कार्य कोई कर नहीं सकता परन्तु जब उसकी अवस्था बदलना होती है उससमय ऐसे अनुकूल निमित्तोंकी उपस्थिति होती है अर्थात् मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु कर्ताकर्म सम्बन्ध तो है ही नही। रजकणकी अवस्थाका जो क्रम है उसी क्रमानुसार द्रव्यमेंसे पर्याय परिणमित होती ही रहती है— प्रवाहित ही रहती है। उससमय जो निमित्त उपस्थित हो वह ऐसा मानता है कि यह कार्य मैंने किया है, वह अज्ञान है। किसी उपादान शक्तिको निमित्तने परिणमित कराया हो तो निमित्तको किसीने प्रवर्तित किया ? इत्यादि परनिमित्ताधीन मान्यतामें तो अनन्त अनवस्था नामक बडा दोष आता है।

ज्ञानी जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मको ज्ञेयरूप जानता है, तथापि उनका कर्ता नही होता। ज्ञानी जीवका परद्रव्यके साथ व्यवहारसे ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध है तथापि कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है। पुद्गल द्रव्यकी प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्यरूप अवस्थामें पुद्गल ही व्याप्त होता है, उसके आदि–मध्य–अन्तमें भी पुद्गल ही व्याप्त रहता है। ज्ञानी उसे जानते हैं तथापि उसमें व्याप्त नही होते (कर्ता नही बन सकते) इसलिये उनका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव नही है। धर्मी जीव जड़की किसी भी अवस्थाको करते नही, परिवर्तित नही करते और उत्पन्न भी नही करते, इसलिये उनके कर्ताकर्मभाव नही है।

प्रत्येक पुद्गल परमाणु द्रव्यमे क्रियावती शक्ति है इसलिये— परमाणुका ऐसा स्वभाव है कि वह एक समयमें नीचे सातवें नरकके पातालसे मुक्ति शिला तक चला जाता है। पुद्गल परमाणुमें ऐसी शक्ति नित्य है ही तथापि अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो गया है कि मैं उन्हें परिवर्तित करता हूँ; यह मात्र उसकी मिथ्या मान्यता है। एक आत्मा भी दूसरे आत्माकी अवस्थाको नही कर सकता, उसे परिवर्तित नही कर सकता, उत्पन्न नही कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वतः अपनेमें स्वतंत्र परिणमन कर रहा है। किसी भी समय परद्रव्यकी राह देखना

पडे–परिवर्तन रुक जाय ऐसा नही है ।

परवस्तुमे उसीकी स्वतत्र योग्यतानुसार जो परिवर्तन होता रहता है ऐसा ज्ञान जानता है, किन्तु कर्ता नही होता । इस सिद्धान्तमे तो बडे बडे पण्डित आचार्य नामवाले अज्ञानी भी चकचौंधिया हो गये कि यह कहते क्या है ? अपने शरीरका कुछ नही किया जा सकता ! दूसरोका कुछ नही कर सकता ! यह शरीर तो प्रयोगिक पुद्गल है, इसलिये उसे चैतन्य बदल सकता है—ऐसा माननेवालेकी बुद्धि जड–स्थूल है कारण कि वे नय विभाग द्वारा शास्त्रके अर्थको नही समझकर विपरीत ही मान बैठे हैं । जो न समझता हो उसे समझानेके लिये कौन समर्थ है ? तीर्थङ्करदेव भी निमित्तमात्र हैं । जब स्वतः जागृत होकर स्वतत्र विश्वनियमको समझे तब समझमे आ सकता है । प्रयोगसा और विस्रसाका अर्थ यह है कि मात्र पुद्गलपरमाणु हो उसे विस्रसा कहा जाता है और चैतन्यका निमित्त जिस पुद्गलमे हो उसे प्रयोगसा पुद्गल कहा जाता है—इससे ऐसा नही है कि जीव पुद्गलका कर्ता है । एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नही कर सकता इस सिद्धान्तको अखण्ड रखकर सारी बात समझना चाहिये ।

शरीरमे दायाँ–बायाँ शूल आता है, बुखार, उलटी आदि अनेक प्रकारके रोग आते हैं, आत्मा उनका ज्ञाता है, किन्तु कर्ता नही है । यदि कर्ता होता हो तो वह शूलको बदल दे, बुखारको मिटा दे, उल्टीको शान्त कर दे, किन्तु वैसा नही होता । जब जिस रोगको दूर होना होता है तभी दूर होता है, इसलिये आत्मा उसका ज्ञाता है किन्तु कर्ता नही है ।

निर्वर्त्यका अर्थ है उत्पन्न करना । जैसे सूतके ताने–बानेसे वस्त्रकी उत्पत्ति होना, उस ताने-बानेमे शक्ति थी उससे वस्त्र उत्पन्न हुआ है किन्तु ताने–बानेसे जो वस्त्र बना है वह जीवसे उत्पन्न नही हुआ है । यदि जीवने वस्त्रको उत्पन्न किया हो तो जब ताना–बाना न हो तब वह अपने हाथोमेसे वस्त्र उत्पन्न करदे ? अथवा पत्थरमेसे

वस्त्र बनादे ? ऐसा तो कुछ भी नही कर सकता। व्यर्थके अज्ञानकी पुष्टि करके अभिमान करता है।

जब रोटीको जलना हो तब जलेगी ही, स्त्रीका हाथ जल जाता है, अथवा पाँवमे विच्छू काट लेता है, इच्छानुसार परमें कुछ नही होता। वस्तु, वस्तुकी योग्यतारूप सामर्थ्यसे ही अपना कार्य करती है उसमे जो जीव ऐसा मानते हैं कि यह कार्य हमारी होशियारीसे हुआ; उन्हे वीतराग अपना भक्त नही मानते, दास नही मानते; परन्तु वे कहते हैं कि यह जड़के भक्त और जड़के दास है। शरीरादि जड़ सदा अचेतन है—मूर्तिक है शरीरकी अवस्थाके परिवर्तनसे आत्माको लाभ हानि—धर्म अधर्म नही हो सकते हैं क्योकि उसकी सत्ता भिन्न है, आत्मा तो सदा अमूर्तिक है। वह यदि भूल भी करे तो शरीरसे भिन्न रहकर अपनी अवस्थामें करता है, परन्तु पर—जड़में भूल या गुण करे—यह कैसे हो सकता है ? संसारदशामे भी आत्माका स्वभाव ज्ञान है, उसकी अवस्था भी ज्ञानरूप ही है, वह पुद्गलकी अवस्थाका कर्ता कैसे हो सकता है ? आत्मा भूल या गुण अपनेमे ही कर सकता है, परन्तु परवस्तुमें भूल—गुण कर ही नही सकता। जड़की अवस्थाका चाहे जिसप्रकार परिणमित होना सो पुद्गलका स्वतंत्र परिणमन है। ऐसा भेदज्ञान करके जो वस्तुस्वभावको यथार्थ जाने, श्रद्धा करे, और तदनुसार स्थिर हो—वही वीतरागका भक्त है—दास है।

यह कर्ताकर्म अधिकार चल रहा है। प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य-स्वरूप पुद्गलकर्मको पुद्गल करता है, आत्मा नही करता। जो कोई पर्याय पहले न हो, परन्तु नवीन उत्पन्नकी जाये वह कर्ताका निर्वर्त्य कर्म है। जैसे—सम्यग्दर्शनकी पर्याय आत्मामे अनादिकालसे प्रगट नही थी, वह कर्ताने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट की जो कि आत्माका निर्वर्त्य कर्म है। एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका बदलना सो कर्ताका विकार्य-कर्म है और पदार्थ जो है उसे प्राप्त करे वह कर्ताका प्राप्यकर्म है।

अब शिष्य पूछता है कि अपने परिणामोंके ज्ञाता जीवका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है अथवा नही ?

पूर्वकी गाथामे यह प्रश्न किया था कि पुद्गलकर्मके ज्ञाता जीवका पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है या नही, और अब यहाँ यह प्रश्न किया है कि निज परिणामका ज्ञाता जीव पुद्गलकर्मको करता है या नही ?

शिष्य कहता है कि प्रभो ! मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, पवित्र–स्वरूप हूँ, अनन्त गुण-पर्यायोका पिण्ड हूँ—ऐसा अपने आत्माके स्वभावको जाने और अपने ज्ञान–दर्शन–चारित्रादि गुणोकी पर्यायोंको जानते हुए परका ज्ञान साथमें आ जाता है, तो फिर जैसे परका ज्ञान साथ आ जाता है उसीप्रकार परकी पर्याय भी आत्मामे आजाती है या नही ? वह परकी–जड़की पर्याय आत्माका कर्म हो सकती है या नही ? उसका उत्तर कहते हैं:—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥७७॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ॥७७॥

अर्थः—ज्ञानी अपने अनेक प्रकारके परिणामोको जानता है तथापि निश्चयसे परद्रव्यकी पर्यायमे परिणमित नही होता, उसे ग्रहण नही करता और उसरूप उत्पन्न नही होता ।

ज्ञानीका अर्थ है भगवानका भक्त या भगवानका दास । वह अपने आत्माके अनेकप्रकारके परिणामोको जानता हुआ पुद्गलकर्मकी अवस्थाको ग्रहण नही करता और उसरूप परिणमित नही होता तथा उत्पन्न भी नही होता । धर्मी–ज्ञानी तो स्व-पर दोनोको जानते ही रहते हैं अर्थात् वे अपनी जाननेकी अवस्थाको ही करते रहते हैं, परन्तु जड़कर्मकी अवस्थाको या रागादि भावको नही करते । सम्यक्त्वी स्वद्रव्य और परद्रव्यके स्वरूपको यथार्थतया जानते हैं, दोनो द्रव्योकी स्वतंत्रता भी

बराबर जानते हैं और भिन्नता भी जानते हैं। अपना द्रव्य परमे प्रविष्ट नही हो सकता और परद्रव्य स्व मे प्रवेश नही कर सकता। स्वतः अपनेमे है और पर, परमे है—ऐसा स्पष्ट ज्ञान होनेसे ज्ञानीके ऐसा भाव नही होता कि—परद्रव्य मेरा कर्म है और मैं उसका कर्ता हूँ।

जडकी अवस्थाका कर्ता मैं और मेरी अवस्थाका कर्ता जड़; वह मेरा कर्म और मैं उसका कर्म—ऐसा माननेवाला भगवानका भक्त हो ही नही सकता। ऐसा विपरीत माने और कहे कि हम भगवानके भक्त हैं, तो वह बिल्कुल मिथ्या कहनेवाला है; जो वीतरागके स्वरूपको नही जानता वह वीतरागका दास कैसा? वीतरागका स्वरूप और आत्माका स्वरूप दोनो एक ही है, इसलिये जिसने वीतरागके स्वरूपको जाना है उसने आत्माके स्वरूपको जाना ही है और जिसने आत्माके स्वरूपको जाना है उसने वीतरागके स्वरूपको जाना ही होता है, इसलिये जिसने आत्माका स्वरूप नही जाना है और कहता है कि हमने वीतरागके स्वरूपको जाना है, हम उनके भक्त हैं वह विल्कुल झूठ बोलनेवाला है। वह वीतरागदेवका नही किन्तु जड़का और मिथ्या-भावोका भक्त है—दास है।

अज्ञानी जीव जड़ शरीरमे ममत्व कर बैठे है कि शरीर मेरा है, मैं इसका हूँ—इसप्रकार शरीरमे एकत्वबुद्धि कर बैठे हैं, जिससे शरीरमे सुख शिलीया बन रहे हैं। शरीर तो रोटी और दाल–भातसे बना है, रोटी जहाँ तक बरतनमे पड़ी थी तबतक शरीरकी भाँति अपनेपनकी ममता नही करता था किन्तु जब वह शरीरकी अवस्थारूप हुई रोटीमेसे इस शरीरका पुतला बना कि ममत्व कर बैठा, धूलके रजकण दूर थे तबतक कुछ नही था परन्तु वे रजकण निकट आकर लोहूरूप—शरीररूप हुए कि ममत्व करने लगा, शरीरके साथ एकत्व-पना मानने लगा। अरे भाई! वे रजकण दूर हों तो भी तुझसे भिन्न पदार्थ हैं और निकट हों तो भी तुझसे भिन्न पदार्थ हैं, तूने उनमे ममता की वह स्वतः तेरी ही भूल है।

कोई कहे कि यदि कोई मनुष्य दूरका हो तो अपनेको कुछ नही, परन्तु यदि पडौसी हो तो उसका कुछ असर तो होता है; परन्तु भाई ! तूने ममत्व किया इसलिये असर हुआ कहलाता है, वह मनुष्य तो तुझसे भिन्न है। वह तेरे निकट हो या दूर हो उससे कही राग नही होता किन्तु तू उसमें ममत्व करके रुकता है इससे ममता होती है। यदि पडौसीको कोई सुख-दुःख आ जाये तो तुझे कुछ भी नहीं होता, इसलिये निकट हो अथवा दूर हो किन्तु जो भिन्न पदार्थ है वह भिन्न ही है।

आत्मा त्रिकाल चैतन्य स्वभाव है, स्वभावमे रागादि पुण्य-पापका अभाव है, जो चीज अपने स्वरूपमे नही उसका ज्ञानी जीव कर्ता नही वनता।

शरीर-मन-वाणी, पुण्य-पापके परिणाम आत्माके निकट है तथापि ज्ञानी उनका कर्ता नहीं होता परन्तु मात्र उन्हे जानता ही है। अपनेसे पृथक् पदार्थ चाहे दूर हो या निकट हो परन्तु जो पृथक् है वह पृथक् ही है, पृथक् पदार्थमें कर्ताकर्म भाव होता ही नही, इसलिये ज्ञानी जीव परभाव-परद्रव्योका कर्ता नही होता।

दीपकका प्रकाश यदि दूर हो तो भी प्रकाशमान होता है और निकट हो तो भी प्रकाशमान होता है, वैसे ही चैतन्य दीपक-ज्ञान दीपक परद्रव्योको यदि वे दूर हो तो भी जानता है और निकट हों तो भी जानता है। चैतन्य दीपक तो प्रकाशित होता रहता है, उसे दूरसे या निकटसे कोई सरोकार नहीं है। अज्ञानी जीव परद्रव्योंके निकट आनेसे ममता कर वैठा कि यह मेरा है, उसका कारण मात्र अज्ञानता है। जव माताके शरीरसे जन्म लिया, उस समय इस शरीरका कुछ नाम ही नहीं था फिर जव फुआने नाम रखा पानाचन्द, तो भी आठ-दस महीने तक तो उसे खवर ही नही पड़ी, फिर सव कहने लगे कि 'पानाचन्द-पानाचन्द' इसलिये इसे ऐसा लगा कि मैं पानाचन्द हूँ; सव लोग मेरे सामने देखकर पानाचन्द-पानाचन्द करते हैं इसलिये मैं अवश्य ही पानाचन्द हूँ, इसप्रकार इसे पूर्ण विश्वास हो गया कि मैं ही

पानाचन्द हूँ; फिर तो अगर कोई रातको सोते समय भी बुलाए कि 'ए पानाचन्द' तो बोलेगा—'हाँ'—ऐसी एकत्वबुद्धि शरीरके साथ, नाम, वाणी आदिमे हो गई है। फिर यदि कोई ज्ञानी उसे मिले और वह कहे कि भाई ! तू पानाचन्द नही है, यह शरीरका नाम ही रखा है, यह शरीर भी तू नही है, वाणी भी तू नही है; तू तो देहसे अलग, अविनाशी ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा है, तो कहेगा कि 'नही, मैं तो पानाचन्द ही हूँ' यह रटते-रटते पक्का हो गया अब उसे कैसे भूल सकता है ? इसप्रकार अज्ञानी अपना आग्रह नही छोड़ता; परन्तु जो आत्महितका पिपासु होता है वह अपना आग्रह छोड देता है।

जाननेकी अवस्था आत्मामेसे आई है, स्वतःमेंसे ही आई है जो स्वत· ही अपनी पर्यायको प्राप्त हो गया है वह प्राप्य, और जो स्वय ही उस पर्यायरूपसे परिणमित हुआ है अर्थात् परिवर्तित हुआ है वह विकार्य, तथा जो स्वत. ही उस पर्यायरूपसे उत्पन्न हुआ है वह निर्वर्त्य है। ज्ञानकी अवस्थामे स्वतः ही अन्तर्व्यापक होकर अर्थात् स्वतः ही प्रसारित होकर उस अवस्थाको उत्पन्न करता है। उस अवस्थाके प्रारम्भमे भी आत्मा, मध्यमे भी आत्मा और अन्तमे भी आत्मा ही है। उस ज्ञानकी पर्यायको स्वतः ही पकड़ा है अर्थात् स्वतः ही ग्रहण किया है। ज्ञानकी एक अवस्थासे दूसरी अवस्था होती उसमे स्वतः ही परिणमित हुआ है, एक अवस्थासे दूसरी अवस्था उत्पन्न होती है उसमे स्वत. ही उत्पन्न होता हुआ वह ज्ञानकी अवस्थाको करता है।

आत्माके ज्ञान, दर्शन और चारित्रके परिणामको स्वत· ही ग्रहण करता है, स्वत उसरूप होता है और स्वत· उसरूप परिवर्तित होकर उत्पन्न होता है। परद्रव्य और परभावसे भिन्न चैतन्यद्रव्यकी श्रद्धा सो सम्यग्दर्शन, और परसे भिन्न आत्मतत्त्वका ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान तथा परसे भिन्न आत्मतत्त्वमे रमणता सो सम्यग्चारित्र है। आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान और स्वसंवेदनरूप चारित्र इत्यादि अनेक प्रकारकी

अपनी अवस्थाओंको आत्मा जानता अवश्य है, किन्तु उन्हे जानते हुए भी स्वतः परद्रव्यकी अवस्थारूप नही होता।

जैसे मिट्टी स्वत घडेमे अन्तर्व्यापक होकर अर्थात् मिट्टी स्वत घडेमे प्रसरित होकर घडेके आदिमे मिट्टी, मध्यमे भी मिट्टी और अन्तमे मिट्टी—इसप्रकार घडेकी समस्त अवस्थाओमे मिट्टी स्वतः व्याप्त होकर घडेको ग्रहण करती है, घडेरूप परिणमित होती है और उत्पन्न होती है।

मिट्टीमेसे क्रमशः घड़ा हुआ, उस घडेकी अवस्थाको मिट्टीने पकड़ा है किन्तु कुम्हारने नही पकड़ा, मिट्टी घडेरूप परिणमित हुई है किन्तु कुम्हार घड़ेरूप परिणमित नही हुआ। मिट्टी स्वत. ही पिण्डमे से वदलकर घडेरूप उत्पन्न हुई है। उसीप्रकार आत्मामे होनेवाली श्रद्धा, ज्ञान और रमणताकी अवस्थाको ज्ञानीने स्वत. ही ग्रहण किया है परन्तु रजकणोंने अथवा विकार भावोंने उस अवस्थाको ग्रहण नही किया है, उस श्रद्धा–ज्ञान इत्यादिकी अवस्थामे ज्ञानीका आत्मा ही परिणमित हुआ है, परन्तु आठ कर्मोंके रजकण अथवा विकारीभाव उस अवस्थारूप परिणमित नही हुए हैं—हुए नही हैं। श्रद्धा–ज्ञान इत्यादिकी अवस्थामे ज्ञानी स्वतः ही एक पर्यायसे दूसरी पर्यायरूप परिणमित होकर उत्पन्न होते हैं किन्तु आठ कर्म अथवा विकारी भाव उस अवस्थारूप उत्पन्न नही होते।

आठ कर्मके रजकणोमे आत्मा स्वय अन्तर्व्यापक होकर अर्थात् उनमे व्याप्त होकर उन्हे ग्रहण नही करता—उसरूप नही होता, उसरूप उत्पन्न नही होता। आत्मा कर्म परमाणुकी अवस्थारूप किसी कालमे भी नही होता, उस कर्मके प्रारम्भमें, उसके मध्यमें अथवा अन्तमे कभी भी आत्मा उसे ग्रहण नही करता, उसरूप होता नही, और उत्पन्न भी नही होता, इसलिये धर्मी–ज्ञानी जीव अपने ज्ञानकी उससमय होनेवाली अवस्थाको जानता है किन्तु उसे ग्रहण नही करता, उसरूप नही होता और उसरूप उत्पन्न भी नही होता। अर्थात् द्रव्यकर्म,

भावकर्म और शरीरादिरूप आत्मा हो सकता नहीं फिर भी उस पर भावोंका कर्ता मैं हूं ऐसा मानना अज्ञानीका मोह है।

ऐसा कर्ताकर्मका अधिकार अन्यत्र कही भी नही है। इससमय इस भरतक्षेत्रमे जितने शास्त्र हैं, उनमे इस समयसारके अतिरिक्त कही भी ऐसा अधिकार नही है।

आचार्यदेव इस गाथामें यह वतलाते हैं कि तू अपनी अवस्थाको ग्रहण कर, उसमे परिणमन कर, और उत्पन्न हो। उसके अतिरिक्त तू अन्य कुछ भी नही कर सकता। जड़का कर्ता तो अज्ञानी भी नही हो सकता, परन्तु वह मानता है कि मैं जड़का कर्ता हो सकता हूँ। अरे ! दूसरी वस्तुएँ तो दूर रही, परन्तु कर्म और शरीर तो निकट हैं तथापि उसमें भी तेरा हाथ नही है; तू उनका भी कुछ नही कर सकता, वे भी स्वतंत्र हैं और तू भी स्वतंत्र है। कितने ही लोग कहते हैं कि शरीरका तो हम कर सकते हैं, तव ज्ञानी उनसे कहते हैं कि यदि तू शरीरका कर सकता है तो जव शरीरमे लकवा मार जाता है हाथ-पैरोंमें वाय हो जाती है या कोई फोड़ा हो जाता है तव हाथ-पाँव चलानेकी इच्छा होने पर भी क्यों नही चला सकता ? यदि तू उनका कर्ता है तो उससमय उन्हे चलादे, किन्तु कैसे चलायेगा ! परका कर्ता ही नही तथापि जगतके जीव मिथ्याभिमानमें चूर हो जाते हैं। देखो न कितने ही मनुष्योंको अनेक प्रकारकी पीड़ाएँ होती हैं उन्हें मिटानेकी तीव्र इच्छा होती है परन्तु क्या करें ? परद्रव्य कहाँ इनके वशमे है। अरे ! एक मनुष्यका तो सारा शरीर जलता रहता था; उससे वह आर्तध्यान करके दु.खी होता था; निरन्तर उसके हाथ-पैर जमीन पर घिसते ही रहते थे, ऐसी स्थितिमे शरीरको अच्छा रखनेकी आत्माको तीव्र इच्छा होती है परन्तु परद्रव्य उसके अधिकारकी वात नहीं है इसलिये इच्छानुसार होता ही नही—इससे सिद्ध होता है कि आत्मा जड़का कर्ता नही है।

जीव ऐसा कहते हैं कि 'अजीवको जीव मानना मिथ्यात्व है' किन्तु शरीर और आत्माको जिसने एक माना है उसने अजीवको जीव

ही माना है, अजीवकी जितनी अवस्था है वह सब अजीवरूप ही है। जिसने यह माना कि अजीवकी एक भी अवस्था मुझसे हुई है उसने त्रिकालके अजीवकी अवस्थाको अपनेसे होना माना है, और जिसने अजीवकी एक भी अवस्थाको अपनेसे नही माना उसने त्रिकालकी अजीवकी अवस्थाको अपनेरूपसे नही माना। समस्त वस्तुएँ स्वतत्र पृथक्-पृथक् हैं—ऐसा समझकर ज्ञानी जीव परका कर्ता नही होता।७७।

अब शिष्य पूछता है कि पुद्गलकर्मके फलको जाननेवाले जीवके पुद्गलके साथ कर्ताकर्मभाव है या नही ?

शिष्य प्रश्न करता है कि प्रभो! आत्मा कर्मके फलको जानता है, तो कर्मके फलको जाननेसे उस कर्मका फल आत्माका कार्य हो—ऐसा कुछ मेल है या नही ? ज्ञान जानता तो है कि यह शरीर सुन्दर है, यह निरोग है, यह रोगयुक्त है, यह स्त्री-पुत्रादिक परिवार अनुकूल या प्रतिकूल मिला, इतना पैसा मिला, इतना चला गया, मकान ऐसा है आदि पुद्गलकर्मके फलको जाननेसे वह पुद्गलकर्म आत्माका कार्य हो और आत्मा उसका कर्ता हो—ऐसा कर्ताकर्म सम्बन्ध है या नही ? उसका उत्तर गाथारूपमे कहते हैं:—

णवि परिणमदि ण गिह्वदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मप्फलमणंतं ॥७८॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनंतम् ॥७८॥

अर्थः—ज्ञानी, पुद्गलकर्मके अनन्त फलको जानता है, तथापि परमार्थसे परद्रव्यकी पर्यायरूप परिणमित नही होता, उसे ग्रहण नही करता और उसरूप उत्पन्न भी नही होता।

धर्मी अर्थात् वीतरागका भक्त, वीतरागका दास। वह कर्मके अनन्त फलको जानता है परन्तु कर्ता नही होता। शरीरमे रोग आये या नीरोग हो, वाणी बराबर बोली जाती हो या नही,—वह सब

कर्मके फल है। एक दूसरेके घरमे अन्तर, पैसेमे अन्तर, शरीरके आकारमे भी अन्तर—वैसे कर्मके फल अनन्तप्रकारके हैं, उन अनन्तप्रकारके फलोको ज्ञान जानता है, इससे ज्ञाता भी अनन्त—सामर्थ्यवाला है।

इससमय अच्छा पुण्यका योग प्रवर्तमान है, पैसा अच्छा है, प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, स्त्री-वच्चे भी अच्छे है—आदि सब ओरसे अनुकूलता है—इसप्रकार अज्ञानी जीव कर्मके फलमे तन्मय हो जाता है, कर्ता हो जाता है। परन्तु ज्ञानी सभी पुण्यके फलोको जानते हुए भी उनमे तन्मय नही होते। ज्ञानी अनुकूल—प्रतिकूल दोनो प्रसगोको जानते है, तथापि उनके कर्ता—हर्ता नही होते। जब जैसा कर्मका फल आता है तब वैसा ही ज्ञानी जानते हैं, फिर भी उनका आत्माके साथ कुछ भी कर्ताकर्म सम्वन्ध नही है। धर्मी जीव कर्मके फलको अपना नही मानते। पुण्य या पापके जो भी फल आते हैं वे सभी पुद्गलमे आते हैं—जडमे आते हैं, आत्मामे पुण्यका फल नही आता इसलिये आत्माका उसके साथ कर्ताकर्म सम्वन्ध नही है।

हर्ष—शोकके जो-जो प्रसंग वनते है उनमे जड़कर्म फलित हुआ है, जड़ उनमे प्रविष्ट हो जाता है, उन्होने जड़को ग्रहण किया है और जड उनमे उत्पन्न होता है। जो जिसे ग्रहण करे, जो जिसमे परिवर्तित हो, जो जिसमे उत्पन्न हो वह कार्य उस पदार्थका ही होता है। पुद्गल कर्मका फल आये वह पुद्गलद्रव्यका ही कार्य है, अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंगोमे जड स्वयं अन्तर्व्यापक होकर अर्थात् जड स्वतः विस्तृत होकर —व्याप्त होकर प्रसरित होता है। पुद्गलकर्मके फलकी आदिमे पुद्गल, उसके मध्यमे पुद्गल और अन्तमे भी पुद्गल उसे ग्रहण करता है, उसरूप होता है और उसरूप उत्पन्न होता है तथा सुख दुःखादिरूप पुद्गलकर्मफलको करता है।

सर्दीके मौसममे सालमपाक खानेको मिले, मूसलीपाक खानेको मिले—वह सब कर्मका फल है; शरीरमे गर्मी या ठण्डसे बुखार रहे—वह भी कर्मका फल है। कितने ही लोग कहते है कि सर्दीके दिनोमे सालमपाक खाये तो शरीर हृष्ट—पुष्ट रहे, परन्तु भाई! शरीरका

परिणमन तेरे हाथकी बात नही है, सर्दीमे सालमपाक खाता हो तो भी दो दिनमे मर जाता है, शरीर आयुके अनुसार रहता है, उसमे तू कहता है कि 'मेरे रखनेसे रहा' वह तेरा भ्रम है। कदाचित् सालमपाक खानेसे शरीरमे शक्ति भी आ जाये तथापि जो शक्ति आई वह पुण्यकर्मका फल है, किन्तु सालमपाकसे शक्ति नही आई है, उससमय शरीरमे शक्ति आनेकी योग्यता थी इससे उसे अनुकूल निमित्त मिलता है। कितने ही लोगोको पक्वान्न खानेसे कफ पैदा हो जाता है, वह सव पुद्गलकर्मका फल है; सालमपाक खानेका और पक्वान्न खानेका राग विपरीत पुरुषार्थके द्वारा जीवकी पर्यायमे होता है किन्तु सालमपाक और पक्वान्नका शरीरमे कफरूप अथवा पुष्टिरूप परिणमित होना पुण्य-पापके उदयानुसार होता है, जीव उसका कर्ता नही है।

शरीरमे जब रोगका उदय हो, पाचनशक्ति मन्द हो जाये उससमय सैकडो दस्त हो जाते हैं, फिर यदि आत्मा उन्हे रोकना चाहे तो नही रोक सकता, इसलिये वह जड रजकरणका परिणमन है। उस रोगके आदि–मध्य और अन्तमे जड रजकरण ही व्याप्त होते है, आत्मा उसमे व्याप्त नही होता।

शरीरकी स्थिति अधिक या अल्प रहना भी कर्मका फल है। सुख–दुःखादि रूप जो कार्य आता है, वह सब पुद्गलकर्मका फल है, उसमे पुद्गलकर्म ही व्याप्त होकर उसका कर्ता होता है।

जैसे मिट्टी स्वतः ही घडेमे उसके आदि, मध्य और अन्तमे व्याप्त होकर उसे ग्रहण करती है, उसरूप परिणमित होती है, उत्पन्न होती है, वैसे ही ज्ञानी बाह्यस्थित पुद्गलकर्मके फलमे व्याप्त नही होता, उसे ग्रहण नही करता, उसरूप परिणमित नही होता और उत्पन्न भी नही होता।

प्रश्नः—शरीरमे असाध्य रोग हो जाये तो फिर रोगकी अवस्थारूप आत्मा परिणमित होता है या नही ?

उत्तरः—नही भाई! शरीरके रोगरूप आत्मा परिणमित नही होता। शरीरमे कैसा भी भयङ्कर रोग हो जाये, उससमय वैसे

परिणमनरूप कर्म फलित हुआ है, उसमे आत्मा फलवान नही हुआ किन्तु पुद्गल फलवान हुआ है। शरीरमे चाहे जैसा रोग हो तो भी आत्मा उस रोगकी अवस्थारूप परिणमित नही होता, क्योकि दोनों पदार्थ भिन्न हैं।

जैसे घड़ेमे मिट्टी व्याप्त होती है, किन्तु कुम्हार व्याप्त नही होता; वैसे ही जो बाह्यस्थित अनुकूलता और प्रतिकूलताके प्रसंग हैं उनमे ज्ञानी व्याप्त नहीं होता। अनुकूलता या प्रतिकूलताके प्रसंग सुख-दुःख होनेके बाह्य कारण हैं, परन्तु वे रागद्वेष नही करा देते, रागद्वेष तो अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे होते है, परन्तु ज्ञानी उनमे भी एकत्व-बुद्धिसे व्याप्त नही होते, जो अल्प अस्थिरता होती है उसकी यहाँ बात नही है। यहाँ तो बाह्य अनुकूल-प्रतिकूल प्रसंग पुद्गलकर्मका फल हैं और रागद्वेष भी पुद्गलकर्मका फल है—दोनोको एक ही मे ले लिया है। एक ओर समस्त जड़का दल और दूसरी ओर समस्त शुद्ध चैतन्यका दल लिया है। पुद्गलकर्मके सुख दुःखादिरूप कर्मफलको जानते हुए भी ज्ञानी उसे ग्रहण नही करते, उसरूप होते नही और उसरूप उत्पन्न नही होते।

कितने ही लोगोंको ऐसा लगता है कि ऐसी मँहगाई—अनाज महँगा, कपडे महँगे, अन्य सभी वस्तुएँ महँगी है, इसलिये ऐसे समयमें तो कही दूसरी जगह जाकर रहे तो अच्छा हो—वैसा मानते हैं, परन्तु जिस क्षेत्रमे और जिस संयोगके द्वारा तेरे शरीरका पोषण होना हो वैसे ही होता हैं, उसमे कुछ करना तेरें हाथकी बात नही है। यहाँ न होऊँ और किसी अन्य स्थान पर होऊँ तो अच्छा हो—ऐसे भाव जीव कर सकते हैं परन्तु भाई! जिस कर्मके फलरूप ग्रहण होना, परिवर्तित होना, और उत्पन्न होना होता है वह तेरे हाथकी बात है ही नही।

ज्ञानी जानते हैं कि जिसप्रकार शरीरकी पुष्टिके प्रसंग बनते हैं वह सभी कार्य जड़के हैं, मैं उनका कर्ता-हर्ता नही हूँ; मैं तो अपने ज्ञानस्वरूपका कर्ता हूँ—ऐसा ज्ञान होने पर परका अभिमान दूर हो जाता है और जितने प्रमाणमें स्वतः ज्ञाता हो जाता है उतने ही

प्रमाणमे रागद्वेष भी रुक जाते हैं। ज्ञानी अनुकूलता और प्रतिकूलताके प्रसगोको जानते अवश्य हैं, किन्तु मैंने ऐसा किया इसलिये ऐसी अनुकूलता या प्रतिकूलता हुई—वैसा नही मानते और उसमे दु:ख–सुखकी कल्पना भी नही करते। मैं तो ज्ञानस्वरूप आत्मा ही हूँ, उस स्वभावके कार्यके अतिरिक्त अन्य कोई कार्य मेरा है ही नही—ऐसा ज्ञानी मानते है इसलिये वे सदा सुखी हैं। ज्ञानीके जो अल्प हर्ष–शोक होता है वह परसयोगके कारण नही होता, कर्मके कारण नही होता, अपने स्वभावके कारण नही होता किन्तु अपने पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण होता है—वैसा ज्ञानी समझते हैं। अल्प हर्ष–शोकको यहाँ नही गिना है।

दुनियाँ कहती है कि समझदार व्यक्ति सदा सुखी! अनाज, पैसा इत्यादि वस्तुओका संग्रह करे तो सुखी होते है, किन्तु भाई! वह सब तेरे हाथकी बात नही है। सग्रह किया हुआ पैसा अथवा अन्नादि रहेगे या नही रहेगे—उसका क्या भरोसा? तू उन वस्तुओंके संग्रहका राग कर सकता है, परन्तु जडके कार्य कैसे होना चाहिये वह तेरे हाथकी बात नही है। आत्मा जडका ग्रहण नही कर सकता और न उसे रख ही सकता है। मिथ्या मान्यतारूप अहङ्कार कर सकता है।

अनुकूल राज्यमे रहूँ तो धर्म हो—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु भाई! अनुकूल राज्य या प्रतिकूल राज्य कही आत्माके धर्मको नही रोकते। पुण्यका उदय हो तो अनुकूल राजा मिलता है और पापका उदय हो तो प्रतिकूल राजा मिलता है, परन्तु उससे कही आत्माका धर्म नही रुकता। यदि राजा अनुकूल हो तो धर्म कर सकूँ वह बात बिल्कुल मिथ्या है, अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे स्वत: रुकता है और पुरुषार्थकी उग्रतासे आगे बढता है, परन्तु अज्ञानी निमित्तका दोष बतलाते है कि मुझे निमित्तने आगे नही बढने दिया।

अज्ञानी कहते हैं कि पूर्वमे जो पुण्य–पाप किये थे उनका फल हमे मिल रहा है—ऐसा मानकर पुण्य–पापके फलके स्वामी होते

हैं, उन्हे स्वतंत्र आत्माकी खबर नही है। पुण्य-पापके फल अपने करनेसे मिलते हैं—ऐसा माननेवाले आत्माकी शान्तिका घात करनेवाले हैं। ज्ञानी तो जानता है कि पुण्य-पापके फल मेरे नही हैं, मैं उनका स्वामी नही हूँ, मेरी शांति मुझमें है, परसे मुझे शांति नही है। जो भगवानका भक्त—दास है वह कर्मके फलको अपना नही मानता, जीवका स्वभाव ज्ञाता होनेसे ज्ञानी ज्ञाता ही रहते हैं।

इसप्रकार शिष्यने तीन प्रकारसे पूछा था—एक तो, कर्मकी जो—जो अवस्था होती है उसे आत्मा जाने तो उससे उसके साथ कुछ कर्ता-कर्मका मेल होता है? दूसरे, अपने परिणामोंको जाननेसे आत्माका परके साथ कुछ कर्ता-कर्मका मेल है? और तीसरे बोलमें, कर्मके फलको जाननेसे आत्मा परका करे—ऐसा कोई सम्बन्ध है? इन तीन प्रश्नोंके उत्तर आचार्यदेवने दिये हैं। अब शिष्य चौथा प्रश्न करता है।

शिष्य कहता है कि प्रभो! यह शरीर अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्वको नही जानता—ऐसे पुद्गलका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव है या नही? प्रभो! ज्ञाता तो कदाचित् जानकर पृथक् रह सकता है परन्तु जिसे कुछ भी खबर नही है—ऐसे पुद्गल द्रव्यका, जो कि आत्माको नही जानता, उसके कार्यको नहीं जानता; अपने कार्यको नही जानता और अपने फलको नही जानता, आत्माके साथ कुछ कर्ताकर्म सम्बन्ध है या नही?

तीन गाथाओंमें यह बात आ गई है कि चैतन्य—पदार्थ कर्ता हो और जड़की अवस्था उसका कार्य हो—ऐसा कभी होता ही नहीं। जो वस्तु परिणमित हो वह कर्ता, और उसमें जो कार्य हो वह कर्म। आत्मा स्वतः अपने स्वभावका कर्ता है और अपना स्वभाव ही उसका कार्य है।

अब, चौथी गाथामें पूछता है कि जो जीवके परिणामोंको, अपने परिणामोंको और अपने परिणामोंके फलको नही जानता है—ऐसे पुद्गलद्रव्यका जीवके साथ कर्ताकर्मभाव (कर्ताकर्मपना) है या नही? उसका उत्तर कहते हैं:—

ण वि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥७६॥

अर्थः—इसप्रकार पुद्गलद्रव्य भी परद्रव्यकी पर्यायरूप परिणमित नही होता, उसे ग्रहण नही करता और उसरूप उत्पन्न नही होता, क्योंकि वह अपनेही भावोंसे (–भावोरूप) परिणमन करता है ।

जडद्रव्य भी जीवद्रव्यकी पर्यायरूप परिणमित नही होता । जड जो पुद्गलद्रव्य है वह चैतन्यको धर्म कराये, मोक्ष कराये,—इसप्रकार वह चैतन्यद्रव्यकी पर्यायको ग्रहण नही करता, उसरूप परिणमित नही होता और न उसरूप उत्पन्न होता है । जीव कर्मसे भिन्न है, इसलिये वह कर्मकी अवस्थाको नही करता और जड़कर्म आत्माको राग–द्वेष नही कराते ।

प्रश्नः—प्रभो ! आप कहते हो कि कर्म आत्माका कुछ कर नही सकते, परन्तु वे आत्माको हैरान तो करते हैं ? केवलज्ञानीके भी चार अघाति कर्म हैं, इससे कर्म उन्हे भी शरीरमे रोक रखते है–उसका क्या अर्थ है ?

उत्तरः—ऐसा कहनेवाला वीतरागके मार्गसे बाहर है । क्या किया जावे ! जो स्वतः नही समझे उसे कौन समझा सकता है ? अरे भाई ! केवली तो अपने शरीरमे अपने योग गुण तथा अन्य गुणके अशुद्ध परिणमनके कारण रह रहे हैं । असिद्धत्वको स्वतत्त्व औदयिक भाव सूत्रजीमे कहा है । अत. योग, असिद्धत्व, कर्त्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, अधिकरण, क्रियावती शक्ति, वैभाविक, ऊर्द्धगमनत्व, अव्यावाध, अगुरुलघु, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व वगैरह गुणकी अशुद्धिके कारण रह रहे हैं, किन्तु अघाति कर्मोके कारणसे नही । कर्मको कारण कहना वह तो व्यवहारनयके कथन है किन्तु ऐसा नही है ।

जिसप्रकार सर्वज्ञ भगवान अपने जोग वगैरह गुणकी योग्यताके कारण शरीरमे रहे हैं, वैसे ही यहाँ निम्नदशामे भी स्वत. राग–द्वेष

और भ्रांति करता है उस अपनी योग्यताके कारणसे हैरान होता है, किन्तु जडकर्म आत्माको रागद्वेष नही कराते, हैरान भी नही करते।

कोई भी परवस्तु कभी भी आत्माकी अवस्थामें परिणमित नही होती, उत्पन्न नही होती। कर्ममे तो नई–नई अवस्था होती है वह अपने कारणसे ही होती है, आत्माके कारण नही होती। आत्मामे जो नवीन अवस्था होती है वह आत्माके कारण होती है किन्तु कर्मके कारण नही होती। दोनो द्रव्य स्वतत्र भिन्न हैं।

जीवोको भ्रम हो गया है कि कर्म हमे हैरान करते हैं, किन्तु भाई! कर्म कभी हैरान करते होगे? यह वेचारे जड है, इन्हे यह भी खवर नही है कि हम कौन हैं! इन कर्मोको, शरीरादि किसीको यह खवर नही हैं कि हम कौन है, किस रङ्गमे परिणमित हुए है, फिर वे वेचारे तुम्हे कैसे हैरान कर सकते हैं? तुम वहाँ रुके इससे उनने तुम्हें स्पर्श किया और उसमे तुम मान वैठे कि कर्म हमें हैरान करते हैं। कर्म आत्माको न तो कोई लाभ ही करते हैं और न हानि भी पहुँचा सकते; जव स्वतः राग–द्वेष करे तव कर्मोको निमित्त कहा जाता है, व्यवहार कहा जाता है।

जैसे मिट्टी स्वतः घडेमे अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य अतमें व्याप्त होकर घडेको ग्रहण करती है, घडेरूपमें परिणमित होती है, और घडेरूप उत्पन्न होती है; वैसे ही जो जीवके परिणामोको, अपने परिणामोंको और अपने परिणामोके फलको न जाननेवाला पुद्गल द्रव्य है वह स्वत. परद्रव्यके परिणामोमे अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य, अन्तमे व्याप्त होकर उन्हे ग्रहण नही करता, उसरूप परिणमित नही होता और न उत्पन्न ही होता है।

मिट्टीमे से घडेकी जो अवस्था क्रमश. प्रगट होती है, वह अवस्था मिट्टीने ग्रहण की है, मिट्टी उसरूप हुई है और उसरूप उत्पन्न हुई है। आत्मामे जो अवस्थाएँ होती हैं उन्हे नही जानता और अपनी अवस्थाको भी नही जानता, तथा फल देकर खिरनेकी अपनी अवस्थाको

नही जानता—ऐसा जो कर्म है वह आत्माकी अवस्थाको ग्रहण नही करता, उसरूप परिणमित नही होता और उत्पन्न भी नही होता ।

आत्माका अपूर्व भान होकर जो अवस्था परसे भिन्न स्वत. मे ही रहती है वह अवस्था कर्मने ग्रहण नही की है—पकडी नही है, कर्म उसरूप हुआ नही है और न उत्पन्न हुआ है ।

पुद्गलद्रव्य स्वतः अपनी पर्यायको ग्रहण करता है—पकडता है—प्राप्त होता है, उसरूप होता है, उत्पन्न होता है । पुद्गलद्रव्य स्वतः अपनेमे प्रसरित होकर अपनी पर्यायके आदिमे, मध्यमे और अन्तमे भी स्वतः ही उसे ग्रहण करता है—उसरूप होता और उत्पन्न होता है, इसलिये पुद्गलद्रव्यका जीव द्रव्यके साथ कर्ताकर्मपना नही है । जीवोने शास्त्रमे यह सुना कि कर्म हैं वहाँ युक्त हुआ और कुतर्क खडा किया कि कर्म मुझे हैरान करते है, परन्तु भाई ! आठ कर्मोकी जो सूक्ष्म रज है वह आत्माके भावको पकड़कर नही रखती । कोई कहे कि दर्शनमोह दूर होता है तब आत्माके गुण प्रगट होते हैं—इसप्रकार जो परसे गुणकी पर्यायका प्रगट होना मानता है वह महामूढ है । जब स्वतः आत्माका भान करता है तो कर्म अपने आप हट जाते हैं, जब स्वतः पुरुषार्थ करता है तब सम्यग्दर्शनकी पर्याय प्रगट होती है और कर्म अपने आप दूर हो जाते हैं, वस्तुका स्वभाव ऐसा पराधीन नही है कि जब दर्शन–मोह दूर हो जायेगा तब सम्यग्दर्शन प्रगट होगा ।

कोई यह कहे कि पुद्गल द्रव्य तो जड है, इससे वह नही जानता कि जीवके साथ उसका कर्ताकर्मपना है या नही ? घरका समझदार व्यक्ति भले ही पर–दूसरोसे सम्बन्ध न रखे, किन्तु जो अजान है वह तो सम्बन्ध रखता ही है न ? उसीप्रकार ज्ञाता आत्मा भले ही सम्बन्ध न रखे परन्तु अजान जो जड है वह तो सम्बन्ध रखेगा न ? किन्तु भाई किसी द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सम्बन्ध है ही नही, प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावमे परिपूर्ण स्वतत्र है, किसी भी द्रव्यका किसी अन्य द्रव्यके साथ, किसी भी पक्षसे, किसी भी प्रकार–ज्ञानरूपसे अथवा अजानरूपसे कर्ताकर्म सम्बन्ध है ही नही; एक द्रव्यकी अवस्थाका कार्य

दूसरे द्रव्यकी अवस्था करे—ऐसा त्रिकाल और त्रिलोकमें भी नहीं हुआ है, होता नहीं है और न होगा ही। द्रव्य तो किसीका कार्य नहीं करता किन्तु प्रेरक भी नहीं बनता—यह अबाध सिद्धान्त है। वहाँ निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्धकी बात आती हो वहाँ उस बातको अबाध स्वरूप उस बातको समझना चाहिये।

कोई कहे कि कर्मकी प्रबलता हो तो राग-द्वेष होता है या नहीं? भाई! बिल्कुल मिथ्या बात है। अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे स्वतः विकारमें युक्त होता है इससे रागद्वेष होता है। कर्म जबरदस्ती राग-द्वेष नहीं कराता, कर्म राग-द्वेष कराता है—यह बात जैनसिद्धान्तमें कहीं पर है ही नहीं।

पुनश्च कोई कहे कि निकाचित कर्मबन्ध किया हो तब तो भोगना ही पड़ता है न? किन्तु नहीं! जितनी भावनासे कर्म बाँधे हों उतनी ही भावनासे उलटा पुरुषार्थ करे तो निकाचित कर्म भी दूर हो जाते हैं। अपना पुरुषार्थ जितना मन्द हो उतना ही कार्य रुकता है, न कि कर्मोंके उदयसे कार्य रुकता है। कर्मके उदयसे कार्य रुकता है—ऐसी बात त्रिकाल और त्रिलोकमें कहीं है ही नहीं, यह बात सम्यक् प्रकार जानने योग्य है।

कोई व्यक्ति कहता था कि आत्मा परवस्तुको नहीं हिला सकता परन्तु स्वयंको हिला सकता है क्योंकि वस्तुस्वभाव स्याद्वाद है। अरे भाई! तूने स्याद्वादका ऐसा अर्थ ग्रहण किया है? स्याद्वाद किसे कहते हैं? स्याद्वाद तो वस्तुस्वरूपका कथन है; श्री समयसारके पृष्ठ [illegible] पर शक्तियोंका विस्तार आता है, उसमें कहा है कि—एक वस्तुमें वस्तुत्व (वस्तुपना) को प्रसिद्ध करनेवाली अस्ति, नास्तिरूप परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना सो अनेकान्त है। आत्मा, आत्मारूप है और पररूप नहीं है—ऐसी परस्पर विरुद्ध दो शक्तियाँ एक साथ एक द्रव्यमें हैं, उसे अनेकान्त कहा जाता है। यह निर्भ्रान्त अबाधित सिद्धान्त है।

आत्मा स्वतः अपना कर सकता है किन्तु दूसरे आत्माका कुछ नही कर सकता, जड़का कुछ नही कर सकता। जड़, जडका कर सकता है, प्रत्येक परमाणु स्वतः अपना कर सकता है, किन्तु आत्माका कुछ नही कर सकता और दूसरे परमाणुका भी वह कुछ नही कर सकता। प्रत्येक द्रव्य स्वतत्र है, आत्मा अपना कर सकता है परन्तु दूसरे आत्मा या परमाणुका अथवा स्कन्धका कुछ नही कर सकता—ऐसा अस्ति–नास्ति स्वभाव वस्तुमे है, उसीका नाम अनेकान्त है। वस्तु को वस्तु-रूपसे स्थिर रखनेवाली दो विरुद्ध शक्तियो का नाम अनेकान्त है।

आत्मा, आत्माके भावोका कर्ता है और जडके भावोका भी कर्ता है—ऐसा मानना तो एकान्त हुआ, परन्तु दो विरुद्ध शक्तियाँ नही हुईं क्योकि दोनो बातोमे अस्ति आई, दोनोमे मिथ्या एकत्व करना ही आया, इसलिये वह एकान्त हुआ।

आत्मा, आत्माका करता है और परका कुछ भी नही करता वह सम्यक् अनेकान्त है, जड, जडका कर्ता है और आत्माका कुछ नही करता वह भी सम्यक् अनेकान्त है। आत्मा, आत्मारूप है और पररूप भी है—ऐसा माने सो एकान्त है, दो द्रव्योको मान्यतामे एक किया इसलिये वह एकान्तदृष्टि है। दोनोमे 'है' ऐसा माना है इससे अकेली अस्ति आई किन्तु नास्ति नही आई, विरुद्ध धर्म नही आया, अस्ति–नास्ति दोनो गुण नही हुए इससे एकान्त हुआ। उसीप्रकार जड़, जड-रूपसे है और आत्मारूपसे भी है—वैसा मानना भी एकान्तदृष्टि है। कर्मके दो अस्ति–नास्ति गुण भिन्न हैं और आत्माके भिन्न हैं, सभी द्रव्योंके अस्ति–नास्ति दो गुण स्वतंत्र भिन्न हैं, उन गुणोको यथार्थ-रूपसे समझना सो अनेकान्त है। अनेकान्त तो वस्तुका त्रिकालिक स्व-भाव है, अनेकान्त वह कही परिस्थितिवश कल्पना नही है, कुदडीवाद =संशयवाद नही है। एक वस्तु मे एक–अनेक, नित्य–अनित्य, सत्–असत् इत्यादि परस्पर विरोधी दो स्वभाव होते हैं उसे अनेकान्त कहा जाता है। अनेकान्तका स्वरूप समझने पर तो मोक्षमार्ग खुल जाता है, वीतरागका अंतरंग जाना जा सकता है, वह कही बातें करनेके

लिये नही है किन्तु उसे समझे तो भेदज्ञानी होकर आत्माकी शाति–समाधि प्रगट होती है।

शुभभाव करते–करते पुण्यबध होता है, धर्म भी होता है, और मोक्ष भी होता है, वैसा मानना सो एकान्त है, परन्तु शुभ भावोंसे पुण्यबध होता है किन्तु धर्म और मोक्ष नही होते—ऐसा मानना सो अनेकान्त है, उसीप्रकार शुद्धभावसे आत्माका धर्म होता है—मोक्ष होता है परन्तु पुण्यबध नही होता और कर्मोंकी निर्जरा होती है–ऐसा मानना भी अनेकान्त है, इसप्रकार अनेकान्तका स्वरूप अद्भुत अमृत-रसायन है।

कोई कहे कि केवलज्ञानीको मोक्ष जानेकी इच्छा है परन्तु कर्म उसे रोकते हैं, किन्तु भाई वे तो वीतराग हैं, वीतरागके यदि इच्छा हो तो वीतराग कैसे ? इच्छा तो राग है और राग वीतरागके नही होता। केवली भगवानको कर्म शरीरमे नही रोक रखता, अपने योग वगैरह गुणकी योग्यताके कारण वे शरीरमे रह रहे हैं। कर्म, कर्मकी अवस्था करे और केवली भगवानको शरीरमे रोकनेकी अवस्था करे—ऐसे दो कार्य नही करता। कर्म अपनी अवस्था स्वत. करता है किन्तु परद्रव्यकी अवस्था नही करता। केवलज्ञानी पूर्ण वीतराग हैं उनके प्रदेशका जो कम्पन होता है वह योग नामक गुणका विकार शेष रह गया है उसके कारण होता है। केवली भगवान अपने वैभाविक गुण योग गुण आदिकी अपनी योग्यताके कारण शरीरमे रुके हैं, चार अघाति कर्म तो जड़ हैं वे केवलज्ञानीको नही रोक सकते। किसीकी अवस्था किसीको रोक दे—ऐसा होता ही नही। केवली भगवानके योगका जो कम्पन है वह व्यवहार है किन्तु अशुद्ध व्यवहार है और सिद्ध भगवानके भी प्रतिसमय पर्याय होती है वह भी व्यवहार है, परन्तु वह शुद्ध व्यवहार है। केवली भगवानके प्रतिसमय शुद्ध पर्याय होती है वह शुद्ध व्यवहार है और योगका कम्पन अशुद्ध व्यवहार है। सभी द्रव्य स्वतः अपनी अवस्थाको करते हैं, कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यकी अवस्थाको नही करता।

अब इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्गलश्चाप्यजानन्
व्याप्तृव्याप्यत्वमंतः कलयितुमसहौ नित्यमत्यंतभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्य ॥५०॥

अर्थ:—ज्ञानी तो अपनी और परकी परिणतिको जानता हुआ प्रवर्तन करता है और पुद्गलद्रव्य स्व और परकी परिणतिको न जानता हुआ वर्तन करता है, इसप्रकार उनमे सदा अत्यन्त भेद होनेसे (दोनो पृथक् द्रव्य होनेसे) वे दोनो परस्पर अन्तरङ्गमे व्याप्यव्यापक भावकी प्राप्ति करनेमे असमर्थ हैं। जीव–पुद्गलके कर्ताकर्मपना है—ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञानके कारण तबतक भासित होती है (–होती है) जबतक कि (भेदज्ञान करनेवाली) विज्ञानज्योति करवतकी भाँति निष्ठुर रीतिसे (उग्र रीतिसे) जीव–पुद्गलका तत्काल भेद उत्पन्न करके प्रकाशित नही होती ।

ज्ञानी अर्थात् वीतरागका भक्त, वीतरागका दास । वह अपनी और परकी अवस्थाको जानता तो है, किन्तु वह जडका भक्त नही होता, जो अल्प राग-द्वेष होता है उसे जानता अवश्य है तथापि वह जडका दास नही होता ।

जिसे ससारकी भक्ति अर्थात् चौरासी लाखमे परिभ्रमण करनेकी भक्ति करना है वह ऐसा मानता है कि रागद्वेष मेरा स्वरूप है और वह मुझसे होता है । शरीरकी क्रिया—खाना, पीना, लेना, देना इत्यादि अपनेसे होता है वह ऐसा मानता है परन्तु भगवानका भक्त–सम्यक्त्वी उसे अपना स्वरूप नही मानता ।

भगवानका भक्त अर्थात् जिसके हृदयमे भगवानकी भक्ति प्रगट हुई है वह ऐसा मानता है कि राग-द्वेष मेरे ज्ञाताके जानने योग्य हैं, शरीरकी हलने–चलनेकी क्रिया मेरे ज्ञाताका ज्ञेय है, मैं उनका कर्ता नही हूँ, वह मेरा स्वरूप नही है, जड, जडसे प्रवर्तमान होता है

और आत्मा आत्मासे—इसप्रकार दोनो द्रव्य स्वतंत्ररूपसे भिन्न प्रवर्तन करते है—ऐसा ज्ञानी जानता है ।

जडपदार्थ स्वतः अपनी और आत्माकी—दोनोकी अवस्थाओको न जानता हुआ प्रवर्तन करता है, यह शरीर ऐसे चलता है, ऐसे बैठता है उसकी उसे कुछ भी खबर है ? कुछ भी नही बिल्कुल अपरिचित है। आत्माका और जडका कही भी किसी स्थान पर मेल नही है, आत्मा बिल्कुल ज्ञाता है और पुद्गल एकदम जड़ है, इससे दोनोंका कुछ भी मेल नही है ।

इसप्रकार जड़ और आत्मामे सदा अत्यन्त भेद होनेसे वे दोनो परस्पर अन्तरङ्गमे व्याप्यव्यापक भावको प्राप्त करनेमे असमर्थ हैं, अर्थात् आत्मा स्वतः व्यापक (कर्ता) और जडकर्मकी अवस्था आत्माका व्याप्य, (—कार्य) और जड़कर्म व्यापक अर्थात् जीवके भावोका कर्ता तथा आत्माकी अवस्था कर्मका व्याप्य—वैसी व्याप्य-व्यापकता होना बिल्कुल असम्भव है ।

जडके कार्य आत्माके है और आत्मा उनका कर्ता है—ऐसी भ्रमबुद्धि अज्ञानके कारण तबतक भासित होती है जबतक कि भेदज्ञान करनेवाली विज्ञानज्योति करवतकी भाँति निर्दय रीति—उग्र रीतिसे जीव—पुद्गलका तत्काल भेद प्रकट करके प्रकाशित नही होती ।

स्व और परको पृथक करनेवाली ज्ञानज्योति प्रकट होनेसे, जैसे करवत लकड़ीके दो टुकड़े कर डालता है, निर्दयता पूर्वक दोनोंको पृथक् कर देता है, उसीप्रकार ज्ञानज्योति स्वभाव और परभावको पृथक् कर देती है, भेद कर देती है । जो सन्धि अनादिसे नही टूटती थी उसे तोडकर दोनोंको भिन्न कर डालती है, किंचित् भी दया रखे बिना, निर्दयतासे दोनोंके भेद करके आत्मधर्म प्रकट करती है, भेदज्ञान स्व—परको उग्र रीतिसे पृथक् करता है ।

रागद्वेषादि भाव मेरे हैं, शरीरादि मेरे हैं, मैं उनका कर्त्ता हूँ—ऐसी भ्रमबुद्धि जबतक रहती है, तबतक भेदज्ञानज्योति प्रकाशित नही होती अर्थात् वहाँतक अज्ञान और मूढता रहती है । दुनियाँमे

कहा जाता है कि इस मनुष्य ने बहुत परोपकार किये है—आम बोये हैं, किन्तु परका कार्य कोई कर ही नही सकता फिर आम बोनेकी बात ही कहाँ रही ? दुनियाँको परका भला कर देनेकी सबको पराधीन माननेकी बात बहुत अच्छी—मीठी लगती है परन्तु वह मीठा विष है, उस मीठे विषसे तेरे आत्माकी हत्या हो रही है ।

कितने ही तो कहते हैं कि परोपकारके लिये भले ही अपनेको अधिक भव धारण करना पड़ें, यदि परका भला हो तो वह परमार्थ है—वैसा माननेवाला बिल्कुल मूढ है, वैसा कहनेवालेके भव ग्रहणकी रुचि दूर ही नही हुई है, ऐसे मनुष्यके लिये भवका अन्त था ही कहाँ ? उसे तो चौरासीमे परिभ्रमण करनेके लिये अनन्त भव प्रस्तुत ही है । जहाँ, परका कुछ कर ही नही सकता वहाँ, परका कर सकता हूँ—यह मान्यता ही मूढता है और उसके लिये अधिक भव धारण करूँ, ऐसा अभिप्राय बडी मूढता है । वहाँ भवका अन्त था ही कहाँ ? वह तो चौरासीमे परिभ्रमणको ही आनन्द मानता है ।

प्रत्येक आत्मा स्वतत्र है, प्रत्येक परमाणु स्वतत्र है, सब द्रव्योकी अवस्था अपने—अपने आधारसे होती है, किसी द्रव्यकी अवस्था किसी अन्य द्रव्यके आधारसे नही होती । एक द्रव्यमे दूसरे द्रव्यका तीनोकाल अत्यन्त अभाव है, परस्पर अभावपना दूसरोमे क्या करें ? एक आत्माकी अवस्था अपने आत्माके आधारसे होती है, दूसरे आत्माकी अवस्था उसके अपने आत्माके आधारसे होती है, उसीप्रकार परमाणु—पुद्गलकी अवस्था भी प्रत्येकके अपने ही परमाणुके आधारसे होती है । प्रत्येक वस्तु निज शक्तिसे परिपूर्ण है अनादि—अनन्तकालसे प्रत्येक वस्तुकी अवस्था वस्तुके ही आधारसे होती है—ऐसा वस्तुका स्वभाव सर्वज्ञदेवके ज्ञानमे ज्ञात हुआ है, वस्तुका स्वभाव ऐसा ही है, तब फिर आत्माको शरीरादिका कर्ता मानना भ्रम ही है, और वह भ्रम वस्तुस्वभावका ज्ञान करनेसे अर्थात् सम्यग्ज्ञान होनेसे नाशको प्राप्त होता है ।

सम्यग्ज्ञानी जीव ऐसा समझता है कि अरे ! मैं कौन हूं ? मैं तो "ज्ञान वस्तु" हूँ; फिर मैं किसको करूँगा, किसको ग्रहण करूँगा ? मैं अपनी ज्ञानस्वरूप चेतनाके अतिरिक्त किसीको नही कर सकता, किसीका ग्रहण त्याग नही कर सकता। मैं तो अपने अनन्त गुणस्वरूप आत्माका स्वामी हूँ, मैं परका स्वामी होता ही नही इसलिये मैं परद्रव्यका अथवा राग-द्वेषादि परभावोंका कर्ता नही हूँ—ऐसी पहिचान सम्यग्ज्ञानी जीवको होती है। सम्यग्ज्ञान हुआ अर्थात् वह भगवानका भक्त होता है। पहले परके स्वामित्वसे अज्ञान अवस्थामें जितनी अधिकतासे राग-द्वेष होते थे वे अब सम्यग्ज्ञान होनेके पश्चात् नही होते, परन्तु अपने पुरुपार्थकी मन्दताके कारण अल्प राग-द्वेष होते है वे रहनेके भावमे नही किन्तु नष्ट करनेके भावमे रहे हैं इससे उन्हे गिनतीमे नही लिया है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि मुझे परके कारण रागद्वेष होते हैं; इसने मुझे ऐसे कठोर शब्द कहे, प्रतिकूलता की इससे मुझे द्वेष हुआ; और इस घरके मनुष्य बहुत अनुकूल हैं, बच्चे बहुत आज्ञाकारी, विनयशील हैं इस कारण मुझे इन पर राग आता है; इसप्रकार रागद्वेप होनेका कारणपना वह परके ऊपर डालता है अथवा उसे अपना स्वभाव मानकर रागद्वेष करता है। अज्ञानी और ज्ञानीकी दृष्टिमे एकदम अन्तर होता है। ज्ञानी अभी पूर्ण वीतराग न हुआ हो और गृहस्थाश्रममे हो तो उसके भी अल्प राग-द्वेप होता है तथापि वह ऐसा समझता है कि यह रागद्वेप मुझे किसी परपदार्थके कारण नही होता, अनुकूल—प्रतिकूल प्रसंगोंके कारण नही होता, और वह रागद्वेषको अपना स्वभाव भी नही मानता किन्तु ऐसा समझता है कि मेरे पुरुपार्थकी अशक्तिके कारण ही मुझे राग-द्वेपादि भाव होते हैं, अन्य कोई भी कारण नही है। इसप्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिमें उदय—अस्त जितना अन्तर होता है। जो परका दोष बताये, उसका राग-द्वेप कब दूर होता है ? परन्तु जो स्वतः की भूलको देखता है उस ज्ञानीके स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ द्वारा रागद्वेषरूपी दोप दूर हो जाता

है । जैसे प्रकाश करनेसे अन्धेरा हटाना नही पड़ते—स्वयं उत्पन्न होते नही । ७९ ।

आत्माके परिणामोका और पुद्गलके परिणामोका अन्योन्य निमित्तमात्रपना है, तथापि उनके कर्ताकर्मपना नही है, निमित्तमें निमित्तकी क्रिया परिपूर्ण होती है और आत्मा रागद्वेष करे वह अपनी पर्यायमे पूरा पूरा करता है, किन्तु उस रागद्वेषमे कुछ भाग आत्माका और कुछ जडका, इसप्रकार दोनोका थोडा थोडा भाग मिलकर रागद्वेष नही होता । रागद्वेष होनेमे आत्मा भी भाग लेता है और जड भी भाग लेता है—ऐसा नही है । आत्माका शत प्रतिशत आत्मामे और कर्मरूप निमित्तका शतप्रतिशत निमित्तमे है । आत्माके साथ परकर्मके सयोगरूप अन्य वस्तु है, तथापि कर्ताकर्म सम्वन्ध नही है, मात्र एक दूसरेका निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध है—ऐसा निम्नोक्त गाथाओमे कहते हैं ।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णं पि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमंति ।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥८०॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान् ।
अन्योन्य निमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥८१॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन ।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥८२॥

अर्थः—पुद्गल, जीवके परिणामके निमित्तसे कर्मरूप परिणमित होते है, वैसे ही जीव भी पुद्गलकर्मके निमित्तसे परिणमन करता है। जीव, कर्मके गुणोंको नही करता और कर्म जीवके गुणोको नही करता, परन्तु परस्पर निमित्तसे दोनोके परिणामको जानो ! इसकारण आत्मा अपने ही भावोसे कर्ता (कहा जाता) है, परन्तु पुद्गलकर्म द्वारा किये गये सर्व भावोका कर्ता नही है।

पुद्गल जड हैं, वे जगतमे एक भिन्न वस्तु हैं, रूपी हैं, कर्मरूपसे परिणमन करते है। आत्मा दया, दान, हिंसा, झूठ, चोरी इत्यादि जैसे-जैसे भाव करे उन भावोंका निमित्त प्राप्त करके पुद्गल स्वयं (स्वत.) परिणमित होते हैं। इसप्रकार जब आत्मा विपरीत पुरुषार्थ द्वारा स्वतः रागद्वेष करता है उससमय कर्मका निमित्त होता है। उपादानका अर्थ है—स्वतः उस पर्यायमे परिणमित होनेवाला पदार्थ, और सहकार अर्थात् साथमे रहनेवाला। सहकारका अर्थ मदद देना या साथ देना नही है, परन्तु साथमे रहनेवाला।

जव स्वय काम, क्रोध, वासनाके भाव करे तो उससमय कर्म साथमे निमित्तरूप है—उपस्थितिरूप है, उसे निमित्त कहा जाता है। जीव स्वाश्रयके वलसे रागरूप न हो तो कर्मको निमित्तरूप नही कहा जाता। शुभाशुभभाव होनेमे यदि कर्मका निमित्त न हो तो वे भाव आत्माका स्वरूप हो जाये, वैसे ही यदि कर्म ही आत्माको राग-द्वेष करा देता हो तो आत्मा पराधीन हो गया, कर्म और आत्मा एक हो गये, कर्म निमित्तरूप न रहा किन्तु उपादानरूप हो गया, इसलिये इससे ऐसा सिद्ध होता है कर्म आत्माके राग-द्वेप होनेमे धर्मास्तिकायवत् निमित्तमात्ररूप है किन्तु वह वलात् राग-द्वेष नही करा देता, और उसीप्रकार कर्म बाँधनेमे आत्माका राग—द्वेप निमित्तमात्ररूप है परन्तु आत्माका रागद्वेष कर्मको नही बाँध देता।

आत्मा कर्मरूप पुद्गलके गुणोंको नही करता, पुद्गलके स्पर्श, रस, गध, वर्ण, आकार, स्थिति, अनुभाग इत्यादिको आत्मा नही करता, उसीप्रकार जड़कर्म आत्माके राग-द्वेप, हर्ष-शोक, काम-

वासना, रति-अरति, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि शुभाशुभ परिणामोको नही करता परन्तु दोनोका परस्पर निमित्तरूप सम्बन्ध है—वैसा जानो। इसलिये आत्मा अपने जो भी भाव करता है उसका कर्ता है परन्तु जो प्रारब्ध-कर्म बँधते है उन्हे आत्मा नहीं बाँधता; वे कर्म स्वतः अपने कारणसे बँधते हैं। अपने गुणोका विकास न करके आत्मा स्वतः विपरीत भावोमे बँधता है अर्थात् उनमे रुकता है, किन्तु जडकर्मोको आत्मा नही करता।

जीवपरिणामको निमित्त करके पुद्गल, कर्मरूप परिणमित होते हैं और पुद्गलकर्मको निमित्त करके जीव भी परिणमन करता है। आत्मा जितने पूजा-भक्ति आदिके शुभभाव करे उतना ही पुण्यकर्म बँध जाता है, परन्तु आत्मा पुण्यके भाव भी करे और पुण्यरूप कर्म भी आत्मा स्वतः करे—वैसा नही है, किन्तु आत्मा भाव करे उन्हीके प्रमाणमे नवीन कर्म होने योग्य रजकण कर्मकी अवस्थारूप परिणमित हो जाते हैं। पुण्यभाव अल्प करे और पुण्यकर्म अधिक बँध जाये—ऐसा हो सकता है? नही हो सकता। उसीप्रकार पापभाव अल्प करे और पापकर्म अधिक बँध जाये, ऐसा भी नही हो सकता, किन्तु आत्मा जितने प्रमाणमे पुण्य-पापके भाव करे उतने ही प्रमाणमे, कर्म होने योग्य जो अजीव रूपी जड़वस्तु है वह आत्माके भावोका निमित्त प्राप्त करके कर्मरूप परिणमित होती है। जब आत्मा विपरीत वीर्यके द्वारा राग-द्वेष करता है तब कर्मका उदय उसे निमित्त होता है, इसप्रकार शास्त्रमे भीतर ही भीतर निमित्तपनेका उल्लेख होने पर भी, जीव और पुद्गलके परस्पर व्याप्यव्यापक भावका अभाव होनेके कारण जीवको पुद्गलपरिणामोंके साथ और पुद्गलको जीवपरिणामोके साथ कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि होकर मात्र निमित्तनैमित्तिक भावका निषेध न होनेसे, अन्योन्य निमित्तमात्र होनेसे ही दोनोके परिणाम हैं, एक दूसरे द्रव्योके व्याप्यव्यापक भावका अभाव है इससे कही निमित्तनैमित्तिकपनेका अभाव नही है, यदि निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध न हो तो ससार ही न हो, निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके कारण ही ससार-मोक्ष दोनो बने हुए

है। निमित्त अर्थात् पर और नैमित्तिक अर्थात् स्वत. उपादान। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने पर भी कर्ताकर्मपना नही है; निमित्त-नैमित्तिकपना है और कर्ताकर्मपना नही है—वैसा चारो पक्षोंका सपूर्ण स्वरूप समझनेसे ही ससारके नाशका उपाय प्राप्त हो और उस प्रकारका पुरुषार्थ करनेसे तत्काल मोक्ष होता है।

आत्माके परिणामका कर्ता जड़ नही है, और न जड़का यह कार्य है। जडके परिणामका कर्ता आत्मा नही है और न आत्माका यह कार्य है; इसप्रकार परस्पर कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है, तथापि आत्माके रागद्वेप परिणामके समय पुद्गलकर्मकी उपस्थिति होती है और रागद्वेषकी उपस्थितिमें पुद्गलकर्म बँधते हैं—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है।

जैसे मिट्टी द्वारा घड़ेकी रचना होती है, वैसे ही अपने भाव द्वारा अपना भाव होता होनेसे जीव कदाचित् अपने भावका कर्ता है; कदाचित् अर्थात् अपने रागद्वेष परिणामका कर्ता आत्मा अज्ञानभावसे है; जहाँतक गुणोंका भान नही है वहाँतक अज्ञानभावसे कर्ता है; ज्ञानभावसे नही। ज्ञानभावसे तो ज्ञानका कर्ता है।

अपने भाव द्वारा अपना भाव होता होनेसे अर्थात् परको अपना मानता है वैसे मिथ्यात्वभाव द्वारा राग-द्वेषका भाव होता होनेसे जीव मिथ्यात्व भावद्वारा रागद्वेषका कर्ता है, परंतु पुद्गलका कर्ता कभी भी नही है।

जैसे मिट्टी द्वारा कपडा नही किया जा सकता, वैसे ही अपने भावके द्वारा परभावोका करना अशक्य होनेसे पुद्गल भावोंका कर्ता तो कभी है ही नही, यह निश्चय है।

जीवका अपने भावोंसे जड़का कुछ भी करना अशक्य होनेसे आत्मा जड़की अवस्थाको नही कर सकता—कर्मकी अवस्थाको नही कर सकता। आत्मा कदाचित् अपने दया, दान, हिंसा, झूठ इत्यादि पुण्य-पापके भावोंका कर्ता हो, परन्तु स्वतः जड़कर्मको करे—ऐसा कभी भी नही हो सकता। विकारी भावोंका कर्ता जीवको कदाचित्

अर्थात् अज्ञानभावसे कहा है परन्तु जडका कर्ता तो कभी भी नही है, ऐसा कहा है।

मैं दूसरेका बिगाड देता हूँ—बना देता हूँ, मेरे विना एकदम अव्यवस्था हो जायेगी, ऐसा माननेवाला मूढ है। कोई किसीका कुछ भी करनेमे कभी भी समर्थ नही है। सबको पुण्य–पापके उदयानुसार निमित्त बनते है।

कितने ही मनुष्य कहते हैं कि पुण्यवन्त प्राणी हो तो अच्छा कार्य कर सकता है, किन्तु, भाई! उपस्थित वस्तुकी यदि अनुकूल अवस्था होना हो तब पुण्यवन्त प्राणीका निमित्त बनता है, इसलिये तुझे ऐसा लगता है कि यह कार्य पुण्यवन्त प्राणीने किया है, परन्तु वास्तवमे किसीका कुछ भी करनेमे कोई समर्थ नही है, उपस्थित वस्तु स्वतंत्र है, उसकी जो अवस्था होना होती है वह उसीसे होती है, उसमे जो अनुकूल निमित्त बनता है उसे निमित्त कहा जाता है, शेष कोई द्रव्य किसी द्रव्यका कुछ भी करनेमे समर्थ नही है। जीव या तो अभिमान करता है, नही तो जानता है कि इसकी अवस्था इसीसे होती है इसमे इस शरीरकी उपस्थिति है। जीव स्वतः अभिमान करता है कि मैं परका कर सकता हूँ और ज्ञान होने पर जानता है कि ज्ञान अतिरिक्त कोई किसीका कुछ नही कर सकता।

घडा बनना हो उससमय कुम्हारका निमित्त होता है, किन्तु न्यायालयमे कुम्हार नही होता घडा बननेमे वकील नही होता, इसप्रकार जिस कार्यमे जो निमित्त अनुकूल पडे उस निमित्तकी उस कार्यके समय उपस्थिति होती है। मैं किसीको समझा दूँ ऐसा अभिप्राय बिल्कुल मिथ्या है। जब सामनेवाले जीवमे समझनेकी योग्यता हो तव तेरा निमित्त मिलता है। यह बात सर्वज्ञ भगवानके घरकी है, कोई इसमे परिवर्तन करना चाहे तो नही हो सकता।

कितने ही लोग कहते हैं कि मैंने बीमारके लिये दवा ला दी, वैद्यको बुला दिया, रक्षाका प्रवन्ध कर दिया, इसलिये ठीक हो गया तो वैसा अभिप्राय बिल्कुल मिथ्या है। बीमारको दवा मिलना थी,

वैद्यको आना था, इसलिये तेरा निमित्त उसे मिला। कही बीमारके पुण्योदयने तुझे शुभ इच्छा और तेरे शरीरकी क्रिया नही करादी है; दवा लानेका विकल्प तुझे स्वत. से ही अपने रागके कारण आया है, परन्तु सामनेवालेके पुण्योदयका और तेरे रागका निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध हो जाता है, इससे ऐसा कार्य वन जाता है।

जातिको, देशको अथवा किसी भी वाह्यको व्यवस्थित रखना तेरे हाथकी बात नही है, उन सवको व्यवस्थित रहना हो तो अपने आप ही रहते हैं, उसमे यदि तेरा निमित्त वनना हो तो बनता है। मकानका बन्दोवस्त करना रक्षरण करना तेरे हाथकी वात त्रिकालमे नही है, तुझे उन पर राग है इसलिये उनकी रक्षाका विकल्प आता है, परन्तु रक्षा होना–न होना तेरे हाथकी बात नही है, घरमे सव व्यवस्थित रहना हो तव तेरे विकल्पको निमित्त कहा जाता है, किन्तु उनकी व्यवस्था पुद्गलद्रव्यके स्वतंत्र परिणमनके कारण ही रहती है उसमें तेरी ममता कुछ करती हो—ऐसा तीनकाल–तीनलोकमे भी नही है। तेरे ममत्वके भाव तुझमे और पुद्गलका परिणमन उसमे, दोनो भिन्न–भिन्न स्वतत्र परिणमित होते है।

पुनश्च, अज्ञानी जीव कहता है कि यदि हम वाल–वच्चोकी अच्छी तरहसे सार–सँभाल करें तो वे अच्छे होते हैं, घरमे अच्छी गाय या भैंस रखकर वच्चोंको घरका दूध–दही खिलाएँ तो शरीर तन्दुरुस्त हो—ऐसा अज्ञानी मान रहा है किन्तु यह उसकी मूढता है। किसीके अवस्था किसीके आधारसे रहती होगी ? वच्चोका शरीर अगर स्वस्थ–सुन्दर होना हो तो अनुकूल निमित्त प्राप्त होते हैं, निमित्त कहीं शरीरको स्वस्थ नही वना देते। वही दूध प्रतिदिन खाता हो किन्तु असाताका उदय हो तो वे निमित्त उसे प्रतिकूल परिणमित होते हैं, इसलिये दूध–दही कही शरीरको मजवूत नही कर देते, परन्तु जैसा साता या असाताका उदय हो वैसा होता है। इसलिये सिद्ध हुआ कि एक द्रव्यका कर्ता दूसरा द्रव्य नही है। इसप्रकार किसी द्रव्यका कर्ताकर्म सम्वन्ध किसी दूसरे द्रव्यमे नही है। ८०–८२।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवको अपने ही परिणामोंके साथ कर्ताकर्मभाव और भोक्ताभोग्यभाव है—ऐसा अब कहते हैं:—

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥

निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति ।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम् ॥८३॥

अर्थ:—निश्चयनयका ऐसा मत है कि आत्मा स्वत को ही करता है और फिर स्वत को ही भोगता है, हे शिष्य ! तू ऐसा जान ।

निश्चयनय अर्थात् सच्ची दृष्टिका ऐसा अभिप्राय है कि आत्मा अपने राग–द्वेष, हर्ष–शोकके भावोको करता है और भोगता है, परन्तु शरीर–दूध–दही आदिको नही भोग सकता—जडको नही भोग सकता—ऐसा हे शिष्य तू जान । यहाँ 'जानने' पर भार दिया है । मैं परका कर्ता भोक्ता हूँ ऐसा मानना अज्ञानी जीवोका भ्रम है ।

हर्ष–शोकादिके शुभाशुभ भावोको स्वत· करता है, कर्म नही करा देते । कोई कहे कि तृष्णा कम करनेका भाव हमारे पुण्यमे होगा तो तृष्णा कम होगी, यह बात बिल्कुल मिथ्या है । वर्तमानमे पुरुषार्थ करके तृष्णा कम कर सकता है । तृष्णाको घटाना पुण्यके आधारसे नही है किन्तु अपने ही आधार पर है । जिनके स्वतः को पैसा रखनेकी ममता लगी हो और एक पैसा भी न छूट सकता हो वे ऐसी पुण्यकी ओट लेकर बचाव करते हैं, जो कंजूसका पुतला हो वह कर्मका दोष निकालता है, तथापि जब घरमे स्त्रीको सिंगारनेका भाव होता है उससमय कर्मका दोष क्यो नही निकालता ? परन्तु जो वह माँगे उसे जल्दी जाकर रुचिपूर्वक लाता है, क्योकि वहाँ पर उसे रुचि है और देव, गुरु, शास्त्रमे रुचि नही है इससे पुण्यकी ओट लेता है । जिनके देव, गुरु, शास्त्रकी रुचि है, भक्ति है, वे उनकी शोभामे वृद्धि करनेके लिये अपनी तृष्णा घटानेको उत्साहित हो जाते हैं । अशुभपरिणामोंसे शुभपरिणाम करना अपने हाथकी बात है ।

कितने ही लोग कहते हैं कि जव सत्समागम होना होगा तव हमे शुभविकल्प आयेगा, परन्तु भाई ! वैसा नही है। सत्समागम अपनेको शुभविकल्प नही ला देता क्योकि दोनो द्रव्य स्वतंत्र–भिन्न हैं। स्वतः पुरुषार्थके द्वारा अशुभपरिणामोंमेसे शुभपरिणाम कर सकता है। विनय, भक्ति, शास्त्र-स्वाध्याय, सत्समागमके शुभपरिणाम जव स्वतः पुरुषार्थ करता है तव होते हैं, जव स्वतः सत्समागमकी जिज्ञासा करे तव पुण्योदयसे सत्समागमकी प्राप्ति होती है। या तो पूर्वके उदयसे प्राप्ति होती है या वर्तमानमे स्वत. सत्समागमके भाव किये इससे पुण्यवध होता है अर्थात् तू इसलिये भाव कर जिससे सत्समागमकी प्राप्ति हो, भावोका और पुण्योदयका निमित्त–नैमित्तिक सम्वन्ध है। इससे शुभभाव करना तेरे हाथकी वात है, पूर्व कर्म शुभभाव नही करा देते।

अनेक जीव मार्गको जाने विना मिथ्याध्यानमे लीन रहते है और फिर कहते हैं कि हमारे शुभकर्मका उदय हो तव शुभपरिणाम आते हैं और जव अशुभकर्मका उदय हो उससमय अशुभपरिणाम आते हैं परन्तु यह वात विल्कुल मिथ्या है। अशुभपरिणाम भी अपने विपरीत पुरुषार्थसे होते हैं और शुभपरिणाम भी, यदि अशुभमे से शुभपरिणामोमे आनेका पुरुषार्थ स्वतः करे तव होते हैं।

ज्ञानी शुभाशुभ परिणामोका कर्ता नही, किन्तु मात्र ज्ञाता है; तथापि अशुभपरिणामोसे वचनेके लिये पुरुषार्थ द्वारा शुभपरिणामोमे रहता है, इससे पर्यायदृष्टिसे उसे शुभपरिणामोंका कर्ता भी कहा जाता है। कर्तृत्वबुद्धि नही—स्वामित्व बुद्धि नही है, तथापि अस्थिरताके कारण अशुभपरिणामोंसे बचनेके लिये शुभपरिणामोमें वीर्य युक्त होता है इससे परिणमन अपेक्षा दृष्टिसे अस्थिरताका कर्ता ज्ञानीको कहा जाता है। वाह्यमे व्यापार–धन्धा, मकान बनवाना, मन्दिर स्थापित करना–इत्यादि कार्यो सम्वन्धी विकल्प ज्ञानीको आते हैं इससे असद्भूत व्यवहारनयसे उसे उन सभी कार्योका कर्ता कहा जाता है, तथापि द्रव्यदृष्टिसे ज्ञानी उनका कर्ता नही है; जो-जो विकल्प उठते हैं और कार्य होते हैं उनका

मात्र ज्ञाता ही है। श्रद्धा और ज्ञानका परिणमन अकर्ताभावसे होता ही रहता है।

ज्ञानीको अस्थिरताका कर्ता कहना और जडका कर्ता कहना उन दोनोमे अन्तर है, क्योकि अस्थिरता तो चैतन्यकी पर्यायमे होती है इसे वह तो किसी अपेक्षासे चैतन्यकी की हुई कही जा सकती है परन्तु जडका कर्ता कहना तो बिल्कुल उपचार है। असत्यार्थ है।

कितने ही मनुष्य कहते है कि पूर्वसस्कार हो तो धर्म कर सकते हैं, तो पूर्व भवमे भी धर्मका प्रारम्भ करनेवाला तो तू ही था न ? और वर्तमानमे पूर्व सस्कारोको याद करनेवाला भी तू ही है न ? इससे सिद्ध हुआ कि पुरुषार्थ करनेवाला जब पुरुषार्थ करता है तो वर्तमानमे ही करता है, पुरुषार्थ वर्तमानमे ही होता है। पूर्व सस्कारोको प्रगट करनेवाला वर्तमान नये पुरुषार्थसे ही उन सस्कारोको प्रगट करके आत्माकी शुद्ध निर्मल पर्यायको प्रगट करता है।

यह नासमझ तो सभी जगह पूर्व-पूर्व ही ले बैठा है। धर्मकी बातमे भी यदि पूर्व संस्कार हो तो धर्म होता है, और शुभपरिणामोमे भी अगर पूर्वका पुण्य हो तो शुभपरिणाम होते हैं—इसप्रकार पुरुषार्थका आलसी सभी जगह पूर्व-पूर्व लेकर बैठा है। किन्तु भाई ! धर्म, पुण्य और पाप जो भी होते हैं वे सब तेरे पुरुषार्थसे ही होते हैं, कर्म बलात् नही करा देते।

वीतराग देव कहते हैं कि हे शिष्य ! तू परवस्तुको नही भोग सकता परन्तु परवस्तुकी ओरके रागको भोगता है अथवा तो परवस्तुकी ओरके द्वेषको भोगता है। कोई कहे कि हम मिष्टान्न और फलादि खा सकते है। सुन भाई ! क्या तेरे आत्मामे मिष्टान्न और फल घुस गये है ? यदि वे आत्मामे प्रवेश कर गये हो और आत्मा उनमे एकमेक हो गया हो तो आत्माने मिष्टान्न और फल खाये हैं—ऐसा कहा जाये, परन्तु आत्मामे तो वे प्रवेश करते नही हैं, वे तो मुँहसे पेटमे जाते हैं और पेटसे विष्टारूपमे बाहर निकल जाते है, फिर इसमे

तूने क्या उपभोग किया ? तूने मिष्टान्न और फलोके रागको ही भोगा है परन्तु तू परवस्तुको भोग ही नही सकता।

आचार्यदेव कहते हैं कि तेरी दृष्टि परके ऊपर है इसलिये तुझे ऐसा लगता है कि मैं परका उपभोग करता हूँ; किन्तु तुझमे रस नही है, गध नही है, स्पर्श नही है, वर्ण नही है, तथापि परोन्मुखताके कारण तुझे भ्रम हो गया है कि मैं इस वस्तुको भोगता हूँ। परन्तु भाई ! रूपीवस्तु तेरी अरूपी वस्तुमे प्रवेश कर भी सकती है ? तीनकाल और तीनलोकमे प्रवेश नही कर सकती, और इसीलिये रूपीवस्तुको अरूपी भोग ही नही सकती, मात्र परवस्तुके प्रति होनेवाले अपने रागका ही स्वतः उपभोग कर सकता है।

जैसे समुद्रकी तरंगित और निस्तरंग अवस्थाओको पवनका वहना और न वहना निमित्त होने पर भी पवनके और समुद्रके व्याप्य-व्यापक भावके अभावके कारण कर्ता-कर्मपनेकी असिद्धि है।

तरंगित अर्थात् जिसमे तरगे उठती हैं—समुद्रमे जो लहरें उठती हैं वह, और निस्तरग अर्थात् जिसमे लहरें विलीन हो गई हों—समुद्रमे लहरोका समा जाना। उस समुद्रमे लहरो के उठनेमें पवनका निमित्त है और लहरोंके समा जानेमे पवनका न होना अभावरूप निमित्त है, पानी पवनमें प्रवेश नही करता और पवन पानीमें प्रवेश नही करती। पवन यदि पानीमे लहरोको उठाती है तो इस धरतीमे भी लहरोंको उठा दे, किन्तु वैसा नही होता, इसलिये लहरोका उठना—वह समुद्रकी अपनी योग्यता है, पवनने लहरोको उत्पन्न नही किया किन्तु लहरें उठनेके समय पवनकी मात्र उपस्थिति है। पानीमे लहरोंके उठने और समा जानेमे पवनका निमित्तमात्रपना है तथापि समुद्रमे और पवनमे व्याप्यव्यापकपनेकी असिद्धि होनेसे कर्ताकर्मपना नही है।

कोई कहे कि जब तूफान आता है तो पेड़ और मकान गिर पडते हैं न ? तूफानने मकानको अथवा वृक्षको नही गिराया है, उस मकान या वृक्षमे जब गिरनेकी योग्यता हो गई हो उससमय उसे

निमित्त मिल जाता है, मकानका गिरना या स्थिर रहना मकानके स्वतत्र स्वभावानुसार होता है उसमे अन्य कोई कुछ नही कर सकता।

जव भूकम्प आता है तव एक ही साथ अनेक मनुष्य मर जाते हैं यह कैसे ? यह इसप्रकार है कि जव सभी की आयु एक ही साथ पूर्ण होना हो उससमय भूकम्प होता है, जहाज डूब जाता है, निमित्त कुछ करता ही नही फिर क्या ? उन प्रत्येककी आयु पूर्ण होनेका उपादान तैयार हो गया हो तो निमित्त मिल जाता है।

इसप्रकार जव समुद्र स्वतः अपनेमे हिलोरे मार रहा हो उससमय पवनका मात्र निमित्तपना होता है। देखो 'मात्र' कहा है, अर्थात् निमित्त परमे विल्कुल अकिंचित्कर है—कुछ भी करनेमे समर्थ नही है। समुद्र स्वतः ही अपनेमे अन्तर्व्यापक होकर तरंगित अथवा निस्तरग अवस्थाके आदि–मध्य–अन्तमे व्याप्त होकर अपनेको उस अवस्थारूप करता हुआ—स्वत को ही करता हुआ प्रतिभासित होता है किन्तु अन्यको करता प्रतिभासित नही होता।

समुद्र अपनेमे ही हिलोरें लेता हुआ प्रतिभासित होता है परन्तु पवन लहरोको करता हुआ प्रतिभासित नही होता। समुद्र स्वतः अपनेमे व्याप्त होकर, स्वत॰ अपनेमे ही परिणमित होकर, अपनी हिलोरोरूप अवस्थाको करता दिखाई देता है, समुद्र अपनी अवस्थाको उत्पन्न करता हुआ और उसे विलीन करता हुआ दिखाई देता है किन्तु अन्य किसीकी अवस्था करता दिखाई नही देता।

पुनश्च, वही समुद्र, भाव्यभावक भावके अभावके कारण परभावका परके द्वारा अनुभवन करना अशक्य होनेसे, स्वतः का तरगित अथवा निस्तरग रूप अनुभवन करता हुआ स्वत. एकका ही अनुभवन करता प्रतिभासित होता है परन्तु अन्यका अनुभवन करता हुआ प्रतिभासित नही होता।

आचार्यदेवने दृष्टान्तमे भी कैसा कर्ता–भोक्ता भाव अवतरित कर दिया है कि—समुद्र भी अपनी उत्पाद और व्ययकी अवस्थाको भोगता है, भोगता हुआ दिखाई भी देता है, वह परकी अवस्थाको नही

भोगता, तव फिर जीव तो परको भोगेगा ही कैसे ? आचार्यदेवने अवाधित न्याय ही कर दिया है कि परभावका परके द्वारा भोगना अशक्य है अर्थात् भोगा ही नही जाता; पश्चात् चाहे जो वस्तु दृष्टान्तमें अथवा सिद्धान्तमे आये किन्तु परको पर नही भोग सकता—यह न्याय सभी मे अखण्ड रहा और स्वत. अपनी अवस्थाको भोग सकता है—यह न्याय सिद्ध हुआ।

उसीप्रकार ससार और निःसंसार अवस्थाओको पुद्गलकर्मके विपाकका सम्भव और असम्भव निमित्त होने पर भी पुद्गलकर्मको और जीवको व्याप्यव्यापक भावके अभावके कारण कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि है।

चौरासी लाखमे परिभ्रमण करनेका भाव सो संसारभाव और चौरासी लाखमे परिभ्रमणके भावका अभाव सो नि.ससार अर्थात् मोक्षकी निर्मल अवस्थारूप भाव। जव आत्मा क्रोध—मान—माया—लोभादिके भाव करता है तव पुद्गलकर्मके उदयका निमित्त होता है। जैसे पवनके निमित्तसे पानीमे हिलोरें नही उठती वैसे ही कर्मके निमित्तसे ससार नही है। दुनियाँ कहती है कि कर्म हैरान करते हैं, संसारमे जो अनादिसे भटक रहे हैं वह कर्मोका ही कारण है, उस वातको आचार्यदेव यहाँ निकाल रहे हैं कि कर्मोका तो मात्र निमित्त-पना है किन्तु तू अपने भावोंके कारण ही भटका है। 'हाँ', आत्मामे जव रागद्वेष भाव हो उससमय कर्मके फलका आना निमित्त है और जव आत्मामे वीतरागदशा प्रगट हो उससमय कर्मका अभावरूप निमित्तपना है।

स्त्री-वच्चे अथवा कुटुम्वको संसार नही कहा जाता किन्तु शुभाशुभ परिणामोंको अपना माने और यह माने कि उनसे मेरा हित होगा, तो वह मिथ्या भाव ही संसार है। ससारदशा कर्मोंके कारण है—ऐसा नही है और कर्मोका अभाव होनेसे मोक्षदशा होती हो—वैसा भी नही है, परन्तु आत्माकी पर्यायमे मिथ्या अभिप्रायरूप मिथ्यात्वभाव-ही संसार है और विकार रहित सर्वथा निर्मलताका नाम मोक्षदशा है।

जब मोक्षदशा प्रगट हो उससमय कर्मोका अभाव होता ही है परन्तु कर्मोंका अभाव उनके अपने कारणसे होता है और आत्माकी मोक्षदशा अपने कारणसे होती है। उसीप्रकार मिथ्यात्वभावरूप ससार-अवस्थामे कर्मोका उदय होता ही है परन्तु कर्मोंका उदय उनके अपने कारणसे और आत्मामे विकारी अवस्थारूप ससारभाव आत्माके कारण होता है। एक दूसरेके निमित्त–नैमित्तिकपना होने पर भी कर्ताकर्मपना नही है।

पुद्गलकर्मको और जीवको व्याप्यव्यापकभावके अभावके कारण कर्ताकर्मपनेकी असिद्धि होनेसे, जीव ही स्वतः अन्तर्व्यापक होकर ससार अथवा मोक्ष अवस्थाके आदि–मध्य–अन्तमे व्याप्त होकर ससंसार अथवा निःससार अपनेको ही करता हुआ प्रतिभासित हुआ।

आत्मा स्वतः ही परपदार्थको अपना मानकर रुका है, ऐसा माननेमे भी आत्माका अपना ही व्यापकपना है, कर्मका व्यापकपना उसमे नही है। उसीप्रकार मोक्ष अवस्थाके होनेमे भी आत्माका ही व्यापकपना है, स्वत सम्यक्श्रद्धा की, उसमे स्थिरता की और पूर्णदशा प्रगट की उसमे भी आत्माका ही व्यापकपना है, कर्मके अभावका व्यापकपना उसमे नही है, कर्मके अभावका व्यापकपना कर्ममे है, आत्मामे नही है, दोनोके कार्य भिन्न है।

अपने अवगुणके अभावसे मोक्ष, और अवगुणके सद्भावसे संसार है। कामराग, दृष्टिराग, मानराग इत्यादि समस्त राग जब स्वत करता है तब होते हैं इसलिये वह कर्मका कार्य नही है किन्तु आत्मा अज्ञान-भावसे उसका कर्ता है, और ससारदशा उसका कार्य है। ज्ञानदशामे निर्मल अवस्थाका कर्ता आत्मा है और मोक्षदशारूप उसका कार्य है।

कर्मका सद्भाव सो कारण और रागद्वेषके भाव होना सो कार्य—ऐसा नही है, किन्तु स्वत अज्ञानभावसे शुभाशुभ भावोका कर्ता हुआ और शुभाशुभभाव कार्य हुआ। उसीप्रकार जडकर्मका अभाव होनेसे मोक्षदशारूपी कार्य नही हुआ है किन्तु ज्ञानभावसे मोक्षकी

निर्मल पर्यायका कर्ता आत्मा है और मोक्षकी निर्मल पर्याय हुई वह आत्माका कार्य है ।

आत्माने जब स्वतः राग-द्वेषके भाव किये तब कर्मका सम्भव कहलाया और स्वतः जब राग-द्वेषको दूर किया तब कर्मका असम्भव कहलाया। भगवान आत्मा स्वतः ही अपनेको भूलकर ससार भाव करता है और स्वय ही अपने को जानकर संसारभावोंको दूर करके नि ससारभाव करता है, इसलिये आत्मा स्वयको—एकको ही करता हुआ प्रतिभासित हुआ, किन्तु अन्यको करता प्रतिभासित नही हुआ ।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई ! तू ऐसा समझ कि अपने भावोका कर्ता मै हूँ—ऐसा मुझे प्रतिभासित हुआ है किन्तु कर्मने मेरे भाव किये हैं—वैसा मुझे प्रतिभासित नहीं हुआ है; मैं स्वतः ही अपने भावोंको अनुकूल–प्रतिकूल करता हूँ, ऐसा ही मुझे प्रतिभासित हुआ है परन्तु कर्म मुझे अनुकूलता प्रतिकूलता कराते है यह प्रतिभासित नही हुआ है ।

यहाँ पर आचार्यदेव कहते हैं कि तू ऐसा समझ कि मैं पृथक् हूँ, यदि ऐसा नही समझा तो निवृत्त नही हो सकेगा । तेरे ही हाथमे संसार है और तेरे ही हाथमे मोक्ष है, ससार अथवा मोक्ष तेरे हटानेसे हटते हैं और तेरे ही स्थित रखनेसे रहते हैं, उसमे कर्म–फर्म कुछ भी नही कर सकते ।

अन्ध श्रद्धासे हाँ मत कहना, किसीकी हाँ मे हाँ मिलानेसे वह हाँ स्थिर नही रहती इसलिये यथार्थ समझनेका प्रयत्न करना चाहिये । अरे ! यदि एक यही बात पकडले कि अपने अवगुणों और गुणोका कर्ता मैं ही हूँ तो भी कितनी ही अकुलाहट दूर हो जाये । जैसे आत्मा परका कर्ता नही है उसीप्रकार परका भोक्ता भी नही है— अब कहते हैं ।

जैसे कर्ता नही है, उसीप्रकार यह जीव भाव्यभावकभावके अभावके कारण परभावका परके द्वारा अनुभवन करना अशक्य होनेसे, अपनेको ससार अथवा मोक्षरूप अनुभव करता हुआ अपना–एकका ही

अनुभवन करता हुआ प्रतिभासित हुआ, परन्तु अन्यका अनुभवन करता प्रतिभासित नही हुआ।

तू भावक और जडकी अवस्था तुझे भाव्य हो अर्थात् भोगनेमे आये–ऐसा नही होता, क्योकि परके द्वारा परका भोगना अशक्य है अर्थात् नही बन सकता। इसमे सारी बात आ गई कि खाना–पीना, कपडे, गहने इत्यादिको भोगना—परवस्तुसे परवस्तुका उपभोग कराना कभी बन ही नही सकता। ससार अवस्थामे जीव राग-द्वेष, हर्ष-शोक, विकारी विभाव भावोको भोगता है और मोक्षदशामे अपनी पवित्र, निर्मल वीतरागताको भोगता है—ऐसा अनुभवन करता हुआ अपना–एकका ही अनुभवन करता प्रतिभासित हुआ परन्तु अन्यका अनुभव करता प्रतिभासित नही हुआ।

आत्मा शुभभावोको करता है और उन्हे भोगता है, आत्मा जडकर्मोंको न तो कर सकता है और न भोग ही सकता है। जडकर्म आत्मासे भिन्न वस्तु है इसलिये आत्मा न तो उनका कर्ता है और न भोक्ता ही।

जब राग-द्वेष और हर्ष-शोक हो उससमय बाह्य वस्तु अर्थात् कर्म निमित्त होते हैं, इससे ऐसा कहना कि कर्मोंको भोगता हूँ—बाह्य वस्तुको भोगता हूँ वह व्यवहारी लोगोका व्यवहार है।

छीक अपने लेनेसे नही आती, जम्हाई अपने करनेसे नही होता, जम्हाई खानेकी शक्ति चैतन्यमे नही है। छीक, खाँसी या आलस्य आना, वह अनन्त रजकणोंके पिण्डकी पर्याय है। खाँसी आये या आलस्य आये उससमय जीवकी मात्र उपस्थिति होती है किन्तु वह क्रिया रजकणकी होती है, रजकण खाँसीरूपमे और आलस्यादिके रूपमे परिणमित होते हैं उससमय जीवकी मात्र उपस्थिति होती है इससे उसे ऐसा लगता है कि मैंने आलस्य खाया है, मुझे खाँसी आई है, किन्तु भाई! वह तो रजकणकी क्रिया है, वह क्रिया तेरी नही है। कोई कहेगा कि मुर्देको खाँसी या जम्हाई क्यो नही आती ? तो उसका समाधान यह है कि उसके पास कर्म नही हैं। जो छीक–जम्हाई आती

थी वह शरीरके रजकणके स्वतंत्र कारणसे आती थी परन्तु कर्मका उनमे निमित्तपना था; वह निमित्तपना भी गया और शरीरके रजकणोंकी योग्यता भी उससमय वैसी नही रही ।८३।

चैतन्य भगवान अरूपी वस्तु है वह अपने अज्ञान भावसे राग-द्वेषके भावोंको भोगता है किन्तु राग-द्वेषके निमित्तको भोगता है—ऐसा व्यवहारनयका कथन है । अव, व्यवहार दर्शाते हैं —

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेइ णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम् ।
तच्चैव पुनर्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥८४॥

अर्थः—व्यवहारनयका यह मत है कि आत्मा अनेकप्रकारके पुद्गलकर्मोको करता है और फिर उन्ही कर्मोको भोगता है ।

अनादिके अज्ञानियोका यह प्रसिद्ध व्यवहार है कि जडकी क्रिया होनेमे और जड़के उपभोगमें जीव स्वतः है, इससे स्वतः ही उसका कर्ता-भोक्ता है । पराश्रयदृष्टिवालोका ऐसा मत है कि पुद्गल-कर्मको और वाह्य परवस्तुको मैं करता हूँ तथा मैं भोगता हूँ, किन्तु वैसी दृष्टि सत्यकी हत्या करनेवाली है । आत्मा विकारी या अविकारी भावोंको भले ही करे किन्तु उससे जड़का कुछ करे या भोगे—ऐसा नही हो सकता । गादी—तकिया लगा हो, ऊपरसे पंखा फिर रहा हो, उससमय कहते हैं कि गादी—तकिया और पंखाका उपभोग हो रहा है, किन्तु उन्हे कोई नही भोग सकता, मात्र अपने राग-द्वेषको भोगते हैं । जैसे पखेमे चार पाँखड़े होते हैं वैसे ही चारगतिरूप चार पाँखड़े है । उन चार गतियोमे भटकनेका वह आनन्द मानता है ।

जैसे, मिट्टी स्वतः घड़ेके अन्तरमें प्रवेश करके घडेकी रचना करती है, उसे उत्पन्न करती है, बनाती है और भाव्यभावक भावसे मिट्टी ही घडेका उपभोग करती है । कुम्हार न तो घड़ेको बनाता है और न उसका उपभोग ही करता है । जैसे मिट्टी रूप धूल उसमे प्रवेश

करके—व्याप्त होकर घडारूप उत्पन्न होती है, वैसे ही कुम्हार कही घडारूप होकर उत्पन्न नही होता। जब घडेकी रंगत एक सी नही रहती तब कहते हैं कि घडा घिस गया है, अर्थात् मिट्टीके रजकरण नये-पुराने होते हैं इससे ऐसी अवस्था होती है, नयेमे से जो पुरानी अवस्था होती है वह मिट्टीकी ही है और घडेमे ही वह अवस्था होती है अर्थात् मिट्टी ही घडेको भोगती है, तथापि बाह्यमे कुम्हार घडेके होनेमे अनुकूल था, मिट्टीके रजकरणोमे कुम्हारके हाथ प्रवेश नही कर गये थे। हाथके स्वभावसे-गुणोंसे घडा नही हुआ है किन्तु मिट्टीके गुणोंसे घडा हुआ है। कुम्हारका निमित्त है इससे कुम्हारने घडा बनाया है—ऐसा अनादिके अज्ञानीका प्रसिद्ध व्यवहार है। अज्ञानीको ऐसा हो गया है कि कुम्हार हो तो घडा हो सकता है। हाँ, कुम्हार घडा बनानेकी इच्छा करता है और हस्तादिकी क्रिया करता है वह कुम्हारमे अपनेमे ही होती है, यहाँ पर कुम्हारका शरीर और आत्मा सबको एकत्रित करके बात की है क्योकि यहाँ तो दृष्टान्त जितनी बात है, कुम्हारको मिट्टीके घडेसे पृथक् करनेका ही प्रयोजन है, कुम्हारके शरीरकी और आत्माकी बात यहाँ नही लेना है। कुम्हारके आत्माने घडा बनानेकी इच्छा की और प्रदेशका कम्पन हुआ उसका वह कर्ता है, इच्छानुकूल हस्तादिकी क्रिया हुई वह कुम्हारके आधारसे हुई किन्तु मिट्टीके आधारसे नही हुई। इसप्रकार कुम्हार और मिट्टी दोनो भिन्न हैं—ऐसा इस गाथामे बतलाया है।

घडा होनेमे अनुकूल इच्छारूप क्रिया और हाथके चलनेकी क्रिया कुम्हारमे स्वत मे होती है, निमित्तकी अवस्था निमित्तमे होती है और मिट्टीकी अवस्था मिट्टीमे होती है, घडेके सभवको अर्थात् होनेको अनुकूल वह निमित्तमात्र है किन्तु उसका कर्ता कुम्हार नही है। जब घडा बनना हो उससमय कुम्हारकी उपस्थिति होती है वह उसे अनुकूल निमित्त कहलाता है, और जब घडा फूटनेकी अवस्था उसके अपने कारणसे होना होती है तब कोई पत्थर आदि निमित्त समीप हो वे घडा फूटनेके अनुकूल है।

आचार्यदेव कुम्हारका दृष्टान्त देकर कहते हैं कि हे भाई ! तू परका स्वामी मत हो ! तू कुम्हार मत बन, किन्तु स्वतंत्र हो ! वैसा स्वतन्त्र होना कहते हैं। यदि तू परका कर्ता हुआ तो तेरी अवस्थाका कर्ता भी कोई अन्य हुआ और वे अन्यका कर्ता तीसरा कोई हुआ इससे तू पराश्रित हुआ और अन्य सब पराश्रित हुआ क्योकि जब तू परकी अवस्था करता है तो फिर तेरी अवस्था भी कोई दूसरा करेगा, दूसरे की क्रिया कोई तीसरा करेगा, इसलिये परका कर्तृत्व छोड दे और स्वतंत्र हो जा ! समस्त वस्तुएँ सदा स्वतंत्र ही हैं।

कुम्हार, घडेके सम्भवको अनुकूल अपने व्यापारको करता हुआ और मिट्टीके व्यापारको न करके, घड़े द्वारा किये गये पानीके उपयोगसे उत्पन्न हुई अपनी तृप्तिको भाव्यभावक भाव द्वारा भोगता है परन्तु घडेको नही भोगता। घडेमे भरे हुए पानीके उपयोगसे अपनी तृप्तिको भोगता है, तथापि कुम्हार घड़ेको भोगता है, घडेका कर्ता है–ऐसा रूढि–व्यवहार कथन लोगोका अनादिसे है। निमित्तकी मुख्यतासे कथन होते हैं परन्तु कार्य कभी नही होते कार्य तो स्वतंत्र कर्ताके आश्रयसे होते हैं; यह त्रिकाल नियम है।

घड़ा तो मिट्टीने ही किया है परन्तु उसमें कुम्हारके हस्तादिकी क्रिया अनुकूल निमित्तरूप हुई वहाँ लोगोकी निमित्ताधीन दृष्टि होनेसे, कुम्हारने घड़ा बनाया—ऐसा कथन रूढ़िव्यवहार अनादिसे चला आ रहा है। पुनश्च, घडेको तो मिट्टी ही भोगती है परन्तु घडेके द्वारा कुम्हारने पानी पीनेके तृप्ति भावका उपभोग किया वहाँ निमित्ताधीन दृष्टिवाले अज्ञानियोका व्यवहार ऐसा हो गया कि कुम्हारने घड़ेका उपभोग किया ऐसा रूढ़िव्यवहार चला आ रहा है।

जब अज्ञानी जीव असाध्य हो जाता है उससमय उसके मुँहमे कोई भी खानेकी अच्छी वस्तु डालो तो भी वह असाध्य होनेसे–उसे कुछ भी खबर न होनेसे तृप्ति नही होती, परन्तु यदि स्वस्थ मनुष्यके मुँहमे वह वस्तु डाले तो उसे तृप्ति होती है। उसे होश था इसलिये रागसे तृप्ति हुई वैसा जाना। तृप्ति होने–न होनेमे ज्ञानको खबर हो

तो रागसे संतुष्ट होता है, किन्तु किसी अन्य वस्तुसे सन्तुष्ट होता है— ऐसा नही है। उसीप्रकार कुम्हार भी अपने रागसे सन्तुष्ट हुआ है किन्तु घडेके ठण्डे पानीसे उसे सन्तोष नही हुआ है।

इसप्रकार पुद्गलद्रव्य स्वतः व्याप्यव्यापकभावसे कर्मको करता है, और वही कर्मको भोगता है, अर्थात् पुद्गल द्रव्य स्वत कर्मरूप परिणमित हुआ, वह उसका कर्तृत्व है और पुद्गल कर्म उदयमे आकर खिर जाता है वह उसका भोक्तृत्व है, तथापि बाह्यमे व्याप्यव्यापक-भावसे अज्ञानके कारण पुद्गलकर्मके सम्भवको अनुकूल (अपने रागादिक) परिणामोको करता हुआ और पुद्गलकर्मके विपाकसे उत्पन्न हुई जो विषयोकी निकटता है उससे उत्पन्न हुई (अपनी) सुख-दु खरूप परिणतिका भाव्यभावकभाव द्वारा अनुभवन करता—उपभोग करता हुआ जीव पुद्गलकर्मोको करता है और भोगता है—ऐसा व्यवहार अज्ञानियोका अनादि ससारसे है।

कोई भी आत्मा अज्ञानभावके कारण भी पुद्गलद्रव्यमे व्याप्त नही हो सकता किन्तु पुद्गल द्रव्य मेरी वस्तु है—ऐसी परवस्तुमे अपनेपनकी बुद्धिरूप विपरीत मान्यता स्वय करता है सो व्यापक और जो राग-द्वेषकी अवस्था हुई वह व्याप्य है। अज्ञान—परके ग्रहणका भाव व्यापक है और उसके कारणसे होनेवाली रागद्वेषकी अवस्था व्याप्य है। ज्ञानीके स्वकी पकड है इसलिये उसमे से निर्मल पर्यायरूप व्याप्य प्रगट होता है।

पुद्गलकर्मके विपाकसे उत्पन्न हुई विषयोकी जो निकटता है उससे उत्पन्न हुई सुख—दु खरूप परिणति भोगता हुआ अर्थात् इसमे ऐसा है कि पुद्गलकर्म द्वारा बाह्य सामग्री एकत्रित हुई वह विषयोकी निकटता हुई, धन, कुटुम्बादि अनुकूल सामग्रीका सयोग हुआ। उससे मुझे सुख—दु:ख होता है ऐसा मानता है इसलिये विषयोसे उत्पन्न हुई सुख—दु खरूप परिणति—ऐसा यहाँ कहा है। अज्ञानीको बाह्य अनुकूल वस्तुएँ देखकर कल्पना होती है कि यह वस्तु ठीक है, यह अच्छा है इससे मुझे सुख होता है, और अपनी इच्छासे विरुद्ध बाह्य वस्तु देखकर

ऐसी कल्पना करता है कि यह मुझे ठीक नही है, इससे मुझे दुःख होता है। परन्तु भाई ! यह तो कर्मका फल है, वह कर्मका फल कर्ममे रहा है, तुझमे नही है। यह सुख-दुःख कर्मके फलमे से नही आता किन्तु अपनी अज्ञानताके कारण तू ऐसी कल्पना करके, सुख-दुःख बाह्य वस्तुमे से आता है, ऐसा मानकर, सुख-दुःखका वेदन करता है।

कर्मके फलके कारण बाह्य शरीर, कुटुम्बादि सामग्री एकत्रित हुई है, उसे आचार्यदेवने 'विषयो की निकटता' कहा है। उन विषयो की निकटता से मुझे सुख-दुःख होता है ऐसा अज्ञानी मानता है। वास्तवमे तो अज्ञानी अपनी भाव्यभावकभावकी अवस्थाको ही भोगता है और करता है, तथापि उसकी दृष्टि बाह्य होने से अनादि अज्ञानियो का रूढ़िव्यवहार है कि जड़की अवस्था हम करते हैं।

आचार्यदेव यहाँ यह बतला रहे हैं कि जडकी-परकी अवस्थाको हम करते हैं—ऐसा मानने और कहनेवाले इसीसमय ही है—ऐसा नही है, किन्तु अनादिकालसे हैं, अज्ञानियोका अनादि संसारमे परिभ्रमण करनेके भावसे निमित्तको कर्ता माननेका निश्चित् हुआ व्यवहार है, यह व्यवहार निमित्ताधीनदृष्टिका है।

आठ प्रकारके कर्मोंके रजकणोको करना अथवा टालना आत्माके हाथकी बात नही है किन्तु अपने रागको दूर करनेसे कर्म उनके अपने कारणसे दूर हो जाते हैं। दोनोके कार्य स्वतन्त्र भिन्न भिन्न है। यह बात कहकर यहाँ यह कहते हैं कि तू अपने भावोको देखना सीख, तूने जैसे विपरीत भाव किये हैं वैसे ही सीधे भाव कर। दुनियाँमे कहावत भी है कि इस हाथसे बाधा और इस हाथसे छोडता है—ऐसा उसका अर्थ है। दुनियाँमे भी कितने ही वास्तविक बोलते है किन्तु उन्हे उसके अर्थकी खबर न होनेसे मात्र बोलते ही जाते हैं। धर्मके बहाने अपने आप धर्म किया मानते हैं।

जीव रागादि करता है जिससे पुद्गलकर्मका बन्ध हो और राग करते समय पुद्गलकर्मकी उपस्थिति होती है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसे देखकर अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो जाता है कि

जीव पुद्‌गलकर्मको करता और भोगता है; किन्तु वास्तवमे जीव पुद्‌गलकर्मको करता और भोगता नही है परन्तु अपने राग-द्वेषको ही करता और भोगता है। यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान करके उसमे स्थिरता करे तो कर्म टल जाते है।

कितने ही जीव कहते हैं कि कर्मके साथ सम्बन्ध अनादिसे चला आ रहा है, उसे कैसे तोडा जा सकता है? किन्तु परमात्म-प्रकाशमे कहा है कि कर्म अनादिके बन्धुरूप हैं उन्हे मुनिजन जला कर भस्म कर देते हैं। जिन्हे आत्माका हित करना हो उन्हे कर्म सम्बन्धको तोडकर आत्माका भान करके, उसमे लीन होकर कर्मोंका क्षय करना चाहिये। ऐसा श्री गुरुका उपदेश है।

जडकी और आत्माकी प्रवृत्ति भिन्न–भिन्न ही है, परन्तु जहाँ तक भेदज्ञान न हो वहाँ तक वाह्रसे एक समान ही दिखाई देती हैं। अज्ञानीको भान न होनेसे उसे जैसा ऊपरसे दिखाई देता है वैसा ही मान लेता है। वास्तवमे प्रत्येक पदार्थकी प्रवृत्ति भिन्न-भिन्न है तथापि वाह्यसे निमित्तकी उपस्थिति होती है उसे कर्ता और भोक्ता मान लेता है, स्वतत्र वस्तु स्थितिको भूलकर स्थूल सयोगमात्रको देखनेवाली बाह्यदृष्टिसे अर्थात् मिथ्यादृष्टिमे जैसा दिखाई दे वैसा ही मान लेता है, उसे श्रीगुरु भेदज्ञान कराके अज्ञानीके इस प्रतिभासको व्यवहार कहते हैं।

जीवोंने बाह्यमे धर्म मान लिया है किन्तु "धर्म वाडीअेन नीपजे, धर्म हाटे न वेचाय, धर्म विवेके नीपजे, जो करीअे तो थाय" लोग यह पद कहते हैं, उसमे भी ऐसा आया कि धर्म सम्यक्‌ज्ञान द्वारा विवेकसे प्रगट होता है; बाह्यक्रियाओसे धर्म नही होता। विवेक अर्थात् परसे पृथक्त्वका यथार्थ ज्ञान, देव-गुरु-शास्त्रसे, कर्मसे, मनसे, वाणीसे, शरीरसे और शुभाशुभपरिणामोंसे अन्य सर्व जीवोसे आत्माका पृथक्-पनेका भान, विवेक अर्थात् परपदार्थ और मेरा आत्मा त्रिकाल भिन्न है, मेरा और परपदार्थोंका त्रिकालमे मेल नही है। ऐसा जानकर ज्ञान स्वरूप आत्माका निर्णय कर स्वसन्मुख होना उसका नाम विवेक है, ऐसे विवेक द्वारा धर्म प्रगट होता है।

आचार्यदेव अज्ञानीके प्रतिभासको व्यवहार कहते हैं, उस व्यवहारका फल चौरासीमे परिभ्रमण करना है। श्रीगुरु भेदज्ञान कराके, जीवका स्वरूप वतलाकर अज्ञानीके अभिप्रायको दोष देते हैं। ८४।

अव इस व्यवहारको दोप देते हैं:—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा।
दोकिरियाविदिरित्तो पसजदि सो जिणावमदं ॥८५॥

अर्थः—यदि आत्मा इस पुद्गलकर्मको करे और उसीको भोगे तो वह आत्मा दो क्रियाओंसे अभिन्न सिद्ध हो—ऐसा प्रसंग आता है—जो कि जिनेन्द्र भगवानसे सम्मत नही है।

आचार्यदेव कहते हैं कि भाई सुन ! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव, परमात्मस्वरूपको प्राप्त देवाधिदेवका ऐसा मत है कि दो द्रव्योकी क्रियाको एक आत्मा नही करता। दो द्रव्योकी क्रियाको करनेका अभिप्राय वीतरागके मार्गसे वाहर है। आत्मा अपने भावको करे और जड़की अवस्थाको भी करे तो वह एक आत्मा दो क्रियाओसे एकमेक हो गया है।

कोई मनुष्य ऐसा कहे कि मैं परद्रव्यका कर सकता हूँ, तव उससे पूछते हैं कि जव तू शरीरादि जड़की अवस्थाको कर सकता है और भोग सकता है तो तेरी अवस्थामें तेरा हाथ है या नही ? क्या तेरी अवस्था निराश्रित पड़ी है ? तू अवस्थासे रहित है ? यदि तू परद्रव्यकी अवस्थाको करता है तो परद्रव्य तुझमे तन्मयरूप हो जाना चाहिये, यदि तू और जड़ एकमेक नही होते तो फिर तू जड़-शरीरादिका कुछ भी नही कर सकता। और यदि तू अपनी वैभाविक या स्वाभाविक परन्तु चैतन्यकी ही अवस्थाका कर्ता होता है तो परद्रव्यकी अवस्थाका किसी प्रकार कर्ता न हो, क्योकि एकद्रव्य एक ही क्रियाका कर्ता होता है परन्तु कोई द्रव्य इस जगतमें दो क्रियाओंका कर्ता हो ही नहीं सकता। आत्मा अपनी अवस्था करे और परकी अवस्थाको भी करे तो वह दो

क्रियाओंसे अभिन्न हुआ वह बात वीतरागदेवके मान्य नही है किन्तु अज्ञानीको मान्य है । जिन्हे केवलज्ञान प्रगट हुआ है, रागद्वेषका सर्वथा नाश हो गया है, जड–चैतन्यका परिपूर्ण स्वरूप जिनके ज्ञानमे प्रत्यक्ष-रूपसे ज्ञात हुआ है–ऐसे सर्वज्ञ वीतरागदेवको वह बात मान्य नही है।

प्रथम तो, जगतमे जो क्रियाएँ हैं वे सब परिणामस्वरूप होनेसे वास्तवमे परिणामसे भिन्न नही हैं । जगत्‌मे जो कोई भी शब्द बोला जाता है वह किसीका भाव तो होता ही है, या तो उस शब्द जैसी वस्तु होती है, या वस्तुका गुण होता है, अथवा किसी वस्तुकी अवस्था होती है । वैसे ही जो क्रिया है वह वस्तु, गुण और अवस्थामे से क्या है ? वस्तुकी अवस्था ही है, परिणामस्वरूप है । अवस्था कोई भ्रम नही है किन्तु वह किसी वस्तुका परिणाम है—भाव है इसलिये क्रिया द्रव्यसे भिन्न नही हो सकती । जैसे खरगोशके सीग नही होते वैसे ही वस्तुमे क्रिया नही होती—ऐसा नही है परन्तु क्रिया परिणामस्वरूप होनेसे वस्तुकी अवस्था ही है ।

परिणाम भी परिणामीसे (द्रव्यसे) भिन्न नही है, क्योकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु हैं, पृथक्–पृथक् दो वस्तुएँ नही है । जिसमे से अवस्था होती है उससे वह वस्तु भिन्न नही होती । सोना और सोनेके आभूषण क्या भिन्न होते हैं ? नही होते । सोनेमें से अँगूठीकी अवस्था हुई, परन्तु अँगूठीरूप अवस्था कही रह जाये और स्वर्ण कही चला जाये—ऐसा हो सकता है ? नही हो सकता । अँगूठीरूप अवस्था स्वर्णरूप वस्तुमेसे ही हुई है इसलिये स्वर्ण और उसकी अवस्था—दोनो पृथक् नही होते, किन्तु परिणाम–परिणामी अभेद ही होते हैं ।

कोई कहे कि अँगूठी तो सुनारने बनाई है, परन्तु सुनारने अँगूठी नही बनाई है मात्र उसे बनानेकी इच्छा ही सुनारने की है । इच्छाका कर्ता सुनार है परन्तु अँगूठीका कर्ता नही है, उसका तो मात्र निमित्त है, उसने अँगूठी नही बनाई है । अँगूठीका कर्ता स्वर्ण है, स्वर्णमे से ही अँगूठी हुई है । इसप्रकार जो अवस्था चैतन्यकी हो वह

चैतन्यद्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण उसका कर्ता चैतन्य है, और जो अवस्था जड़की हो वह जड़द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण उसका कर्ता जड़ है, इसलिये ऐसा सिद्ध हुआ कि जो भी क्रियाएँ हैं वे क्रियावानसे अर्थात् द्रव्यसे भिन्न नहीं हैं। जड़की क्रिया जड़ क्रियावानसे भिन्न नहीं है और चैतन्यकी क्रिया चैतन्य क्रियावानसे पृथक् नही है। सारे विश्वमें, त्रिकालमें वस्तु स्थितिकी ऐसी मर्यादा होनेसे क्रिया और कर्ताका अभिन्नत्व निरन्तर प्रतापवन्त होता है, अर्थात् निरन्तर गुणका परिणमनरूप वर्तती क्रियाका द्रव्यमें कभी भी भङ्ग नही पड़ता; त्रिकाली वस्तुके विना उसकी वर्तमान अवस्था नही होती और वर्तमान अवस्थासे रहित वस्तु नहीं हो सकती। निमित्त न मिले तो वस्तुका परिणमन प्रवाह रुक जाये ऐसा नहीं है।

आत्मा अपने भावको भी करता है और जड़की क्रियाको भी करता है—वह अभिप्राय अज्ञान है, यह बात यहाँ करते हैं।

क्रिया और कर्ताका अभिन्नत्व सदा स्व सामर्थ्यसे, प्रतापवन्त होनेसे, जीव व्याप्यव्यापक भावसे अपने परिणामको करता है और भाव्यभावक भावसे उसीका अनुभवन—उपभोग करता है।

आत्मा व्यापक है और अवस्था व्याप्य है। जैसे अपने राग–द्वेष भावको आत्मा करता है उसीप्रकार पुद्गल कर्ममे व्याप्त होकर पुद्गलकर्मको करे और भाव्यभावक भावसे पुद्गलके हर्ष–शोकको भोगे तो जीवको अपनी और परकी एकत्रित हुई दो क्रियाओंसे अभिन्नत्वका प्रसंग आये। इसप्रकार यदि दोनोंकी एकता हो तो स्व-परका पृथक्पना, स्वतंत्रपना नाश हो जाता है, जड़—चैतन्यके पृथक्—सत्ताका नाश होता है। इसप्रकार आत्मा और समस्त जड़द्रव्य एक हैं—ऐसा माननेवाले महा मिथ्यादृष्टि हैं, वे त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञ भगवानके मतसे अलग हैं।

आत्मा शुभाशुभभाव करता है और जड़की क्रिया भी करता है—इसप्रकार जो एक आत्माका दो क्रियाओंको करना और भोगना मानते हैं वे सर्वज्ञके मतसे बाहर हैं। जैसे कोई उच्चकुल और उच्चजातिका

मनुष्य हो और उसका पुत्र शराब पीता हो, माँस भक्षण करता हो या दुराचार करता हो तो उसका पिता उससे कहता है कि तू मेरा लडका नही भङ्गीकी औलाद है, वैसे ही यहाँ पर वीतरागदेव कहते हैं कि मैं शुभाशुभभाव करता हूँ, शरीरादि जडकी क्रिया मैं करता हूँ—ऐसा माननेवाला जैन नही है, हमारी आज्ञामे नही है, हमारे मार्गमे नही है किन्तु अधर्मके मार्गमे है।

थैलेके अन्दर चिरायता भरा हो, और ऊपर मिश्रीका नाम पडा हो तो कही चिरायता मिश्री हो जाता है ? वैसे ही वस्तुका जो स्वभाव है वैसा न मानकर अन्य प्रकारसे माने तो क्या वस्तुस्वभाव बदल जायेगा ? वस्तु तो वस्तुरूप रहेगी लेकिन मिथ्या अभिप्रायसे वह दुःखी होगा। आत्मा ज्ञानमूर्ति है—स्व-परको सर्व प्रकार स्वतत्र पृथक् जाननेके स्वभाववाला है उसे भूलकर वह औधा पडा हुआ अपने अज्ञानभावको करता है और सीधा पडा हुआ अपने ज्ञानभावको करता है परन्तु उसका स्वामित्व किसी भी परवस्तु ऊपर है ही नही। राग-द्वेष करता हूँ, हर्ष-शोकको भोगता हूँ और जडको भी करता हूँ—भोगता हूँ—ऐसा माननेवाला दो पदार्थोंका कर्ता–भोक्ता हुआ, उसने असत्य–झूठका सेवन किया।

मैं परका नही कर सकता परन्तु स्वय अपना ही कर सकता हूँ—ऐसा माननेवालेने अपनेको अनन्त पर-आत्मा और अनन्त जडसे पृथक् किया, पुनश्च, मैं उनका कुछ नही कर सकता—ऐसा माननेसे उसका अनन्त कषाय दूर हो गया जिससे अनन्त जन्म–मरण दूर हो गये, त्रिकालकी विपरीत दृष्टि हट गई और अनन्तगुनी निर्मल स्वभाव पर्याय प्रगट हुई। अन्य पदार्थकी अवस्थाको मैं अच्छा-बुरा कर सकता हूँ, वैसा माननेवाला त्रिकालके अनन्त पदार्थोंका अभिमानी है, उसके अनन्त जन्म-मरण शेष है, जगतका मैं करदू–वैसा माननेवाला महामूढ है। दो बातें हैं—या तो त्रिकालके पदार्थोंका स्वामी हो जाये अथवा अपने स्वपदार्थका ही स्वामी बन जाये, परन्तु दो द्रव्योकी पर्यायको एक द्रव्य करता है—ऐसा माननेवाला महा अज्ञानी, महा

कषायी है; वह अनन्तसंसारका वीज साथ लेकर वैठा है।

जडकी क्रिया चेतन नहीं करता और चेतनकी क्रिया जड नही करता, चेतन, चेतनकी क्रिया भी करे और जडकी क्रिया भी करे—इसप्रकार दो द्रव्योकी क्रिया एक द्रव्य करे ऐसा नही हो सकता। आत्मा राग-द्वेषकी क्रिया करे और हर्ष-शोकको भोगे, वैसे ही पुद्गल-कर्मको करे और उसीको भोगे—इसप्रकार दो द्रव्योंकी क्रिया एक द्रव्य नही कर सकता—ऐसी वस्तुस्थितिकी मर्यादा है। चेतन, चेतनकी क्रिया करता है और जड जड़की क्रिया करता है—इसप्रकार सब अपनी-अपनी क्रिया करते हैं, किसीकी क्रिया कोई नही कर सकता। कर्ता और क्रिया दोनो अभिन्न हैं—ऐसी वस्तुस्थिति निरन्तर सर्वत्र रहती है इससे कोई किसीको कर नही सकता और न भोग ही सकता है। सिर्फ व्यवहारसे घी-का घडा कह देने जैसा उपचारसे किसीका कर्ता भोक्ता कहनेका व्यवहार है जो असत्यार्थ है।

तीनकाल तीनलोकमे प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है—ऐसी वस्तु-स्थिति है, परन्तु सत्यको असत्य माने और असत्यको सत्य माने तो यह मिथ्या अभिप्राय अनन्तसंसारका मूल है।

प्रत्येक द्रव्य द्रव्यदृष्टिसे और पर्यायदृष्टिसे स्वतंत्र परिणमन करने-वाला है ऐसा स्वयं समझकर विपरीत मान्यताकी गाँठको तोड़े विना आत्मतत्त्वके स्वरूपकी गध भी नही आती। स्वतंत्रता माने विना अंग-मात्र धर्मकी शुरुआत भी नही होती।

कर्मकी जो अवस्था होती है उसे मैं परिणमित कर देता हूँ—ऐसी दृष्टि विल्कुल मिथ्या है। जो परद्रव्य है, जिसकी क्रिया स्वतः नही कर सकता उसे करना माने तो वह विल्कुल झूठा अभिप्राय है। जो ऐसा मानता है कि दो द्रव्योकी क्रिया एक द्रव्य करता है वह पदार्थको स्वाधीन नही मानता किन्तु पराधीन मानता है।

कोई किसीका कुछ भी नही कर सकता, मात्र स्थूल व्यवहारसे, आरोपसे कहा जाता है कि इसने इसका किया। जैसे घीके उपचारसे

वैसे ही सब सबके भावको करते है किन्तु कोई किसीका कुछ भी नही कर सकता तथापि घीके घडेकी भाँति आरोपसे कहा जाता है किन्तु वास्तवमे कोई किसीका कुछ नही कर सकता, किसीने किसीकी निन्दा भी जगतमे नही की है और न किसी किसीकी प्रशसा भी की है। सब अपने-अपने भावोंसे जो जिसे अनुकूल हो उसीका गुणगान करता है और जो प्रतिकूल हो उसकी निन्दा करता है, अर्थात् सभी अपनी अनुकूलता–प्रतिकूलताकी निन्दा–प्रशसा कर रहे हैं, परकी निन्दा–प्रशसा त्रिकालमे न तो किसीने की है, कोई करता नही है, और न करेगा।

किसीने किसीको त्रिकालमे भी नही ठगा है, कपटके भाव करके स्वतः ही अपनेको ठगता है। कोई कहे कि मैंने अमुकको कैसा ठगा ? परन्तु भाई ! उसमे वह नही किन्तु तू ही मायाचारसे ठगा गया है। सामनेवाले जीवका पुण्य अल्प है कि उसे तुझ जैसा वचक कपटी मिला, परन्तु कपटके या धोखेके भाव करके तूने स्वत को ही धोखा दिया है। कोई किसीको ठग नही सकता, अपने भावोको कर सकता है।

कोई किसीका बुरा करनेके लिये चितवन करे तो उससे किसीका बुरा नही होता, हानि नही होती, और कोई अच्छा करनेको चितवन करे, कोई किसीकी भक्ति करे तो दूसरेका भला नही हो जाता, किन्तु जैसा जिसके पुण्य-पापका उदय हो उसीप्रकार सयोग–वियोग बनता है, कर्मके उदय अनुसार जीवमे किसी प्रकार लाभ-हानि नही है। लेकिन जो भले-बुरे भाव करता है उनका फल उसे उसीसमय ही मिलता है।

करना, कराना और अनुमोदन करनेका भाव तो अपना है और उसमे जो निमित्त आये उस निमित्तकी ओरका भङ्ग है। स्वतः अपने भाव करता है। स्वत अपने भावसे दूसरेसे कहता है कि तू ऐसा कर—उसप्रकार अपने भावमे दूसरेका निमित्त आया परन्तु भाव तो स्वत ही किया है। अपने भावानुसार पुण्य-पापका वन्ध होता है।

सामनेवाला निमित्त उसप्रकार समझे करे या न करे उसका इसे कुछ भी पुण्य-पाप नही लगता। अपने भावका पुण्य-पाप अपने पास है और सामनेवालेके भावका पुण्य-पाप उसके पास है। अपना अपने पास शतप्रतिशत है और दूसरेका उसके पास है। दूसरेका और अपना किंचित् मेल जोल नही है, अपना भाव किसी भी अन्यको हानि-लाभ करे ऐसा त्रिकालमे न तो हुआ है, न होता है और न होगा ही।

अब शिष्य फिरसे पूछता है कि भगवान ! मैं अपने भावको भी करता हूँ और परके भावको भी करता हूँ—इसप्रकार दो परिणामरूप क्रियाको करता हूँ—ऐसा माननेवाला पुरुष मिथ्यादृष्टि किसप्रकार है ? उसका समाधानः—

जह्मा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वंति ।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवंति ॥८६॥

अर्थः—जिससे आत्माके भावोको और पुद्गलके भावोको दोनोको आत्मा करता है—ऐसा वे मानते है, उससे एक द्रव्यके दो क्रियाएँ होना माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं।

आत्माके भावोको अर्थात् रागद्वेषके भावोको मैं करता हूँ और जडके भावोको भी मैं करता हूँ—वैसा माननेवाला एक वस्तुकी दो अवस्थाओका होना मानता है इससे वह मिथ्यादृष्टि है।

निश्चयसे द्विक्रियावादी (अर्थात् एक द्रव्यके दो क्रियाएँ माननेवाले) ऐसा मानता है कि आत्माके परिणामको और पुद्गलके परिणामको स्वतः (आत्मा) करता है, इससे वे मिथ्यादृष्टि ही हैं—ऐसा सिद्धान्त है। एक द्रव्यके द्वारा दो द्रव्योंके परिणामोका किया जाना प्रतिभासित न हो।

एक आत्माके जडकी और चैतन्यकी—दो अवस्थाएँ नही हो सकती, तथापि मिथ्यादृष्टि मानता है कि आत्माके परिणामको और

पुद्गलके परिणामको मैं करता हूँ वह दृष्टि बिल्कुल मिथ्या है। एक वस्तु दो परिणाम नही कर सकती–ऐसा वस्तुस्वभाव है, इसलिये एक वस्तु दो क्रियाओंकी कर्ता प्रतिभासित न हो।

जैसे कुम्हार घडेके सम्भवको अनुकूल अपनी इच्छारूप और हाथकी क्रियारूप व्यापार परिणामोको–जो कि अपनेसे अभिन्न हैं और अपनेसे अभिन्न परिणतिमात्र क्रियासे किये जाते हैं उन्हे करता हुआ प्रतिभासित होता है, परन्तु घडेको बनानेके अहङ्कारसे युक्त होने पर भी वह कुम्हार, मिट्टीके व्यापारको अनुरूप जो मिट्टीका घट परिणाम जो मिट्टीसे सदैव अभिन्न है तथा मिट्टीसे अभिन्न परिणति-मात्र क्रियासे किया जाता है—उसे करता हुआ प्रतिभासित नही होता। मिट्टी घडा होनेमे अनुरूप है और कुम्हार अनुकूल है। कुम्हार घट होनेमे अनुरूप हो, तो कुम्हारका नाश होकर मिट्टीरूप हो जाय।

मिट्टीसे घडा होता है, मिट्टी परिवर्तित होकर घडेकी उत्पत्ति करती है, कुम्हारकी तो मात्र उपस्थिति है। घडा होनेकी शक्ति मिट्टीमे है किन्तु कुम्हारमे नही है। घडेकी अवस्था कुम्हारके आधार बिना मिट्टीकी शक्तिसे होती है। कुम्हार अपनी इच्छा और हाथके व्यापारको करता दिखाई देता है, परन्तु उसके हाथ या पैर घडेमे आधाररूप होकर मिल गये हों—ऐसा दिखाई ही नही देता, मिट्टीमे से क्रमानुसार परिवर्तित होते-होते घडा होता है। घडा होनेमें बाह्यकारण कुम्हारके हाथका और इच्छाका व्यापार है और अन्तरङ्ग कारण स्वतः मिट्टी ही है, कुम्हार तीनकाल और तीनलोकमे घडा नही बना सकता। वस्तुमे से ही अवस्था उत्पन्न होती है। क्या वस्तुमे शक्ति नही है कि दूसरा कोई उसकी अवस्थाको उत्पन्न करदे? ऐसा है ही नही।

उसीप्रकार आत्मा भी पुद्गलकर्मके अनुकूल अपने परिणामोको करता है। जो परिणाम रागद्वेष और अज्ञानमय है वे आत्मासे पृथक् नही हैं, उन परिणामोको ही स्वत. करता है, शेष आठकर्म जो कि पुद्गलकी अवस्था है—उसे आत्मा करता हो यह नही हो सकता। अज्ञानी पुद्गलकी अवस्थाको करनेके अभिमानसे भरा हुआ है तथापि

वह शरीर और कर्मकी अवस्थाको कर ही नही सकता, अपने ही अज्ञान और राग-द्वेषके परिणामोको करता दिखाई देता है किन्तु कभी भी पुद्गलकर्मोको करता-बाँधता दिखाई नही देता। अपने परिणाम अपनेसे एकरूप हैं इसलिये आत्मा उन्हे कर सकता है, परन्तु पुद्गल-परिणामोको तो कर ही नही सकता। पुद्गलमे जो कर्मवन्ध होता है वह पुद्गल स्वत· परिणमित होकर अपनी कर्मरूप अवस्थाको करता है, पुद्गल अपने परिणामोके अनुरूप अपने ही कर्मको करता है, उसे कर्मरूप होनेमे आत्माके विकारी परिणाम निमित्त रूपसे अनुकूल होते है तथापि आत्मा उन कर्मोका कर्ता नही है। आत्मा अपने ही परिणामोको करता हुआ प्रतिभासित हो, पुद्गल–परिणामोको करता कभी भी प्रतिभासित न हो।

आत्माकी और पुद्गलकी–दोनों क्रियाएँ, एक आत्मा ही करता है, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। यदि जड–चैतन्यकी क्रिया एक हो तो समस्त द्रव्य पलट जानेसे उनका लोप हो जाये–यह एक महान दोष उत्पन्न हो। एक द्रव्य अन्य द्रव्य रूप हो जाय ऐसा त्रिकालमे कभी न बना है, न बनता है और न बनेगा ही। प्रत्येक वस्तुस्वभाव तो जैसा है वैसा ही त्रिकाल है–स्वतंत्र है परन्तु अज्ञानी विपरीत मानकर अपने गुणोकी हिंसा करते हैं। परका मैं कर सकता हूँ—ऐसे मिथ्या अभिप्रायसे चौरासीमे भटक–भटक कर हैरान हुआ, परन्तु परके कर्तृत्वका अभिमान दूर होने पर ही सुखका उपाय हाथमे आ सकता है, दूसरे किसी भी प्रकारसे सुखका उपाय हाथ नही लग सकता।

(आर्या)

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया॥ ५१॥

अर्थः—जो परिणमित होता है वह कर्ता है, (परिणमित होनेवालेका) जो परिणाम है सो कर्म है और परिणति है वह क्रिया

है; यह तीनो वस्तुरूपसे भिन्न नही हैं।

जो होनेवाला है वह कर्ता है, वस्तु परिवर्तित होते-होते होनेवालेका जो कार्य होता है वह कर्म है, और होनेवालेकी जो क्रिया है सो परिणति है। जो स्वतंत्ररूपसे करे वह कर्ता है, प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्ररूपसे परिवर्तित होता है परिवर्तित होनेवाला स्वतत्र है।

जब नवीन जड़कर्म बँधते हैं उससमय रागी जीवका राग निमित्त है किन्तु जो ऐसा माने कि मैंने जडकर्मको किया है वह मिथ्या-दृष्टि है, निमित्त कही उपादानके आश्रित होकर उपस्थित नही होता। कर्म बँधते हैं उसमे कौन परिवर्तित होता है ? कर्म या आत्मा ? उसमे कर्म ही परिवर्तित होते है, आत्मा परिवर्तित नही होता, इसलिये जो जिससे परिवर्तित होता है वही उसको करेगा कि दूसरा कोई ? जो द्रव्य परिवर्तित होता है वही अपना परिणामोका कर्ता है, अन्य कोई नही।

परिवर्तित होनेवालेका जो कार्य हुआ वह कर्म है, और अवस्थान्तर होनेमें जो क्रिया हुई वह परिणति है। प्रत्येक रजकण पृथक् है। एक रजकणको लेकर दूसरा रजकण परिवर्तित होता है—वैसा त्रिकालमें नही है, स्कन्धमे भी सभी रजकण पृथक्-पृथक् परिणमित होते हैं।

पवनके रजकणोमे पानी होनेकी योग्यता होना हो तो होती है, उसे दूसरा कोई करदे वैसा नही है। दो प्रकारकी पवन एकत्रित होकर पानी बनता है—ऐसा नही है, यह तो मात्र निमित्त बना, किन्तु वास्तवमे तो उन रजकणोमे उससमय पानीरूप होनेकी योग्यता ही थी।

पानीका जो एक बिन्दु दिखाई देता है वह अनन्त रजकणोका पिण्ड है, उन प्रत्येक रजकणोका परिणमन पृथक्-पृथक् है।

जडकी अवस्था जडसे परिवर्तित होती है और आत्माकी अवस्था आत्मासे। विकारी अवस्थाका कर्ता तो आत्मा अज्ञानभावसे है किन्तु जडका कर्ता किसी भी प्रकार नही है, द्रव्यदृष्टिसे और पर्याय-

दृष्टिसे स्वतंत्रता ही है इतना स्वीकार करे तो आँगनमें (व्यवहार शुद्धिमे) आया है, जो पुण्यपरिणामके भाव हैं। वास्तवमे तो वस्तु-दृष्टिसे विकारी परिणामका कर्ता भोक्ता जीव नही है। पुण्य परिणामोंसे भी अपना स्वरूप पृथक् है—ऐसे स्वरूपका भान करे और उसमे स्थिर हो तो शुद्धता और निर्जरा है और उसने अन्तरङ्गमे शुद्धात्म घरमे प्रवेश किया है।

आत्मा नित्य निरन्तर परिवर्तनशील है, और वदलनेरूप कार्य है वह क्रिया है तथा परिवर्तित होकर जो कार्य आया सो कर्म है।

वस्तुदृष्टिसे परिणाम और परिणामी अभेद है, शरीरकी अवस्था और शरीर दोनो एक हैं, पुद्गल और पुद्गलकी अवस्था दोनों एक हैं, रागद्वेषकी अवस्था और आत्मा दोनो अज्ञानभावसे एक हैं परन्तु सम्यक्भावसे एक नही हैं। यहाँ तो यह दर्शाया है कि जडका कर्ता नही है परन्तु वास्तवमे तो विकारी भावोका भी कर्ता नही है। किन्तु अपना ज्ञान भावका कर्ता और स्व-परप्रकाशक ज्ञातारूप आत्मा है।

अवस्थायी और अवस्था—दोनो द्रव्य दृष्टिसे एक हैं और पर्यायदृष्टिसे दोनोमे भेद है। कर्ता-कर्म और क्रिया तीनो भेददृष्टिसे कहे गये हैं।

जैसे चन्दनकी लकडी सुगन्धित है, चौडाई वाला है, भारी है, वैसे ही भङ्ग दृष्टिसे कहा जाये तो द्रव्य और पर्याय लक्षणादि भेदसे पृथक् हैं तथापि वस्तुदृष्टिसे अभेद हैं। सुगन्ध और लकड़ी दोनो एक हैं—अभेद हैं—उन्हे पृथक् नही किया जा सकता। परिणाम और परिणामी दोनो अभेद हैं। इस शरीरकी अवस्था शरीरसे पृथक् नही है, शरीर और उसकी अवस्था—दोनो एक है। आत्माकी अवस्था और शरीरकी अवस्था—दोनो कभी भी किसी प्रकार भी एकमेक नही हुई हैं। अज्ञानी दोनोकी खिचड़ी बनाकर मानता है कि जडको मैं ऐसा करता हूँ—वैसा करता हूँ, व्यवहारसे तो परका कर सकता हूँ किन्तु परका कोई नही कर सकता, अपने ही विपरीत भावोका ग्रहण करता

है और उन्हें त्यागता है, किन्तु परका ग्रहण और त्याग त्रिकालमें नहीं है।

परिणाम और परिणामी अभेद हैं। गुड और मिठास अभेद हैं, उनमें क्षेत्रभेद नहीं हैं—प्रदेशभेद नहीं है, चन्दनकी लकड़ी और उसकी सुगन्धमें प्रदेशभेद नहीं है। प्रत्येक वस्तु, उसका परिणाम, और परिणतिमें प्रदेशभेद नहीं है। वस्तु स्वतः कर्ता, परिवर्तित हुई वह परिणति और परिवर्तनमें जो कार्य आया वह पर्याय—इन तीनोंमें क्षेत्र भेद–प्रदेशभेद नही है। वैसे ही शरीरकी क्रियाके साथ शरीरका प्रदेश भेद नहीं है, और आत्माकी क्रियाके साथ आत्माको प्रदेश भेद नहीं है। आत्मामें जो रागको कम करनेका भाव हुआ वह आत्मामें, और अशुभभाव हुआ वह आत्मामें, आत्माका भान करके स्थिर हुआ सो आत्मामें और जो शुभाशुभ कर्मबन्ध पुद्गल द्रव्यमें हुआ वह पुद्गल द्रव्यमें—इसप्रकार दोनो द्रव्य पृथक् हैं, दोनो द्रव्योंके कर्ता, क्रिया और कर्म पृथक् हैं।

कर्ताकर्मका अधिकार चल रहा है; कोई भी वस्तु किसी अन्य वस्तुका कर्ता नही है। कर्ताकर्म अधिकारकी ७६ गाथाओंकी सर्वोत्तम रचना आचार्यदेवने की है, उनमें कर्ताकर्मको अत्यन्त विस्तृत किया है और तीनकाल तीनलोककी वस्तु स्थितिको बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है, इतना स्पष्ट है तब लोगोंके ध्यानमें बड़ी कठिनाईसे बैठता है।

यह निश्चित् हुआ कि परका कर्ता नही है अर्थात् स्वतः को अपने ही भावका कर्तापना रहा।

कोई कहे कि तुम्हीं तो बोलते हो और तुम्हीं कहते हो कि बोला नहीं जा सकता। यह तो मनुष्योंको ऐसा लगता है कि यह बोलता है परन्तु आत्मा बोल ही नहीं सकता, एक 'हाँ' भी आत्मा नहीं कर सकता, जो बोला जाता है वह सब पुद्गलकी पर्याय हैं; उसका कर्ता पुद्गल ही है। पुद्गलमें शब्दरूप परिणमित होनेकी योग्यता हो तब आत्मा उपस्थित होता है और कर्मका निमित्त भी उपस्थित होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका मेल हो जाता है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवकी जो ॐकार ध्वनि समवशरणमे खिरती है वह भी पुद्गलकी पर्याय है, वह आत्मामेसे नही निकलती। जब वाणी उसके अपने कारणसे निकलती है तब अज्ञानी यह अभिमान करता है कि मैं वाणी बोलता हूँ। अज्ञानीको ऐसा लगता है कि जब मैं इच्छा करता हूँ तब वाणी बोली जाती है किन्तु ऐसा नियम नही है कि इच्छा हो और वाणी निकले। उसके चार भङ्ग हैं—इच्छा हो और वाणी निकले, इच्छा हो और न निकले, इच्छा न हो और निकले, इच्छा न हो, और न निकले। इच्छा हो और वाणीका उदय हो इससे बोली जाती है, वाणी, वाणीके कारणसे निकलती है, तथापि इच्छाके समय वाणीका उदय हो तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो जाता है वह पहला भङ्ग। बोलनेकी इच्छा हो परन्तु लकवा लग जाय तो भी नही बोली जा सकती, इच्छा हो किन्तु वाणीका अनुकूल उदय न हो तो नही निकलती—वह दूसरा भङ्ग हुआ। केवलज्ञानीको तेरहवे गुणस्थानमे इच्छा न हो और वाणीका उदय हो तो ध्वनि खिरती है-वह तीसरा भङ्ग है, कोई मूक केवली होता है उसके इच्छा भी नही होती और वाणी भी नही होती; केवलज्ञान हो जाये परन्तु वाणी नही खिरती। इसप्रकार चार भङ्ग हुए। दोनो द्रव्य पृथक् परिणमित होते हैं, इसलिये आत्मा वाणी बोलता ही नही है। सबके कर्ताकर्म स्वतः अपने-अपनेमे ही हैं। पुनः कहते हैं:—

(आर्या)

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ॥५२॥

अर्थः—वस्तु सदा एक ही परिणमित होती है, एकके ही सदा परिणाम होते हैं (अर्थात् एक अवस्थासे अन्य अवस्थाएँ एककी ही होती हैं) और एककी ही परिणति क्रिया होती है, कारण कि अनेक दशारूप होने पर भी वस्तु अपने गुण पर्यायोसे अभेद-एक ही है, भेद नही हैं।

वस्तु सदा एक ही परिणमित होती है वह सम्पूर्ण सिद्धान्त है। जो परिणाम होते हैं वे एकके ही होते हैं, एक अवस्थासे दूसरी अवस्था होती है वह एककी ही होती है, आत्मामे अनेक अवस्थाएँ होने पर भी भेद नही है अर्थात् कर्ता, कर्म और क्रिया–तीनो पृथक् नही है एक ही वस्तुके हैं, आत्माके कर्ता-कर्म-क्रिया आत्मामे है और जडके जडमे हैं।

एक आत्मामे अनन्तगुण हैं, एक परमाणुमे भी अनन्तगुण हैं। उन अनन्त गुणोमे प्रतिसमय जो अवस्था होती है उसे परिणाम कहते हैं। वस्तु और परिणाममे नामभेद, लक्षणभेद है किन्तु वस्तुभेद नही है। जैसे गुड और मिठासमे लक्षणभेद और सज्ञा भेद है किन्तु वस्तुभेद नही है।

उसीप्रकार शरीर और उसकी अवस्था भिन्न नही हैं। पुद्गल, पुद्गलके गुण और उसकी अवस्थामे नामभेद, लक्षणभेद है परन्तु वस्तुभेद नही है—प्रदेशभेद नही है। प्रत्येक वस्तु स्वमे एकमेक है किन्तु अन्य वस्तुसे एकमेक नही होती, सबके परिणाम पृथक्–पृथक् होते हैं। वस्तुमे कर्ता-क्रिया और कर्म होते हैं—उनमे लक्षण भेद है, नामभेद है किन्तु वस्तुभेद नही है। अनेक परिणाम होने पर भी वस्तु एक ही है, उसमे भेद नही हैं।

जैसे स्वर्णरूप वस्तु और उसके पीलापन, चिकनाहट आदि गुण तथा कगन, कुण्डल आदि उसकी पर्यायें—उन तीनोमे नामभेद, सख्याभेद और लक्षणभेद है किन्तु वस्तु भेद नही है। जो अवस्थाका और गुणोका क्षेत्र है वही वस्तुका क्षेत्र है। वैसे ही आत्मामे जानना, मानना और स्थिर होना आदि अनन्तगुण हैं और उनका धारण करनेवाला गुणी एक है। इसप्रकार वस्तु अपने अनन्तगुणसे अनन्त और वस्तुसे एक—इसप्रकार सख्याभेद है, परन्तु वस्तु भेद नही है, क्षेत्रभेद नही है। गुण कही रहे और द्रव्य कही रहे—ऐसा नही है, इससे वस्तुभेद नही है। यदि द्रव्य और गुण पृथक् हो तो जो पृथक् हो वह पृथक् हो सकता है किन्तु जो अभेदरूपसे एकत्र हो वह भिन्न नही

हो सकता। आत्मा और गुण—इसप्रकार नाम पृथक् हैं, वह नामभेदसे भेद है। अनन्त गुणोंका पिण्ड द्रव्यका लक्षण है और प्रत्येक गुणका, जानना-मानना–स्थिर होना इत्यादि पृथक्-पृथक् कार्य है। इसप्रकार गुण और द्रव्यमे लक्षणभेदसे भेद है। द्रव्यका प्रयोजन गुणोके कार्योंको धारण कर रखना है और गुणोका प्रयोजन अपने-अपने स्वभावानुसार भिन्न-भिन्न कार्य करना है। द्रव्यका प्रयोजन प्रत्येक गुण और उसकी अवस्थाको धारण कर रखना है और अवस्थाका प्रयोजन प्रतिक्षण अनुभव कराना है।

प्रत्येक वस्तु और वस्तुकी प्रतिक्षण होनेवाली अवस्था–उसमे लक्षणादि भेद है, तथापि वस्तुमे भेद नही है। इसीप्रकार प्रत्येक आत्मा, परमाणु, कालाणु, आकाशास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय—इन सभी पदार्थोंमे वस्तु और अवस्थाके नामभेद और लक्षण भेदादि हैं किन्तु वस्तुभेदसे भेद नही है।

जिस भावसे ससार है उससे विपरीत भावसे मोक्ष है। सासारिक विद्या पढनेके लिये पाठशालामे मास्टरके पास जाना पड़ता है, वैसे ही मोक्षमार्गका स्वरूप समझनेके लिये, ससारका अभाव करनेके लिये गुरुके पास अभ्यास करने जाना पडता है। सांसारिक विद्या उदर पोषणके लिये है और आत्माकी विद्या मोक्ष प्राप्तिके लिये है; ससार और मोक्ष–दोनोंके विपरीत भाव हैं। जिस भावसे संसार फलता है उस भावसे कभी मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती और आत्माके शुद्ध स्वभावसे मोक्ष फलता है, उससे संसार नही फलता किन्तु ससारका नाश ही होता है।

पुनश्च कहते हैं कि:—

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायते।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

अर्थः—दो द्रव्य एक होकर परिणमित नही होते, दो द्रव्योंका एक परिणाम नही होता और दो द्रव्योंकी एक परिणति–क्रिया नही होती, क्योकि अनेक द्रव्य अनेक ही है, वे पलटकर एक नही हो जाते।

आत्माकी अवस्था आत्मामे होती है और जडकी अवस्था जडमे होती है। अरे! प्रत्येक रजकणकी अवस्था स्वतः अपनेमे ही होती है। छाछके रजकण पृथक् हैं और दूधके रजकण भी पृथक् हैं, दोनो एकमेक होकर कार्य नही करते। कोई कहेगा कि दूधमे छाछ पडी इसलिये दही जमा, किन्तु भाई! दही अर्थात् क्या? दही किसे कहा जाये? अमुक काल तक एक संयोगी वस्तु रहे उसका नाम लोगोने दही रखा, दूधके रजकणोकी मीठी अवस्था पलटकर खट्टी अवस्था होनेकी योग्यता तैयार हुई उससमय उसे छाछका निमित्त मिला, इसलिये दूधमे से दही रूप अवस्था हुई, तथापि दहीके लोथेमे जो अनन्त रजकण है उन सबका कार्य भिन्न-भिन्न है, किसी रजकणका कार्य कोई रजकण नही करता।

परमाणुमे रस नामका गुण है, उसकी मिठास और खटास आदि अवस्थायें होती हैं, रस गुण स्थायी रहकर अवस्थायें बदलती हैं।

दूधमे जब मीठी अवस्था बदलकर खट्टी अवस्था होनेकी योग्यता हो उसी समय अवस्था बदलती है, किन्तु लोगोमे ऐसी विपरीत मान्यता बैठी है कि छाछ ही दूधमे से दही बनाती है। दूधके परमाणु खटाईके सन्मुख होकर परिणमित हो तभी खट्टी अवस्था होती है, उसके स्वतन्त्र परिणमनके बिना छाछकी शक्ति नही कि दूधको दही बना दे। प्रत्येक परमाणुका परिणमन स्वतन्त्र है, कोई किसीका कर्ता नही है।

कोई कहे कि अमुक वस्तुएँ शरीरको सर्दी करती हैं, परन्तु प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र भिन्न है। कोई पुद्गल किसी अन्य पुद्गलमे सर्दी कर ही नही सकता। शरीरमे जब सर्दी होनेकी योग्यता हो उससमय उसे अनुकूल निमित्त मिलते हैं, अन्य द्रव्य मात्र साथ रहते हैं, वहाँ अज्ञानी कहते हैं कि इस साथवाले द्रव्यने इसका कार्य कर दिया,—वह मान्यता बिल्कुल मिथ्या है। जिन्हे तत्त्वकी खबर नही वे तत्त्वका खून करनेवाले हैं, अज्ञान कोई बचाव नही है, अदालतके कानूनमे भी आता है कि—अज्ञान कोई बचाव नही है। उसीप्रकार वस्तुका जो

स्वभाव अर्थात् नियम है उसे न जाने और कहे कि हमे खवर नही थी, तो वीतरागदेव कहते हैं कि परिभ्रमण कर ! जड़-चैतन्यका जो स्वभाव है उसे न जाने और कहे कि ऐसे स्वभावकी हमे खवर नही थी तो वीतरागदेव कहते हैं कि जा, चौरासीमे परिभ्रमण कर, वचाव फचाव काममे नही आयेगा ।

आत्माका स्वतंत्र स्वभाव कैसा है—वह समझनेका अवसर आ गया है, और जो नही समझता उससे आचार्यदेव कहते है कि—हे भव्यात्मा ! सत्को समझ और अज्ञानको दूर कर ! दो द्रव्योका एक परिणमन नही होता—ऐसा स्वतत्रताका ज्ञान कर ।

आत्मा राग भी करे और जड़ द्रव्यकी वोलने और चलनेकी क्रिया भी करे-वैसा नही होता । कोई वस्तु वदलकर दूसरोके साथ एक हो ऐसा नही हो सकता । एक रजकणका दूसरा रजकण कुछ भी नहीं करता, एक आत्माको अन्य आत्मा कुछ नही करता, एक भी आत्माका कार्य रजकण कुछ नही करता और एक भी रजकणका आत्मा कुछ नही करता—इस चौभगीसे ऐसा समझ लेना कि कोई किसीका कुछ नही करता, नही करा सकता, न प्रेरक वनता । प्रत्येक वस्तुका क्षेत्र पृथक् है इसलिये दो द्रव्य एक नही होते, दो द्रव्योका एक कार्य नही होता और दो द्रव्योंकी एक क्रिया नही होती ।

कितने ही लोग कहते है कि जव आत्मा सिद्धमे जाता है उससमय एक आत्मा दूसरेमे मिल जाता है, "ज्योत माँ ज्योत मिलाय" ऐसा कहते हैं, किन्तु यह वात विल्कुल मिथ्या है, तीनकाल और तीनलोकमे भी ऐसा नही होता । आत्मा संसारमे भी पृथक् है और मोक्षमें भी पृथक् ही रहता है, जो भिन्न है वह त्रिकाल भिन्न ही रहता है । दो द्रव्य कभी भी एक नही होते, उनका कार्य एक नही होता और न उनकी क्रिया भी एक होती है दो द्रव्यमे प्रदेशभेद होनेसे परस्पर आधार आधेय सम्वन्ध भी नही है । इस सत्य नियमको भूलकर यथार्थ प्रतीतिके विना व्यवहारज्ञान भी मिथ्या है, शास्त्रज्ञान भी कुज्ञान है ।

प्रत्येक द्रव्यका स्वक्षेत्र भिन्न है, और स्वचतुष्टय भिन्न भिन्न हैं उसमे निमित्त कुछ नही कर देता यह नियमका निश्चय प्रथम करना पडता है।

प्रश्नः—यदि वस्तुमे स्वत· से ही कार्य होता हो तो फिर निमित्तकी क्या आवश्यकता है ?

उत्तरः—जब कार्य होता है उससमय निमित्तकी उपस्थिति होती है किन्तु निमित्त कुछ कर नही देता। जब सूर्य विकासी कमल विकसित हो उससमय सूर्योदय होता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, किन्तु सूर्यने कमलको विकसित नही किया है। जब कमल स्वतः—अपनी योग्यताके कालमे अपने आप विकसित होता है उससमय सूर्यकी उपस्थिति होती है—ऐसा स्वतत्र सम्बन्ध है, उसीप्रकार जब चन्द्र विकासी कमल खिले उससमय चन्द्रमाका उदय हो—ऐसा सबध है तथापि चन्द्र–विकासी कमलको चन्द्रमाने नही खिलाया किन्तु कमल खिलनेके समय चन्द्रमाकी उपस्थिति होती है।

स्वत·मे जब अवस्था होनेकी योग्यता हो तब निमित्तकी उपस्थिति होती है, उपादानको निमित्तकी बाट (राह) देखना पडे ऐसा नही है, किन्तु जिससमय उपादानमे वह अवस्था होनेकी योग्यता हो उससमय उसके अनुकूल निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा सम्बन्ध है। उपादान और निमित्त आगे–पीछे नही किन्तु दोनो साथ ही होते हैं।

घट रूप कार्यमे मिट्टी अनुरूप है, उपादान कारण है और वह सच्चा कारण है और घडेकी उत्पत्तिमे कुम्हार अनुकूल है निमित्त कारण है, व सच्चा कारण नही है अत कुम्हार घडेको करता हुआ प्रतिभासित नही होता, परन्तु अपने अभिमानके परिणामको करता प्रतिभासित होता है। कोई कहे कि निमित्त और उपादान युगपद् है इसलिये भूल हो जाती है किन्तु वैसा कहनेवालेकी बात बिल्कुल मिथ्या है। स्वत अपनी मान्यताके कारण भूल करता है, युगपद् है इसलिये

भूल हो तो सवको होनी चाहिये किन्तु परसयोगके कारण किंचित् भी भूल नही होती। स्वय भूल करे तो निमित्त कहा जाता है।

दो वस्तुएँ विल्कुल भिन्न ही हैं, दोनोके आधाररूप प्रदेश भी पृथक् ही हैं, इसलिये दो द्रव्य एकरूप परिणमित नही होता, दो चीजका एकरूप परिणाम, अर्थात् परिणति भी नही होती। यदि दो द्रव्य एकरूप परिणमित हो तो सर्व द्रव्योका लोप हो जाये, परन्तु ऐसा होता ही नही, कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके आधीन है ही नही, इसलिये लोप होनेका प्रसग ही नही है।

इसी अर्थको पुनः दृढ करते हैं:—

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

अर्थः—एक द्रव्यके दो कर्ता नही होते, और एक द्रव्यके दो कर्म नही होते तथा एकद्रव्यकी दो क्रियाएँ नही होती, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नही होता।

इस शरीरकी अवस्था शरीर करे और शरीरकी अवस्था आत्मा भी करे—इसप्रकार एक द्रव्यके दो कर्ता नही होते। अपना गुण स्वतः भी प्रगट करे और देव-गुरु-शास्त्र भी अपने गुणको प्रगट करे—इसप्रकार एक द्रव्यके दो कर्ता नही होते, अपने गुणोकी अवस्था प्रगट होनेमे देव-गुरु-शास्त्रका निमित्त होता है किन्तु देव-गुरु-शास्त्र अन्यके गुणोके कर्ता नही हैं। उसीप्रकार दो द्रव्योंके कर्म भी पृथक् है। आत्मा अपना कार्य करे और परका कार्य भी करे—जैसे कि—तीर्थंकरदेव अपने गुणोको प्रगट करे और परके गुणोकी पर्यायको भी प्रगट करें—इसप्रकार एक द्रव्यके दो कार्य नही होते। तीर्थङ्करदेव अपने गुणोकी पर्यायको प्रगट करते हैं किन्तु दूसरेके गुणोकी पर्याय प्रगट नही करते, क्योंकि सामनेवाला जीव स्वत. पुरुषार्थसे प्रगट करे तो हो, इसलिये एक द्रव्यके दो कार्य नही होते। एक वस्तुकी दो क्रियाऐं नही होती। जैसे कि·—आत्मा आत्माकी अवस्थाको भी परिवर्तित करे और शरीरकी अवस्थाको भी परिवर्तित करे, अथवा

आत्मा राग-द्वेषकी अवस्था प्रतिक्षण परिवर्तित करे और द्रव्यकर्मकी अवस्था भी प्रतिक्षण परिवर्तित करे—ऐसा नही हो सकता। इसप्रकार एक द्रव्यकी दो क्रियाऐं नही होती। इसप्रकार प्रत्येक वस्तुका द्रव्य-गुण-पर्यायको, और कर्ताकर्मको अभेददर्शक द्रव्यार्थिकनयसे वस्तु स्थितिका नियम कहा अर्थात् मर्यादा बताई। पर्यायार्थिकनयसे परस्पर दूसरेका कर सकते हैं ऐसा त्रिकालमे नही है व्यवहारसे कथन होता है।

अब कहते हैं कि—आत्माको अनादिकालसे परद्रव्यके साथ माना हुआ कर्ता-कर्मपनेका अज्ञान है, यदि वह परमार्थनयके ग्रहणसे एक बार भी विलीन हो जाये तो पुनः नही आये।

अनादि अज्ञानसे जीव मिथ्यादृष्टि है। वह सब विपरीत ही मानता है, वीतराग कथित स्वरूपको नही मानता इससे उसको कर्ता-कर्मपनेका अज्ञान है, किन्तु यदि यथार्थ परमार्थदृष्टिसे वस्तुस्वभावको ग्रहण करे और एकबार कर्तापनेका नाश करे तो वह पुन. उत्पन्न न हो।

अज्ञानतासे जीव ऐसा मानते हैं कि अमुक भाईने तो दूसरोके लिये बड़े अच्छे कार्य किये हैं, उन्होने जीवित रहना भी जाना और मरना भी जाना। हरी-भरी फुलवारी छोडकर मरे हैं, हरी-भरी फुलवारी अर्थात् क्या? लडके, बहुएँ, धन, मकान इत्यादि हरी-भरी फुलवारी कहलाती होगी? वह तो इनका मोह लेकर मरा है, इसमे क्या तो मरना जाना और क्या जीना?

जीवित अवस्थामे दूसरोंके कार्य करनेका अभिमान करता था—वह भाव लेकर मरा अर्थात् कर्ताभावको साथ लेकर गया और उसके प्रशंसक उसके कर्तापनेका बखान करते हैं अर्थात् दोनो अनादिसे कर्ता-कर्मके अज्ञानमे डूबे हैं, किन्तु ज्ञानभावसे उस कर्ता-कर्मपनेका नाश करे कि मेरे स्वभावमे परका कर्तृत्व त्रिकाल है ही नही—इसप्रकार यदि एकबार भी कर्तृत्व विलयको प्राप्त हो तो वह मिथ्याबुद्धि पुन. न आये। यहाँ तो अप्रतिहत धाराकी ही बात है। अब ५५ वाँ कलश कहेंगे—

(शार्दूल विक्रीडित)

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकै-
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत
तत्किं ज्ञानघनस्य बंधनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

अर्थः—इस जगतमे मोही (अज्ञानी) जीवोका 'परद्रव्यको मै करता हूँ'—ऐसा परद्रव्यके कर्तृत्वका महा अहङ्काररूप अज्ञानान्धकार—जो कि अत्यन्त दुर्निवार है—वह अनादिससारसे चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि अहो ! परमार्थनयका अर्थात् शुद्ध द्रव्यार्थिक अभेदनयका ग्रहण करनेसे यदि वह एकबार भी नाशको प्राप्त हो जाये तो ज्ञानघन आत्माको पुनः बन्धन कैसे हो ? (जीव ज्ञानघन है इसलिये यथार्थज्ञान होनेके पश्चात् ज्ञान कहाँ चला जायेगा ? नही जायेगा। और यदि ज्ञान न जाये तो फिर अज्ञानसे वन्ध कैसे होगा ? कभी नही होगा।)

आचार्य भगवान जगतके जीवोसे कहते हैं कि—इस जगतमे परका मैं करता हूँ और पर मेरा करता है, मैं परका अच्छा-बुरा करता हूँ और पर मेरा,—ऐसा परद्रव्यके कर्तृत्वका महा अहङ्काररूप अज्ञानान्धकार जीवोके अनादि-ससारसे चला आ रहा है, जो कि अत्यन्त दुर्निवार है, उस अज्ञानको सत्यार्थ प्रकाशक अभेदनयका ग्रहण करके यदि एकबार भी नष्ट करदे तो पुनः बन्धन न हो किन्तु मोक्ष ही हो।

कोई कहे कि हम परद्रव्यके कर्तृत्वका अहङ्कार न करे किंतु अनासक्ति भावसे परका कार्य करें तो ?

उत्तरः—जहाँ परका करनेकी इच्छा है वहाँ अनासक्ति भाव ही नही है किन्तु अनन्ती आसक्ति है। परका मैं कर सकता हूँ—ऐसा जहाँ जीवने स्वीकार किया वहाँ तो वह पापी है—मोही है, मूढ़ है, अनन्त आसक्तिका स्वामी है। ज्ञानीके परद्रव्यके कर्तृत्वकी बुद्धि नही

होती, सर्वत्र ज्ञाता ही हूँ स्वतत्र अपनी अपनी योग्यता (–सामर्थ्यसे) ही सबका कार्य होता है ऐसा मानना यथार्थ अनासक्ति है, परन्तु परद्रव्यके कार्यका मैं कर्ता हूँ—प्रेरक हूँ—ऐसी बुद्धि हुई वहाँ अनन्ती आसक्ति है। प्रश्न–व्यवहारनयसे तो परका कुछ कर सकते हैं ? उत्तर– नही, कारण कि–हरेक वस्तु नित्य परिणामी है वह अन्य द्रव्यके कारणसे नही है स्वतः है, 'उपादान निश्चय जहाँ तहँ निमित्त पर होय' ऐसा नियम होनेसे निमित्तको उपचार कारण कब माना जाय उपादान स्वय कार्य परिणत हो–तब तो हरेक द्रव्य निरन्तर परिणत होते ही हैं इसमे दूसरा कोई व्यवहार कर्ता मानना अज्ञानी जीवोका मिथ्या विकल्प है।

जगतके मोही जीवको आसक्ति अनासक्तिकी खबर नही है, संयोगमें एकता बुद्धि होनेसे यह मान रहे हैं कि हम परका कुछ कर सकते हैं, पर हमारा कर सकते हैं वही कर्ताबुद्धि महा मोह है। वह अज्ञान अधकार सम्यग्भानके विना नाश नही होता, सम्यग्ज्ञानरूपी बोधकी किरणोंके विना वह अज्ञान अधकार नाश नही हो सकता।

आचार्यदेव कहते हैं कि अहो! परका मैं नही कर सकता, और पर मेरा नही कर सकता—ऐसा परमार्थनयका ग्रहण करके देख! शुद्ध द्रव्यार्थिकनय अर्थात् पराश्रय रहित पवित्र द्रव्य सो शुद्ध है। आर्थिक अर्थात् उस परसे पृथक् निर्मल वस्तुको देखनेका प्रयोजन और नय अर्थात् उसका ज्ञान। शुद्ध द्रव्यको देखनेका जिसका प्रयोजन है उस ज्ञानके अंशको शुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहते है। आचार्यदेव कहते है कि—शुद्धस्वभावका इच्छुक होकर देख! तो परद्रव्यका अकर्तृत्व ही ज्ञात होगा और अपने स्वभावका कर्ता ही प्रतिभासित होगा। शुद्धस्वभावका ग्रहण करनेसे परद्रव्यका कर्तृत्व छूट जाता है।

कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यका कुछ भी करनेमे समर्थ नही है। आत्माका मात्र स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव है परको जानने पर भी परका कुछ भी करनेमे समर्थ नही है। जिसप्रकार आँख बरफ और

अग्निकी क्रियाको ऊँचा–नीचा करनेमे समर्थ नही है उसीप्रकार आत्मा परको जानते हुए परका कुछ भी करनेमें असमर्थ है ।

पाँच हजार मनुष्य एकत्रित होकर ॐकारका जाप जपे और माने कि इससे क्लेश या रोगादिकी शाति हो जाती है। हमारे शुभभावोका प्रभाव दूसरोको हो वैसा मानकर वे जप करते हैं किन्तु वैसा माननेवाले निरे मूढ हैं। कोई किसीका कुछ नही कर सकता, सामनेवालेके पुण्य-पापका जैसा उदय और उसकी योग्यता हो वैसा वनता है। सम्यक् और मिथ्या अभिप्राय किसे कहना यह वात चलती है ।

कोई वाप ऐसा कहता है कि हम लड़केको वीड़ी पीना छुडाते हैं, किन्तु लड़केने वीडी छोड़ी तो अपने भावसे है न ? लड़केने वीड़ी पीना छोड दिया तो तू उसमे निमित्त कहलाया, यदि लड़का वीड़ी पीना न छोडे और क्लेश करे तो वाप क्लेशका निमित्त कहलाये। कितने ही लोग ऐसा कहते हैं कि हमारी शिक्षा अच्छी थी इसलिये वाल–वच्चे भी अच्छे और सस्कारी हुए और यदि आज्ञा न माने तो कहते है कि हमारी शिक्षाका भी प्रभाव नही होता, किन्तु ऐसे अभिमान और खेद दोनोको छोड़दे और यह मान कि मैं अपने भावोका ही कर्ता हूँ, परभावका कर्ता मैं हूँ ही नही, इसलिये सर्व प्रथम कर्तापनेकी भ्रांतिका नाश कर और ज्ञानघन आत्माका आश्रय करके उसीमे स्थिर हो जा। ज्ञानघन आत्मा ऐसा निर्भेद्य है कि उसमे अज्ञान और राग-द्वेष विकल्प प्रवेश नही कर सकते–उसीका भान कर और उसमे स्थिर हो।

अभेददृष्टि गुण–पर्यायके भेदको स्वीकार नही करती, अपने शुद्धस्वभावको स्वीकार करती है—वह शुद्धद्रव्यार्थिक अभेददृष्टि है। एकबार ही उस भूतार्थनयको ग्रहण कर ! परमार्थनय द्वारा जव क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रगट होता है उससमय दर्शनमोहका नाश होता है। परमार्थदृष्टि अपने पुरुपार्थ द्वारा होती है, काल पके तव होती है—ऐसा नही है, परन्तु जव स्वतः स्वाश्रय निश्चयका पुरुपार्थ करे तव स्वकालकी पक्वता होती है, भ्रान्तिका नाश हुआ वह पुनः उत्पन्न नही होती। यह

तो अल्पज्ञानी गृहस्थदशा मे हो उसीको सम्यग्दर्शनकी वात है, तेरहवें गुणस्थानकी नही । विपरीत मान्यता दूर हो गई उसके पुन. मिथ्यात्वकी उत्पत्ति नही होगी—ससारका उदय नही होना है । वृक्षकी जड नष्ट हो गई, उसके पुन. डालें और पत्ते आदि नही उगते हैं ।

(अनुष्टुप्)

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

आत्मा तो निरन्तर अपने भावोको ही करता है और परद्रव्य परके भावोको करता है; क्योकि जो अपने भाव हैं वह तो स्वत. ही है और जो परके भाव हैं वह पर ही है । (ऐसा नियम है)

आत्मा सदैव-त्रिकाल अपने भावोको करता है । ज्ञानभावसे अपने भावोको करता है और अज्ञानभावसे विकार भावोको कर्ता है परन्तु आत्मा जड़की अवस्था को तो करता ही नही ।

जो शुभाशुभ परिणाम हो वह आत्माकी विकारी पर्याय है, और यदि आत्मा पवित्र भावोको प्रगट करे वह भी अपनी अवस्था है, अपनी अवस्था पृथक् नही है । शरीरादि जडकी अवस्था जडमे होती है ।

प्रश्नः—आप कहते हो कि परका कुछ नही कर सकता, तो उसका प्रमाण क्या है ?

उत्तरः—जड़ और आत्मा—दोनों वस्तुएं स्वशक्ति सपन्न है स्वतंत्र है, वस्तुमेसे स्वत.मेसे अपने गुणोकी अवस्था आती है या परमे से ? जो वस्तु है वह गुणयुक्त होती है या गुणसे रहित ? कोई वस्तु गुणरहित नही होती । गुण स्थायी रहता है अथवा अमुक समय तक ? गुण तो स्थायी ही रहता है । अब यदि गुण स्थायी रहता है तो फिर गुणकी अवस्था भी गुणमेसे ही आती है, प्रत्येक वस्तुमे निजशक्तिसे निरन्तर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत्का यह क्रम बना रहेगा इसलिये किसी भी परका कुछ नही कर सकता । किसीके गुणकी

अवस्था अन्य कारणसे नही होती और न सामनेवालेके गुणकी अवस्था इसके कारणसे होती है, इसलिये सब अपने-अपने भावोंको ही करते हैं।

पुण्य-पापके भाव आत्माके अस्तित्वमें होते हैं, कही वे जडमें नही होते; परन्तु उस विकारको द्रव्यदृष्टि अपना नही मानती। आत्मा सदाय अरूपी ज्ञानमूर्त्ति है—ऐसा भान होनेसे स्वभावकी दृष्टिसे तीव्र रागादि दूर हुए हैं और अल्प रहे हैं उन्हे भी टालना चाहता है; जिन भावोंको दूर करना चाहता है वे भाव अपने नही इससे जड हैं।

अज्ञान भावसे जीव विकारको रखना चाहता है। जहाँ तक विपरीत दृष्टि है वहाँ तक अज्ञानभावसे विकारका उत्पादक होता है इसलिये विकार भाव उसके हैं। यथार्थदृष्टिका भान नही है वहाँ पुरुषार्थ करेगा किसका ? वहाँ तक जो भी भाव हों उनका वह कर्ता होता है। विपरीत मान्यता ही संसार है; यदि विपरीत-मान्यता न हो तो संसार न हो।

जो ऐसा मानता है कि शरीरका, कुटुम्बका, जातिका, संघका, देशका मैंने किया, मैं था इससे सब कार्य भलीभाँति पूर्ण हो गया। होता है उसके अपने आप और वह मानता है कि मैं था इससे संस्था अच्छी तरह चली, नहीं तो अव्यवस्था फैल जाती—इसप्रकार जड़का मैं करता हूँ, ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। ८६।

परद्रव्यके कर्ताकर्मपनेकी मान्यताको अज्ञान कहकर ऐसा कहा है कि जो ऐसा माने वह मिथ्यादृष्टि है; वहाँ आशंका पैदा होती है; शिष्य जाननेके लिये आशंका करके पूछता है, शंकासे नही पूछता। शंका और आशकामें अन्तर होता है:—शका अर्थात् सदेह—कि यह वस्तु ऐसी होगी या नही और आशका अर्थात् इसमे यह किसप्रकार होगा वह जाननेकी जिज्ञासा, इसप्रकार शंका और आशकामें अन्तर है। शिष्य यहाँ जाननेके लिये आशंकासे पूछता है कि प्रभो! यह जो विपरीत मान्यतारूप मिथ्या भाव हैं सो क्या वस्तु है? प्रभो! पहले तो आपने कहा था कि विपरीत माननेवाला सर्वज्ञके मतसे बाहर है, आत्मा और जड़की-अवस्था प्रतिक्षण होती है, उसमें आत्माकी

अवस्थाको जडका कार्य माने या जड द्वारा उत्पन्न होनेवाली माने और जडकी अवस्थाको आत्माका कार्य माने या आत्मा द्वारा उत्पन्न होनेवाली माने—इसप्रकार तत्त्वको विपरीत माननेवाला सर्वज्ञके मतसे बाहर है।

वे मिथ्यात्वभाव, पुण्य–पापके भाव, हर्ष-शोक, काम-क्रोध आदिके भाव वस्तु क्या हैं ? उन भावोको यदि जीवका कहा जाये तो पहले उन रागादि भावोको पुद्गलके परिणाम कहा था, उस कथनके साथ विरोध आता है, वे विपरीत मान्यता और राग-द्वेषादिके भाव यदि पुद्गलके कहे जायें तो जिसके साथ जीवको कोई प्रयोजन नही है उसका फल जीव कैसे पाये ? जीव कैसे भोगे ? शिष्य कहता है कि—प्रभो ! आप कही तो रागादि जीवके परिणाम कहते हो और किसी समय वे पुद्गलके परिणाम कहते हो, वातको कही ठिकाने पर नही लाते जैसे घरमे पाँच मनुष्य हों और सभी सम्मिलित होकर किसी वातका निर्णय करते हो उसमें कुछ निश्चित् न हो सके तो घरका समझदार मनुष्य कहता है कि वातको तय करो ना ? पक्का करो ! हिलाते-डुलाते क्यों हो ? उसीप्रकार शिष्य कहता है कि–प्रभो ! वातको तय करो, अन्तिम निर्णय दो; यदि राग-द्वेषको जीव परिणाम कहोगे तो पहले आपने उन्हे पुद्गलका कहा है, और यदि जडका कहोगे तो जो अवस्था पुद्गलकी हो उससे हमे क्या लेना–देना है ? जिसके साथ हमे कोई सरोकार नही है उसका फल हम क्यो भोगें ? कर्मके घर यदि राग-द्वेष हो तो उसके घर रहे, उससे हमें क्या ? भगीके घरमे भंगी झगडा करे इससे हमें क्या मतलव ? इसप्रकार आशंका करके समझना चाहता है। शिष्यकी आशका दूर करनेके लिये अव गाथा कहते हैं:—

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं।
अविरदि जोगो मोहो कोहदीया इमे भावा ॥८७॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानम्।
अविरतिर्योगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥८७॥

अर्थः—पुनश्च, जो मिथ्यात्व कहा वह दो प्रकारसे है—एक जीवमिथ्यात्व और दूसरा अजीवमिथ्यात्व, और इसीप्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और क्रोधादि कषाय—यह भाव जीव और अजीवके भेदसे दो-दो प्रकारसे हैं।

मिथ्यात्वके दो प्रकार हैं, परपदार्थको अपना माननेरूप विपरीत–अभिप्राय सो जीवमिथ्यात्व है, उसका बाह्य निमित्त पाकर रजकण मिथ्यात्व-कर्मरूप परिणमित हो वह अजीवमिथ्यात्व है। जीव विपरीत भाव करे तो उससमय पूर्व कर्म निमित्त होता है। विपरीत मान्यताके भावोके समय दर्शनमोहनीयकर्मका उदय निमित्तरूप है।

अपने स्वज्ञेय ज्ञायकस्वभावको भूलकर मात्र परको ज्ञेय करे और उस परज्ञेयको अपना माने—वह जीवअज्ञान है। उस जीव-अज्ञानके उल्टे भावोके समय ज्ञानावरणीय कर्मके उदय जो निमित्त-मात्र है—वह अजीवअज्ञान है। जडकर्म आत्माको विपरीत भाव नही करा देता किन्तु जब जीव स्वतः विपरीत भाव करता है उससमय जडकर्मके उदयका निमित्त होता है।

परपदार्थके प्रति जो आसक्ति है उसका अत्यागभाव सो जीव अविरति, अपने स्वरूपमे स्थिर न रहकर अस्थिर हो जाये वह अविरति। सम्यग्दर्शन होने पर परपदार्थकी आसक्तिका श्रद्धामेसे त्याग हो गया हो, जो–जो राग-द्वेषके परिणाम आये उनसे पृथक् भान प्रवर्तमान हो, तथापि अस्थिरतामेसे आसक्ति न छूटी हो उसका नाम जीवअविरति है, उस जीवअविरतिके समय अप्रत्याख्यानावरणीयादि चारित्रमोहका उदय निमित्त है—वह अजीवअविरति है।

आत्मप्रदेशोंका कम्पन सो जीवयोग है। मनयोग, वचनयोग और काययोगकी प्रकृतिका उदय सो जडयोग है।

आत्माका असावधानरूप भाव–वह जीवमोह है, और उस भावके समय मोहनीयकर्मका उदय निमित्त है सो अजीवमोह है।

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक इत्यादि कषायभाव जीवके परिणाममे होते हैं—वह जीवक्रोधादि है। उन भावोंके समय द्रव्यकर्मरूप क्रोधादि कर्म उदयमे है—वह जडक्रोधादि है।

इसप्रकार समस्त विकारीभावोमे जीव-अजीव दो-दो प्रकार है। सम्यग्दर्शनकी भूल मिथ्यात्व, ज्ञानकी भूल सो अज्ञान, चारित्रकी भूल अस्थिरता, मोह और क्रोधादि चारित्रकी भूलमे समावेश हो जाता है।

मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जो भाव हैं वे प्रत्येक, मयूर और दर्पणकी भाँति, अजीव और जीव द्वारा भाया जानेसे अजीव भी हैं और जीव भी हैं।

जैसे-नीला, पीला, हरा आदि भाव (वर्णका अस्तित्व) जो मोर द्वारा भाया जाता है-बनते हैं—होते है, वह मोर ही है। मोरके शरीरमे और पखोमे जो नीला, हीरा, पीला आदि रङ्ग है वह मोर ही है और दर्पणमे प्रतिबिम्बरूपसे दिखाई देता नीला, पीला, हरा, सुनहरी, आदि भाव—वह दर्पणकी विकारी पर्याय है, दर्पणकी स्वच्छताका वह विकार है। इसलिये दर्पणमे पडनेवाला मोरका प्रतिबिम्ब और मोर-दोनो भिन्न वस्तुएँ हैं। दर्पणमे मोरके आकारकी जो विकारी पर्याय होती है वह दर्पणका मूलस्वभाव नही किन्तु विकारी-पर्याय है, मोरका जो रङ्ग दर्पणमे दिखाई देता है वह दर्पणकी विकारी पर्याय है, दर्पणकी योग्यतानुसार ही उसकी पर्याय होती है। दर्पणके सामने मोर पखोको रखा जाये तो दर्पणकी अपनी योग्यताको लेकर उसमे प्रतिबिम्ब पडता है, परन्तु निमित्तको लेकर प्रतिबिम्ब नही पडता। निमित्त तो मात्र निमित्त ही है, यदि निमित्तको लेकर प्रतिबिम्ब पड़ता हो तो लकडीमे भी प्रतिबिम्व पडना चाहिये, किन्तु उसमे प्रतिबिम्ब नही पडता। इससे यह सिद्धान्त हुआ कि निमित्तको लेकर प्रतिबिम्ब नही है, किन्तु दर्पणकी अपनी योग्यता नीले, पीले, हरे, सुनहरी आदि रङ्गकी अवस्था होनेकी थी इससे उससमय मोर पखोका निमित्त बन जाता है। दर्पणकी स्वच्छता

परिवर्तित होकर नीले, पीले, हरे आदि अनेक प्रकारकी हो जाती है, तथापि उसकी स्वच्छताका नाश नहीं होता। विकारी अवस्था स्थायी नहीं, किन्तु क्षणिक है।

सामने अग्नि जल रही हो तो क्या दर्पण उससे गर्म हो जायेगा ? नही होगा। लाल अग्नि सामने है, वैसा प्रतिविम्ब दर्पणमें पड़ता है—दिखाई देता है, वह दर्पणकी योग्यता है, दर्पणकी स्वच्छताका विकार है, विकार है अवश्य, किन्तु विकार नहीं ही है—ऐसा नही है, विकार भ्रम है—ऐसा नही है, किन्तु विकारका पर्यायरूप क्षणिक अस्तित्व है।

जैसे मोरके लाल, पीले आदि रङ्ग मोरमें हैं और दर्पणके रङ्ग दर्पणमें हैं, उसीप्रकार मिथ्यात्वभाव जीवकी पर्यायमे होते हैं वह जीवमिथ्यात्व है, वह जीवकी विकारी अवस्था है और मिथ्यात्वभाव होनेमे उपस्थित निमित्त—कारण जड़ मिथ्यात्व है, यह शरीर मेरा है, यह राग मेरा भाव है, मैं उस राग, शरीर, मकान आदिका कर्ता हूँ—वैसी विपरीत मान्यताका भाव जीवका है और जैसे दर्पणके प्रतिबिंबके सम्मुख मोर है उसीप्रकार जीवका मिथ्यात्वभाव होनेके समय जड़कर्ममे मिथ्यात्व नामकी प्रकृतिका उदय है—वह निमित्तरूप है।

कोई कहे कि आत्मामें अज्ञानभावसे भी विकार नही होता, तो वह बात बिल्कुल अयथार्थ है, अवस्थामे विकार होता है, अवस्थामें विकारका अस्तित्व है। यदि पर्यायमें विकार न हो तो संसार ही न हो, और जब संसार न हो तो मोक्ष भी न हो। यदि अवस्थामें विकार न हो तो फिर उसे दूर करनेके लिये पुरुषार्थ करनेका प्रयोजन क्या ? सत्य समझनेका कारण क्या ? देव, गुरु, शास्त्रकी भक्ति भी अशुभभावरूप विकारको दूर करनेके लिये है, यदि पर्यायमें शुभअशुभ विकार न हो तो फिर देव, शास्त्र, गुरुकी भक्ति करना उपदेश आदिका कारण क्या ? इसलियेपर्यायमें शुभाशुभभावरूप विकार है. और उसे दूर करनेका उपाय भी है। आत्मा परसे तीनोंकाल निराला, परमपवित्र, शुद्ध, चिदानन्द है, उसकी पहिचान करके, श्रद्धा करके, उसमे स्थिर होना सो शुभाशुभ

विकारको नष्ट करनेका उपाय है।

जिसप्रकार दर्पणकी अपनी योग्यताके कारण मोरका प्रतिविम्व पडता है उसीप्रकार आत्माकी अपनी योग्यताके कारण मिथ्यात्वरूप अवस्था होती है। जड़ मिथ्यात्वप्रकृति कही चैतन्यकी मिथ्यात्वरूप अवस्थाको नही कर देती किन्तु चैतन्यकी अपनी योग्यताके कारण वह स्वतः ही विपरीत वीर्य द्वारा विकारमे युक्त होता है—इससे मिथ्यात्व अवस्था होती है। विपरीत मान्यता होनेका निमित्त सम्मुख उपस्थित है, उस ओर यदि स्वत झुकाव करे तो अपनेमे विपरीत अवस्था होती है, उस ओर झुकाव न करे और अपने नित्य स्वभावकी ओर लक्ष दे तो सम्यक्‌अवस्था होती है किन्तु मिथ्यात्व-अवस्था नही होती।

स्व-पदार्थ कौन है उसे न जाने परन्तु मात्र परको ही जाना करे—वह अज्ञान आत्माकी अवस्थामे होता है। वैसी अज्ञान अवस्था होते समय सम्मुख ज्ञानावरणीय कर्मका उदय निमित्तमात्र उपस्थिति-रूप होता है—वह जड अज्ञान है।

सम्यग्दर्शन होने पर चतुर्थ भूमिका प्राप्त होती है, उस चतुर्थ भूमिकामे पर-पदार्थके प्रति रुचि छूट जाती है, किन्तु अल्प आसक्ति रहती है वह अविरति है। जो आसक्तिरूप परिणाम चैतन्यकी पर्यायमे होते हैं वह चैतन्य अविरति है और अविरतिका निमित्त जो अप्रत्या-ख्यानावरणीय प्रकृतिका उदय है—वह जड अविरति है। अविरतिके पश्चात् पाँचवे और छट्ठे गुणस्थानमे अल्प क्रोधादिकषाय होती है—उसमे चैतन्यकी अवस्थामे होनेवाले क्रोधादि चैतन्य विकार है और उससमय सामनेवाले निमित्तमे जडकर्मका उदय हो—वह जडकषाय है। आत्माका प्रदेशोका कम्पन सो चैतन्ययोग है और उससमय निमित्तमे नामकर्मकी प्रकृतिके योगका उदय है—वह जडयोग है।

अज्ञान और अस्थिरता चैतन्यके विकार मात्रसे भाया जाता है अर्थात् वनते हैं। परका मैं कर्ता हूँ, पर मुझे मुक्ति दे देगा, मैं उसे मुक्ति दे दूँगा—वैसे मिथ्याज्ञानमय विकल्पोका विकार चैतन्यकी

पर्यायमे होता है, जीव द्वारा वह वनाया जाता है और उस भावका निमित्त जो अजीव प्रकृति है वह जड़ द्वारा वनानेमें आती है।

जड़की अवस्था जड़मे होती है और आत्माकी भूलरूप अवस्था आत्मामे होती है। दृष्टान्तमे मोरको जड़कर्मप्रकृतिकी उपमा दी है और दर्पणको आत्माकी उपमा दी है।

आत्मामे विकार होता है वह स्वतःमे होता है या परमें ? स्वतःमे ही होता है। चैतन्यकी अवस्थामे कही परवस्तु विकार नही करा देती, विकार होनेमे सम्मुख अन्य वस्तुकी उपस्थिति है अवश्य, किन्तु वह कही विकार नही करा देती। यहाँ तो दो वस्तुएँ सिद्ध करना है "इकना एक और दूनी दो" दो हो तो विगड़ती है, दो चूड़ियाँ एकत्रित हो दो खड़खड़ाहट होती है, उसीप्रकार आत्मा यदि अकेला हो और स्वसन्मुख हो तो भूल नही होगी, किन्तु परवस्तु पर दृष्टि डालता है तव भूल होती है। जैसे कोई पुरुष परस्त्री पर दृष्टि डाले तो भूल होती है, वैसे ही आत्मा अपने स्वभाव पर दृष्टि डाले तो भूल नही होती किन्तु परके ऊपर दृष्टि डाले तो भूल होती है, इसलिये आत्माको विकार होनेमे परवस्तु सामने होती है परन्तु परवस्तु विकार नही करा देती।

जव आत्मा राग-द्वेषके भाव करे उससमय सम्मुख जडकर्मका वाह्य निमित्त कारण है। यदि स्वमे दृष्टि करे तो अपने स्वभावमे रहा और यदि परमें दृष्टि की तो तुझमे विकार हुआ। आत्मामे जो मिथ्यात्व और अस्थिरताकी अवस्था होती है वह आत्माकी है और जड़कर्मकी अवस्था जड़कर्ममें है।

दर्पण मूलद्रव्य नही, किन्तु अनन्त परमाणु द्रव्यकी पर्याय है, तथापि सम्मुख निमित्त हो तो प्रतिविम्वका परिणमन उसमे अपने द्वारा होता है—ऐसा स्वभाव है। रजकणमे परिवर्तन हो वह उसकी अपनी योग्यता है। खाते हैं स्वच्छ चावल और उसका रक्त लाल हो जाता है, विष्टा वन जाता है; उसीप्रकार एकदम पुद्गलकी अजीव शक्तिसे पुद्गलका परिणमन हो जाता है—वह पुद्गलका अपना स्वतत्र

परिणमन है। जिसप्रकार पुद्गलका परिणमन स्वतंत्र है वैसे ही आत्माका परिणमन भी स्वतंत्र है, जडकी अवस्था जड़मे होती है और आत्माकी आत्मामे। वस्तु स्वरूप जैसा है उसीप्रकार उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमे स्थिर हो तो मोक्ष हुए बिना न रहे।

आत्मामे जो क्रोधादि होते है वह आत्माका अरूपी विकार है और उसीप्रकार जो जडप्रकृति मिथ्यात्वादि हैं वह जडका विकार है, आत्मा और कर्म-दोनो एक स्थानमे रहते हैं किन्तु जडका भाव जडमे है और चैतन्यका चैतन्यमे, दो वस्तुएँ पृथक्-पृथक् हैं।

दर्पणके सम्मुख यदि मोर खडा हो तो उसमे मोर ही दिखाई देता है, इससे जगतके जीवोको भ्रम हो जाता है कि बाहरका मोर दर्पणमे कैसे प्रवेश कर गया होगा! उसीप्रकार आत्मामे राग-द्वेष, हर्ष-शोकके भाव हो उससमय सम्मुख उसीप्रकारके कर्मका निमित्त उपस्थित होता है, इससे जीवोको ऐसा भ्रम हो जाता है कि कर्मने मुझे राग-द्वेष, हर्ष-शोक कराया, परन्तु वह कर्म नही कराता, स्वतः विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विकारमे युक्त होता है इससे विकार होता है।

यह शरीर स्थूल मिट्टी है, वैसे ही कर्म भी सूक्ष्म रज है, वह आत्मामे विकार होनेमे निमित्त है। जैसे दर्पणमे स्वच्छता है, उसीप्रकार आत्माकी ऐसी निर्मलता है कि कर्मका उदय आने पर यदि स्वत उसमे युक्त होता है तो उससे विकार होता है। यदि उसप्रकार की निर्मलता होगी तभी तो विकार होगा न? ऐसी योग्यता न हो तो फिर विकार भी क्या होगा? आत्मामे ऐसी निर्मलता है इससे विकार होता है।

जिसप्रकार दर्पणके सम्मुख मोरके आने पर उसका रङ्ग नीला, पीला आदि हो जाता है वैसे ही आत्माके ज्ञाता-दृष्टा आदि निर्मल स्वभाव है लेकिन उसीका भान नही है, इसलिये जो उदयमे आता है उसमे युक्त होने पर स्वच्छ उपयोग उस आकारका हो जाता है। चैतन्यमूर्ति आत्मा पृथक् है, उस का भान नही है, इसलिये अज्ञानी ऐसा मानता है कि आत्मा क्रोध-मान-माया आदि रूप हो गया है।

जैसे दर्पणमें मोर प्रविष्ट हो गया हो ऐसा अज्ञानीको लगता है, उसीप्रकार विकार आत्मामे प्रविष्ट हो गया हो—ऐसा अज्ञानीको प्रतिभासित होता है, परन्तु विकार आत्मामे प्रविष्ट नही हो गया है, वह आत्माका स्वभाव नही है।

पौद्गलिक कर्मका उदय तो निरन्तर होने पर यदि जीव मोह-भावरूप परिणमे तो अपनेमे मलिनदशा होती है, मिथ्यात्वादि कर्मका उदय तो ज्ञेय है उसका स्वाद तो पुद्गलमे उत्पन्न होता है परन्तु स्वभाव परभावका अज्ञान होनेसे अज्ञानी मान बैठता है कि यह स्वाद मेरा है। कर्म जड़ अचेतन है उसके कारण जीवमे मिथ्यात्वादि नही होता। स्वतः परकी ओर झुकाव करे उससे विकारका परिणमन होता है, वहाँ अज्ञानी मान लेता है कि विकार मेरा स्वभाव है, यह मुझमेसे उत्पन्न होता है। विकार ज्ञानमे ज्ञात होता है वहाँ अज्ञानी मान लेता है कि यह विकार मेरा स्वभाव है।

पर जीवोकी दया, भक्ति, पूजा, दान आदि पुण्यभाव और हिंसा, चोरी आदि पापभाव–वे दोनो विकार हैं, वह मैं नही हूँ, वह मेरा कार्य नही, वह मेरा स्वरूप नही है मैं ज्ञायक स्वरूप ही हूँ—ऐसा जब स्वतः जान लेता है तब उसरूप परिणमित नही होता, जब उसका भेदज्ञान होता है तब जीवभावको जीव जानता है और अजीव-भावको अजीव जानता है; मैं तो ज्ञाता–दृष्टा ही हूँ—ऐसा भान होने पर अजीव कर्म भाव कर्मका जानता है और आत्माका भाव आत्माका जानता है।

मोर दर्पणमे नही है, किन्तु उसका प्रतिबिम्ब दर्पणकी स्वच्छताका विकार है, परद्रव्य दर्पणमे कुछ कर नही सकता, दर्पणकी ही अवस्था उसरूप होती है। मोरका प्रतिबिम्ब दर्पणमे कहा है, अर्थात् कही मोरका स्वभाव दर्पणमे प्रविष्ट नही हो गया है। मोरमें दर्पणकी नास्ति है और दर्पणमे मोरकी नास्ति है, मात्र निमित्त–नैमित्तिक संबंध है। दर्पणमे जब उसप्रकारकी अवस्था होना हो

उससमय मोर उपस्थित होता है—इतना सम्बन्ध है, इससे मोरका प्रतिबिम्ब दर्पणमे है—ऐसा उपचारसे कहा है।

दर्पण अनन्त रजकणोका पिण्ड है, अखण्ड–पूर्ण द्रव्य नही है, किन्तु स्कन्ध है, इसलिये क्षण-क्षणमे सफेद, नीला, हरा, पीला आदि भंगवाला परिणमित दिखाई देता है, वह पूर्ण द्रव्य नही है इससे वैसे भग दिखाई देते है। जब दर्पणमे मोरकी अवस्था होना हो उससमय मोर उपस्थित होता है।

कोई कहे कि मोर उपस्थित न हो तो अवस्था नही होती, किन्तु भाई! द्रव्यमे क्रमानुसार त्रिकालकी अवस्थायें होनेकी शक्ति भरी हुई है। वह क्रमवद्ध अवस्था होनेकी योग्यता हुई, वह समय आया वहाँ मोर उपस्थित होता है, यदि योग्यता न हो तो उससमय मोर उपस्थित नही होता, किन्तु योग्यताके समय मोर उपस्थित होता ही है—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध है। यदि निमित्त न हो तो उतने समय तक दर्पणकी योग्यता उसकी वाट देखे ऐसा पराधीन वस्तुस्वभाव नही है। दर्पणकी योग्यता मोरके वशमे नही है और मोर दर्पणके वशमे नही है किन्तु जब योग्यता होती है उससमय मोर उपस्थित होता ही है—ऐसा सम्वन्ध है। दर्पणकी अवस्था सफेदसे नीली हुई, वह दर्पण स्वतः परिणमित हुआ है या मोर परिणमित हुआ है? दर्पण स्वतः परिणमित हुआ है मोर नही। वह दर्पणकी पर्याय है किन्तु मोरकी नही, वह दर्पणका विकार है किन्तु उसका मूल स्वभाव नही है।

उसीप्रकार आत्मामे जो विकार होता है वह आत्माकी पर्याय है, उससमय कर्मके उदयका निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा सम्वन्ध है। विकार आत्माका मूल स्वभाव नही है किन्तु स्वतः कर्मके निमित्तके आधीन होनेसे अपनेमे विकार होता है, द्रव्यदृष्टिसे वह विकार अपना नही है किन्तु पर्यायदृष्टिसे अपना है। भेदज्ञान होनेसे सम्यग्दृष्टि जीव द्रव्यदृष्टिसे उस विकारको परका जानते हैं, क्योकि वह क्षणिक–नाशवान

होनेसे अपना स्वभाव नहीं है, और पर्यायदृष्टिसे अपनी वर्तमान पर्यायमें होता है इसलिये क्षणिक अवस्था पर्यन्तको अपना जानते हैं।

जब स्वतः राग-द्वेष करता है उससमय ऐसा कहा जाता है कि कर्मका विपाक निमित्त है और जब स्वतः राग-द्वेष और अज्ञानको दूर करे अर्थात् वह कर्मको अभावरूप निमित्त—निर्जराका निमित्त है—वैसा कहलाया। होनेयोग्य राग-द्वेषको स्वतः दूर किया वहाँ निमित्तका अभाव हुये बिना नहीं रहता। कर्म उनके अपने कारणसे स्वतः दूर हो जाता है, जीव उसे दूर नहीं करता, उसे दूर करनेको स्वतः कर्ता नही है। एक वस्तुमें अन्य वस्तुकी नास्ति है; नास्ति है इससे परवस्तुका कुछ कर ही नही सकता। कर्मका उदय अपनेको राग-द्वेष और अज्ञान नहीं कराता; जब स्वतः राग-द्वेष और अज्ञान करता है उससमय अजीव कर्मके उदयकी उपस्थिति होती है।

वस्तुमें स्वभाव भरा हुआ है, राग-द्वेष अवस्थाको दूर करनेका पुरुषार्थ स्वतः करे तो होता है, मलिन अवस्था स्वतः करता है और स्वयं ही उसे दूर करता है।

प्रश्नः—पुरुषार्थ करनेमें कर्म आड़े नहीं आते ?

उत्तरः—नहीं !

प्रश्नः—तो फिर अभीतक पुरुषार्थ क्यों नहीं हुआ ?

उत्तरः—द्रव्य अकारण पारिणामिक है, उसे कोई कारण लागू नहीं पड़ता। स्वतः अपनेमें पुरुषार्थकी गति करे तो स्वभावका कार्य हो और पुरुषार्थकी गति परोन्मुख भावोंकी ओर करे तो पराश्रयरूप विकारका कार्य आये।

प्रश्नः—पुरुषार्थ जागृत न होनेमें पूर्व कर्मका कोई कारण तो होता है न ?

उत्तरः—पूर्वके परिणमनका वर्तमानमें अभाव है, अभावमेंसे लाभ हानि नहीं हो सकती स्वतः ही पूर्वमें वीर्यशक्तिको हीन किया है और वर्तमानमें सशक्त—उग्र भी स्वतः कर सकता है। निमित्तको

और अपनी पूर्व पर्यायको तो मात्र आरोप लगाया जाता है। अपनी परिणमन शक्ति स्वत. उग्र करनेसे होती है, वर्तमान ताकत द्वारा हीन और उग्र करनेकी शक्ति स्वत मे है, उसमे कर्मका कारण नही है।

मैं परसे निराला, अखण्ड ज्ञायकमूर्ति हूँ—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करके स्वमे स्थिर नही हुआ, इसलिये अपना परिणमनचक्र हीन हुआ, उसमे कर्मका कारण नही है, परिणमन चक्रको उग्र करनेकी शक्ति भी स्वत मे ही है। कर्मकी आत्मामे नास्ति है, वह आत्माका कुछ नही कर सकता, वह तो धर्मास्तिकायकी भाँति मात्र निमित्तरूप है। अपनी परिणमन शक्तिको स्वत. हीन बनाया, इससे ऐसा आरोप लगाया जाता है कि कर्मका उदय निमित्त है। द्रव्यमे वीर्य भरा हुआ है, परन्तु पर्यायमे स्वतः वीर्य प्रगट नहीं किया इससे वह प्रगट नही होता, कर्मको मात्र आरोप दिया जाता है। अपनी परिणमन शक्तिको स्वत उग्र करे तो कर्मका उदय दूर हो जाता है और वह कर्मको निर्जराका निमित्त कहलाता है। औंधा गिरे तो अपने भावसे और सीधा बैठे तो अपने भावसे, कोई उसे प्रेरक, सहायक नही है। वस्तु, गुण और पर्याय स्वतः अपनेसे हैं, उन्हे कोई अन्य आधार, सहायक नही है।

जब स्वतः जितना अशरूप क्रोधमे युक्त हुआ तब सम्मुख कर्मके उदयको उतना अश मात्ररूप क्रोधका निमित्त कहा, और यदि अपने स्वभावमे युक्त हुआ इससे वह कर्मको निर्जराका निमित्त कहा। स्वत युक्त हो अथवा न हो, किन्तु कर्मका उदय तो प्रतिसमय खिर ही जाता है।

कर्मका उदय तो उत्पाद रूपसे है, क्रोधमे युक्त हो तो वह उत्पादको उदय कहलाता है और अपने स्वरूपमे जागृत हो तो वह उत्पादको निर्जरा हुई अर्थात् व्यय हुआ कहलाता है।

जिससमय जड कर्मका उदय है उससमय जीव उसमे युक्त हुआ तो वह मोहादि कर्मके उदयको विपाकरूप उदय अर्थात् बन्धका निमित्त कहलायगा और उसीसमय स्वयं यदि स्वसन्मुख ज्ञाता रहे—ज्ञानमे युक्त हुआ—रागमे युक्त न हुआ तो उसीसमय वह जडकर्मोकी

उदयरूप अवस्थाको निर्जरा कहदी, जीवने मोहभाव उत्पन्न न किया तो सामने कर्मका उदय जो उत्पादरूप अस्ति पर्याय है उसीको उसीसमय व्ययरूप—नास्तिरूप कहनेमे आयी, जीवकी पर्यायमे योग्यतानुसार कर्ममें उपचार किये जाते हैं। जीवके परिणाम अनुसार सामने अजीव कर्ममे नाम पड़ते हैं, जड़ कर्मके अनुसार डिग्री टू डिग्री जीवको विकार करना पड़ता है ऐसी मान्यता मिथ्या है।

जिसने यह माना कि मैं परवस्तुके आधीन हूँ, उससमय उसे रागद्वेष और मिथ्यात्व हुए बिना नही रहता, यदि उसी क्षण ऐसा भेदज्ञान करे कि मैं नित्य ज्ञानमूर्ति हूँ स्वाधीन हूँ, स्वमे ज्ञातारूप सावधान रहूँ—जितने अशमे रागादिमे युक्त न होता उतनी निर्जरा होती है। [आशिक शुद्धिकी वृद्धि और अशुद्धिकी हानि 'निर्जरा' है] जितने अंशमे युक्त नही होता—अर्थात् रागमे अल्प जुड़ता है वह भी न हो तो उत्कृष्ट वीतरागता हो जाय, स्वद्रव्य स्वभावका उग्र आलवनका वल द्वारा उत्कृष्टरूपसे अपनेमे स्थिर—निश्चल हो जाय तो जैसी पूर्णताकी श्रद्धा थी वैसा ही पूर्ण चारित्र हो जाय—पूर्ण वीतरागता प्रगट हो जाय। यदि पूर्ण वीतरागता न हो तथापि सम्यग्भान और आशिक वीतराग भाव होता है उसके जो अल्प राग-द्वेष होता है वह अपनी निर्बलताके कारण होता है, कर्मके कारण पुरुषार्थ मन्द नही है, किन्तु अपनी कमजोरी—च्युतिके कारण पुरुषार्थ मन्द है। रागद्वेष चैतन्यका रूप नही है मेरे अस्तित्वमे रागादि है ही नही—ऐसी दृढ श्रद्धा होते ही उतना राग-द्वेष उत्पन्न होता नही।

कर्मके कारण मुझे रागादि होते हैं ऐसा माननेवालोको जडकर्मकी गाठ वढे बिना नही रहती—ससारकी वृद्धि हुए विना नही रहती, रागद्वेष हुए विना नही रहता। जैसे व्याह हो रहा हो उससमय मृत्युका समाचार देना व्याहके उत्सवमे हानि पहुँचाना है इसप्रकार जागृत चैतन्य स्वभाव अपने कारणसे अपने कार्य—पर्यायरूप प्रवाहित—परिणमित होता है उसे जड़कर्मके कारण विगड़ना वताना—तत्त्वदृष्टि मृत्यु वताना है।

ज्ञानी भेदज्ञान द्वारा अपना पूर्ण सामर्थ्यको सम्हालकर चैतन्य स्वभावमे दृष्टि रखकर स्वाधीनताकी शोभामे वर्तता है, उसे बन्धनकी शंका ही नही–जडकर्मकी ओर दृष्टि देता ही नही। अपने स्वभावको यदि इसी क्षण प्रगट करना चाहे तो मोक्ष हो सकता है–स्वभाव अपनेसे दूर नही है, किन्तु हमारे पुरुषार्थकी निर्बलतासे देर लगती है, उसमे कर्मका कोई कारण नही है।

अब शिष्य प्रश्न करता है कि आपने मिथ्यात्वादिकको जीव और अजीव कहा है—वह कौन है? उसका उत्तर कहते है—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अण्णाणमज्जीवं।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु॥८८॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिज्ञानमजीवः।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु॥ ८८॥

अर्थः—जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान अजीव है वह तो पुद्गलकर्म है, और जो अज्ञान, अविरति और मिथ्यात्व जीव है वह उपयोग है।

८७ वी गाथामे जीवमिथ्यात्वादि और अजीवमिथ्यात्वादि इसप्रकार दो भेद किये, उससमय शिष्यने पूछा कि प्रभो! अजीव, मिथ्यात्व कौन है? क्या धर्मास्तिकाय है? अधर्मास्तिकाय है? पुद्गलास्तिकाय है? आदि अजीव पदार्थोंमेसे कौन है? और जीव-मिथ्यात्वादि कौन है? उसका उत्तर इस ८८ वी गाथामे देते हैं कि–अजीवमिथ्यात्वादि पुद्गलकर्म है और जो जीवमिथ्यात्वादि है वह जीवका उपयोग है–इसप्रकार दोनो गाथाओमे इसप्रकारका अन्तर है।

मिथ्यात्व अर्थात् विपरीत मान्यता, अज्ञान अर्थात् विपरीत ज्ञान, और अविरति अर्थात् चारित्रगुणका विकार यह तीनो अवस्थाएँ हैं, तीनो उपयोगरूप हैं, और तीनो चैतन्यका अरूपी विकार है।

निश्चयसे जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति, इत्यादि अजीव है वह तो अमूर्तिक चैतन्य परिणामसे अन्य–ऐसा मूर्तिकपुद्गलकर्म है,

और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव है वह मूर्तिक पुद्गलकर्मसे अन्य-ऐसा चैतन्य परिणामका विकार है।

आत्मा राग-द्वेषरहित तत्त्व है, वह पुद्गलकी अवस्थासे अन्य ऐसा चैतन्यद्रव्य है। मैं रागी-द्वेषी आत्मा हूँ वैसी मान्यता जीवका विकार भाव है, मिथ्यात्व है। जो ज्ञान एकमात्र परद्रव्यको ही जाने किन्तु अपने स्वद्रव्यको न जाने वह ज्ञान नही किन्तु अज्ञान है, और वीतरागस्वरूप न रहकर राग-द्वेषरूप अस्थिर हो वह जीवका अविरतिरूप विकारभाव है। ८८।

अब पुनः प्रश्न करता है कि मिथ्यादर्शनादि चैतन्य-परिणामोंका विकार कहाँसे हुआ ? उसका उत्तर देते हैं:—

उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि मोहजुत्तस्स।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥८९॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥८९॥

अर्थः—अनादिसे मोहयुक्त होनेके कारण उपयोगके अनादिसे लेकर तीन परिणाम हैं; वह मिथ्यात्व, अज्ञान, और अविरतिभाव (यह तीन) जानना।

अनादिसे मोहयुक्त अर्थात् स्वरूपको भूलकर, उपयोग अर्थात् चैतन्यके व्यापारके तीन परिणाम हैं, मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति—यह तीन हैं।

यद्यपि निश्चयसे अपने निजरससे ही सर्व वस्तुओंका, अपने स्वभावभूत ऐसे स्वरूपपरिणमनमे सामर्थ्य है, तथापि (आत्माको) अनादिसे अन्य-वस्तुभूत मोहके साथ संयुक्तता होनेसे, आत्माके उपयोगका मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति—ऐसा तीनप्रकारका परिणामविकार है।

यथार्थ दृष्टिसे देखने पर प्रत्येकका अपने स्वरूपपरिणमनमें ही सामर्थ्य है, उसीप्रकार आत्मामे भी अपनी निर्मल अवस्था होनेका

ही वल है, अपनी शक्तिसे स्वमें ही परिणमन करता रहता है, द्रव्य-गुण और उसकी नित्य कारणपर्यायसे द्रव्य स्वतःमे ही परिणमित होता रहता है, अपने रससे ही स्व-स्वभावभूत अर्थात् अपने त्रिकाल स्वतः स्वभावभूत स्वरूपमे परिणमन करनेका ही सामर्थ्य है। प्रत्येक वस्तु द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे स्वभावभूत परिणमित होनेकी सामर्थ्ययुक्त है। आत्मामें दयाकी, अथवा भक्ति इत्यादिकी कोई भी वृत्ति उठे वह आत्माकी स्वभावभूत पर्याय नही है; आत्मामें राग-द्वेष-रूप होनेका स्वभाव है ही नही। समस्त पदार्थोंमे अपने-अपने स्वभावानुकूल ही अवस्था होनेका सामर्थ्य है। प्रत्येक वस्तुका जैसा स्वभाव है वैसी ही उसकी अवस्था द्रव्यरूप ही होती है, उसमे वैसी ही स्वभावरूप अवस्था होनेका सामर्थ्य है। पुण्य-पापके परिणाम आत्माका स्वभाव नही है, वह आत्माका गुण नही है, आत्मामे तो स्व-स्वभाव-भूत स्वरूपपरिणमन होनेका सामर्थ्य है। समस्त आत्माओमे पवित्र स्वभाव है और उनकी त्रिकाल अवस्था भी पवित्र है—वह कारण-पर्याय नित्य शुद्ध है।

प्रत्येक आत्माका अपने स्वभावमे ही परिणमनपना है तथापि अनादिसे अन्य वस्तुभूत मोहके साथ सयुक्तता होनेसे आत्माके उपयोगका मिथ्यादर्शन, अज्ञान अविरति—ऐसा तीनप्रकारका परिणाम विकार है।

आत्मा परसे निराला ज्ञायकमूर्ति है,—वैसा न मानकर रागद्वेष मेरा स्वभाव है और मैं उसका कर्ता हूँ—ऐसा मानना सो मिथ्यादर्शन है। आत्मा परिपूर्ण है—वैसे स्वसामर्थ्यको न जानकर, स्वपूर्वक परज्ञेयको जाननेका सामर्थ्य आत्मामे है—वह न जानकर मात्र परज्ञेयको जानना सो अज्ञान है, स्वरूपमे स्थिर होनेके वदले अस्थिरतामे युक्त होना सो अचारित्र है। चैतन्य परम स्वाभाविक वस्तु है—परम पारिणामिक वस्तु है। वस्तु शुद्ध है, अनादिसे मोहके साथ सयुक्त अर्थात् मोहके साथ सम्बन्ध होनेसे विकारके ऐसे तीनप्रकार हैं। स्वमे युक्त हो तो अपनी निर्मल अवस्था हो, अपने स्वभावमे युक्त हो तो

ऐसा सामर्थ्य है कि उसमे से वीतरागता ही हो, किन्तु यदि अपने स्वभावसे रहित मोहमे युक्त हो तो विकारमय अवस्था होती है। उपयोगका तीनप्रकारका परिणामविकार स्फटिककी स्वच्छताके परिणामविकारकी भाँति परके कारण–परकी उपाधिके कारण उत्पन्न होता दिखाई देता है।

निश्चयसे स्वभाव सामर्थ्यका कारणसे रागादि उत्पन्न हो ही नही सकता।

जैसे स्फटिककी स्वच्छताका स्वरूप—परिणमनमे अर्थात् अपने उज्ज्वलतारूप स्वरूपमे परिणमित होनेका सामर्थ्य होने पर भी, कदाचित् स्फटिकको काले, हरे, पीले–ऐसे तमाल, केल, और स्वर्णके पात्ररूपी आधारका संयोग होनेसे स्फटिककी स्वच्छताका काला, हरा, पीला–ऐसा तीनप्रकारका परिणमनविकार दिखाई देता है।

स्फटिकमे लाल, हरा, पीला फूलोका रङ्ग दिखाई देता है वह परनिमित्तके सगके कारण दिखाई देता है, स्फटिककी निर्मलताका परिणमन तो स्वच्छ–सफेद ही होता है। अवस्था स्वच्छ ही होती है, विकार तो परके सम्पर्कके कारण दिखाई देता है।

जीव और परमाणु—वह दो द्रव्य ही विभावरूप परिणमित होते हैं और शेप चार द्रव्य स्वभावरूप परिणमित होते है। परमाणुमे दो प्रकारकी वैभाविक पर्याय होती है—एक स्कन्धरूप होनेकी और दूसरी कर्मरूप होनेकी—ऐसी दो प्रकार होनेकी शक्ति है, (परमाणु कर्मरूप होते हैं, उसमे आत्माकी विभाव पर्यायका निमित्त है,) आत्मामे तो राग-द्वेषरूप एक ही प्रकारसे विकार होता है।

स्फटिकका स्वभाव तो उज्ज्वल है किन्तु अवस्थामे भी उज्ज्वलतारूप परिणमित होनेका सामर्थ्य है। देखो, दृष्टान्तमे भी ऐसा कहा है कि पर्याय शुद्ध है; परन्तु कदाचित् निमित्तका संगमे हो उससमय काले, हरे, पीले आदि रङ्गोके विकाररूप होनेकी योग्यता स्फटिकमे है। उसीप्रकार अनादिसे, चैतन्य परम पारिणामिक, परम स्वभावरूप है—उसे न मानकर परको अपना माननेरूप विपरीत मान्यता, परको अपना जाननेरूप अज्ञान और परमे स्थिर होनेरूप

अविरति—इसप्रकार आत्माकी अनित्य पर्यायमे तीनप्रकारका परिणाम विकार देखना, आत्माकी विकारी अवस्था आत्मासे होती है—वैसा देखो।

निर्मल अवस्था होनेका सामर्थ्य होने पर भी उसे भूलकर शुद्ध स्वभावसे च्युत होकर आत्मामे तीनप्रकारका परिणामविकार होता है तथापि विकारको दूर करनेका सामर्थ्य निरन्तर स्वत.मे भरा हुआ है—उसे जानकर उसमे स्थिर हो तो विकारका नाश हो जाये और मोक्षकी शुद्ध पर्याय प्रगट हो।

आत्माके उपयोगमे तीनप्रकारका परिणामविकार अनादि अजीव कर्मके सगके कारणसे है, आत्मवस्तु तो अनादि-अनन्त गुणोसे परिपूर्ण है, उसीका आलम्बन छोड़कर अपने विपरीत पुरुषार्थसे वर्तमान पर्यायमे कर्मके सगमे जुडनेसे विकार होता है। विकार होनेमे कर्मकी तो मात्र उपस्थिति है, कर्ता स्वतः आत्मा है।

विकार होनेमे निमित्तकी उपस्थिति है—ऐसा कहनेसे यह आ जाता है कि स्वभावसे अन्य रीतिसे है, आत्मामे विकार व्यवहारसे है—ऐसा कहनेसे यह आ जाता है कि निश्चयसे है—अन्य रीतिसे है अर्थात् निश्चयसे आत्मामे विकार नही है। निमित्तके पक्षसे विकार है उसीप्रकार स्वद्रव्यके पक्षसे भी विकार हो—ऐसा नही हो सकता, क्योकि निमित्तके आलम्बन विना यदि स्वयं उपादानके आश्रय करनेसे ही विकार होता हो तो विकार कभी छूट ही नही सकता और निर्मलता भी प्रगट नही हो सकती। इससे ऐसा नही समझना कि निमित्त विकार कराता है, निमित्त कही विकार नही कराता किन्तु स्वत' निमित्तकी ओर लक्ष्य करता है इससे विकार होता है, विकार होनेके समय कर्मकी मात्र उपस्थिति होती है—इतना सम्बन्ध है। विकार होनेमे कर्म निमित्त है—ऐसा कहनेसे यह ज्ञात हो जाता है कि—उपादानका पक्ष पूर्ण पृथक् ही है।

पानी वर्तमान अवस्थासे तप्त है, किन्तु मूल स्वभावसे शुद्ध है, शीतल है, वैसे ही आत्माकी वर्तमान पर्यायमे परिणामविकार दिखाई

देता है किन्तु उसके स्वभावमे वह विकार नही है, स्वभाव तो शुद्ध है। पानी जिससमय तप्त है उसीसमय स्वभावसे शीतल है, वैसे ही आत्माकी पर्यायमे जिससमय विकार है उसीसमय अन्तरमे शुद्धता भरी हुई है।

आत्मा पहले शुद्ध था और अब अशुद्ध हो गया हो वैसा नही है परन्तु एक–एक समय होकर अनन्तकालसे आत्माकी पर्यायमे नया नया विकार स्वतः करते हैं। शरीर मेरा, इन्द्रियाँ मेरी, राग-द्वेष मेरे निमित्त व्यवहार चाहिये—ऐसी अपनत्वकी मिथ्या मान्यता नवीन नही की है; यदि पहले शुद्ध हो और फिर अशुद्ध हो जाये तो सिद्धोके भी विकार होना चाहिये।

कोई कहे कि वोरिंगमेसे तो तप्त जल ही निकलता है ? किन्तु भाई ! वह जल वर्तमान अवस्थासे तप्त है नित्य स्वभावसे तो शीतल है। वोरिंगमेसे पानी वाहर निकालकर ठण्डा करो तो ठण्डा हो जायेगा; तो फिर जव वह स्वभावसे शीतल होगा तभी तो शीतल होगा, नही तो कैसे होगा ? कोई कहे कि वोरिंगमे नीचे गंधक है इससे पानी तप्त रहता है, यदि गंधक पानीको गर्म करता हो तो आकाशको गर्म क्यों नही करता ? यह तो जव पानीमे गर्म होनेकी योग्यता हो उससमय गंधक उपस्थित होता है, इसीप्रकार जव आत्मामे विकारकी योग्यता हो उससमय कर्मकी उपस्थितिको निमित्त कारण कहा जाता है। ८९।

अब, आत्मामे तीनप्रकारके परिणाम विकारका कर्तृत्व दर्शाते हैं:—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरंजनो भावः।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥९०॥

अर्थः—अनादिसे यह तीनप्रकारके परिणामविकार होनेसे, आत्माका उपयोग यद्यपि (शुद्धनयसे) शुद्ध, निरंजन (एक) भाव है, तथापि तीनप्रकारका होता हुआ वह उपयोग जिस (विकारी) भावको स्वतः करता है उसी भावका कर्ता होता है।

अनादिसे आत्मामें तीनप्रकारकी अवस्था है—विपरीत मान्यता, विपरीतज्ञान और विपरीत एकाग्रता—यह तीनप्रकारका विकार है, यद्यपि आत्माके उपयोग तो शुद्धनयसे तीनोंकाल शुद्ध है।

भूतकालकी अवस्था और भविष्यकी अवस्थाका सामर्थ्य द्रव्यमें ध्रुवरूपसे है।

वस्तु स्वतः अनन्त गुण और पर्यायोंका पिण्ड है। भूतकालमें तो पर्यायें हो गई हैं और जो भविष्यमें होंगी—उन सभी पर्यायोंके सामर्थ्यरूप द्रव्य है, जो मोक्षपर्याय प्रगट होती है वह सब शक्ति द्रव्यमें भरी पड़ी है।

परसे पृथक् वस्तुको अपेक्षा लागू नहीं होती। वस्तु, वस्तुका गुण और उसकी पर्याय—यह तीनों अपेक्षारहित निरपेक्ष हैं।

द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे–तीनों प्रकारसे वस्तु अनादि–अनन्त एकरूप है, किन्तु उसमें बन्ध–मोक्षकी अपेक्षा ले तो वह निमित्तके ओरकी अपेक्षा है, बन्धमोक्षकी पर्याय व्यवहारसे सापेक्ष पर्याय है।

प्रतिसमय उत्पाद–व्यय होता है वह व्यवहार है; बन्धका व्यय और मोक्षका उत्पाद सो व्यवहार है; परिणामी वस्तुके निश्चयसे द्रव्य, गुण और उसका वर्तमान अंग शक्तिरूप नित्य एक ही प्रकारसे हैं, ध्रुवरूप हैं, तथापि व्यवहारसे तीन प्रकारसे विकारी परिणमित होता हुआ वह उपयोग स्वतः विकारी भावको करता है; उस भावका वह कर्ता होता है।

आत्मा द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे अनादि–अनन्त शुद्ध है, तथापि वर्तमान पर्यायदृष्टिसे अनादिसे अन्य वस्तुभूत मोहके साथ संयुक्तताके कारण अर्थात् उपयोगरूपसे–अपनेमें उत्पन्न होनेवाले परिणाम विकार तीनप्रकारके हैं। विपरीत मान्यताका अर्थ है पर

शरीरादिको अपनेरूप मानना; रागी-द्वेषी मैं हूँ—ऐसा मानना। और अज्ञानका अर्थ है परको अपने रूप जानना। अविरति अर्थात् स्वसे च्युतिरूप परमे उपयोगको स्थिर करे वह। इसप्रकार तीनप्रकारसे परिणाम–विकार होते हैं।

यद्यपि परमार्थसे तो उपयोग शुद्ध, निरंजन, अनादि–निधन वस्तुके सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावरूप एक ही प्रकारका है।

देखो ! इसमे आचार्यदेवने क्या अलौकिकता ली है। परमार्थदृष्टिसे तो उपयोग वास्तवमे शुद्ध है। मोक्षमार्गकी अवस्था और मोक्ष अवस्था वे दोनों अवस्थाये व्यवहारनयसे सापेक्ष है, वस्तु तो शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध उपयोगरूप है, वह निरजन है अर्थात् उसमे मलिनता बिल्कुल नही है, उसमे राग-द्वेषकी या परकी अपेक्षाकी गंध मात्र नही है, वस्तु अनादि–अनन्त है, अर्थात् जिसका आदि भी नही है और अन्त भी नही है; जिसप्रकार वस्तु त्रिकाली है वैसे ही उसका भाव भी त्रिकाल है और वह उपयोग स्वभाव वस्तुके सर्वस्वभूत चैतन्यमात्र भावरूप एक ही प्रकारका है।

निगोदसे लेकर सिद्ध तक सभी आत्माओमे यह उपयोग शुद्धनयसे शुद्ध ही है, एक ही प्रकार है, विकारी पर्याय, मोक्षमार्गकी पर्याय और मोक्षकी पर्याय—वे सभी पर्यायें भी आत्मामे ही होती हैं वे पर्याये व्यवहारनयसे सापेक्ष हैं, निमित्तकी अपेक्षा रखनेवाली हैं, परन्तु जो अनादि अनन्त शक्ति है वह ध्रुव है, वस्तु स्वतः शुद्ध, उसके गुण शुद्ध और उसकी वर्तमान शक्ति भी शुद्ध है। द्रव्यदृष्टिसे देखें तो द्रव्यका और गुणका वर्तमान अश शक्तिरूपमे परिपूर्ण है, ध्रुवरूप है, परिपूर्ण शुद्ध है और वह त्रैकालिक स्व स्वभावमे अभेद है—वह एक, और पर्यायदृष्टिकी अपेक्षासे देखे तो राग-द्वेषकी अशुद्ध अवस्था, मोक्षमार्ग और मोक्षकी शुद्ध अवस्था उनमेसे एक इसप्रकार दोनो (त्रिकालिक शक्ति अंश और वर्तमान व्यक्तिरूप प्रगट पर्याय अश वह दोनो) एक साथ हैं। अशुद्ध अवस्था, मोक्षमार्गरूप अपूर्ण शुद्ध अवस्था और मोक्षरूप परिपूर्ण शुद्ध अवस्था वे जीवके स्वतत्त्व होनेसे निश्चय

दृष्टिकी अपेक्षा निरपेक्ष है और व्यवहार दृष्टिकी अपेक्षासे सापेक्ष कही जाती है। [यह सापेक्ष पर्याय भी निश्चयनयसे तो निरपेक्ष ही है। देखो पंचास्तिकाय गाथा ६२ और उसकी टीका]।

स्वभावभावमे देखने पर परमार्थसे, द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे ऐसा शुद्ध आत्मा है, तथापि अपनी विपरीत योग्यताके कारण अशुद्ध, साजन अनेक प्रकारको प्राप्त करता हुआ अर्थात् राग–द्वेष, हर्ष–शोक, शुभाशुभभाव इत्यादि अनेक प्रकारका होकर, तीनप्रकारका होकर, स्वत. अज्ञानी होता हुआ कर्तापनेको प्राप्त होता है, मिथ्यादृष्टि-रूप, अज्ञानरूप और अविरतिरूप परिणमित होता है। दोषरूप–जो–जो भाव करता है, उन-उन भावोका वह मलिन अवस्थारूप उपयोग कर्ता होता है, स्वतः मोहमे युक्त होकर परभावोको अपना कर्तव्य मानकर विभावरूप उपयोग होकर विभावका कर्ता होता है। स्वतः विभावमे युक्त होता है वहाँ परान्मुखपनेमे निमित्तकी अपेक्षा है वहाँ कर्मके सद्भावरूप व्यवहार है और उस विभावके योगको दूर करके मोक्षमार्ग और मोक्ष प्रगट करना भी व्यवहार है वह कर्मके अभावकी अपेक्षा रखनेवाला व्यवहार है।

अरे भाई! यह बात हमारी समझमे नही आती–ऐसी शल्यको मस्तिष्कमेसे प्रथम निकाल देना चाहिये। सभी आत्मा स्वशक्तिसे पूर्ण भगवान हैं, प्रभु हैं, यह बात भी भगवान आत्माकी ही चलती है, अपने घरकी ही बात चलती है, उसमे जिज्ञासासे, ध्यान रखकर सुने तो समझमे न आये—ऐसा कैसे हो सकता है? 'मुझे समझमे नही आयेगा'—ऐसी जो कल्पना कर रखी है वह भी एक महान शल्य है। मैं स्वत ज्ञायक स्वभाव हूँ, मेरी समझमें न आये ऐसी कौन सी बात है? यह ऐसी वस्तु है जो समझमे आ सकती है, इसलिये समझमे नही आती—ऐसी शल्यको निकाल देना चाहिये।

जितना केवलज्ञानियोने जाना है उतना ही ज्ञाता–सामर्थ्यरूप तू है, केवलीके ज्ञानमे आत्माका स्वरूप जितना ज्ञात हुआ है उतना उनकी वाणीमे नही कहा गया, केवली भगवानका सामर्थ्य अनन्त–

अपार है। जितना केवलीभगवानका आत्मा है उतना ही सामर्थ्यवान् तेरा चैतन्य भगवान आत्मा है, तो फिर तू अपनेको क्यों नही जान सकता ? तेरी जाति यदि तुझे समझमे न आयेगी तो फिर उसे कौन समझेगा ? विनाशीक घरकी सम्पत्तिकी क्यो पूरी खवर होती है ? तो फिर नित्यानन्द स्वभाव–घरकी सम्पत्ति समझमे नही आयेगी–वैसी शल्य निकालकर समझनेका प्रयत्न करना चाहिये।

वस्तु द्रव्यसे, गुणसे, और पर्यायसे शुद्ध है, निरजन है, एक ही प्रकारसे है। वह शुद्ध कारणपर्याय अपूर्ण नही है, विकारी नही है किन्तु परिपूर्ण है, पर्यायदृष्टिसे वह पर्याय अप्रगट है और द्रव्य दृष्टिसे प्रगट है। जो वस्तु होती है उसका वर्तमान भी होता है, वस्तुका सहज वर्तमान सो उसकी शुद्धपर्याय है।

पहले कहा था कि जो परिणमित हो वह कर्ता है। यहाँ उपयोग अज्ञानरूप होकर परिणमित हुआ, इससे वह जिस भावरूप परिणमित हुआ उस भावका उसे कर्ता कहा। इसप्रकार उपयोगको कर्ता जानना। यद्यपि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे आत्मा कर्ता नही है तथापि उपयोग और आत्मा एक वस्तु होनेसे अशुद्धद्रव्यार्थिकनयसे आत्माको भी कर्ता कहा जाता है। परमार्थसे तो उपयोग शुद्ध, निरजन है, तथापि अशुद्ध, सांजन अनेकत्वको प्राप्त होता हुआ जिन–जिन भावोको स्वतः करता है उन भावोका वह उपयोग कर्ता होता है।

इसप्रकार उपयोगको कर्ता जानना चाहिये। उपयोगमें मलिनता होती है वह अज्ञानभावसे है। स्वभावदृष्टिसे, शुद्धद्रव्यार्थिक दृष्टिसे आत्मा राग-द्वेष और भ्रान्तिका कर्ता नही है। अशुद्ध द्रव्यार्थिक दृष्टिसे आत्मा विकारका कर्ता होता है, उपयोग और आत्मा एक ही हैं पृथक् नही हैं, इसलिये आत्माको भी विकारका कर्ता कहा जाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिक शुद्धदृष्टि ससारभावकी नाशक है किन्तु कर्ता नही है।

यह कर्ताकर्म अधिकार चल रहा है। कर्ता अर्थात् होनेवाला कौन है और उसमे क्या होता है ? यह वात चल रही है। मिट्टी होनेवाली है और घड़ा होता है, होनेवाला कर्ता है और जो होता है

वह कर्म है। कुंभार कर्ता है और घडा कार्य है—ऐसा कर्ताकर्म सम्बन्ध नही है; मिट्टी उपादान है और कुंभार निमित्त है। (कर्म अर्थात् कार्य–क्रिया)

आत्मा स्वतः अपने कार्यरूप होनेवाला कर्ता है और आत्माका यथार्थ कार्य सो स्वभावकार्य है। विकल्परहित श्रद्धा–ज्ञान–रमणता करना वह आत्माका वास्तविक कार्य है। निर्मल श्रद्धा–ज्ञान–चारित्र, स्वभावकार्य है। अज्ञान अवस्था कर्ता और पुण्य–पापके भाव वह कर्म—वह विभावकार्य है। आत्मा जडका कर्ता और जड आत्माका कार्य हो—उसप्रकार कर्ता–कार्य (-कर्म) नही हैं। आत्मा करनेवाला अर्थात् होनेवाला है और वीतरागभाव उसका वास्तविक कार्य है। कारणपर्याय कारण है और जो निर्मल पर्याय प्रगट हो वह कार्य है।

द्रव्य–गुण और शुद्ध कारणपर्यायरूप पूर्ण शक्ति पर अभेद-दृष्टि डालनेसे स्वाश्रयके बलसे निर्मल उत्पादरूप कार्य प्रगट होता है। निर्मल सम्यग्ज्ञान, सम्यक्प्रतीति और सम्यग्चारित्र वह स्वभावकार्य-पर्याय है। वस्तु प्रवर्तन करते-करते त्रिकाल प्रवर्तमान रहती है वह स्वभाव कारणपर्याय है—अनादि अनन्त है। वस्तु ध्रुव है, वस्तुका गुण और उसकी शक्तिरूप कारण शुद्ध पर्याय हर समय अनादि अनन्त ध्रुव है इसका मनन करनेसे स्वभावपर्याय प्रगट हो वह सादि सात कार्य-पर्याय है।

द्रव्य, गुण और उसकी कारणपर्याय सो निश्चय है, उन तीनो पर अभेददृष्टि डालनेसे और उनमे एकाग्र होनेसे निर्मल श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र प्रगट होता है वह सद्भूत व्यवहार है। वस्तु स्वभावरूप जैनदर्शनकी यह सर्वोत्कृष्ट मूल बात है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल–वे सभी वस्तुएँ, उनके गुण और उनकी पर्याय भी निर्मल ही है। परमाणु स्वतः वस्तु, उसका गुण और उसकी वर्तमान पर्याय भी निर्मल ही है परमाणु स्वत सर्वप्रकारसे निर्मल है, परन्तु उसमे दो प्रकारके विभाव भी होते है—परमाणुकी स्कन्धरूप अवस्था होती है

वह एक प्रकारका विभाव है और परमाणु एकत्रित होकर आत्माकी विभावपर्यायको निमित्त करके कर्मरूप परिणमित होते हैं वह दूसरे प्रकारका विभाव है। स्वाधीन परमाणुमे वस्तु, वस्तुका गुण और उसकी पर्याय—तीनो निर्मल हैं। पाँचो द्रव्योकी स्वाभाविक पर्याय निर्मल है तो फिर शुद्धनयसे आत्माकी ध्रुव शक्तिमे कारणशुद्धपर्याय क्यो निर्मल नही होगी ? होगी ही। आत्मामे जो राग-द्वेषकी और भ्रान्तिकी मलिन पर्याय होती है वह पर्याय मूल स्वभावरूप नही है, किन्तु विकारी है, संसार और मोक्षमार्ग—मोक्षपर्याय भी अनित्य है सापेक्ष है—व्यवहार है। इसलिये आत्मामे मूलस्वभावरूप निर्मल कारणपर्याय नित्य निश्चयसे होना चाहिये।

पुनश्च, अन्य द्रव्योमे पर्यायकी प्रगटरूप निर्मलता है, उसी-प्रकार यदि आत्मामे भी प्रगट निर्मलता हो तो संसार कैसे हो सकता है ? नही हो सकता। इसलिये आत्माकी कारणशुद्धपर्यायमे जो निर्मलता है वह प्रगट नही है किन्तु अनादि—अनन्त स्वभावाकारसे है, जैसे सापेक्ष पर्याय प्रगट है उसीप्रकार यह निरपेक्ष पर्याय प्रगट नही है, न प्रगट होगी किन्तु अप्रगट शक्ति है।

वस्तु स्वतः सामान्य है। जो सामान्य हो उसका विशेष भी होना चाहिये; वस्तुका विशेष वस्तुकी जातिका होता है अन्य जातिका नही होता, सामान्यविशेष मिलकर वस्तुका परिपूर्ण अखण्डस्वरूप होता है। वस्तु हो और उसकी पर्याय पूर्ण निर्मल न हो तो वस्तु ही निर्मल नही हो सकती। दूसरे पदार्थोकी अवस्था निर्मल है और आत्मद्रव्यका द्रव्यस्वभावमे क्या अपराध ! कि आत्माकी कारणपर्याय निर्मल न हो ? होगी ही। पुनश्च, वे पर्यायमात्र प्रगट निर्मल हो तो संसार—मोक्ष होगा ही नही; परन्तु ससार—मोक्ष दिखाई देता है और है, इसलिये आत्मामे स्वभावाकार पर्याय अप्रगट शक्तिरूप है, शुद्धद्रव्यार्थिक-नयका विषय है।

यह विषय सूक्ष्म है आत्मामे यह वर्तमान पूर्ण निर्मल शक्ति-

रूप–कारणशुद्ध पर्यायरूप अंश विद्यमान न हो तो चैतन्य वस्तु पूर्ण-स्वरूप नही हो सकती।

लेकिन उसमे खण्ड पड़ जाते हैं। द्रव्य, गुण शुद्ध और उसका स्वाकार पर्याय विशेष भी (शुद्धनयसे) शुद्ध वे तीनो मिलकर अखण्ड-सम्पूर्ण वस्तु है वह अध्यात्मिक शैलीका शुद्धनयका विषय है–सम्यग्दर्शनका विषय भी ऐसा पूर्ण स्वरूप है।

कारणपर्याय स्वाकार परिणामी होनेसे किसी अपेक्षासे परिणामी है, द्रव्य और गुण भी कथंचित् परिणामी हैं। पर्यायदृष्टिसे सापेक्ष पर्याय प्रगट है और निरपेक्ष पर्याय अप्रगट है। द्रव्यदृष्टिमे प्रगट–अप्रगटका भेद नही है, द्रव्यदृष्टिमे वस्तु, वस्तुका गुण और उसकी इस कारण पर्याय प्रगट ही है। स्वरूपसे प्रत्यक्ष ही है–शुद्ध द्रव्यदृष्टिका विषय है और वही पूर्णरूप शुद्ध आत्मा सम्यक्दर्शनका विषय है–सापेक्ष पर्याय–गौण है वह व्यवहारनयका विषय है।

हीरा सान पर चढता है, उसका रेतन भी यदि कोई ले जाये तो लाभका ही कारण है। इसप्रकार यह बात अपूर्व है।

जैसे, चार अरूपी पदार्थ और पुद्गलपरमाणु—इन पदार्थोंमे वर्तमान प्रवर्तित पर्याय प्रगट न हो तो परिणमन न हो, इसलिये वर्तमान परिणमित शुद्ध पर्याय इन पदार्थोंमे प्रगट ही है, क्योंकि इन पदार्थोंमें अशुद्धता नही है। उसीप्रकार आत्मामे यदि उत्पाद–व्ययरूप प्रगटरूपसे निर्मलता हो तो गुरु और शिष्य साधकदशारूप मोक्षमार्ग आदि कुछ भी नही रहते। उपदेश देना, समझाना–समझना आदि कुछ भी नही रहता। उत्पादरूप पर्यायमे मलिनता है इसलिये उसे दूर करनेके लिये उपदेश दिया जाता है और इसीलिये शिष्य भी समझनेका प्रयत्न करता है, इसलिये मलिनता है, पर्याय अपेक्षा–एकदम प्रगटरूपसे निर्मलता नही है। और यदि वस्तु सत्तामे वस्तुके पूर्ण स्वरूप आकारसे विद्यमान–वर्तमान अशरूप निर्मल कारणपर्याय न हो तो पूर्ण द्रव्यार्थिक दृष्टि नही होती, पूर्ण निरपेक्ष वस्तु सिद्ध नही होती।

आत्मामें मलिन पर्याय होती है वह व्यवहारसे सापेक्ष है। क्षयोपशम भावमें कर्मके अल्प–अधिक विकासकी अपेक्षा है, क्षायिक भावमे कर्म टालनेकी अपेक्षा है, उपशम भावमे कर्मका उपशम होनेकी अपेक्षा है—वे सभी पर्याये अनित्य, सापेक्ष हैं, मति–श्रुत–अवधि–मनःपर्यय ज्ञानकी पर्यायें भी सापेक्ष हैं। यह कारणपर्याय तो मात्र पारिणामिक भावकी बात है।

आत्मा द्रव्यसे, गुणसे और कारण शुद्धपर्यायसे निर्मल है। इन तीनोकी अभेददृष्टि करके मनन करनेसे स्वभावपर्याय प्रगट होती है। यदि द्रव्य-गुण निरपेक्ष हैं तो ऐसी पर्याय भी निरपेक्ष होना चाहिये; कारणपर्याय न हो तो वस्तु न हो और सापेक्ष पर्याय न हो तो ससार–मोक्ष न हो। यदि कारणपर्याय निर्मल न हो तो मोक्षकी निर्मल पर्याय प्रगट ही न हो, द्रव्य-गुण और कारणपर्याय तीनों निर्मल न हो तो मोक्षकी निर्मल पर्याय प्रगट ही न हो और वस्तुकी अखण्डता नही होती। यह कारणपर्याय भगवान आत्माके विषयमें अनादि-अनन्त है, यह अंश ध्रुव है, ध्रुव स्वरूपमे एकमेक है।

अनादि अन्य वस्तुभूत मोहके साथ संयुक्तरूप अर्थात् उसमे युक्त होनेसे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, और अविरतिरूप भाव उत्पन्न होते हैं। परको अपनेरूप माननेका मिथ्याभाव, स्वतःको जानना छोड़कर मात्र परका ही विषय करे वह अज्ञान, स्वमे एकाग्रतासे च्युत होकर परमे एकाग्रता करे वह अस्थिरता—यह तीनो विकारी परिणाम मोहमें युक्त होनेसे उत्पन्न होते हैं।

यद्यपि परमार्थसे तो उपयोग अर्थात् आत्माकी निर्मल अवस्था उपयोग अर्थात् चैतन्य व्यापार शुद्ध है, निरंजन है, मलिन नही है, द्रव्य-गुणमे तो मैल नही है, परन्तु अवस्थामें भी मैल नही है। अनादि निधन वस्तु, उसके गुण और उसकी ऐसी कारणपर्याय–तीनो शुद्ध हैं। इस कारण शुद्ध अंशको परिणति कहा जाता है, किन्तु वह अप्रगट है, तथापि लब्ध जैसा नही; लब्ध तो उसे कहा जाता है कि पहले

प्रगट नही था और पश्चात् प्रगट हुआ। इस कारणपर्यायमें ऐसा नही है, यह पर्याय तो अनादि–अनन्त वस्तुदृष्टिसे प्रगट ही है।

द्रव्य और गुण भी किसी अपेक्षासे परिणामी हैं। द्रव्यमे प्रतिक्षण जो उत्पाद–व्यय होता है वह द्रव्य-गुण स्वतः ही परिणमित होकर उत्पाद–व्यय होता है, ऐसा नही है कि द्रव्य–गुण पृथक् रह जायें और उत्पाद–व्यय उनके आधारके बिना उत्पन्न हों। द्रव्य-गुणके ही आधारसे उत्पाद–व्यय होता है, इसलिये द्रव्य-गुण भी किसी अपेक्षासे परिणामी हैं। द्रव्य और गुणको सदृश–एक समान परिणमनकी अपेक्षासे परिणामी कहा है। इसप्रकार द्रव्य-गुण भी कथचित् परिणामी हैं। वस्तुका वर्तमानमे प्रवर्तित ध्रुव अश उसकी कारणपर्याय है।

जिसप्रकार द्रव्यकी कारणपर्याय है वैसे ही ज्ञानदर्शनादि अनन्त गुणोकी कारणपर्याय है। द्रव्यका वर्तमान अश द्रव्याकारसे परिपूर्ण है वह द्रव्यकी कारणपर्याय है और ज्ञान, दर्शन आदि अनन्त गुणोका वर्तमान अंश गुणाकारसे परिपूर्ण है, वह गुणकी कारणपर्याय है। और वे शुद्ध निश्चयनयके विषय हैं।

शुद्ध पर्यायको निरजन कहा है और अशुद्ध पर्यायको साजन कहा है, शुद्धपर्याय एक प्रकारसे कही है और अशुद्ध पर्याय अनेकप्रकार कही है वह उपयोग अनेक प्रकारसे–तीनप्रकारसे होता हुआ, अज्ञानी होता हुआ, कर्तृत्वको प्राप्त करता हुआ विकार रूप–दोषरूप–मलिन-रूप–बन्धनभावरूप जिन-जिन अवस्थाओको करता है, उनमे स्वभाव-दृष्टिसे च्युत होकर उन भावोंका कर्ता होता है।

अब, एक दूसरी बात लेते हैं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति और काल–वे चार द्रव्य तो स्वतंत्र हैं, एक ही प्रकारसे हैं, उनमे विकार नही होता और पुद्गलपरमाणुमे दो प्रकारका विकार होता है। एक प्रकार तो यह कि परमाणु, परमाणुके साथ एकत्रित होकर स्कन्ध होता है, वह विकार है और जीवके विकार भावको निमित्त करके पुद्गल परमाणु कर्म स्कन्धरूप परिणमित होता है। वह

दूसरे प्रकारका विकार है। वैसे ही आत्मामें कर्मकी अपेक्षाकी ओरके दो प्रकारके भाव होते हैं, (१) पर्याय अपेक्षा स्वतः कर्म निमित्तकी ओर झुकाव करनेसे औदयिक भाव विभाव होते हैं। (२) दूसरे भावमें आंशिक या सर्वांश कर्मके अभावकी अपेक्षा है—वह क्षायोपशमिक, औपशमिक, और क्षायिक भाव है। वह है उस भावोंको कर्मके अभावकी अपेक्षासे निश्चयमें विभाव कहा है, व्यवहारनयसे सापेक्ष पर्याय है। जिसप्रकार पुद्गलमें दो प्रकारका विभाव है उसीप्रकार आत्मामें भी इसप्रकार दो जातिका विभाव है; पुद्गलकी अपेक्षा आत्माका स्वभाव विरुद्ध जातिका है इसलिये दूसरे प्रकारके दो विभाव लिये हैं; आत्मामें जो दो विभावभाव लिये हैं उनमेंसे एकमें कर्मके निमित्तके सद्भावकी अपेक्षा है और दूसरेमें कर्मनिमित्तके अभावकी अपेक्षा है। एकमें अस्तिकी और दूसरेमें नास्तिकी अपेक्षा है। यहाँ क्षायोपशमिक, उपशम और क्षायिक भाव है तो स्वभाव परन्तु अपेक्षासे विभाव कहा है और अनित्य उत्पाद-व्यय पर्यायरूप होनेसे उसके आलम्बनसे रागकी उत्पत्ति होती है इस अपेक्षासे उसे विभाव कहा है और त्रिकालिक परम पारिणामिक द्रव्यको स्वभावभाव कहा है क्योंकि उसीका आश्रय करनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है—और मलिनताका नाश होता है।

उदय-उपशमादि चार भाव हैं वे अपेक्षित भाव हैं, इसलिये उस भावका पर्यायार्थिकनयमें समावेश होता है। द्रव्य, गुण और निरपेक्ष कारण पर्याय—उन तीनों पारिणामिक स्वभावका द्रव्यदृष्टिमें समावेश होता है। द्रव्यार्थिकदृष्टि और पर्यायार्थिकदृष्टि वे दोनों मिलकर सम्पूर्ण प्रमाण होता है।

उदयभाव, उपशमभाव, क्षयोपशमभाव, क्षायिक भाव—इन चारको नियमसार शास्त्रमें कहीं-कहीं विभावभाव कहा है। उपशम, क्षयोपशम, क्षायिकभावको गौण करके परकी अपेक्षासे रहित मात्र स्वभावभाव है उसे शास्त्रमें पारिणामिक भाव कहा है—ज्ञायकभाव कहा है। जो परिणमित हो वह कर्ता है; जो अवस्थामें परिवर्तित

होनेवाला है वह स्वत आत्मा है; राग-द्वेष और विकारी भावरूप होनेवाला अज्ञानी आत्मा है। उपयोग अभानरूप होकर परिणमित हुआ है, दृष्टि विपरीत है इससे पर्याय मलिन हो जाती है, उसका अज्ञानी कर्ता होता है। वन्ध-मोक्ष भी व्यवहारसे हैं, परन्तु परमार्थसे तो वन्ध मोक्ष भी नही हैं। व्यवहारनयका ज्ञान करके शुद्ध द्रव्यार्थिक-नयको आदरणीय जानकर उसके विषय पर आरूढ होनेसे क्रमशः अशुद्ध परिणतिका अभाव होता है।

अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय अर्थात् अशुद्ध अवस्था आत्मामे होती है, उस अपेक्षासे अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय कहा है। उस अपेक्षासे आत्माको विकारका कर्ता भी कहा है। वर्तमान उपयोगकी अवस्था विकारी होनेसे उस वस्तुका अंश वस्तुमें गिनकर आत्माको अशुद्धनयसे विकारका कर्ता कहा जाता है, अज्ञानदशामे तीनप्रकारके परिणाम विकारका कर्तृत्व जिस जीवको हो उससमय, जड कर्मके रजकण अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होते हैं; आत्मा उसका कर्ता नही है।

शुद्धद्रव्यार्थिकनयके विषयमे राग-द्वेषका करना या उसे टाल देना, कुछ नही आता। यद्यपि द्रव्यार्थिकका विषय शुद्धद्रव्यका आलंबन करनेसे राग-द्वेष दूर अवश्य हो जाते हैं, किन्तु शुद्धद्रव्यार्थिकनयका विषयमे राग-द्वेपको दूर करना नही है परन्तु अखण्ड द्रव्यको लक्ष्यमे लेना है। शुद्धद्रव्यार्थिक अर्थात् शुद्धद्रव्य ही जिसका प्रयोजन है, किन्तु पर्याय उसका प्रयोजन नही है, पर्याय तो पर्यायार्थिकनयका प्रयोजन है। यह वात सूक्ष्म है परन्तु इसे चिंतन पूर्वक समझना चाहिये। जिसप्रकार मिश्रीका स्वाद लेनेवाला मिश्रीकी एक डलीको मुंहमे रखकर एक गालसे दूसरे गालमे लेता रहता है, उसीप्रकार यदि यह वात कठिन प्रतीत हो तो भी अभ्यास रखना चाहिये, उसका विचार और मनन करना चाहिये, अन्तरगसे रुचि होना चाहिये, तब यह बात समझमे आये—ऐसी है।

अव, ऐसा कहते है कि—जब आत्माको तीनप्रकारके

परिणामविकारका कर्तृत्व हो उससमय पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मरूप परिणमित होता है—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तह्मि सयं पुग्गलं दव्वं ॥६१॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य भावस्य ।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलं द्रव्यम् ॥६१॥

अर्थः—आत्मा जिन भावोंको करे उनका वह कर्ता होता है, कर्ता होने पर पुद्गलद्रव्य अपने आप कर्मरूप परिणमता है ।

आत्मा पुण्य-पापके भाव करे उनका वह कर्ता होता है तथा वे भाव उसका कार्य होते हैं, और कर्ता हो वहाँ कर्मके रजकरण अपने आप ही कर्मकी अवस्थारूप होते हैं, कर्मकी जो भिन्न-भिन्न अवस्थाये होती हैं वह सब आत्माके भावोंको निमित्त करके अपने आप ही परिणमित हो जाती हैं ।

जैसे—जहाँ आम बोया हो वहाँ पानी सीचनेसे आम अपने आप आमरूप परिणमित होता जाता है, पानी उसे परिणमित नही कर देता; यदि पानी आमको परिणमित कर देता हो तो जिन-जिन वृक्षोमें पानी सीचा जाये वहाँ सब जगह आम ही उगना चाहिये, किन्तु जिसका जिसप्रकारका बीज हो उसीप्रकार वह परिणमता है, इससे सिद्ध हुआ कि पानी उसे परिणमाता नही । उसीप्रकार आत्मामे राग-द्वेषके परिणामोंका निमित्त पाकर जो रजकरण कर्मरूप होने योग्य हों वे अपने आप ही तुरन्त कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं ।

यह कर्ताकर्मका अधिकार है । आत्मा क्या कर सकता है ? आत्मा अपना करता है कि जड़का कुछ करता है ? जड़का तो आत्मा कुछ कर ही नही सकता । यदि होगा तो अज्ञान भावसे अपने विकारी भावोंका कर्ता होता है । आत्मप्रदेशके साथ एक क्षेत्रावगाही कर्मके रजकरण पड़े हैं, उनका भी आत्मा कर्ता नही है तो फिर स्थूल देहादि बाह्यपदार्थोका कर्ता तो होगा ही कहाँसे ?

कर्म कहीं आँखोंसे दिखाई नहीं देते, शास्त्रने कहा है कि कर्म हैं; तू जैसे भाव करेगा उसीप्रकारके कर्म बँधेंगे। दया, भक्ति, पूजादिके शुभभाव करनेसे पुण्य कर्मका बंध होता है और हिंसा, झूठ, चोरी अब्रह्मचर्य आदि अशुभभाव करनेसे पापकर्म बँधते हैं—ऐसा शास्त्रोंमें कहा है वह माना, तो अब, शास्त्रकार दूसरी ओरसे ऐसा भी कहते हैं कि तू जड़कर्मका और देहादिक बाह्य पदार्थोंका कर्ता नहीं है तो फिर उसे भी मान।

क्रोधादिके भाव करे तो नवीन कर्मबन्ध हो, उन कर्मोंके फलमें भविष्यमें प्रतिकूलताके साधन मिलते हैं; उन प्रतिकूलताके संयोगोंके समय यदि तीव्र क्रोधादि भाव न करे किन्तु मन्द कषाय करे तो शुभभाव हों, पुण्यबन्ध हो, और यदि तीव्र क्रोधादि भाव करे तो पुनः पापबन्ध होता है। अनादिकालसे ऐसे का ऐसा कर्मोंका चक्र चला आ रहा है। क्रोधादिभाव किये उनका फल वास्तवमें तो उसी क्षण आ-जाता है; आकुलता की और क्षमागुणका हनन हुआ, उस आकुलताका वेदन उसे उसीक्षण हो जाता है। कषाय और भ्रान्ति होनेमें घाति-कर्मका निमित्त है, प्रतिकूलता होनेमें अघातिकर्मका निमित्त है।

अवगुणका भाव बढ़ाता रहे तो प्रतिकूलताके संयोगके समय उसे द्वेष होता है; प्रतिकूलताके संयोगके समय उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि यह प्रतिकूलता दुःखका कारण है किन्तु स्वतः अवगुणका भाव न छोड़े तो प्रतिकूलतामें उसे दुःख होता रहेगा। पूर्वमें किसीको इष्ट अनिष्ट माना हो इसलिये राग-द्वेष अजान नहीं है क्योंकि पूर्वका तो वर्तमानमें अभाव है स्वतः वर्तमानमें सम्यक् पुरुषार्थ नहीं करता इससे प्रतिकूलताके संयोगके समय द्वेष करता है तो होता रहता है।

परद्रव्यके आलम्बनसे राग-द्वेष, क्रोध-मानादिके अशुद्धभाव होते हैं स्वतः रागादिभाव किया, उसके निमित्तसे जो कर्म योग्य पुद्गल हैं वे स्वयमेव बंधते हैं, आत्मा उनका कर्ता नहीं है। कर्म परवस्तु है, किसी वस्तुका कर्ता कोई परवस्तु नहीं हो सकती।

तू अपना ज्ञान कर और परका ज्ञान कर—ऐसा तेरा स्वपर प्रकाशक स्वभाव है; स्वपर-प्रकाशन स्वभावका ज्ञान करानेके लिये परवस्तुका कथन किया है, परन्तु परकी अवस्थाका जीव कर्ता है ऐसा नहीं कहा है। जड़कर्म है—ऐसा कहाँसे जाना? शास्त्रसे जाना कि कर्म है; तो फिर शास्त्रकार कहते हैं कि कर्मको तू कर नही सकता, तो अब, इस बातको मान और अपनी बातको बदल दे।

कोई कहे कि यदि कर्म बाधक न हो तो जीव जहाँ तक असंज्ञीरूपसे है वहाँ तक पुरुषार्थ क्यो नही होता? वहाँ भी स्वतः अपने वीर्यके द्वारा अशुद्ध भावको ही तीव्र-मन्द करता जाता है इससे अपूर्व पुरुषार्थ नहीं होता, किन्तु पुरुषार्थ करनेमें जड़ कर्म आड़े नहीं आते; जीव असंज्ञीपनेमेंसे ऊपर आता है वह भी अपने रागादि कम करनेके पुरुषार्थ द्वारा ही आता है। कर्म उसे ऊपर नहीं ला देते; अपना वीर्य (-पुरुषार्थ) कषायकी मन्दता करनेमें युक्त होता है इससे ऊपर उच्च गतिमें आता है; किन्तु न तो कर्म उसे बाधा करते हैं और न ऊपर लाते हैं; अपनी अशुभ परिणतिसे नीची गतिमें जाता है और शुभ परिणतिसे उच्चगति प्राप्त होती है। शुभसे पुण्यबन्धन है धर्म नहीं है लेकिन वे कर्मके अनुसार नहीं हैं।

भाई! यह बात समझने योग्य है; दुकान पर बैठा हो तो ऊँघ नहीं आयेगी उत्साहवान रहेगा और यहाँ समझनेके उत्तम समयमें कुछ भी उत्साह क्यों नही है, किन्तु भाई! यह अनन्तकालके चक्करको दूर करनेका समय है इसलिये सत्स्वरूपकी तीव्र जिज्ञासा कर! मनन कर! विचार कर! पुरुषार्थ कर! वैराग्य प्रगट कर! और अन्तरमें निःशंक स्थिर हो—तभी यह मनुष्यभव सफल है। यदि इस जीवनमें कुछ नवीन नहीं किया, अपूर्वता न की तो यह जीवन न मिलनेके ही बराबर है; कुत्ते और कौवे सभी पैदा होते और मरते हैं, परन्तु इस जीवनमें यदि कोई अपूर्वता हुई, अन्तरोन्मुखता हुई तभी इसकी सफलता है।

जब आत्मा अज्ञान भावसे हिंसा-झूठ, पूजा-भक्तिके भाव

करे उससमय कर्म अपने आप बँधते हैं, किन्तु उनका कर्ता आत्मा नही है।

जिसप्रकार मत्र साधक स्वतः मत्रके भावरूप परिणमित होता हुआ मत्रके भावको करता है, सर्प विष उतारनेका मत्र इसप्रकार जपना चाहिये, बिच्छूका मत्र ऐसा है—उस भावमे स्वतः ही परिणमित होता है, सामनेवाले मनुष्यका विष उतारनेकी क्रिया स्वत नही करता, परन्तु मत्रके भाव स्वत. करता है। मत्रके भाव करे और सामनेवाले व्यक्तिके पुण्यका उदय हो तो तुरन्त सर्पका विष दूर हो जाता है, और पापका उदय हो, असाताका उदय हो तो मंत्रको निमित्त नही कहा जाता, यदि पुण्यका उदय हो तो मत्रको उपचारसे निमित्त कहा जाता है। स्वत. भाव कर सकता है कि इसके सर्पका विष दूर हो जाये, किन्तु वह भाव सामनेवालेका विष दूर करनेकी क्रियाका कर्ता नही है, परन्तु विप दूर करनेके मत्रका भाव सामनेवालेका विष दूर करनेमे मात्र बाह्यकारण–निमित्तमात्र होने पर भी सामनेवालेका विष दूर हो जाता है—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। सामनेवालेके पुण्यका उदय हो तो उसकी वैसी योग्यताके कारण विष उतर जाता है, निमित्त समीप हो या दूर हो निमित्त कुछ नही कर सकता, निमित्तका निमित्तपना सो प्रतिशत निमित्तमे कार्य करनेवाला है। इसप्रकार स्व-परको स्वतत्र जानकर स्वसन्मुखता द्वारा ज्ञान–ध्यानमे एकाग्र हो वहाँ कर्मका विष तत्काल दूर हो जाता है, कर्म अपने आप खिर जाते हैं।

मत्र साधक अपने भावोको करता है परन्तु सामनेवालेके विषको उतारनेकी क्रिया नही करता, स्वतः भाव करे वहाँ सामनेवालेका विष उतरने योग्य हो तो स्वयमेव उतर जाता है—ऐसा लगभग निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। किसीके मत्र साधनके निमित्त पाकर स्त्रियाँ स्वय विडम्बनाको प्राप्त होती हैं सिर धुनने लगती हैं, जो स्त्रियाँ ऐसी योग्यतावाली हो उनके वह विडम्बना होती है, जिनके पापका उदय हो उन स्त्रियोंको वैसी विडम्बना होती है। मंत्र साधक जब

मंत्रकी साधना करे उससमय वे स्त्रियाँ स्वयमेव धुनने-पीटने लग जाती हैं, मत्र साधक उनसे वह नही कराता, और फिर मत्र साधनेसे तो कभी वन्धन भी टूट जाते हैं।

भक्तामरसे भगवानकी स्तुति करने पर मानतु ग आचार्यकी बेड़ियाँ कट गईं, जिनेन्द्र भगवानकी स्तुति करने लगे कि हे प्रभु ! तुम सर्व पापोंके नाशक हो, ज्ञानके सागर हो, वीतरागताके पिण्ड हो। हे नाथ ! जिसने आपका स्वरूप देख लिया है उसका मन जन्म-जन्मान्तरमे भी कही जानेवाला नही है, हे प्रभो ! आपको देखनेसे जिसका मन मोहित हो गया उसका मन हरनेके लिये जगतमे कोई पदार्थ समर्थ नही है।

हे देव ! जो आपका दर्शन एकाग्र चित्तसे करता है उसके हृदयमे जो संतोष होता है वैसा सतोष उसे अन्यत्र नही मिलता, हे प्रभु ! देवेन्द्रो और नरेन्द्रोंके मणि-रत्नोके मुकुट आपके चरण कमलोमे झुक रहे हैं, हे प्रभु ! आप देवाधिदेव हो—आदि प्रकारसे भगवानके ऊपर वहुमान आनेसे, स्तुतिका शुभभाव होनेसे वेडीके बन्धन टूट गये, शुभभावका और पुण्यके उदयका मेल होनेसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धका मेल हुआ और बन्धन टूट गये। धर्मात्मा–गुणी हो उसके बन्धन टूट ही जाते हैं—ऐसा कोई नियम नही है, गुणी हो या न हो किन्तु पुण्यका उदय हो तो शुभभावोका मेल होनेसे बधन टूट जाते हैं—प्रतिकूलता हट जाती है।

उसीप्रकार यह आत्मा अज्ञानके कारण मिथ्यादर्शनादि-भावरूप स्वतः ही परिणमित होता हुआ, मिथ्यादर्शनादि भावोका कर्ता होता है। परवस्तु मुझे लाभ करे, मैं परको लाभ कर सकता हूँ-पर मुझे हानि पहुँचा सकते हैं और मैं परको हानि पहुँचा सकता हूँ—ऐसी विपरीत श्रद्धा विपरीत ज्ञान और विपरीत आचरण—ऐसे भावोका कर्ता अज्ञानी होता है। वे विपरीत श्रद्धा–ज्ञान–आचरणके भाव पुद्गल-द्रव्यको कर्मरूप परिणमित होनेमे अनुकूल होनेसे निमित्त-

भूत होनेसे, आत्मा कर्ता हुए विना, पुद्गलद्रव्य मोहनीयादि कर्मरूप स्वतः परिणमित होता है।

विपरीत श्रद्धा आदिके भाव कर्मोंके वन्धन होनेमे अनुकूल हैं किन्तु तेज धूप हो वह कही कर्मको परिणमित होनेमे अनुकूल निमित्त नही है; रागद्वेष करे तो कही शरीरकी सुन्दरता नष्ट नही होगी किन्तु रागभाव जडकर्मके परिणमित होनेमें अनुकूल निमित्त है। भ्रान्ति और राग-द्वेष करे उससे कर्म स्वतः ही परिणमित हो जाते हैं, भ्राति और रागद्वेष कर्मको परिणमित होनेमे अनुकूल हैं, किन्तु यदि रोटी खा रहा हो और राग-द्वेष भ्राति करे तो कही रोटीके रजकण कर्मरूप परिवर्तित नही हो जायेंगे। कर्मके योग्य रजकण स्वयमेव परिणमित होते हैं उसमे आत्माके विकारी भावोका निमित्त है तथापि आत्मा उसका कर्ता नही है। कर्मके सूक्ष्म रजकण परद्रव्य हैं उन्हे वदल देना परिवर्तित कर देना तेरे हाथकी वात नही है, तू अपने भावोंको वदल। दूसरे परद्रव्योको तू नही वदल सकता, सभी द्रव्य स्वतत्र है।

भाई या लडकोंके साथ ममत्व करे कि यह मेरे हैं और मैं इनका हूँ; हम सव तो एक ही हैं—ऐसा मानता है, किन्तु भाई! तेरे शरीरका प्रत्येक रजकण भिन्न है, कोई नखरूप परिणमित हुए हैं, कोई रक्त रूप परिणमित हुए हैं, कोई दूसरे रङ्गमे परिणमित हुए हैं। आँखके गटेके रजकण काले रङ्ग रूप परिणमित हुए हैं और शरीरकी चमडीके रजकण दूसरे रङ्ग रूप परिणमित हुए हैं, इसप्रकार कोई रजकण काले रङ्गमे कोई सफेद कोई लाल रङ्गमें परिणमित हुए हैं—इसप्रकार एक ही शरीरमे कितने रङ्ग हैं, देखो न! प्रत्येक रजकणका रङ्ग भिन्न है तो फिर दो भाइयोका तो कैसे एक रङ्ग हो सकता है? दो भाई कैसे एक हो सकते हैं? वाप और लडका दो हैं वे एक कैसे हो सकते हैं? इसलिये भाई ममत्वको छोड़! सभी द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं।

अज्ञानी जीव राग-द्वेपका कर्ता होता है, अनुकूलतामे रागका कर्ता होता है और प्रतिकूलतामे द्वेपका। वे भाव निमित्तभूत होनेसे कार्माणवर्गणाको जीवके विकारका वाह्य कारण मिलने पर वह अपने

आप अपने भावसे कर्मरूप परिणमित हो जाती है। कोई कहेगा कि जड़मे भाव होते हैं ? हाँ, जड़मे भाव होते है; पुद्गलका गुण उसका भाव है, पुद्गलकी अवस्था उसका भाव है, पुद्गल स्वतः अपने भावसे परिणमित होता है।

बाह्यमें अनुकूलता मिलना, पैसा, स्त्री, कुटुम्बादि सारी सुविधाएँ मिलना और प्रतिकूलताका सयोग मिलना वह सब कर्मका कार्य बाह्य फल रूप दिखाई देता है, कर्मके सूक्ष्म रजकरण कर्मरूप बँधते हैं उनका फल बाह्यमे अनुकूलता–प्रतिकूलतारूप दिखाई देता है।

अपने भावमे राग हुआ वह नैमित्तिक भाव है, और उससमय कर्मकी उपस्थिति है वह निमित्त है; और जब कर्मका बन्ध होता है तब कर्म उसके अपने भावसे परिणमित होता है—वह कर्मका नैमित्तिक भाव है और आत्माके विकारभावका उससमय निमित्त है। ऐसे निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे कर्म स्वयमेव परिणमित होते हैं; कोई किसीका कर्ता नही है। ९१।

अब, ऐसा कहते हैं कि—अज्ञानसे ही कर्म उत्पन्न होते हैं:—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९२॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥९२॥

अर्थः—जो परको अपने रूप करता है और अपनेको पररूप करता है—वह अज्ञानमय जीव कर्मोंका कर्ता होता है।

नवीन जड़कर्म बंधते हैं ऐसा शास्त्रके उपचारमात्रके कथनको निश्चय मानकर उनका कर्ता अज्ञानी अपनेको मानता है, परन्तु परद्रव्यकी अवस्थाका कर्ता नही हो सकता–हाँ नवीन भाव कर्मोंका कर्ता अज्ञानी होता है; परद्रव्यको अपने रूप मानता है और अपनेको पररूप मानता है। जड़ द्रव्यकी अवस्था जीव नही करता क्योंकि दोनो द्रव्य सदाय पृथक् पृथक् हैं।

आज नूतन वर्षका दिवस है, प्रातःकाल व्याख्यानमे सुप्रभातका मागलिक हुआ था। वर्ष तो अनेक प्रारम्भ होते हैं, और समाप्त भी होते है किन्तु आत्मामे अनादिकालसे नही प्रगट हुए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका सुप्रभात प्रगट हो वही यथार्थ सुप्रभात है वही यथार्थ माँगलिक है और यथार्थ नूतन वर्ष है, जो वह प्रभात प्रगट हुआ कि केवलज्ञान प्राप्त होगा ही। स्वतः अपनी ही शरण और अपना ही आशीर्वाद लेनेसे सुप्रभात प्रगट होता है। नूतन वर्षके दिन दौडधूप करता है और मानता है कि दूसरोका आशीर्वाद मिले तो मैं सुखी होऊँ, वर्ष सानन्द समाप्त हो—ऐसी पराश्रयकी मान्यता मूर्खतारूप अज्ञानमे होती है।

अज्ञानसे यह आत्मा परका और अपना परस्पर विशेष (अन्तर) न जानता हो उससमय परको अपनेरूप और अपनेको पररूप करता हुआ, स्वत' अज्ञानी होता हुआ कर्मका कर्ता प्रतिभासित होता है।

अज्ञानसे अर्थात् जैसा अपना स्वरूप है वैसा नही मानता, परका अपना अन्तर नही जानता इससे वह राग-द्वेषका कर्ता होता है। परको अपनेरूप करता है कि—यह रागका भाव आया इससे अच्छा हुआ; रागसे मुझे सुख संतोष हुआ, इसप्रकार रागमे सन्तोष मानता हुआ और अपने स्वरूपको न जानता हुआ विकार भावोको अपनेरूप मानता है, अपने निर्मल स्वरूपको विकाररूप मानता है, शुभराग रूप विकारसे—व्यवहारसे लाभ मानता है, पुण्य-पाप, शरीर, मन, वाणी—उन सबको अपनेरूप मानता है और अपनेको शरीरादिरूप मानता है—ऐसा अज्ञानरूप हुआ कर्मका कर्ता प्रतिभासित होता है। मेरा स्वरूप अनादि—अनन्त भिन्न है, मैं ज्ञाता तत्त्व हूँ, यह राग-द्वेषके विकारी भाव क्षणिक हैं—वैसा नही जानता इससे उसे ऐसा प्रतिभासित होता है कि कर्मको मैं करता हूँ। वह बात अब और स्पष्टतासे समझाई जाती है:—

जैसे शीत—उष्णका अनुभव करानेमे समर्थ, शीत—उष्ण

पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नत्वके कारण आत्मासे निरन्तर अत्यन्त भिन्न है, और उसके निमित्तसे होनेवाला उसप्रकारका अनुभव (ज्ञान) आत्मासे अभिन्नत्वके कारण पुद्गलसे निरन्तर अत्यन्त भिन्न है।

शीत और उष्ण अवस्था है वह पुद्गलकी है। अग्निके अंगारेमे उष्णता है वह अग्निसे पृथक् नही है किन्तु उसमे एकमेक है, वरफकी ठण्डी अवस्था है वह वरफसे पृथक् नही किन्तु उसमे एकमेक है। वरफ ठण्डा है और अग्नि उष्ण है—ऐसा ज्ञान करानेमे समर्थ जो पुद्गलकी अवस्था है वह पुद्गलसे अभिन्न है, पुद्गल आत्माको ज्ञान नही करा देता किन्तु पुद्गलमे ज्ञात होने योग्य ज्ञेय शक्ति है इसलिये ज्ञान करानेमे समर्थ कहा है, परन्तु वह ठण्डी-उष्ण अवस्था आत्मासे अत्यन्त भिन्न है।

शरीरमे शीतज्वर या उष्णज्वर आये—वह सव पुद्गलके स्पर्शगुणकी अवस्था है, वह पुद्गलसे अभिन्न है—एकमेक है; आत्मासे अत्यन्त भिन्न है, अपनी भिन्न सत्ताका ज्ञान करानेमे समर्थ है। आत्मा भिन्न ज्ञाता रहकर ज्ञान करनेवाला है और परद्रव्यकी अवस्था ज्ञेय है। जिसप्रकारकी अवस्था सम्मुख हो वैसा ही ज्ञान होता है परन्तु उल्टा-सीधा ज्ञान नही होता—ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक सम्वन्ध है।

ठण्डी-गर्म अवस्था पुद्गलसे एकमेक है और आत्मासे सदैव भिन्न है। ठण्डा वरफ, गर्म भजिये आदि शीत और उष्णत्व पुद्गलसे एकमेक है। ठण्डी और उष्ण अवस्थाके निमित्तसे होनेवाला उसप्रकारका अनुभव अर्थात् उसका ज्ञान भी वैसा ही होता है; ठण्डी अवस्था हो तो ज्ञानमें ठण्डी अवस्था ज्ञात होती है और उष्ण अवस्था हो तो ज्ञानमे उष्ण अवस्था ज्ञात होती है। परन्तु अज्ञानीको ऐसा हो जाता है कि—मेरा ज्ञान ठण्डा अथवा उष्ण हो गया है। इसप्रकार स्व-परको पृथक् न करके एक करता है। अज्ञानी कहता है कि ठण्डी-गर्म अवस्था हमारे शरीरमे असर न करे तो समझे कि ठण्डी और गर्म अवस्था ज्ञानसे पृथक् है, किन्तु वैसा तो नही होता। ठण्डी और उष्ण अवस्थाएँ असर तो करती हैं सुख दुःख देती हैं। अरे भाई ! ठण्डा या

गर्म तेरे ज्ञानस्वभावमे प्रवेश नही कर जाता, ठण्डी और उष्ण तो पुद्‌गलकी अवस्थाएँ है और ज्ञान उन्हे जाननेवाला है। आत्मा सदाय अरूपी ज्ञानस्वभावी है, शरीरसे सदा भिन्न है, रागादिसे कथंचित् भिन्न है और वाह्य पुद्‌गल द्रव्योंसे भी पृथक् है; उसे शीत या उष्णता असर नही कर सकती।

जव ज्ञानकी योग्यता शीत अवस्थाको जाननेकी हो उससमय पुद्‌गलकी शीत अवस्था सम्मुख उपस्थित होती है और जव उष्ण अवस्थाको जाननेकी योग्यता हो उससमय पुद्‌गलकी उष्ण अवस्थाकी उपस्थिति होती है। जव शीत अवस्थाकी उपस्थिति होगी उससमय ज्ञानमें शीत ही ज्ञात होगा और जव उष्ण अवस्थाकी उपस्थिति होगी उससमय उष्ण ज्ञात होगा। शीतके समय उष्ण ज्ञात नही होगा और उष्णके समय शीत ज्ञात नही होगा—ऐसा ज्ञेयज्ञायक सम्वन्ध है, इससे अज्ञानीको ऐसा लगता है कि सामनेवाली वस्तुसे मेरा सम्वन्ध है, मैं और वह वस्तु दोनों एक हैं, किन्तु भाई! शीत–उष्ण वस्तुके ज्ञानके साथ मेल है, कही वस्तुके साथ मेल नही है, परवस्तुके साथ एकमेक नही है। शीत–उष्णका उसप्रकारका अनुभव अर्थात् ज्ञान–वह आत्मा से पृथक् नही किन्तु एकमेक है। वह ज्ञान आत्माके साथ अत्यन्त एकमेक होनेसे पुद्‌गलसे अत्यन्त भिन्न है, शीत–उष्ण अवस्थाका पुद्‌गलके साथ मेल है, परन्तु शीत–उष्ण पदार्थ ज्ञात हो उससे ज्ञान शीत–उष्ण नही होता।

वैसे ही, उसप्रकारका अनुभव करानेमे समर्थ रागद्वेष, सुख-दु:खादिरूप पुद्‌गलपरिणामकी अवस्था पुद्‌गलसे अभिन्नत्वके कारण आत्मासे सदैव अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला उसप्रकारका अनुभव (ज्ञान) आत्मासे अभिन्नत्वके कारण पुद्‌गल सदैव अत्यन्त भिन्न है।

जो राग-द्वेष और सुख-दु:खकी अवस्था है वह पुद्‌गलमे अभिन्न–एकमेक है, वैसा कहा। ९१ वी गाथामे कहा था कि राग-द्वेष भावका कर्ता आत्मा अज्ञानभावसे है और यहाँ राग-द्वेषके विकारी

भावोको जडमे डाल दिया, उसका कारण यह है कि यहाँ दो द्रव्योको पृथक् बतलाना है। परोन्मुखताके कारण अपनेमे विकारी पर्याय होती है किन्तु वह पराश्रय है–क्षणभगुर होनेसे अपना स्वभाव नही है, इसलिये वह जडकी है—ऐसा कह दिया है। यहाँ दो द्रव्योको पृथक् वतलाते हैं। परको पासमे स्थित रहनेसे रागादि नही होते किन्तु अपनेको भूलकर संयोगमे एकत्वबुद्धि, और पराश्रयकी श्रद्धासे विकार भाव करता है रागादि स्वसे विरुद्ध भाव है इसलिये वह पर ही है। विकारभावसे उत्पन्न होनेवाला कार्य जड़का है और उससे मुक्त हो जाना वह चैतन्यका कार्य है, कर्मके निमित्तरूप, ज्ञान भावसे विपरीत भावका होना चैतन्यका स्वभाव ही नही है और चैतन्यके स्वभावरूप रहना वह चैतन्यकी स्वभाव पर्याय है।

जैसे वरफ या अग्निको जाननेके समय ज्ञान कही ठण्डा या उष्ण नही होता, उसीप्रकार राग-द्वेष और सुख-दुःखकी अवस्थाको जाननेके समय ज्ञान रागी–द्वेषी, सुखमय या दुःखमय नही होता। उसप्रकारका अनुभव अर्थात् राग हो तव रागको जानता है, शोक हो तब शोकको जानता है, शोकको कही राग जानता है? अथवा रागको शोक जानता है? नही, वैसा नही जानता। जो जैसी अवस्था हो वैसा ज्ञान जानता है—ऐसा ज्ञेय–ज्ञायक सम्बन्ध है, ऐसा स्व-पर प्रकाशक ज्ञानका स्वभाव है।

रागके समय रागका ही ज्ञान होता है, वहाँ अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो जाता है कि मैं रागमय हो गया, मैं द्वेषमय हो गया, किन्तु भाई! ज्ञानका जाननेका स्वभाव है, करुणाका भाव आये उससमय वैसा ही जानता है और हर्ष या शोकका भाव आये उससमय वैसा ही जानता है। ज्ञानका स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, परको अपना बनानेका स्वभाव नही है, किन्तु परका प्रकाशक अर्थात् प्रकाशित करनेवाला है। हर्षके समय शोक नही जानता और न शोकके समय हर्ष जानता, किन्तु जैसा हो उसे वैसा ही जानता है—ऐसा ज्ञानका सामर्थ्य है स्वभाव है। यहाँ तो सम्यग्दृष्टिकी बात है, सम्यक्‌दृष्टिका निकाल हो

गया है, उसके अल्प राग-द्वेष होते हैं उनका वह ज्ञाता है किन्तु कर्ता नही है, राग-द्वेष और क्रोधको जाननेवाला सदैव पुद्गलसे पृथक् है, ज्ञानकी निर्मलता राग-द्वेपसे सदैव भिन्न है। जैसे शीत और उष्ण अवस्थायें जड़ हैं और जड़के साथ एकमेक हैं परन्तु अज्ञानी उन्हे अपना मानता है परन्तु मेरे ज्ञानका सामर्थ्य स्व-परको जानना है—वैसा न जाननेसे और राग-द्वेष मेरे हैं वह माननेसे नवीन कर्म वँध जाते हैं।

ज्ञान सूक्ष्म, आत्मा सूक्ष्म, उसका कारण सूक्ष्म, और उसका कार्य भी सूक्ष्म है, इसलिये स्वत. सूक्ष्म होकर जाने तो समझमे आये कि स्वतः भी सूक्ष्म है। अपने ज्ञानका स्वभाव स्व-परप्रकाशक है, वैसा न जानकर परको अपना करता है इससे नवीन कर्मवन्ध होता है।

यहाँ कर्ता कर्मकी वात चल रही है। ज्ञानी परका कर्ता नही होता और अज्ञानी होता है।

जैसे पुद्गलमे जो शीत—उष्ण अवस्था है वह पुद्गलसे अभिन्न है, आत्मा उसका ज्ञान करता है किन्तु उस शीत या उष्ण अवस्थामे आत्मा प्रविष्ट नही हो जाता, उससे आत्मा अत्यन्त पृथक् है। उसीप्रकार राग-द्वेष और क्रोधादिके भाव आत्माके नही हैं क्योंकि वे भाव क्षणिक हैं, विकारी हैं और आत्मा तो निर्विकार त्रिकालस्थायी है इसलिये वे विकारी भाव आत्मासे पृथक् हैं। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ और यह जो विकारी भाव हैं सो मैं नही हूँ—ऐसा भेदज्ञान हो जाये उससमय विकारी भावोको अपना नही मानता। वाह्यके मकानादिकी वात तो दूर रही परन्तु यह तो अन्तरके शुभाशुभ विकारी भावोको भी भिन्न जाननेकी वात है। ज्ञानी उन्हे भिन्न मानता है, किन्तु अज्ञानी भिन्न नही मानता भला मानता है। अज्ञानी विकारी भावोका और आत्माका अन्तर नही जानता इससे राग-द्वेप-सुख-दुःखके भाव और ज्ञानको एकमेक मानता है।

अज्ञानके कारण जव आत्मा उन राग-द्वेष-सुख-दु खादिका और उनके अनुभवका (ज्ञानका) परस्पर विशेप न जानता हो

उससमय एकत्वके अध्यासके कारण, शीत–उष्णकी भाँति (अर्थात् जैसे आत्मा द्वारा शीत–उष्णरूप परिणमित होना अशक्य है उसप्रकार) जिसके रूपमे आत्मा द्वारा परिणमित होना अशक्य है, ऐसे राग–द्वेष–सुख–दुःखादिरूप अज्ञानात्मा द्वारा परिणमित होता हुआ (अर्थात् परिणमित होना मानता हुआ), ज्ञानका अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वतः अज्ञानमय होता हुआ, "मैं रागी हूँ (अर्थात् मैं राग करता हूँ)" इत्यादि प्रकारसे रागादि कर्मोका कर्ता प्रतिभासित होता है ।

जब अज्ञानके कारण आत्मा राग-द्वेष और सुख–दु.खादिका और उनके अनुभवनका अर्थात् ज्ञानका परस्पर अन्तर न जानता हो तब, अर्थात् अज्ञान भावसे एक जानता हो उससमय एकत्वके अध्यासके कारण रागादि कर्मोका कर्ता प्रतिभासित होता है—ऐसा कहकर आचार्यदेवने ऐसा कहा है कि राग-द्वेषकी अवस्था चैतन्यमें होती है, उसके साथ परस्पर भेद नही जानता—ऐसा कहकर व्यवहार कहा, और राग-द्वेष पुद्गलके हैं—ऐसा कहकर दो द्रव्योंको पृथक् कहा । अज्ञानीको राग-द्वेपके ज्ञाताका और राग-द्वेषका अन्तर पाड़ना नही आता है, भेद करना नही आता है, इससे वह ऐसा न मानकर कि—मैं ज्ञायक मात्र स्वरूप जितना ही हूँ, और राग-द्वेष मैं नही हूँ, मैं तो उसका दृष्टा हूँ । त्रैकालिक ज्ञान और क्षणिक रागादिका भेदविज्ञान नही होनेसे रागको भला मानता है । अपनेको राग-द्वेपरूप ही मानता है उसे आचार्यदेव तो कहते हैं कि जिसप्रकार शीत–उष्णकी भाँति जिसके रूपमे परिणमित होना अशक्य है अर्थात् जैसे आत्मा शीत–उष्ण अवस्थारूप नही होता वैसे ही राग-द्वेष और सुख–दु.खादिकी अवस्था-रूप नही होता । यहाँ ऐसा कहा है कि आत्मा उसरूप होता ही नही, आत्माका राग-द्वेषरूप होना अशक्य है जो ज्ञानवान आत्मा है वह रागवान नही होता, तो फिर कौन होता है ? अज्ञानात्मा द्वारा राग-द्वेप-सुख-दु.खादिरूप परिणमित होता हुआ अज्ञानभावसे उस अवस्थारूप होता है, परन्तु आत्मभावसे उस अवस्थारूप होना अशक्य है ।

जिसके रूपमे आत्मा द्वारा परिणमित होना अशक्य है, अशक्य अर्थात् शक्य ही नही है। दुर्लभ नही कहा परन्तु अशक्य कहा है। दुर्लभ अर्थ होता है—दुःख उठाकर प्राप्त भी हो जाये, परन्तु यह तो अशक्य कहा है। उसका तात्पर्य है किसी भी प्रकार प्राप्त नही हो सकता।

प्रश्नः—राग–द्वेष तो आत्मामे होते हैं न ?

उत्तरः—राग-द्वेष अज्ञानभावसे आत्मामे होते हैं किन्तु ज्ञानभावसे आत्मामे नही होते, गौणरूप अल्प अस्थिरता होती है, उसकी यहाँ बात नही है, यहाँ तो द्रव्यदृष्टिकी बात है।

जो राग-द्वेषरूप अवस्था होती है वह ज्ञेय होनेसे आत्माको ज्ञान करानेमे समर्थ है, अर्थात् वह अवस्था ज्ञाताका ज्ञेय होती है और ज्ञानमे वृद्धि करके छूट जाती है। अवस्था ज्ञेय है और उसके निमित्तसे होनेवाला उसप्रकारका अनुभव वह ज्ञान है।

अज्ञानीकी दृष्टि अज्ञानमय हो जाती है—तन्मय हो जाती है, ज्ञानीकी भाँति उसकी दृष्टि पृथक् नही रहती। अज्ञानी ज्ञानका अज्ञानत्व प्रगट करता है।

अज्ञानी राग-द्वेष-सुख-दुःख और उसप्रकारका अनुभव अर्थात् उसप्रकारके ज्ञानका अन्तर न जाननेसे एकत्वके अध्यासके कारण ज्ञानका अज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वत अज्ञानमय होता हुआ 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ' इत्यादि प्रकारसे रागादि कर्मोका कर्ता प्रतिभासित होता है।

जैसे आत्मा शीत-उष्ण नही हो सकता उसीप्रकार राग-द्वेष और हर्ष-शोक द्वारा आत्माका परिणमित होना अशक्य है। राग–द्वेष क्षणिक है और आत्मा तो त्रिकालस्थायी है, इससे आत्माका राग-द्वेषमय होना स्वभावदृष्टिसे अशक्य है, हर्ष-शोकरूप होना आत्माका स्वभाव नही है, उसके द्वारा आत्माका परिणमित होना अशक्य है, तथापि अज्ञानात्मा द्वारा परिणमित होता हुआ, परिणमित होना

मानता हुआ क्षणिक भावके समय जैसे मैं ही उसभावरूप हो गया हूँ—ऐसा मानता हुआ अपने ज्ञानका अज्ञानत्व प्रगट करता है।

शरीर-मन-वाणीका कार्य मैं कर देता हूँ ऐसा भाव तो अज्ञान ही है, परन्तु अन्दर जो हर्ष-शोक होता है उसे मैं करता हूँ, वह मेरा स्वभाव है—वैसा मानना भी अज्ञान है। अज्ञानी आत्मा, हर्ष-शोक, सुख-दुःखादिके भाव और मेरा स्वभाव—वे सब एक होगये है—वैसा मानता हुआ परिणमित होता है। मैं ज्ञान स्वरूप हूँ—ज्ञाता हूँ—दृष्टा हूँ,—ऐसा भान न रखकर अज्ञानता प्रगट करता हुआ अज्ञानी होता है। आत्मा शरीरादिरूप और रागादिरूप नही होता, तथापि आत्माका जो ज्ञानधर्म है उसमे अज्ञानी अज्ञानता प्रगट करता हुआ—"मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ" इसप्रकार मानता हुआ रागादिका कर्ता होता है।

प्रश्नः—अज्ञानताको इतनी गालियाँ दी, उसकी अपेक्षा तो जो हरामखोर हो उसे गालियाँ देना चाहिये न ?

उत्तरः—अज्ञान जैसी कोई हरामखोरी नही है; आत्माका निर्मल स्वभाव जैसा है उसे जबतक वैसा न समझे तबतक उसके समान कोई हरामखोरी नही है। स्वतंत्र ज्ञाता स्वभावका तिरस्कार करके जगतके अनन्त सत्पदार्थको अनन्त आत्माको पराधीन मानकर आत्म हत्या करते हैं। अपनी चतुराईसे मैं पैसा इकट्ठा करता हूँ, मेरी चतुराईसे मै शरीर-समाज, पैसा, प्रतिष्ठादिका ठीक कर सकता हूँ ऐसी कर्तृत्वकी बुद्धि है वह अज्ञान है। वर्तमानमे भले नीतिके शुभपरिणाम करता हो, परन्तु शुभाशुभ दोनो विकार अशान्ति है आकुलित हैं, वह मुझे सुखरूप नही हैं, किन्तु मेरा ज्ञानमात्र स्वभाव ही मुझे सुखरूप है—ऐसी सम्यक्प्रतीति जहाँतक नही हुई वहाँतक भले ही नीतिके शुभपरिणाम करता हो, तथापि संसार बन्धनका पात्र है—मुक्तानन्द स्वभावका पात्र नही है क्योकि इन परिणामोका कर्ता मैं हूँ, यह रागादि परिणाम मुझे सुखरूप हैं, यह मेरा स्वभाव है,—ऐसी अज्ञानबुद्धि है, इससे भविष्यमे वह अज्ञान विकसित होकर महाअनीति करेगा, महाहिंसा

और झूठका सेवन करेगा। अपने आत्मतत्त्वको न समझने जैसा कोई पाप नही है।

साधारण दया पाले, सत्य बोले उसे लोग नीति कहते है, वह शुभपरिणाम है आत्माका स्वभाव नही है। पचमहाव्रतका पालन करता हो, तो वह शुभपरिणामसे पुण्य है, और उन परिणामोसे मुझे धर्म होता है, लाभ अथवा सुख होता है—वैसी मान्यता सो अज्ञान है। भले ही नग्न मुनि होकर पच महाव्रत आदिके शुभपरिणामोका सेवन करता हो, परन्तु यदि अज्ञानका शल्य साथमे है तो भविष्यमे वह अज्ञान प्रगट होकर महा हिंसा–झूठमे प्रवर्तन करेगा।

हरामका अर्थ यह है कि आत्माके स्वभावमे राग-द्वेप हराम हैं, अर्थात् आत्मस्वभावमे राग–द्वेष नही खपते।

हरियालीकी दया पाली, कच्चे पानीके एक बिन्दुका उपयोग न किया, शरीरको काटकर नमक छिडका तथापि आँखका कौना भी लाल नही हुआ, ऐसा सहन किया, इतना करने पर भी यदि ऐसा माने कि मैं परकी दया पालन करता हूँ, परका सहन करता हूँ, परसे मुझे लाभ है, दया, अहिंसाके शुभरागसे, या परसे मुझे धर्म है—ऐसी विपरीत मान्यता अज्ञान है।

अपने ज्ञाता स्वभावमे जागृत रहना ही निर्मल श्रद्धा–ज्ञान चारित्ररूप धर्म है, वही सुखरूप है, मेरा स्वभाव ही साम्यस्वरूप—समतास्वरूप है—ऐसा न मानकर, परका मैं सहन करता हूँ, परकी दयासे मुझे लाभ होता है, वैसा माननेवाला वर्तमानमे अपने चैतन्यकी हत्या करता है और भविष्यमे अनन्त जन्म-मरण धारण करनेवाला है।

धर्मात्मा जीव राग-द्वेषका नाशक है, किन्तु उत्पादक नही है, आत्मामे राग-द्वेष, हर्ष–शोकका होना वह पुद्‌गलकर्मके उदयका स्वाद है, उसे जाननेसे आत्मा उसरूप नही होता। जैसे कालीजीरीको जाननेवाला कालीजीरीरूप कडवा नही होता और गुडका जाननेवाला गुडरूप मीठा नही होता, उसीप्रकार पुण्य–परिणाम गुड और पापपरिणाम कालीजीरी, पुण्य-पापके परिणामोको जाननेसे आत्मा उसरूप

नही होता। पापके परिणाम तो हलाहल विष समान हैं, परन्तु पुण्य-परिणाम भी विष हैं, जहाँतक वीतराग न हो वहाँतक बीचमे अपूर्ण-दशामे पुण्यके परिणाम आते अवश्य हैं, किन्तु वह विकार है, किंचित् मददरूप नही है। आत्माका स्वभाव नही है इसलिये विष हैं, उस विषको जाननेसे आत्मा उसरूप नही होता।

अपने त्रिकाल अविनाशी स्वभावकी अनभिज्ञताके कारण, राग-द्वेष और अपने अविनाशी स्वभावके पृथक्त्वका भान न होनेसे, यह राग-द्वेषकी विकारी पर्याय मेरी है—ऐसा अज्ञानी मानता है। उसे ऐसा लगता है कि जो यह विकारी भाव ज्ञात होते हैं उसी स्वरूप ही मेरा सम्पूर्ण आत्मा है। मैं त्रिकाल रागी–क्रोधी हूँ, मानी हूँ, दम्भी हूँ, इत्यादि विकारभाव युक्त अपनेको मानता है। आत्मस्वभावकी खबर नही है इससे पुण्य करना मेरा कर्तव्य है, विकारी भाव करना मेरा कर्तव्य है—ऐसा वह मानता है।

आत्माके त्रैकालिक ज्ञान स्वभावकी वर्तमान पर्यायमें हर्ष–शोककी क्षणिक अवस्था ज्ञात होती है। जिस ज्ञानके सामर्थ्यमे ठण्डा-गर्म ज्ञात होता है उसी ज्ञानके सामर्थ्यमे राग-द्वेष, हर्ष–शोक भी ज्ञात होते हैं। ज्ञान शीत–उष्णको जानता है तथापि शीत–उष्ण नही होता। शीत-उष्णसे मैं पृथक् हूँ—ऐसी पृथक् दृष्टि न जाननेसे अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं शीत–उष्ण हो गया हूँ, तथापि कही वह शीत–उष्ण नही हो जाता। उसीप्रकार मैं चैतन्य राग-द्वेषसे भिन्न हूँ, वैसी भिन्न दृष्टि स्वतः नही करता इससे अपनेको राग-द्वेषरूप मानता है। अज्ञानभावसे अपनेको रागद्वेषरूप मानता है, तथापि स्वतः सम्पूर्ण आत्मा कही राग-द्वेषरूप नही हो जाता। यदि सम्पूर्ण आत्मा राग-द्वेषरूप हो जाता हो तो सम्यग्भान द्वारा राग-द्वेषको दूर किया ही नही जा सकता।

बहुत बुखार आया हो, तथापि आत्मा गरम नही हो जाता। बुखार अधिक बढ जाये और कदाचित् देह छूट जाये, आत्मा निकल जाये, तो भी शरीरमे दो घण्टे गर्मी रहती है, यदि आत्मा गर्म हो

गया हो तो जहाँ आत्मा जाये वहाँ साथ ही उष्णता भी जाना चाहिये, परन्तु उष्णता तो मुर्देमे रह जाती है और आत्मा चला जाता है, इसीप्रकार आत्माकी अवस्थामे हर्ष-शोकादि क्षणिक भाव होते हैं वे शीत-उष्ण बुखार जैसें हैं, केवलज्ञान होने पर वह राग-द्वेषरूप मुर्दा छोडकर आत्मा निकल जाता है।

जिसकी दृष्टि शरीर पर है, जिसे ऐसा लग रहा है कि शरीर मेरा है, शरीर अच्छा हो तो मैं सुखी—लेकिन अतीन्द्रिय चैतन्यके ऊपर दृष्टि नही डाली उसे शरीरके जाने पर ज्ञान दब जाता है—अज्ञानी शरीरके साथ अपना नाश मानते हैं। शरीर पर—दबाव पडनेसे असाध्य हो जाता है, राग-द्वेष और हर्ष—शोकको अपना माना है, चैतन्यकी प्रतीति की और लक्ष्य नही किया, उसे भिन्न जाननेकी आकाक्षा भी नही की, उसका अन्तसमय विगड ही जायेगा। जिसने आत्माकी पहिचान की, आत्मामे दृष्टि डाली, आत्माकी शान्ति—समाधिका अनुभवन किया है उसका मरण समाधिरूप उज्ज्वलता पूर्वक होगा, महोत्सव पूर्वक होगा, वह शान्ति-समाधिमे भूलता हुआ, आनन्दकी डकार लेता हुआ देहको त्यागेगा।

इसप्रकार सम्यग्ज्ञानसे कर्म उत्पन्न नही होता—ऐसा अब कहते हैं:—

परमप्पाणकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारगो होदि॥९३॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन्।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति॥९३॥

अर्थः—जो परको अपने रूप नही करता और अपनेको भी पररूप नही करता वह ज्ञानमय जीव कर्मोका अकर्ता होता है अर्थात् कर्ता नही होता।

धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो पर—राग-द्वेष, हर्ष—शोक, मन, वाणी, देह, कुटुम्ब, मकानादि बाह्य पदार्थोंको अपना नही मानता, स्वत. उन भावोका कर्ता—हर्ता नही होता और अपनेको उन परभावों रूप नही करता अर्थात् नही मानता। जानना-देखना और स्थिर रहना, उसके अतिरिक्त अपने जीवनका अन्य कर्तव्य स्वीकार नही करता।

ज्ञानसे यह आत्मा स्व और परका परस्पर विशेष जानता हो उससमय परको अपनेरूप नही करता और अपनेको पररूप नही करता, स्वत. ज्ञानमय होता हुआ कर्मोका अकर्ता प्रतिभासित होता है।

ज्ञान द्वारा यह आत्मा परका और अपना परस्पर विशेष अर्थात् अन्तर जानता हो तव वह—विवेकी ज्ञान और विवेकी पहिचान हो तब—परभावको अपनेरूप न करता हुआ अर्थात् अपना नही मानता हुआ, स्वत. ज्ञानमय होता हुआ कर्मोका तथा रागादि मलिन भावोंका अकर्ता प्रतिभासित होता है। ज्ञानमे दर्शन—ज्ञान—चारित्र तीनोका समावेश हो जाता है। ज्ञानस्वरूपी आत्माका ज्ञान, उसकी श्रद्धा और उसमे एकाग्र होता हुआ परका कर्ता नही होता। पुण्य—पापका कर्तव्य मेरा है ही नही, मैं उसका अकर्ता हूँ, ज्ञाता हूँ—इस-प्रकार ज्ञानमय होता हुआ अकर्ता प्रतिभासित होता है, अल्प अस्थिरता होती है किन्तु उसका कर्ता नही होता।

जिसप्रकार पुद्गलकी शीत-उष्णकी अवस्था पुद्गलसे एकमेक है और आत्मासे अत्यन्त भिन्न है। पुद्गलकी शीत—उष्ण अवस्थाका बाह्यकारण प्राप्त करके उसप्रकारका ज्ञान आत्मासे सदैव अत्यन्त अभिन्न है, एकमेक है, शीत—उष्णका ज्ञान आत्मासे एकमेक है और पुद्गलसे सदैव अत्यन्त भिन्न है।

वैसे ही उसप्रकारका अनुभव करानेमे समर्थ, ऐसी राग-द्वेष, सुख-दु खादिरूप पुद्गलपरिणामकी अवस्था पुद्गलसे अभिन्नत्वके कारण आत्मासे सदैव अत्यन्त भिन्न है और उसके निमित्तसे होनेवाला

उसप्रकारका अनुभव (–ज्ञान) आत्मासे अभिन्नत्वके कारण पुद्गलसे सदैव अत्यन्त भिन्न है ।

राग–द्वेप और काम–क्रोधादिके जैसे विकल्प आते हैं वैसा ही ज्ञान होता है, जैसे विकल्प हो वैसा ही जानता है किन्तु उससे विपरीत नही जानता। जैसे कि—क्रोधको मान नही जानता और मानको क्रोध नही जानता, हर्षके भावको शोकका भाव नही जानता और न शोकके भावको हर्षका; उन भावोमे ज्ञेयशक्ति है और आत्मा उसप्रकारका अनुभव अर्थात् ज्ञान करनेवाला है। राग-द्वेष और सुख–दु ख पुद्गलकर्मके परिणमनकी अवस्थाएँ हैं, जडका परिणमन होते-होते, उसमेसे परिवर्तित होते–होते राग–द्वेष, सुख–दु खकी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं किन्तु आत्माकी अवस्था परिवर्तित होते–होते वे अवस्थाएँ उत्पन्न नही होती। क्योकि वे अवस्थाएँ नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मासे सदैव अत्यन्त भिन्न है और पुद्गलसे अभिन्न हैं, अशुद्ध अवस्था आत्माकी पर्यायमे होती है वह बात यहाँ गौण है क्योकि यहाँ नित्य स्वभावदृष्टिसे बात है। जितने परोन्मुखताके भाव होते हैं वे सब पुद्गलके है—ऐसा कहा है। पर्यायदृष्टिसे वह विकारी पर्याय आत्माकी है, परन्तु स्वभावदृष्टिसे अपना वह स्वभाव नही है इसलिये पुद्गलकी है।

क्षणमे राग होता है, क्षणमे द्वेष होता है, उसका आत्मा ज्ञाता है, जैसे विकारी परिणाम हो उसप्रकारका अनुभव अर्थात् उसप्रकारका ज्ञान करनेवाला है। ज्ञान पुद्गलसे भिन्न है और आत्मासे अभिन्न है।

कोई कहेगा कि क्षणमे रागद्वेषको आत्माका कहते हो, और क्षणमे पुद्गलका बनाते हो ? भाई ! एक की एक बात कहनेमे अनेक पक्ष होते है, जिसप्रकार एक के एक मनुष्यको पुत्रकी अपेक्षासे पिता कहा जाता है, पिताकी अपेक्षासे पुत्र कहा जाता है, काकाकी अपेक्षासे भतीजा कहा जाता है, भतीजेकी अवस्थासे काका कहा जाता है, इसप्रकार एक ही मनुष्यको भिन्न–भिन्न अपेक्षासे भिन्न–भिन्न प्रकारसे पहिचाननेमे आता है। वैसे ही पर्यायदृष्टिसे विकार आत्माका कहा

जाता है, और स्वभावदृष्टिसे विकार परका कहलाता है। जैसे—भतीजेकी अपेक्षासे स्वतः काका है, परन्तु अपने काकाकी अपेक्षासे भी वह काका है—ऐसा नही हो सकता। उसीप्रकार पर्यायदृष्टिसे विकार आत्माका है और स्वभावदृष्टिसे भी विकार आत्माका है—वैसा नही हो सकता।

आत्मा जब अज्ञानी होता है उससमय स्व–परकी भिन्नता नहीं जानता, तबतक रागादिका स्वामी और कर्ता बनता है। किन्तु जब ज्ञान हो तब राग–द्वेष–सुख–दुःखादिका और उनके अनुभवका अर्थात् ज्ञानका पारस्परिक अन्तर स्पष्टतया जानता है, इनसे विकारी भाव और आत्मा दोनों एक नही हैं किन्तु भिन्न हैं। यद्यपि अज्ञानीको भी भिन्न ही है परन्तु अज्ञानीने एक माना है और ज्ञानीने पारस्परिक भेद जाना है, दोनोंका पारस्परिक भेद जाननेमे सम्यक्त्वका अनन्त पुरुषार्थ आ जाता है।

स्व-परके विवेकके कारण, शीत–उष्णकी भाँति जिसके रूपमें परिणमित होना आत्मा द्वारा अशक्य है—ऐसे राग-द्वेष, सुख-दुःखादि-रूप अज्ञानात्मा द्वारा किंचित् परिणमित न होता हुआ, ज्ञानका ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ, स्वतः ज्ञानमय होता हुआ, "मैं रागका ज्ञाता ही हूँ, रागी तो पुद्गल है"—इत्यादि विधिसे, ज्ञानसे विरुद्ध—ऐसे समस्त रागादि कर्मोंका अकर्त्ता प्रतिभासित होता है।

जैसे शीत–उष्णताकी अवस्थारूप होनेकी आत्मामें असमर्थता है, वैसे ही ज्ञान होनेसे पुण्य-पापके भावरूप होनेकी भी आत्मामे असमर्थता है, परन्तु उन विकारी भावोंका अभाव करनेका आत्मामें सामर्थ्य है। ज्ञान होनेके पश्चात् राग-द्वेपमें किंचित् परिणमित न होता हुआ अपने स्वभावमें परिणमित होता है; अल्प अस्थिरता होती है, उसकी यहाँ गणना नही है; अनन्त ससार दूर हो गया, अनन्त वल प्रगट हुआ। पहले अज्ञानदशा थी तब विकारमें अनन्त वलसे युक्त होता था और अब ज्ञान होनेसे स्वभावमें भी अनन्त वलसे युक्त होता है। विभावकी अपेक्षा स्वभावमें अनन्तगुना वल अधिक है, अस्थिरतामे अव अल्प वलसे युक्त होता है, इससे अल्प–अस्थिरता होती है। और

नित्य स्वभाव आश्रयसे होनेवाली वर्तमान साधकदशाकी ताकत विकारसे, बाधकभावसे अनन्तगुणी अधिक है।

अज्ञानीको अनुकूलतामे सुखका मजा आता है, और दुःखमे वेचैन हो जाता है। यह ऐसा परदेशमे लडाईका समय है इससे कितनोको तो कुछ का कुछ हो जाता है, परन्तु भाई! ऐसे समयके प्रवाह तो अनेक आये और चले गये परन्तु धर्मात्मा उनके द्वारा किंचित् भी चलायमान नही होता। ज्ञानका ज्ञानत्व प्रगट करता हुआ अर्थात् आत्माका आत्मत्व प्रगट करता हुआ रागको भिन्न जानता है। वह समझता है कि मैं तो इस रागका ज्ञाता हूँ, किन्तु कर्ता नही हूँ, राग तो पुद्गलकी अवस्था है। रागी तो पुद्गल है, राग मेरा स्वभाव नही है, इसलिये राग पुद्गल है, मैं तो एक प्रकारसे हूँ, ज्ञाता हूँ। विकारी पर्याय चैतन्यकी अवस्थामे होती है, उस बातको यहाँ गौण किया है। देखा, यहाँ किंचित् भी रागादिमय परिणमित न होता हुआ कहा है, अल्प राग-द्वेष होते हैं किन्तु उनका कर्ता नही है, विकारी भावोका ज्ञाता है परन्तु कर्ता नही होता। इसप्रकारकी मार्गकी विधिसे, ज्ञानसे विरुद्ध—ऐसे समस्त हर्ष—शोकादि विकारी भावोका अकर्ता प्रतिभासित होता है।

यह वस्तु समझे विना अन्तसमयमे किसीकी शरण नही है; एक रजकण भी कार्य नही करता, एक अँगुली भी कार्य नही करती, अन्दर बैठे हुए चैतन्यकी तीव्र इच्छा होती है कि अँगुलीसे सकेत करके दूसरेसे अपने भाव प्रगट करूँ, खाँस कर कफको बाहर निकाल दूँ, परन्तु वह जड़की क्रिया आत्माके हाथमे है? इच्छा और शरीरकी क्रिया पृथक् हैं—ऐसा इस सम्यक्ज्ञानसे प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। परन्तु जो जीव वस्तुके स्वभावको नही समझता और जड़के कर्तृत्वके अहकारमे ही रहता है उसे मरण समय कौन शरणभूत हो? वास्तवमे अपना ही शरण अपनेको है, स्वत यदि वस्तु स्वभावको समझे तो उसे शान्ति-समाधिका शरण स्वत से, स्वत मे, स्वत को मिले ऐसा है। देव, गुरु, शास्त्रका शरण कहना भी व्यवहार—उपचारसे है। देव, गुरु, शास्त्रका

कहा हुआ भाव यदि स्वतः समझे तो उपचारसे उनका शरण कहलाता है।

यदि आत्मा पुरुषार्थ करे तो क्या नही कर सकता ? नव वरसके वालक–राजकुमार मुनि होकर केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं। ऐसे एक-दो नही परन्तु अनन्त जीव केवलज्ञानको प्राप्त हुए हैं, भविष्यमे प्राप्त होगे और वर्तमानमे विदेह क्षेत्रमे प्राप्त कर रहे हैं। नव वरसकी आयुमे केवलज्ञान होनेके पश्चात्, कितनोकी तो करोड़ो वरस तक शरीरकी स्थिति रहती है। देह, देहके कारण स्थित रहती है–आत्माके कारण नही। करोड़ो वरस तक आहारका कण भी केवलज्ञानीके नही है, तथापि शरीर महान तेजस्वीरूपसे यथावत् स्थिर रहता है। भोजनकी वृत्ति नही है इसलिये भोजन नही है। छद्मस्थको आहार लेनेके राग, वीर्यकी कमी, असाता कर्मके उदयका और उसकी क्रियाका निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध है। केवलज्ञानीके रागादि कारण नही होता इसलिये आहार लेनेकी क्रिया भी केवली भगवानको कभी भी नही होती।

जव आत्मा राग–द्वेष, सुख-दु:खादि अवस्थाओंको अपने स्वरूपसे पृथक् जाने–भिन्न जाने अर्थात् वह अवस्था मेरा स्वरूप नही है, मेरा स्वरूप तो ज्ञाता–दृष्टारूपसे स्थिर रहना है—ऐसा भेदज्ञान हो तव अपनेको ज्ञाता जानता है। मैं ज्ञायकस्वरूप ही हूं और राग-द्वेषादि पुद्गलके हैं—वैसा जानता है इससे स्वत. रागादिका कर्ता नही होता और ज्ञाता ही रहता है भेदज्ञान होनेसे अपना ज्ञायकस्वरूप स्वत:को स्पष्टरूप–निश्चयरूपसे ज्ञात होता है, अर्थात् राग-द्वेपादि मेरे नही हैं—ऐसा स्पष्टरूपसे ज्ञात हो जाता है। यह भेदज्ञान ही मुक्तिका उपाय है, इस भेदज्ञान द्वारा ही पुरुपार्थ करके स्वतः मुक्ति प्राप्त करना है। त्रिकालमे यही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मुक्तिका मार्ग नही है।

अव पूछते हैं कि अज्ञानसे कर्म किसप्रकार उत्पन्न होते हैं ? अज्ञान अर्थात् आत्माके निर्मलस्वभावके भान विना कर्म किसप्रकार उत्पन्न होते हैं, उसका उत्तर कहते हैं:—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोऽहं ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥६४॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहम् ।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९४॥

अर्थः—तीनप्रकारका यह उपयोग 'मै क्रोध हूँ' ऐसा अपना विकल्प करता है, इससे आत्मा उस उपयोगरूप अपने भावोका कर्ता होता है।

मैं क्रोध हूँ, क्रोध मेरा स्वरूप है, इसप्रकार क्रोधको अपनेसे पृथक् न करते हुए मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरतिरूप विकारके परिणाम आत्मा करता है इस उन भावोका कर्ता होता है।

वास्तवमे सामान्यत॰ अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन–अज्ञान–अविरतिरूप तीनप्रकारका सविकार चैतन्यपरिणाम है वह, परके और अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रतिसे स्व–परके समस्त भेदोको छुपा करके अपने सविकार चैतन्य परिणामका कर्ता होता है।

आत्मामे अज्ञान होता है वह अवस्था आत्मामे नही होती—ऐसा नही है, परन्तु वह अवस्था आत्मामे होती है, इससे "वास्तव" शब्द आचार्यदेवने लिया है। संक्षेपमे—आत्मामे तीनप्रकार का विकार होता है, विपरीत मान्यता, विपरीत ज्ञान और विपरीत चारित्र। अपना और परका अविशेष अर्थात् एकरूप परिणाम, सामान्य आधार उसके द्वारा अपना और परका समस्त भेद छुपाकर परका कर्ता होता है। परको और अपनेको एक मानना सो मिथ्यादर्शन है, परको और अपनेको एक जानना सो मिथ्याज्ञान है, और परके साथ एकरूप लीनता करना सो मिथ्याचारित्र है।

मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा पृथक् हूँ, यह विकारीभाव मैं नही हूँ, ऐसा न मानकर, यह विकारी भाव और मैं—दोनो एक हैं, ऐसा मानना–जानना और एकरूप लीन होना वह ससारका कारण है।

अन्तरङ्गमे अरुचि आई वह आत्माका स्वभाव नही है, तथापि आत्मस्वभावको और अरुचिको एक माननेसे, दोनोका पृथक्त्व न जाननेसे, मैं और विकार दोनो एक हैं—ऐसी लीनतासे स्व-परके समस्त भेदोंको छुपा करके विकार परिणामोका कर्ता होता है। त्रिकालिक ज्ञाता स्वभावको और क्रोधके परिणामोको एक माननेसे, ज्ञाताको और क्रोधको एक जाननेसे, ज्ञाता और क्रोध एक हैं ऐसी लीनतासे अपने और परके समस्त भेदोको ढँककर विकारी भावोका कर्ता होता है।

भगवान आत्मा पृथक् है, और विकारी भाव पृथक् क्षणिक है, विरुद्ध हैं—ऐसा न मानकर, दोनों एक हैं यह माननेसे, जाननेसे और लीनतासे स्व-परके समस्त भेदोंको ढँककर भाव्यभावकभावको प्राप्त ऐसे चेतन और अचेतनके सामान्य अधिकरणसे (जैसे उनका एक आधार हो इसप्रकार) अनुभवन करनेसे "मैं क्रोध हूँ"—ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है। इससे "मैं क्रोध हूँ"—ऐसी भ्रांतिके कारण जो सविकार (विकार युक्त) है ऐसे चैतन्यपरिणामरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उन सविकार चैतन्यपरिणामरूप भावोंका कर्ता होता है।

ज्ञाता आत्मा और विकारी भावोंको एकरूप माननेसे, जाननेसे और लीनतासे स्व-परके समस्त भेदोको ढँककर भाव्यभावक-भावको प्राप्त चैतन्य और जड़का एकरूप अनुभवन करता है, अर्थात् भाव्यका अर्थ क्रोधादिका विकारी परिणाम होना, और भावकका अर्थ क्रोधके निमित्त जो द्रव्यकर्म–जड़कर्म हैं वह। इसप्रकार भाव्यभावक-भावको प्राप्त ऐसे–चेतन–अचेतनका सामान्य अधिकरणसे अनुभव करनेसे विकारी भावोका कर्ता होता है। क्रोधके परिणाम और ज्ञान-स्वभावी आत्माके परिणाम–दोनों एक ही स्थानसे आते हों, क्रोध और ज्ञान–दोनों जैसे एक ही आधारसे आते हों—ऐसा अनुभवन करनेसे 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा मानता है। 'मैं ज्ञाता हूँ' ऐसा भूलकर 'मैं क्रोध हूँ' इसप्रकार अपना विकल्प उत्पन्न करता है। स्वतत्र ज्ञातामात्र

प्रति अरुचिरूप क्रोध है वह मोहकर्मरूप भावकका भाव्य है, फल है, परन्तु कही वह आत्माके स्वभावका फल नही है,–इसलिये भिन्न है, वैसा न माननेसे (मैं ज्ञाता हूँ–निर्दोष हूँ—ऐसा न जाननेसे,) मैं क्रोध हूँ—ऐसी भ्रान्तिके कारण विपरीत मानता हुआ, चैतन्य स्वतः विकारी परिणामरूप परिणमित होता हुआ विकारी भावोका कर्ता होता है। मैं क्रोधका कर्ता हूँ और क्रोध मेरा कार्य है—ऐसा मानता है।

अज्ञानसे ऐसा क्रोध करता है, क्रोधमे आकर बोलता है कि मेरे जैसा कोई बुरा नही है, मुझसे कोई बोलना मत, अगर कोई बोलेगा तो उसका सत्यानाश कर दूंगा, परन्तु वास्तवमे परका बुरा तो कोई कर ही नही सकता, मात्र अपना ही बुरा होता है।

अनेक मनुष्योका तो ऐसा अभिप्राय ही होता है कि क्रोध करना ही चाहिये, घरमें रोबदाब रखना ही चाहिये, स्त्री या लडको पर यदि सख्ती न रखें तो वे अपना कहना नही मानेगे, इसलिये सख्ती रखना चाहिये—ऐसा माननेवालेके अभिप्रायमे यह आया कि क्रोध ही मेरा कर्तव्य है, मैं भी जाने क्रोध ही हूँ, क्रोध और मैं दोनो एक हैं, ऐसी मान्यता होनेसे अज्ञानभावसे कर्म बँधते ही हैं। आत्मा और क्रोध–दोनोका अभान ही कर्मकी उत्पत्तिका कारण है, क्रोध ससारकी उत्पत्तिका कारण नही किन्तु क्रोधादि करना चाहिये ऐसा मिथ्या अभिप्राय अज्ञान ही उसका कारण है—ऐसा कहा है। ज्ञान होनेके पश्चात् अल्पकषाय रहती है किन्तु उसकी गिनती नही है, उससे भव नही बढ़ते, मिथ्यात्व टलनेसे अनन्त ससार दूर हो जाता है, पश्चात् अल्प कषाय रहती है उसे पुरुषार्थ द्वारा दूर करके स्वरूप स्थिरताको बढाकर एक-दो भवमें मुक्ति प्राप्त करेगा।

प्रश्नः—आप कहते हैं कि—आत्मभान होनेके पश्चात् अल्प कषाय होती है, और जिसे वैसा भान है वह युद्ध भी करता है, तो फिर जिसे अल्पकषाय हो वह युद्धमे कैसे खडा रहेगा ?

उत्तरः—आत्माका भान होनेके पश्चात् अल्प-कषाय रहती है; अल्प अर्थात् किंचित् कषाय होती है, परन्तु वाहरसे दूसरोंको अधिक मालूम होती है; कारण कि युद्धमें होता है, भृकुटी चढाकर दूसरों पर वाण छोड़ता दिखाई देता है, इसलिये वाहरसे देखनेमें क्रोध तीव्र मालूम होता है, परन्तु अन्तरङ्गमेंसे अनन्तकषाय टल गया है। मैं नित्य अकषाय ज्ञाता हूँ, मैं सर्व रागादिसे पृथक् हूँ, मेरा ज्ञायक स्वभाव सदा परसे पृथक् है—ऐसा निःशंक भान प्रवर्तमान है, परन्तु अभी सम्पूर्ण वीतरागता नहीं हुई है इससे अल्प कषाय है, अल्पकषाय है इससे गृहस्थाश्रममें है और युद्धकी क्रियामें लगा हुआ है। एक अज्ञानी युद्धकी क्रियामें हो और एक ज्ञानी युद्धकी क्रियामें हो, दोनोंकी वाह्य क्रिया समान दिखाई देती है परन्तु अन्तरङ्ग भावोंमें अन्तर है, इसलिये फलमें भी अन्तर होता है। जैसे विल्ली अपने मुंहसे चूहेको पकड़ती है और अपने बच्चोंको भी पकड़ती है, तथापि पकड़-पकड़में अन्तर है; बच्चों को रक्षाके भावसे पकड़ती है और चूहेको मारनेके भावसे पकड़ती है, एक ही प्रकारकी क्रिया होने पर भावोंमें अन्तर होता है, इसीप्रकार ज्ञानी और अज्ञानीकी क्रिया वाहरी क्रिया समान होने पर भावोंमें अन्तर होता है।

तालावके पानीका माप करना हो, और उसे वाहर खड़े रहकर मापे तो वाहर और अन्दरसे समान माप मालूम देता है, परन्तु अन्दर पानीमें लकड़ी डालकर माप करे तो पानीकी गहराईका पता लगता है, माप आता है; वैसे ही ज्ञानी और अज्ञानीकी वाह्यक्रिया परसे मापे तो समान दिखाई दें, परन्तु अन्तरङ्गकी परीक्षा करे तो अन्तर भावोंकी खवर पड़े।

श्रीकृष्ण वासुदेव जव जरासंधसे युद्ध करने गये तव नेमिनाथ भगवानको रथमें विठाकर साथ ले गये। श्री कृष्ण वासुदेवको युद्धके समय भी आत्माका भान प्रवर्तमान है, अनन्त भान प्रगट हुआ है, परन्तु राज्यका अल्प राग है इससे युद्धमें लगे हैं। जरासंध और श्रीकृष्ण वासुदेवके वीच घनघोर युद्ध हुआ, उसमें जरासंधकी शक्ति

वढ गई इससे श्रीकृष्ण वासुदेव श्री नेमिनाथ भगवानसे पूछते हैं कि-प्रभो ! इस जरासंधका इतना अधिक वल क्यो ? यह इतनी अधिक विद्याएँ चला रहा है, इससे यदि अपनी हार हो गई तो ? नेमिनाथ भगवान श्रीकृष्णसे कहते हैं कि—अरे वासुदेव ! तुम चिंता मत करो, तुम वासुदेव पद पर हो तुम्हारी हार कभी न होगी, तुम्हे ही जीतना है । नेमिनाथ भगवानको अभी वीतरागपना, मुनिपना नही हुआ है इससे युद्धमे साथ गये हैं, परन्तु वह अल्प राग है, आत्माका पृथक् अनन्तभान वर्त रहा है, अनन्त कषाय दूर हो गये है, अल्प राग ही शेष रहा है, इससे नेमिनाथ भगवान भी युद्धमे गये हैं, अन्तरका माप वाह्य क्रियासे नही हो सकता ।

ज्ञानी परको अपना नही मानता; परसे लाभ-हानि नही मानता इससे अल्प कषाय है और अज्ञानी परको अपना मानता है, पर द्वारा अपना भला बुरा मानता है इससे अनन्त कषायवान है । तालावकी सपाटी ऊपरसे समान दिखाई देती है परन्तु अन्दरसे फेर है, उसीप्रकार अज्ञानीके भावोमें अन्तर होता है ।

शरीरकी क्रिया अधिक हो तो अधिक कषाय और शारीरिक क्रिया न करता हो, सीधा सादा वैठा हो तो अल्प कषाय है—ऐसा नही समझना है; कषायका माप वाहरसे नही है, परन्तु अन्तरसे कितना रस कम हो गया है उस परसे कषायका माप है । विल्ली चुपचाप चूहेको पकड़नेके लिये वैठी हो या सो रही हो इससे अल्पकषाय है—ऐसा नही है परन्तु अन्तरकी क्रूरतासे कषायका माप है वाह्यक्रियासे नही । ज्ञानीके युद्ध प्रसगमें शरीरकी क्रिया अधिक होती है, इससे उसके अधिक कषाय है—ऐसा नही समझना और अज्ञानी चुपचाप ध्यानमे वैठ गया हो इसलिये अल्प कषाय है—ऐसा भी नही समझना है । अज्ञानीको ऐसा भान नहीं है कि मैं क्रोधसे भिन्न हूँ, किन्तु मैं क्रोध-स्वरूप ही हूँ—ऐसा मानकर करने योग्य मानकर क्रोध करता है, इससे वह रागादिमे कर्ता वुद्धिवानको ज्ञाता स्वभावकी अरुचिरूप अनन्तानु-वन्धी क्रोध होता है उसके भेदज्ञान नही रहता, अनन्त क्रोध होता

है । मैं क्रोधस्वरूप ही हूँ—करना चाहिये, ऐसा मानकर क्रोध करता है इससे क्रोधमे ही अर्पित हो जाता है । आत्माका अपार वीर्य और अपार ज्ञान है वह सव विकारमे ही जोड़ देता है, इससे अज्ञानीका क्रोध अनन्त है । ज्ञानीको ऐसा भान है कि मैं क्रोधसे पृथक् हूँ, क्रोधादि मेरा स्वरूप नही है । अपने अपार स्वभावके भानमे पूर्ण स्वभावकी सीमामे रहते हुए विकारमे कितना वीर्य युक्त होगा ? अल्प ही होगा ।

जैसे कुलीन पुत्रको ऐसा भान होता है कि मैं कौन हूँ ? मैं कुलीन पुत्र ! अमुक तो मुझे नही ही करना चाहिये, इसप्रकार अपनी कुलीनताको याद करके तीव्र कषायवाली अनीतिमे अर्पित नही होता । वैसे ही ज्ञानीको भान हुआ है कि मैं नित्य परमात्मस्वभावसे कुलीन हूँ, अनित्य पुण्यादि विकार मेरा स्वभाव नही है, विकार मेरी जाति नही है, इससे विकारमें युक्त होजाना मुझे शोभा नही देता, इसप्रकार अपनी कुलीनताको याद करके पुरुषार्थकी मन्दताके कारण वाह्यसे वह युद्धकी क्रियामे लगा हो अन्तरमे कषायकी ओर अल्प वीर्य युक्त होता है । अज्ञानीको ऐसा भान नही है कि मैं निर्विकारी हूँ, इससे वह मानता है कि मैं ही विकारी हूँ, और इसीसे अनन्त वीर्य विकारमे युक्त होता है । यह तो एक क्रोधकी वात है, उसीप्रकार मान, माया इत्यादि सभी समझना चाहिये ।

जमीनदारको ऐसा मान होता है कि उसे दो नामोंसे ही बुलाना चाहिये तभी अच्छा रहे, जैसे कि—'कक्का जू' और 'राजा साहेव' इन दो नामोसे बुलाये तभी खुश होते हैं । वे कहते हैं कि 'हम कौन हैं ? हम हैं जमीदार ! इसलिये हमे इन दो नामोसे ही पुकारना चाहिये ।' एक जमीदार थे, वे पहले तो वहुत मालदार थे और फिर निर्धन हो गये, परन्तु मान और शान तो वैसे ही रहे, इससे जहाँ पर वैठने जाये वहाँ गादी साथमे ही रखते थे, एक दिन किसीने कहा क्यों नम्वरदार ! यह गादी साथमे क्यों लिये फिरते हो ? इस पर वे बोले कि भाई ! जमीदार मिट चुके हैं, इससे जहाँ जाते हैं यह गादी साथ रखते हैं और जव कोई वैठनेके लिये आसन न डाले तो इस पर वैठते

हैं, साधारण स्थिति हो गई है इससे कोई अब आदर नही करता। जीवको ऐसा मान हो जाता है कि कोई आदर न करे तो स्वतः अपना आदर करता है, हम बडे आदमीके लडके हैं इत्यादि भाव आयें वह मान है। मान और आत्माको एकरूप जाने, माने और उसमे एकरूप लीनता करे तो वह अज्ञान है उससे कर्म बँधते है।

माया अर्थात् कपट। देखो न! इससमय व्यापार-धन्धेमे कैसे धोखे प्रपच चल रहे हैं, अच्छी वस्तु होगी तो उसमे कुछ मिलाकर देते है, घीमे, डालडा मिलाते हैं, खोपरेका तेल मिलाते हैं, गजबकी धोखेबाजी चल रही है, दूधमे पानी मिलाते हैं, इत्यादि धोखे देनेवाले आत्माको ठगनेवाले हैं। वे ऐसा मानते हैं कि हम दूसरोको ठगते हैं, किन्तु दूसरे कोई ठगे नही जाते, वास्तवमे स्वतः ही ठगे जा रहे हैं।

वे मानते हैं कि हम-धोखे-प्रपचसे पैसा कमा रहे हैं, यह मान्यता ही महामूढता और अज्ञानसे भरी हुई है। पैसा कमानेमे तो पूर्व पुण्यका कारण है, और वर्तमानमे जो धोखे-प्रपच कर रहा है उनका फल भविष्यमे मिलेगा। धोखे-प्रपच करके वर्तमानमे आकुलता और दुःखका वेदन करता है और भविष्यमे उनके फलस्वरूप दुर्गतिमे जायगा; मायाके भावसे भविष्यमे भडाका होगा।

वह ऐसा मानता है कि हम कैसे दाव-पेंच खेलते है, कितने चतुर हैं! परन्तु भाई! यह चतुराई नही महामूढताका सेवन है। ऐसा कपटी जीव कपटके भावोको और आत्माको एकरूप मानता है, एकरूप जानता है और एकरूप लीनता करता है—वह ससारका कारण है।

लोभ अर्थात् पर पदार्थोंमे आसक्ति, लक्ष्मी इत्यादि पर पदार्थोंको एकत्रित करनेकी लालसा, लक्ष्मीको लोभसे इकट्ठा करे परन्तु किसी योग्य कार्यमे उसका व्यय न करे वह लोभी है-कृपण है। दानका उपदेश चल रहा हो तो लोभीके मनमे ऐसा विचार आता है कि क्या घरमे कुछ भी न रखे! लडकोके लिये कुछ न बचाये! सब दानमे ही दे

दे ! वैसा बचाव करता है। ऐसा बचाव करनेवाले मात्र लोभकी मूर्ति हैं।

आचार्यदेवने तो जहाँ दानके प्रकारका वर्णन किया है वहाँ ऊँचेसे ऊँचा दानी उसे कहा है जो अपनी सम्पत्तिका चौथा भाग दानमें निकाले, और छोटेसे छोटा दानी उसे कहा है जो अपनी सम्पत्तिमेंसे दसवाँ भाग तो दानमे निकाले ही।

पद्मनन्दि आचार्यने तो ऐसा कहा है कि जो सत्मार्गमें दान नही करते उनका गृहस्थाश्रम पत्थरकी नावके समान है, उस गृहस्थाश्रमको गहरे जलमें प्रवेश करके अंजलि दे देना; फिर कहा है कि लोग अनाज पकाकर खाते है, उसका कुछ जला हुआ हिस्सा निकले वह कौवोको डालते है तो कौवा उसे अकेला नही खाता परन्तु काँव काँव करके दूसरे कौवोको बुलाता है और सब एकत्रित होकर खाते हैं, और तुझे जो यह धन मिला है उसे तू अकेला ही खाता है, किंचित् भी सत्मार्गमे व्यय नही करता तो कौवेसे भी नीचे जायेगा, इत्यादि।

पद्मनन्दि आचार्यने दानके अधिकारमे बहुत-बहुत कहकर अन्तमे कहा है कि—जिसप्रकार भौंरा गुंजार करता हुआ चमेलीके फूल पर बैठे तो वह फूल तुरन्त खिल जाता है, वैसे ही हमारा यह गुंजार करता हुआ दानका उपदेश सुनकर जिनके हृदय चमेली जैसे होंगे वे खिल उठेंगे। भौरा गुंजार करता हुआ यदि पत्थर पर जा बैठे तो वह पत्थर खिले वैसा है ? उसीप्रकार जो पत्थर जैसे होंगे वे हमारे उपदेशसे नही खिलेंगे। चन्द्रमाकी किरणोसे कुमुद खिलते हैं परन्तु पत्थर नही खिलते, वैसे ही आचार्यदेव कहते हैं कि हमारे उपदेशसे कुमुद खिलेगे परन्तु पत्थर नही खिलेंगे। तीव्र लोभी लोभको और आत्माको पृथक् नही करता, परन्तु लोभ और मैं—दोनो एक हैं, ऐसा मानता है, लोभ और मैं (आत्मा) दोनों एक हैं वैसा जानता है, और वैसी ही लीनता भी करता है, वह लोभ उसे संसारमें परिभ्रमण करानेवाला है।

मोह अर्थात् मूर्च्छा; परवस्तुमें आसक्त हो जाना वह। मोह है वह मैं हूँ, वैसा जानना, मानना और उसमें लीन हो जाना सो अज्ञान है। यहाँ ऐसा कहा है कि अज्ञानसे ही कर्म बँधते हैं।

राग अर्थात् स्नेह, स्त्री–पुत्र, मकान, लक्ष्मीका राग, शरीरादिका राग–धर्मके नाम पर राग ऐसा अनेक प्रकारका राग है। राग और आत्माको एकरूप मानना, जानना और उसमे लीन होना वह सब अज्ञान है।

द्वेष अर्थात् अरुचि; अल्पभी प्रतिकूलता दीखे; इच्छानुसार न हो तो विगड़े, क्षण-क्षणमें अरुचि हो जाये—वह सब द्वेषभाव है। जो द्वेष है सो मैं हूँ—ऐसा जानना मानना और उसमें लीन होना सो अज्ञानभाव है, वह संसारका कारण है।

कर्म कुछ मार्ग दें तो हम धर्म करें, गुण प्रगट करें—वैसा माननेवालोंने कर्म आत्माको एक माना है, जो कर्म हैं सो मैं हूँ—वैसा माना, जाना और उसप्रकार लीनता की सो अज्ञान है।

नोकर्म अर्थात् मकान, दास–दासी, स्त्री, कुटुम्ब, शरीर–मन-वाणी, प्रकाश, दूध–दही, घी, बादाम, पिस्ता, अच्छे द्रव्य-क्षेत्र-काल और हास्यादिके संयोग, इत्यादि बाह्य सामग्री वह सब नोकर्म है, उसे अपना ज्ञान सुखके कारण मानना, और उसे एकत्वबुद्धिसे आत्माके साथ जानना, मानना और उसमें लीन हो जाना सो अज्ञान है।

मन–वचन–काया, तीनों मैं हूँ—वैसा मानना सो अज्ञान है। शरीर अच्छा रहे तो धर्म करूँ, शरीर मेरा है, शरीरमें रोग होनेसे मुझे रोग हो जाता है, इसप्रकार शरीर और आत्माको एक मानना, जानना और उसमें लीन होना सो संसार है। वाणी है सो मैं हूँ, मुझे कितना अच्छा बोलना आता है, मेरा कण्ठ कितना सुन्दर है; इसप्रकार वाणीको और अपनेको एकरूप मानना–जानना और उसमें लीन होना सो संसार है। जो मन है सो मैं हूँ, मन मेरा स्वरूप है, मनके विना मैं रह नहीं सकता—इसप्रकार मनको और आत्माको एकरूप मानना-जानना और लीन होना सो अज्ञान है और वह बन्धका कारण है।

श्रोत्रेन्द्रियको अपना माने वह अज्ञान है; श्रोत्र अर्थात् कान, मैं कानसे ही सुन सकता हूँ, जान सकता हूँ—ऐसा जो मानता है उसके अभिप्रायमे कान ही आत्मा है—ऐसा आ गया। कानमे अपनापन माना, जाना और उसमे लीन हुआ वह अज्ञान है। इसीप्रकार आँखमे अपनापन मानता है कि—मैं आँखके विना देख नही सकता, समझ नही सकता—ऐसा माना है, परन्तु आँखसे भिन्न मेरा ज्ञानस्वरूप है, उसीसे मैं जान सकता हूँ, समझ सकता हूँ, अपूर्ण ज्ञानमे इन्द्रियोंका मात्र निमित्त होता है, परन्तु मैं अपने ज्ञान द्वारा ही जान सकता हूँ, मैं इन्द्रियोसे त्रिकाल भिन्न हूँ—ऐसा न माना और आँख एव आत्माका एकत्व माना, उसप्रकार जाना तथा उसमे लीन हुआ वह वन्धका कारण है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि मेरी आँख सूक्ष्म है, तेज है, सुन्दर है, मैं और आँख एक हूँ, मैं आँखसे पृथक् नही हूँ किन्तु जो आँख है सो ही मैं हूँ, इत्यादि आँखके विषयमे अपनत्व मानता है वह अज्ञान है।

इसीप्रकार नाकके विषयमे अपनापन मानता है, सभी मनुष्योंके शरीरका कोई भी आकार समान नही होता, वैसे ही नाक भी सवकी एकसी नही होती, किसीकी लम्वी, किसीकी छोटी और किसीकी बैठी हुई आदि कितने ही प्रकारके नाकके आकार होते हैं, उसमे अज्ञानीको जिसप्रकारकी आकृति मिली होती है, उस आकृतिको अपनेपनकी वुद्धि द्वारा जानता है और लीन होता है वह संसार है, वन्धका कारण है।

इसीप्रकार जिह्वामे अपनापन मानता है; मैं जीभसे ही स्वाद ले सकता हूँ, जीभसे ही मीठे, खट्टे, चरपरे आदि रसोका ज्ञान कर सकता हूँ, यदि जीभ न होती तो मैं इन रसोंको कैसे जानता ? ऐसा माननेवाला अज्ञानी है। मैं रसोको जानता तो हूँ अपने ज्ञानसे ही, परन्तु अल्प विकासके कारण वीचमे जीभका निमित्त आता है—ऐसा न जाननेसे, मैं जीभ द्वारा ही जान सकता हूँ—इसप्रकार जीभको अपना माना, जाना और उसमे लीन हुआ वह अज्ञानी है।

शरीर ठण्डा हो जाये तो मैं ठण्डा पड गया हूँ, शरीर गरम हो जाये तो मैं गरम हो गया हूँ—ऐसा मानता है, शरीर मोटा हो जाये तो मैं मोटा हो गया हूँ, और पतला हो जाये तो मैं पतला हो गया हूँ, मैं स्त्री-पुरुष, जवान, वृद्ध—काला गोरा, बलवान—निर्बल ऐसा मानता है, उसने शरीरको ही आत्मा माना है, जाना है और उसमे लीन हुआ है, वह अज्ञान है। इसप्रकार पाँचो इन्द्रियोके विषय ज्ञेयमात्र हैं वैसा न मानकर इष्ट अनिष्ट मानना और उसीमे एकत्व माननेवाला अज्ञानी है, ज्ञानी अपना स्वरूप पाँचो इन्द्रियोंसे पृथक् ज्ञातामात्र जानते है।

आत्माकी वर्तमान अनित्य पर्यायमें मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति यह तीनप्रकारका विकार है, आत्मद्रव्य तो त्रिकाल अविनाशी है, विकारकी पर्याय तो उत्पन्नध्वसी है, नाशवान है परन्तु अज्ञानी उसे अपना मानकर उसका कर्ता होता है। अज्ञानीको परसे भिन्नत्वका विवेक नही है, परको एकरूप मानता है वही बन्धनका कारण है।९४।

अब इसी बातको विशेष कहते हैं—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ धम्माई।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥९५॥

त्रिविध एस उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम्।
कर्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९५॥

अर्थः—तीन प्रकारका यह उपयोग "मैं धर्मास्तिकाय आदि हूँ" ऐसा अपना विकल्प करता है, इससे आत्मा उस उपयोगरूप अपने भावका कर्ता होता है।

जीव मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति इस तीनप्रकारके परिणाम विकार द्वारा अपना ऐसा विकल्प करता है कि मैं धर्मास्तिकाय हूँ, मैं अधर्मास्तिकाय हूँ, मैं आकाशास्तिकाय हूँ इससे धर्मास्तिकाय आदिको भी अपना मानता है और उस भावका कर्ता होता है।

वास्तवमे यह सामान्यतया अज्ञानरूप जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरतिरूप तीनप्रकारका सविकार चैतन्यपरिणाम है वह

परके और अपने अविशेष दर्शनसे, अविशेष ज्ञानसे और अविशेष रतिसे (–लीनतासे) स्व-परके समस्त भेदको गौण करके ज्ञेयज्ञायक भावको प्राप्त-ऐसे चेतन और अचेतनका सामान्य एक आधाररूप अनुभवन करनेसे, "मैं धर्म हूँ, मैं अधर्म हूँ, मै आकाश हूँ, मैं काल हूँ, मैं पुद्गल हूँ, मैं अन्य जीव हूँ"–ऐसा अपना विकल्प उत्पन्न करता है।

संक्षेपसे जीवके तीनप्रकारके परिणाम हैं; विपरीत ज्ञान विपरीत मान्यता और विपरीत स्थिरता। परको और अपनेको एकरूप माने वह विपरीत मान्यता है, परको और अपनेको एकरूप जाने वह विपरीत ज्ञान है, परमे एकरूप लीन हो वह विपरीत स्थिरता है। इसप्रकार स्व और परके समस्त भेदोको ढँक देता है। चैतन्यका परके साथ मात्र ज्ञेयज्ञायकका सम्बन्ध है, परन्तु अज्ञानी चेतन और अचेतनका एक आधार माननेसे, एकरूप अनुभव करनेसे ज्ञेय वह मैं हूँ—इसप्रकार परज्ञेयको अपना करता है, मैं धर्मास्तिकाय हूँ, मैं अधर्मास्तिकाय हूँ, इत्यादि विकल्पोको अपना करता है। परम उदासीन ज्ञाता स्वभावको भूल जाता है इसलिये विकल्पोको अपना करता है इससे परद्रव्यको भी अपना करता है। अन्य जीवको भी अपना मानता है, पुद्गलको भी अपना मानता है, गाव, नगर, देश, देव, गुरु, शास्त्र, स्त्री, कुटुम्ब, शरीरादिको अपना मानता है, वे तो सव परवस्तुएँ हैं, आत्माके ज्ञानका ज्ञेय है, तथापि अज्ञानी मानता है कि स्त्री, कुटुम्व, लड़का, भाई, वहिन–आदि और हम सव एक हैं, जिसप्रकार लकड़ी मारनेसे पानी पृथक् नही होता।

स्त्री है वह तो अर्द्धांगिनी है, इससे हम दोनो एक है—वैसी मान्यता अज्ञान है। भाई स्त्रीका आत्मा भिन्न है, और तेरा आत्मा पृथक् है, स्त्रीका शरीर पृथक् है और तेरा शरीर पृथक् है, दोनो द्रव्य विल्कुल भिन्न हैं; स्त्री कहाँसे आई और कहाँ जायेगी और तू कहाँसे आया कहाँ जायेगा, दोनोका कही भी मेल नही है, तू मोहका मारा एकत्व मानकर अज्ञानताका सेवन कर रहा है।

कितने ही कहते हैं कि—हम पिता–पुत्र दोनो एक हैं, वैसा

माननेवाला पर आत्माको और अपने आत्माको—दोनोको एक मानता है। अरे भाई ! सभी द्रव्य पृथक् हैं, कोई द्रव्य एक हो ही नही सकते, तूने भ्रान्तिवश एकता मान रखी है, वह ससारमे परिभ्रमण करनेका कारण है, परवस्तु जानने योग्य–ज्ञेय है, और तू ज्ञाता है, परन्तु भ्रान्तिवश अज्ञानी ज्ञेय और ज्ञानको एक मानता है। मेरा आत्मा और परका आत्मा–हम दोनो एक ही वृक्षकी शाखा हैं—ऐसी मान्यता बिल्कुल अज्ञान है, पुद्गलद्रव्य और आत्मा दोनोका आधार पृथक्-पृथक् है—ऐसा न मानकर, दोनोका आधार एक है—वैसा मानता है वह अज्ञानता है।

धर्मास्तिकाय तो गतिमे निमित्तमात्र है, वहाँ अज्ञानी मानता है कि धर्मास्तिकाय और मैं–दोनो एक हैं। जो ज्ञेय और ज्ञानको भिन्न नही कर सकता वह धर्मास्ति, अधर्मास्ति आकाशास्ति इत्यादि समस्त ज्ञेयोको एक मान रहा है। धर्मास्तिकाय आदिका जो विकल्प आये उससे अपनेको पृथक् नही जानता, इसलिये धर्मास्तिकायको ही अपना मानता है।

कितने ही कहते हैं कि हम धर्मास्तिकायको जानते ही नही, जानते भी नही हैं और देखते भी नही हैं, इसलिये उसे हम अपनेरूप नही मानते। परन्तु शास्त्रमेसे धर्मास्तिकायका नाम जो सुना है ! इससे धर्मास्तिकायका विकल्प आता है और उस विकल्पसे अपनेको भिन्न ज्ञाता–साक्षीरूप नही जानता, विकल्प और मैं दोनो एक हैं—ऐसा मानता है, इससे धर्मास्तिकाय भी मैं हूँ—ऐसा मानता है। गतिमे, स्थितिमे, अवकाशमे, परिणमनमे वे अन्य द्रव्य निमित्तमात्र हैं—ऐसा जो नही मानता वह धर्मास्तिकाय आदि सभी द्रव्यरूप मैं ही हूँ—ऐसा मान ही रहा है।

शरीरादिको अपना मानकर जडको अपना मानता है, स्त्री, कुटुम्बको अपना मानकर अन्य जीवद्रव्यको अपना माना, स्वत बीमार हो और स्त्री-पुत्रादि भलीभाँति सेवा करें तो ऐसा मानता है कि तुम सबने मेरी अच्छी सेवा सुश्रुषा की इससे ही मैं जल्दी अच्छा हो गया,

ऐसा माननेवालेका अभिप्राय ऐसा अज्ञानमय हुआ कि परजीव और मैं दोनो एक ही हैं। अरे! अन्य जीवको अपनेरूप माननेमे तो देव गुरु सभी आ जाते हैं। देव, गुरु मेरे आत्माके आधार हैं, मेरा आत्मा देव, गुरुमेसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये देव, गुरु मेरे आत्माके आधार हैं (आत्माकी स्वभावपर्याय प्रगट हो तव देव, गुरुका निमित्त होता है परन्तु देव-गुरु और शास्त्र अपनी स्वभावपर्यायको प्रगट नही कर देते) देव, गुरु मेरे आत्माकी स्वभाव पर्याय प्रगट कर देते हैं—ऐसा अज्ञानी मानता है।

एक रजकरणसे लेकर त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर—वे सव और मैं एक ही हैं, ऐसा मानना, जानना और उसमे लीन होना सो अज्ञान है। दूसरा मुझे लाभ हानि करता है, वैसा अभिप्राय कव आता है? कि पर और मैं—दोनो एक हैं, ऐसा माने विना वह अभिप्राय आता ही नही। स्व-परकी एकतारूप विपरीत अभिप्रायके द्वारा स्व-परको पृथक् करनेका विवेक ढँक जाता है।

किसीकी कृपासे मोक्ष होता है और किसीके शापसे नरक-निगोदमे जाते है—वैसा माननेवाला परको अपना मानता है, वह स्व-परकी एकतारूप मान्यता स्व-परके विवेकको ढँक देती है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव–वह सर्व पदार्थ मैं हूँ, ऐसी भ्राँतिके कारण जो सोपाधिक–उपाधियुक्त है–ऐसा चैतन्य परिणामोंरूप परिणमित होता हुआ यह आत्मा उन सोपाधिक चैतन्य परिणामरूप, विपरीत भावका कर्ता होता है। यह ज्ञेय और मैं–दोनो एक हैं, ऐसा भ्राँतिके कारण मानता है। ज्ञेयज्ञायक भावको पृथक् न रखकर एक करता है। राग-द्वेष चैतन्यके साथ निकट क्षेत्रमे हैं, उन्हे अपना मानना सो सविकार परिणाम हैं—वैसा कहा था, और दूसरे ज्ञेय हैं वे दूर हैं, इसलिये उन्हें अपना मानना वह सोपाधिक परिणाम है, उस सोपाधिक परिणामका चैतन्य स्वतः कर्ता होता है।

चैतन्य अज्ञान भावसे अन्य जीवको अपना मानता है, उस अन्य जीवमे कौन वाकी रहा? त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव भी वाकी

नही रहे, एक ओर स्वतः चैतन्य और एक ओर समस्त ज्ञेय आ गये, एक ओर राम और एक ओर सारा गाव आ गया, दिव्यध्वनि और शास्त्र भी बाकी न रहे। अज्ञानी, अज्ञानसे दिव्यध्वनिको तथा शास्त्रोको–सभी को अपनेरूप मानता है। अपने आत्माको, तीर्थङ्करदेवको और दिव्यध्वनिको किसीको पृथक् नही मानता, सबको एकमेक मानता है। जिसने एक पदार्थको अपनेरूप माना उसने सर्व पदार्थोंको ही अपनेरूप माना है।

मैं अन्य निमित्तके विना ही गति कर सकता हूँ—ऐसा जो मानता है वह अपनेको धर्मद्रव्यरूप ही मानता है। कितने ही कहते हैं कि हम धर्मास्तिकायको नही देखते है, परन्तु भाई! शरीरकी गति होती है उसमे धर्मास्तिकायका निमित्त है। जो शरीरकी गतिको अपना मानता वह उसके निमित्तको भी अपना मानता है, अर्थात् धर्मास्ति-कायको भी अपना मानता है। मैं अन्य निमित्तके विना ही स्थिर रहता हूँ—ऐसा जो मानता है वह अधर्मास्तिकायको अपना मानता है। शरीर स्थिर रहता है उसकी स्थिररूप अवस्थामे अधर्मास्तिकाय निमित्त है, शरीरकी स्थिररूप अवस्थाको जो अपना मानता है वह उसके निमित्तको भी अपना मानता है अर्थात् अधर्मास्तिकायको भी अपना मानता है। आकाशास्ति अवगाहन देनेमे निमित्त है, उसे न मानकर, यह मेरी जगह है—ऐसा ममत्व करता है, उस जगहरूप अपनेको मानता है अर्थात् आकाशको भिन्न स्वीकार न करके मैं स्वतः ही आकाश हूँ—ऐसा मानता है। निमित्तके कार्य मैं कर सकता हूँ, ऐसा जो मानता है वह निमित्तको भी अपना मानता है।

उसीप्रकार कालद्रव्यको भी अपना मानता है, काल नामक पदार्थ स्वतत्र–भिन्न है, उसे स्वीकार न करके दिवालीके दिन अच्छे हैं, लग्नके दिन अच्छे हैं, वे मुझे सुखकर हैं—ऐसा जो कालमे ममत्व करता है वह कालद्रव्यको अपना मानता है। प्रत्येक द्रव्यके परिणमनमे कालद्रव्यका निमित्त है, उसे स्वीकार न करके कालका ममत्व करता है वह कालद्रव्यको अपना मानता है। मैं अपनेसे ही परिणमता हूँ,

उसमे कालद्रव्यका निमित्त है—ऐसा जो नही मानता वह कालद्रव्यका ममत्व करता है और कालद्रव्य तथा अपनेको एकरूप मानता है।

पौद्गलिक पदार्थोकी क्रियाको मैं ही करता हूँ—ऐसा जो मानता है वह अपनेको पुद्गलद्रव्यरूप मानता है। वाणीकी क्रिया, शरीरकी क्रिया, कपडे आदि बराबर रखनेकी क्रिया वह सब क्रिया मैं ही करता हूँ और करा सकता हूँ—ऐसा जो मानता है वह पुद्गल द्रव्यको अपना ही मानता है।

कोई भी जीव परका भला बुरा कर ही नही सकता है, किन्तु वैसी इच्छा युक्त पुण्य–पापके भाव कर सकते हैं। ऐसा न मानकर अन्य जीवोका हिताहित मैं ही करता हूँ—ऐसा जो मानता है वह अपनेको अन्य जीवरूप मानता है, पर मेरा भला करे और मै परका हित करूँ, पर मेरा बुरा करे और मैं परका बिगाडूँ—ऐसा जो मानता है वह अन्य जीवको अपना मानता है। पर मुझे लाभ–हानि करता है और मैं परको लाभ–हानि करता हूँ—ऐसा जिसने माना है उसने स्वत को और अन्य जीवोको एकमेक माना है। अन्य जीवोको अपनेसे पृथक् नही माना वही अज्ञान है।

जीव अपने ज्ञातापनको भूलकर परका कुछ करूँ ऐसी इच्छा करता है लेकिन दूसरोका कुछ भी करनेमे कोई समर्थ नही है, दूसरे अपना भला नही कर सकते, कोई किसीका तीनकालमे कुछ भी करनेमे समर्थ नही है, एक तत्त्व दूसरे तत्त्वका कुछ भी करे तो दो तत्त्व एक हो जाये परन्तु वैसा तो कभी बनता ही नही है।

प्रत्येक पदार्थ भिन्न-भिन्न, स्वत. अपनेमे स्वतन्त्र है। किसीका उपकार कोई कर ही नही सकता, जब किसी जीवका हित होता है तब सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका निमित्त होता है, इससे घीका घडा कहने समान उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि उन्होने उपकार किया है। जो निमित्तको और अपनेको भिन्न नही मानता वह एकमेक मानता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलादिके विकल्पके समय स्वतः शुद्ध चैतन्य मात्र होनेका भान न रखनेसे जो

धर्मादिके विकल्पमे एकाकार हो जाता है वह अपनेको धर्मादिद्रव्यरूप मानता है।

यहाँ कर्ताकर्मका अधिकार चल रहा है। आत्माका स्वभाव निर्मल ज्ञानघन है, आत्माकी पर्यायमे जो राग-द्वेष होते हैं वह विकार है। विकार अपना स्वभाव नही है, विकारमे युक्त न होकर स्वरूपमे जागृत-सावधान होना वह धर्मात्माका कर्तव्य है। परद्रव्यसे, और सर्व विकल्प रागादिसे, कर्तृत्वसे, अपना स्वरूप पृथक् माने वह धर्मीका लक्षण है।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि छहो द्रव्य मुझे सहायक हैं—ऐसा मानना मिथ्यात्व है। जो पर है सो मैं हूँ—ऐसी एकत्वबुद्धि हुए विना ऐसा भाव ही नही उठता कि पर मुझे सहायता करता है। उपचार मात्रसे सहायक वोला जाता लेकिन बनता नही है। परद्रव्य पर और सयोगी भाव पर दृष्टि रखना सो धर्मात्माकी दृष्टि नही है, परन्तु आत्माके निर्मल स्वभाव पर दृष्टि रखना सो धर्मीकी दृष्टि है।

धर्मास्तिकाय–अधर्मास्तिकाय–आकाशास्तिकाय–परमाणु—असंख्य कालाणु और अन्य आत्मा—उन सभीके विकल्पमे लीन हो जाये, मैं ज्ञानस्वरूप पृथक् हूँ—ऐसा भान न रखे और परद्रव्यसे अपनेमे विपरीतता मानकर परद्रव्य-परक्षेत्र परकालादिसे जो राग होता है वही मैं हूँ—ऐसा माने वह अन्य द्रव्योको अपनेरूप मानता है और अपनेको अन्यद्रव्यरूप मानता है। सविकल्प ज्ञानमे जो द्रव्य का विपय हुआ उस विकल्पमे इच्छामे अपनेको भूलकर एकाकार हुआ है—वही धर्मास्तिकायादिको अपनेरूप मानता है। आत्माका निर्मल स्वभाव परसे भिन्न है, निर्विकल्प ज्ञाता दृष्टा शान्तरूप है उसे भूलकर विपरीत पुरुषार्थके कारण जो परद्रव्यका शुभ या अशुभ जो-जो विकल्प आता है उस-उस विकल्पको जो अपनेरूप मानता है वह परद्रव्यको अपनेरूप मानता है।

स्त्री, कुटुम्बका राग आये अथवा तीर्थङ्करदेवका राग आये, परन्तु उससमय जो अपने आत्माका पृथक् भान न रखे और रागको ही

अपना माने उस रागको भला माने वह अपनेको अन्य आत्मारूप मानता है, रागी ही मानता है। ६४ वी गाथामे ऐसा कहा था कि भावक अर्थात् मोहकर्मकी प्रकृति और भाव्य अर्थात् पुण्य–पापादिके परिणाम, उन सबसे आत्मा भिन्न है, और इस ६५ वी गाथामे ऐसा कहा कि सर्व परद्रव्योंसे आत्मा भिन्न है।

दूसरे आत्माका हित या अहित करनेका विकल्प आया, उसमे कोई भी पर अवलम्बन लक्ष्यमें लेकर विकल्प आता है, उस वर्तमान अवस्थामे सम्पूर्ण द्रव्य रुक जाता है, अखण्ड वस्तुका पृथक् भान नही रहा इससे विकारी अवस्थाको अपनेरूप किया और अन्य आत्माके हिताहितको तथा अन्य आत्माको भी अपनेरूप किया और स्वत. उसरूप हुआ, अन्य आत्माका हिताहित मैं करता हूँ अर्थात् मैं उसरूप हो जाता हूँ—ऐसी मान्यता की, इसप्रकार मोहवश होकर परद्रव्यको अपनेरूप करता है।

आत्मा त्रैकालिक अनन्त आनन्दसे परिपूर्ण है, उसमे अपनी भूलसे वर्तमान अवस्थामे जो पुण्य-पापका विकार होता है, परके कारण रागादि नही हो सकते हैं लेकिन उसी विकारमे जो रुक जाता है, विकार ही मैं हूँ, विकार मेरा कर्तव्य है—ऐसा मानता है वह परद्रव्यको अपनेरूप करता है। धर्मास्तिकायादि परद्रव्योंका विचार, मैं अपने स्वरूपमे स्थिर नही हो सकता इसलिये आता है—ऐसा भान न रहनेसे मैं उससे पृथक् हूँ यह भी भान न रहनेसे, जो विचार आता है जिस विषयका राग आया उसीमे रुक जाता है, वर्तमान अशमे ही रुक जाता है और त्रैकालिक ज्ञाता अपनेको भूलकर वर्तमान अनित्य अवस्थामे ही रुक जाता है, वह परद्रव्यको अपनेरूप करता है।

जिसप्रकार नट नाचते–नाचते डोरीसे गिरता नही है, वैसे ही मैं नित्य एक ज्ञायक आत्मा हूँ, ज्ञान और ज्ञानमे जागृति करनेवाला हूँ ये निश्चयरूप डोरी चूक गया तो फिर चाहे वह तीर्थङ्करदेवके पास बैठा हो, व्रतमे अथवा पूजामे बैठा हो, चाहे जिस शुभ क्रियामे बैठा हो,

परन्तु वह परद्रव्यको अपनेरूप करता ही है, इससे उसके चौरासीका अन्त आवे वैसा नहीं है।

अज्ञानसे वह विकारका कर्ता होता है और विकार उसका कार्य होता है। देव, गुरु, शास्त्रकी ओरके शुभपरिणाममें हो, शास्त्र श्रवणमें बैठा हो परन्तु मात्र शब्दोंके ऊपर लक्ष्य हो तो—मात्र शब्दोंमें ही एकाकार हो तो—शुभपरिणाममें ही एकाकार हो तो. उसे पृथक् ज्ञायक आत्माका भान नहीं है, इससे वह परद्रव्यका कर्ता है और उसके कारण परिभ्रमणका अभाव नहीं हो सकता। ज्ञानीके ज्ञायक आत्माका भान प्रवर्तमान है, शुभाशुभ परिणामोंसे पृथक्त्वका विवेक वर्त रहा है कैसा भी राग हो वह बाधक है, दोष है ऐसा जानता है। ऐसी दशामें भी शुभपरिणाम आते अवश्य हैं परन्तु उन शुभपरिणामोंसे तो ज्ञानीका संसार नहीं हो सकता और अशुभ परिणामोंसे भी संसारकी वृद्धि नहीं होती. क्योंकि उसको शुभाशुभ परिणामोंमेंसे एकत्वबुद्धि दूर हो गई है. इससे संसार भी टल गया है।

कोई ऐसा कहे कि ऐसे पंचमकालमें पुरुषार्थ कैसे हो ? परन्तु जिसे पुरुषार्थ नहीं करना है वह कालका बहाना बताता है। स्वतः पुरुषार्थ करे तो काल कहीं आड़े नहीं आता अपने पुरुषार्थकी मंदतासे पंचमकालमें जन्म हुआ है, उसमें कहीं कालका कारण नहीं है वहाँ भी तेरा अपना ही कारण है। अपना महात्म्य नहीं आता इससे किसी पर कालकी लब्धि वगैरह नाम लेकर दूसरोंके बहाने निकालता है। अपने स्वभावका माहात्म्य आये तो राग-द्वेष भी घटता है। मैं राग-द्वेषका दूर करनेवाला कैसा और कितना हूँ—इसका महात्म्य आये बिना यथार्थतया राग-द्वेष कम नहीं होता तो फिर दूर कहाँसे होगा ? स्वरूपके भान बिना कदाचित् कषायको मन्द करे तो पुण्यबंध हो, स्वर्गमें चला जाये परन्तु भवका अन्त नहीं होता।

चैतन्य वीतरागस्वभावी, राग-द्वेषरहित स्वतत्त्व कैसा है—इसका भान और एकाग्रताके आश्रयके बिना वास्तवमें राग-द्वेष दूर किये ही नहीं जा सकते।

अपनेको भूलकर अनन्तकाल तक राग-द्वेप किये, फिर जागृत हुआ इससे कहता है कि अब मुझे राग-द्वेप उत्पन्न न हो इसप्रकार ज्ञाता रहना है, अब मुझे अज्ञानमय कर्तापनकी बुद्धि और राग-द्वेपकी आवश्यकता नही है। अनन्तकाल तक तो राग-द्वेप अज्ञान किये और अब, क्षण भरमे कहता है कि मुझे राग-द्वेप ममत्व नही चाहिये—ऐसा नित्य शुद्ध ज्ञाता स्वरूपका भान करनेवाला कितना महान होगा? उसका माहात्म्य कैसा होगा? ऐसे अचिंत्य महिमावन्त भगवान आत्मस्वभावके भान विना, उसके माहात्म्य विना दृष्टि विना कपाय दूर नही होती।

वीतरागी स्वभावके आश्रय विना वास्तवमें कपाय दूर होती ही नही। आत्मस्वभावके आश्रय विना—नित्य ज्ञायकके अस्तिके आश्रय विना कपायकी नास्ति नही होती। आत्माके भान विना कपाय मन्द करे तो मिथ्यात्व कर्मके पाप सहित पुण्यका वन्ध हो और स्वर्गकी प्राप्ति हो, परन्तु आत्माका भान नही किया इससे पापानुवन्धी पुण्यवाला भी परम्परासे निगोदमे चला जायेगा। निगोदकी गति और मोक्षकी गति एक दूसरेके विरुद्ध है—तत्त्वदृष्टिका एकदम विराधक निगोदमे जाता है और तत्त्वदृष्टिका एकदम आराधक मोक्ष प्राप्त करता है।

विकारका नाशक नवीन नही होता, परन्तु स्वतःसिद्ध अनादि-अनन्त है। विकारका नाश करनेवाला अभीतक रहा कहाँ? किसप्रकार रहा? उसके भान विना वन्धनसे मुक्त नही होता, कर्ता-कर्मपना नही मिटता। जैसे राग-द्वेष हुए उतना ही अपनेको माना, तो फिर राग-द्वेप दूर कहाँसे हो? रागद्वेपका नाश करनेवाला मात्र शुद्ध-पवित्र अनन्तवीर्ययुक्त आत्मा कितना है? कहाँ है? कैसा है? इसके भान विना कषाय दूर नही होती, कदाचित् वर्तमानकाल पर्यन्त कषाय मन्द होती दिखाई दे परन्तु फिर वैसी की वैसी तीव्र कपाय होती है।

शरीर, मन, वाणी तो आत्मामे नही ही हैं, परन्तु पुण्यपापके परिणाम भी आत्मामे नही है। परमे एकाग्र कव होता है जव ऐसी मान्यता हो कि पर मुझे लाभ-हानि करता है, सहायता करता है; और

ऐसी मान्यता कब होती है कि जब यह माने कि पर और मैं एक हूँ। दो द्रव्योंको एक माने बिना ऐसा भाव ही नही आता कि मैं परको लाभ–हानि कर सकता। परमे देव–गुरु–शास्त्र सभी आ गये। अज्ञानके कारण विपरीत भावोंमे कर्ताकर्मपना है, अज्ञान ही कर्म बन्धनको उत्पन्न करनेका कारण है, अज्ञानरूप चैतन्य परिणाम अपनेको धर्मादि-द्रव्यरूप मानता है, इससे वह अज्ञानरूप उपाधिपरिणामका कर्ता होता है और वह अज्ञानरूप भाव उसका कर्म होता है। ९५।

"इससे कर्तृत्वका मूल अज्ञान सिद्ध हुआ"—ऐसा अब कहते हैं —

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥९६॥

एवं पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मंदबुद्धिस्तु।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥९६॥

अर्थः—इसप्रकार मदबुद्धि अर्थात् अज्ञानी, अज्ञानभावसे परद्रव्योंको अपनेरूप करता है और स्वत को पर करता है।

आत्मा तो निर्विकल्प वीतरागस्वरूप है, इससे जो अनभिज्ञ है वह मदबुद्धि है—अज्ञानी है, फिर चाहे वह भले ही धारा शास्त्री हो वडा प्रधान हो या धर्म शास्त्रका पाठी हो परन्तु जिनको आत्माका भान नही है उन सबका समावेश मन्दबुद्धिमे हो गया।

अज्ञानी जीव परको अपना मानता है और अपनेको पर मानता है, परमे लीन होता है और परको अपना बनानेका प्रयास करता है परन्तु वह कभी अपना नही होता।

इसप्रकार अज्ञानी आत्मा 'मै क्रोध हूँ' इत्यादिकी भाँति और 'मैं धर्मद्रव्य हूँ' इत्यादिकी भाँति परद्रव्यको अपनेरूप करता है और अपनेको भी परद्रव्यरूप करता है।

आत्मा क्रोधादि विकारसे रहित है, पराश्रयरहित है, परन्तु अज्ञानी उसे विकार सहित और पराश्रययुक्त मानता है—इसप्रकार

वह परको अपनेरूप मानता है। मैं पुण्यपरिणामोसे निभ रहा हूँ, मेरा पुण्यपरिणामके विना नही चल सकता—इसप्रकार अपने निर्विकार स्वभावको भूलकर जिसने अपनेको विकार परिणामो जितना ही माना है उसने अपनेको पररूप किया है और परको अपनेरूप किया है।

धूप–छाँहकी खवर पड़ती है, ठण्ड-गर्मीकी खवर पड़ती है, भूख लगी है इसलिये खा लूं, यह वस्तु मुझे अनुकूल या प्रतिकूल है—इसप्रकार समस्त परकी खवर पड़ती है, परन्तु मैं त्रिकाली अखण्ड पूर्णस्वरूपसे कौन हूँ, उसकी खवर नही होती; स्वतः अनन्तगुणस्वरूप आत्मा है—ऐसे अपने स्वरूपका माहात्म्य नही, परन्तु परका ही माहात्म्य आता है, अभानपनेमे परकी ही महिमा आती है। अज्ञानके कारण जिसप्रकार अज्ञानी विकारी परिणामोको अपना करता है, उसी-प्रकार धर्मादिक द्रव्य और अन्य जीवद्रव्यको भी अपना करता है।

परके ऊपर दृष्टि होनेसे—मैं अन्य जीवका हिताहित कर सकता हूँ, परको मैं तार सकता हूँ, ऐसा वह मानता है और इससे वह अपनेको उस प्रकारका रागद्वेप मोहरूप परिणाम जितना ही मानता है। भले ही वह अपनेको इतना वड़ा माने परन्तु स्वतः इतना वड़ा नही है, किसीका कुछ करनेमे समर्थ नही है क्योकि प्रत्येक आत्मा समस्त परवस्तुओंके सम्वन्धसे रहित है ऐसा वस्तुका स्वभाव है—धर्मादिक द्रव्य भी आत्मामे नही हैं, पुण्य-पापके परिणाम भी आत्मामे नहीं हैं, उन्हे भी परवस्तु कहा है; उन सवको अज्ञानी जीव अपना मानता है। भगवान आत्मा तो समस्त परवस्तुओंके संवंधसे रहित अपार-अमर्यादित स्वभाववाला है, परन्तु अज्ञानीको भान नहीं है, इससे परद्रव्योको अपनेरूप करता है और अपनेको भी परद्रव्यरूप करता है। परसे आधार आधेय मानकर परवस्तुके कारण अपनेमे परिवर्तन होना मानता है और अपने कारणसे परका कार्य मानता है।

इसप्रकार स्व-परका अज्ञानके कारण ही सविकार और सोपाधिक किये हुए चैतन्य परिणाम द्वारा उसप्रकारके अपने भावोंका कर्ता प्रतिभासित होता है।

आत्मा अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तआनन्द, अनन्तवीर्य ऐसे अनन्त–अनन्त सामर्थ्यसे भरपूर वर्तमानमे ही है। समय–समय त्रिकाली होकर आत्मा अनन्त है—ऐसी अनन्तता नही है परन्तु वर्तमान प्रत्येक समयमे ही अविनाशी अनन्त सामर्थ्यवाले परिपूर्ण भावसे भरा हुआ है, इससे अनन्त है—ऐसा आत्माका नित्य अपार–स्वभाव है।

वर्तमान अनित्य पर्यायमे क्रोध, मान, माया और लोभके जो परिणाम होते हैं उनकी सीमामे तू आ जाये—इतना तू नही है, तू तो अपार है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय इत्यादि द्रव्योका अवलम्बन ले—उतना तू नही है परन्तु तू उन सबसे रहित अपार–अमर्यादित ज्ञानानन्द स्वभाववाला है, उन सब द्रव्योकी तुझमे नास्ति है।

आत्मा शुद्ध चैतन्य धातुमय है, जो आत्माके अनन्त–अपार पूर्ण–स्वभावको धारण कर रखे वह नित्य चैतन्य धातुआत्मा अपार स्वभाववाला है, परका अवलम्बन लेकर परकी ओर रुके वह आत्माका स्वभाव नही है। आत्मा स्वत अपनेको जानता है और अपनेसे पृथक् सर्व परद्रव्योको भी जानता है—ऐसा अपार स्वभाव आत्माका वर्तमानमे ही है, उतना अपार–सर्वज्ञ आत्माको न माने परन्तु क्रोध, मानादि विकार जितना ही माने वह ससारका कारण है। यह गाथा बहुत उच्च है। आत्माके अपार स्वभावकी प्रतीति–विश्वास महिमा लाओ, ऐसा कहती है।

आत्माके ज्ञान–श्रद्धा–शान्ति–वीर्य इत्यादि स्वभावका सामर्थ्य अमाप है, अपार है, त्रिकाल स्वाधीन है। आत्मा अपने असली स्वभावसे च्युत होकर किसी एक समय मात्र भी विकारमय नही हुआ, तथापि अज्ञानके कारण अपनेको सविकार और सोपाधिक मानता है। स्वभावके सामर्थ्यका भान न होनेसे वर्तमान विकार जितना ही अपनेको मानता है अर्थात् अपनेको सविकार मानता है।

क्रोध, मान, माया, लोभको अपना मानना सो सविकार परिणाम है और छह द्रव्योंको अपना मानना वह सोपाधिक चैतन्यपरिणाम है, वे विकारी परिणाम चैतन्यमें हुए, इसलिये उन परिणामोंवाला होता हुआ, उसप्रकार मैं होनेवाला हूँ—वैसा उसे भासित होता है, परन्तु परको अपना माननेमें मूलकारण अज्ञान है।

अज्ञानी विकारी परिणामोंमें एकमेक होकर ऐसा मान लेता है कि वे मेरे हैं, परन्तु ज्ञानी वैसा नहीं मानते, ज्ञानीको विकारका भय नहीं लगता कारण कि उसने नित्य अविकार स्वभावमेंसे निःशंक साधकदशा प्रगट की है इससे पूर्ण वीतरागता कैसे प्रगट की जा सकेगी—ऐसा उसे संशय-भय नहीं लगता, ज्ञानीने अमुक अंशमें वीतराग स्वभावकी जाति प्रगट की है, इससे वह पूर्ण वीतरागता प्रगट करते हुए भयभीत नहीं होता।

श्रीमद् राजचन्द्रने उदाहरण दिया है कि सिंहनीको सिंहका भय नहीं होता, नागिनको नागका भय नहीं होता, कारण कि उसप्रकारका अज्ञानभाव उसके दूर हो गया होता है। मुझे यह दुःख देगा, उसप्रकारका अज्ञानभाव उसके टल गया है; यह मुझे दुःख नहीं देगा परन्तु मेरी रक्षा करेगा—वैसी उसे समझ है, इससे सिंहनीको सिंहका और नागिनको नागका भय नहीं लगता। वस्तु भय नहीं कराती परन्तु अज्ञान भयका कारण है। मनुष्योंको सिंहका भय लगता है, वह सिंहके कारण नहीं लगता परन्तु अपने अज्ञानके कारण लगता है। सिंहके कारण यदि भय होता हो तो सिंहनीको भी भय होना चाहिये।

कोई पुरुष किसीका खून करके आये, अथवा चोरी करके धन लाये तो उसकी स्त्रीको उसका भय नहीं होता, क्योंकि उसे ध्यान है कि यह मुझे प्रतिकूलता करनेवाला नहीं है, किन्तु अनुकूलता करनेवाला है।

उसीप्रकार ज्ञानीके अपने चारित्रमें गलतीके कारण अल्प राग-द्वेष, क्रोध-मान आदि होते हैं, परन्तु वह समझता है कि यह

विकार मेरे नित्य स्वभावमे नही है, किन्तु पुरुषार्थकी दुर्बलतासे होते हैं, किन्तु स्वभावकी सीमासे च्युत होकर वे परिणाम होते ही नही। ज्ञानीका पुरुषार्थ इतना तीव्र है कि उसे विकारी परिणामोका ऐसा भय नही लगता कि यह परिणाम मेरे स्वभावसे च्युत कर देंगे तो! ज्ञानी अपने और विकारके स्वरूपको बराबर जानता है। वह समझता है कि मैं अनन्त सामर्थ्यवाला आत्मा हूँ, विकारी परिणामोमे इतनी सत्ता नही है कि मुझे स्वभावसे च्युत करदें। जहाँतक पूर्ण वीतराग नही होता वहाँतक ज्ञानीको अल्प राग-द्वेष होते हैं, परन्तु उसने अशत. वीतरागस्वभाव प्रगट किया है इससे पूर्ण वीतरागता प्रगट करते हुए वह भयभीत नही होता।

रागद्वेष मोह करनेयोग्य है शुभराग चाहिये ऐसा माननेवाला अज्ञानी अपनेको पुण्य–पापके विकार जितना ही मानता है, उस दोषका मूल अज्ञानभाव है। लोग कहते हैं कि–हम नीति करते हैं, परन्तु मैं आत्मा कौन हूँ? मेरा क्या स्वभाव है? उसे जाने बिना अभिप्रायमें अनीतिके ढेर के ढेर पडे हैं, वस्तुका स्वभाव जैसा है उसे वैसा— यथावत् न माने और अन्य प्रकार माने वही सच्ची अनीति है।

जिसप्रकार–लोकमे झूठ बोले उसे अनीति कहते हैं, वैसे ही वस्तुस्वभाव जैसा है उसे वैसा ही न मानकर विपरीत माने वह झूठा हुआ, इसलिये वही महान अनीति है। अमर्यादित ज्ञानानन्दमय अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण ऐसा चैतन्यमूर्ति आत्मा हूँ—उसके भान बिना विकार दूर नही होता और जहाँतक भेदविज्ञान द्वारा आत्माका भान नही है वहाँतक परपदार्थकी ओर उन्मुखताका भाव दूर नही होता। उस विकारी परिणामका मूलकारण अज्ञान है, विकारी–अविकारी स्वरूपका अविवेक सो अज्ञान है—वह प्रगट दृष्टान्तसे समझाया जाता है :—

जिसप्रकार भूताविष्ट पुरुष अज्ञानके कारण भूतको और अपनेको एक मानता हुआ, मनुष्यको अनुचित–ऐसी विशिष्ट चेष्टाओंके अवलम्बन सहित, भयङ्कर आरम्भसे भरे हुए अमानुषिक व्यवहारवाला होनेसे उसप्रकारके भावोका कर्ता प्रतिभासित होता है।

जिसके शरीरमे भूत लगा हो उसे ऐसा भान नही रहता कि यह भूत है और मैं मनुष्य हूँ, इससे वह भूतको और अपनेको एक मानता है। भूत उसके शरीरमे रहकर जो चेष्टा करता है उसे वह अपना मानता है, मनुष्योंको शोभा न दे ऐसी चेष्टाएँ करता है, सास-ससुर बैठे हो और अश्लील बोलता है, भागता है, कपडे फाडता है, घरकी वस्तुएँ तोडता-फोडता है—ऐसी अनेक प्रकारकी कुचेष्टाएँ करता है, और वे सब भाव मेरे हैं—ऐसा उसे अज्ञानके कारण भासित होता है, इससे उन भावोका कर्ता होता है। किसीके पापका उदय हो तो उससमय उसके भूत प्रवेशका ऐसा प्रसंग बनता है, कोई निम्न कोटिके व्यतरदेव होते हैं वे किसीके पापका उदय हो तो वहाँ प्रवेश करते हैं।

कही कही तो स्त्रियाँ व्यर्थको ढोग ही करती हैं, अधिकतर तो ढोग ही दिखाई देते है, किन्तु कही सच्चा होता है। यहाँ तो आचार्य-देवने भूत लगे हुएका सच्चा दृष्टान्त दिया है। स्त्रियोमे कपटकला वहुत होती है और घरमे अपना न चलता हो, पति साधारण हो, देवर अच्छा हो, सास लडती हो, तो अपना मान बढानेके लिये व्यर्थके ढोंग करती है। एक स्त्री थी, वह कहती थी कि मुझे देवी आती है, और यदि तुम नही मानते हो तो इस घरमे जो सफेद और काला बैल है वह मर जायेगा, तथापि घरमे कोई मानता नही था, एकदिन रात्रिके समय उस स्त्रीने सफेद बैलको मार डाला, और फिर सबेरे बोली कि अगर तुम अभी भी नही मानते, तो यह काला बैल भी मर जायेगा। उस रात्रिको सब चुपचाप सोनेका बहाना करके जागते रहे, वह स्त्री रात्रिमे उठी और बैलके पास गई, इतनेमे सब लोग उठ बैठे और उस स्त्रीको वहुत मारा, उसी दिनसे सब ढोग चले गये। इसप्रकार मान-बडाईके लिये दुनियाँमे ढोग तो बहुत चलते हैं, परन्तु उन ढोगियोका यह दृष्टान्त नही है; यहाँ तो आचार्यदेवने उनका दृष्टान्त दिया है जिनके सच्चा भूत प्रविष्ट हो गया है।

उसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञानके कारण ही भाव्य-भावक-रूप परको और अपनेको एकमेक करता है। भावक अर्थात् मोहकर्मका

निमित्त और भाव्य अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ आदिके विकारी भाव, उन्हे अपना माने—वही भूत-भ्रम लगा हुआ है । आत्माके भान विना पागल जैसा होकर परको अपना मानकर गहलता करता है । व्यंतरका भूत लगे तो अमुक कालतक अथवा तो एकभव तक ही पागलपन रहे, परन्तु इन शरीरादिकको, द्रव्यकर्म और भावकर्मोको अपना माना, उसमे तो अनन्तकालसे पागलपन है, वह पागलपन सम्यग्ज्ञान होनेसे ही दूर होता है । परमे सुखवुद्धि मानी है, इसीसे परको अपना माननेरूप भाव है, परन्तु सम्यग्ज्ञान द्वारा अपने स्वरूपमे सुखवुद्धिकी मान्यता होती है, अर्थात् परको अपना माननेरूप मिथ्यावुद्धि दूर हो जाती है ।

अज्ञानके कारण परको और अपनेको एक करता हुआ, क्या करता है कि—अविकार अनुभूतिमात्र जो भावक है, अर्थात् श्रद्धा-ज्ञानकी अवस्था होने योग्य ऐसा जो भावक है उसे अनुचित—ऐसा विचित्र भावरूप (ज्ञातामात्र स्वभावकी अरुचिरूप) क्रोधादि विकारोंसे मिश्रित चैतन्य परिणाम विकारवाला होनेसे उसप्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है ।

सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनके अनुभवरूप जो निर्मल अवस्था है उसे अनुचित, अर्थात् उसे शोभा न दें—ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी परिणामोंसे मिश्रित चैतन्यपरिणाम । मिश्रित अर्थात् आत्मा जैसा है वैसी अवस्था नही रही, परन्तु अवस्था विकारी हो गई, इससे मिश्रित चैतन्य परिणामवाला कहा है ।

शुभाशुभ विकारी परिणाम हो उनमे सम्पूर्ण आत्मा उन विकारी भावोरूप नही हो जाता, परन्तु अवस्था पर्यन्त ही होता है । यदि सम्पूर्ण आत्मा क्रोधादिभावरूप हो जाता हो तो फिर क्रोधादि भावोको टालकर आत्मा निर्मलपर्याय प्रगट नही कर सकता, किन्तु ऐसा नही होता । आत्मा क्रोधादि भावोको दूर करके निर्मल पर्याय प्रगट कर सकता है, इसलिये मात्र वर्तमान अवस्था ही उन विकारी

भावोरूप हुई है, कही सम्पूर्ण आत्मा विकाररूप नही हुआ है, परन्तु वह नित्य निर्मल है।

अज्ञानभावसे क्रोधादि विकारी भावोंका कर्ता प्रतिभासित होता है, अज्ञानीको क्रोधादि भाव अपने भासित होते है, परन्तु मैं उन भावोसे पृथक् हूँ—वैसा भासित नही होता। मैं तो क्रोधादि भावोका ज्ञाता हूँ, परन्तु उन भावोरूप होनेवाला मैं नही हूँ, मैं तो अपने ज्ञान-सुखादि स्वरूपका अनुभव करनेवाला हूँ, निर्मल स्वभावका स्वाद लेनेवाला हूँ, परन्तु इन विकारी भावोका स्वाद लेनेवाला नही हूँ—वैसा अज्ञानीको भासित नही होता, इससे उसप्रकारके भावोंका कर्ता होता है।

यह भूतका उदाहरण देकर यहाँ ऐसा बताया है कि—जिसप्रकार भूतकी चेष्टा मनुष्योको शोभा नही देती, उसीप्रकार आत्मा निर्मल ज्ञानमूर्ति है, उसे तो निर्मल अवस्थारूप होना ही शोभा देता है, निर्मल अवस्थाका वेदन करना ही आत्माको उचित, परन्तु क्रोधादिके परिणाम होना तो उसे अनुचित है। मात्र चैतन्यरूप न रहा किन्तु मिश्रित हो गया कि क्रोधादि ही मेरा कार्य है और मैं उसीका कर्ता हूँ—वैसी कर्तृत्वकी बुद्धि सो अज्ञान है। मैं तो उनका ज्ञाता हूँ, कर्ता नही हूँ, किन्तु नाशक हूँ, रक्षक नही हूँ, उनमे एकमेक होनेवाला नही हूँ—वैसा भान न रहा और कर्ता हुआ। उस कर्तृत्वका मूल अज्ञान है, और वह बन्धका कारण है।

कर्ताकर्मके अधिकारमे ९६ वी गाथा चल रही है। इसमे भूताविष्टका दृष्टान्त पहले आ चुका है, कि जैसे-किसीको भूत लगा हो तो इस भूतसे मैं पृथक् हूँ—ऐसा भान न रहनेसे भूतको और अपनेको एक मानता है और मनुष्यको अयोग्य चेष्टाएँ करता है, उन्हे अपना मानता है; वैसे ही कर्मके निमित्तसे होनेवाले विकारी भावोको अज्ञानी अपना मानता है।

अब, आचार्यदेव दूसरा दृष्टान्त देते हैं। जिसप्रकार अपरीक्षक आचार्यके उपदेशसे भैंसेका ध्यान करनेवाला कोई भोला पुरुष अज्ञानके

कारण भैंसेको और अपनेको एक करता हुआ, 'मैं गगनचुम्बी सीगो वाला महान भैंसा हूँ'—ऐसे अध्यासके कारण, मनुष्यको योग्य जो कमरेके द्वारसे बाहर निकलना है, उससे च्युत होनेसे उसप्रकारके भावका कर्ता प्रतिभासित होता है ।

कोई भोला किसान था, उसे एक मूर्ख गुरु मिल गया, वह सबसे ध्यान करनेको कहता होगा, इससे उस भोले किसानने पूछा कि मुझे किसका ध्यान करना चाहिये ? तब गुरुने कहा कि तुझे जो प्यारा हो उसका तू ध्यान कर, तब किसान बोला कि मुझे तो अपना भैंसा प्यारा है इसलिये मैं उसका ध्यान करता हूँ ! ऐसा कहकर वह एकातमे बैठकर भैंसेका ध्यान करने लगा कि भैंसेका शरीर ऐसा है, मुँह ऐसा है, माथा इतना बडा है, सीग बहुत भारी है—इसप्रकार वह भैंसेके ध्यानमे इतना लीन हुआ कि उस विचारमे छह महीने बीत गये, और ध्यान करते–करते उसे ऐसा हो गया कि जैसे मैं ही भैंसा हूँ, मैं महान गगन चुम्बी सीगोवाला हूँ और यह द्वार बहुत छोटा है, अब मैं इस द्वारसे कैसे निकल सकूँगा ? ऐसा सोचकर खडा हुआ और जैसे भैंसा चलता है, उसीप्रकार शरीरको इधर–उधर करके चलने लगा, भैंसेका शरीर आडा होता है और मेरा शरीर खडा है—ऐसा कुछ भी ध्यान उसे नही रहा, क्योकि भैंसेका ध्यान करते–करते उसे ऐसी भ्रमबुद्धि हो गई कि मैं ही भैंसा हूँ, ऐसा ही अभ्यास भी हो गया, वह द्वार मनुष्यके निकलने जैसा था, वह जो स्वतः प्रविष्ट हुआ था मनुष्य ही था न ! यह तो भ्रमसे उसे ऐसा हो गया कि मैं भैंसा हूँ, इससे उस भावका कर्ता प्रतिभासित होता है, अर्थात् मैं भैंसा ही हूँ, ऐसा भाव उसे भासित होता है, परन्तु मैं मनुष्य हूँ—ऐसा उसे भ्रमके कारण भासित नही होता ।

उसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञानके कारण ज्ञेय–ज्ञायकरूप परको और अपनेको एक मानता हुआ–'मै परद्रव्य हूँ'—ऐसे अध्यासके कारण मनके विषयरूप किये गये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवको अपनेरूप करता है ।

अज्ञानके कारण अज्ञानी जीव धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गल, अन्य जीव—जो सब परद्रव्य हैं, ज्ञेय हैं उन ज्ञेयोको और अपनेको एक करता है। छह द्रव्यमे देव, गुरु और शास्त्र भी आ गये। देव, गुरु, शास्त्रका ध्यान करनेसे मैं देव, गुरु, शास्त्र रूप हो गया हूँ—ऐसा भ्रम अज्ञानीको हो जाता है। किसी कारणसे उसे देव, गुरुका ध्यान करनेको कहा तो उनरूप और रागरूप हो जानेका उसे भ्रम उत्पन्न होता है। धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि द्रव्योंका विचार करनेको कहा वहाँ अज्ञानीको ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि मैं ही वह पदार्थ हूँ।

ज्ञानमे परवस्तु ज्ञात हुई वहाँ परसे मेरा ज्ञान है, परके विना मेरा ज्ञान विकसित नही हो सकता,—इसप्रकार परकी टेव पड़ गई। जिसप्रकार भैंसेका ध्यान करनेसे ऐसा अध्यास हो गया कि मैं भैंसा हूँ, उसीप्रकार परपदार्थका विचार करनेसे मैं परपदार्थ हूँ अर्थात् परद्रव्यका आलम्बनरूप राग करने योग्य है हितकर है ऐसा अध्यास अज्ञानीको हो जाता है। भूताविष्टकी भाँति, विकार भावोको अपना माननेरूप भूत लगा और ध्यानाविष्टकी भाँति, ज्ञेयको जाननेसे मैं ज्ञेयमय हो गया हूँ—ऐसा भ्रम हो गया; जिसप्रकार अपरीक्षक आचार्यके उपदेशसे भैंसेके ध्यानमे रुक गया, वैसे ही अज्ञानीको कोई ऐसा गुरु मिला कि आत्माका विचार नहीं किया और धर्मादिके विचारमें ही रुक गया। अपना उपादान ऐसा होता है, इससे ऐसा निमित्त मिल जाता है।

आचार्यदेवने टीकामें कहा है कि धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव—वे सव मनके विषय हैं, शुभभावके विषय हैं अर्थात् उसका यह प्रयोजन है कि स्त्री-कुटुम्ब, देव-गुरु-शास्त्र—वे सभी मनके विषय हैं; सम्मुख त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव हों तो वह भी मनके विषय हैं। आत्माका विषय सहजस्वभाव है; आत्मा स्व-परप्रकाशक सामर्थ्यवाला अनन्तगुणोंका पिण्ड है वह आत्माका विषय है। मनका लक्ष्य जाये तो शुभाशुभ भावो तक जाता है, मनका विषय पर

होनेसे, तथा इन्द्रियोंके विषयरूप किये गये रूपी पदार्थों द्वारा (अपना) केवल बोध (ज्ञान) आच्छादित होनेसे और मृतक कलेवर (शरीर) द्वारा परम अमृतरूप विज्ञानघन (स्वतः) मूर्च्छित हुआ होनेसे उसप्रकारके भावोका कर्ता प्रतिभासित होता है।

अपने ज्ञायकस्वभावको ज्ञान द्वारा धारण कर रखना चाहिये उसके वदले मनके विषयमे शुद्ध चैतन्यधातु रुक गई, शुद्ध चैतन्यस्वभाव मनके विषयमे रुका होनेसे, धर्मादिके विचारमे–शुभाशुभ भावमे शुद्ध चैतन्य धातु रुक गई। मैं परका अवलम्वन लूंगा तभी स्थित रह सकूंगा—ऐसा मानकर परमे रुका, इससे चैतन्यधातु वहाँ रुक गई।

सिद्ध भगवान, अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय, मुनिराज यह पंच परमेष्ठी अरूपी हैं, और धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाशास्ति, काल– यह पदार्थ भी अरूपी हैं। वे सभी अरूपी पदार्थ मनके विपयमे आ सकते हैं, परन्तु मैं उनसे भिन्न हूँ—ऐसा भान न करनेसे मनको और मनके विषयको एक करता हुआ, वहाँ रुका होनेसे ज्ञेय–ज्ञायकको एक करता है।

अव, पाँच इन्द्रियोंके विषय जो रूपी पदार्थ हैं, उनके वर्णमें, रसमे, गंधमे, और स्पर्शमें रुका होनेसे केवलवोध ढँका हुआ है, केवल-वोध ढँका हुआ होनेसे, मृतक–कलेवर—ऐसा जो शरीर है, उसके द्वारा परम अमृत विज्ञानघन मूर्च्छित हुआ है। यह शरीर तो मृतक कलेवर ही है न! मुर्दा ही है न! जव जीव हो तव शरीरको सचेत कहा जाता है, वह मात्र चैतन्यके साथ है, उस अपेक्षासे उपचारसे कहा जाता है, परन्तु वास्तवमे तो जीव होने पर भी शरीर तो मुर्दा ही है। मात्र शरीरको उसके उपादानसे लक्ष्यमे लो तो वह मुर्दा ही है, जीव रहित मृतककलेवर ही है; उसे जीवित कहना वह पानीके घडेकी भाँति है। घड़ा तो वास्तवमे मिट्टीका ही है, परन्तु पानीके संयोगसे उसे पानीका घडा कहा जाता है, किन्तु वास्तवमे घडा पानीका नही होता। उसीप्रकार शरीर तो मरा हुआ–मुर्दा ही है परन्तु जीवके संयोगसे उसे

सचेत कहा जाता है, किन्तु यथार्थतया वह सचेत नही है, उपचारसे सचेत कहते हैं ।

एकेन्द्रिय या दो इन्द्रिय जीवका शरीर, मनुष्यका शरीर, देवका शरीर, नारकीका शरीर—इसप्रकार जो भी कहा जाये वह सब पानीके घडेकी भाँति है । जीव है, वह शरीरमय नही होता, यदि जीव शरीरमय हो जाता हो तो एक शरीरमेसे निकलकर दूसरा शरीर कैसे धारण कर सकेगा ? इसलिये जीव उन शरीरमय नही होता, किन्तु जीव ऐसे-ऐसे भाव करता है इससे उस-उसप्रकारके शरीर मिलते हैं—ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध है, तथापि जीव, जीवरूप—ज्ञानरूप ही है और शरीर मृतक कलेवर है ।

परमअमृत विज्ञानघन अमृतका पिण्ड आत्मा अज्ञानके कारण शरीररूप मरे हुए-मुर्देमे मूर्च्छित हुआ है । मुर्देकी कितनी चिंता करता है ! सवेरे उठकर शौचको जाना, दातुन करना, खाना-पीना, और शरीरमे रोग हो तो घूमने जाना इत्यादि अनेक प्रकारकी चिंता, चौबीस घण्टेका टाइम टेवल वनाकर रखता है, तो भी यह शरीर तो मुर्दा ही है । मुर्देकी कितनी चिंता करेगा ? इसलिये भाई ! शरीरकी चिंता छोडकर आत्माका भान कर ! परमअमृत विज्ञानघन मुर्देमे क्यो मूर्च्छित हुआ है ? मुर्देमे क्यो रुका है ? अब जागृत होकर आत्माका भान कर ! और उसमे स्थिर हो जा ! आचार्यदेवने शरीरको मुर्दा कहा है और उसके समक्ष आत्माको परम अमृत विज्ञानघन कहा है ।

छह पदार्थोंके विचारमे चैतन्यधातु रुक गई, पाँच इन्द्रियोके विपयमे केवलवोध ढँक गया और परमअमृतरूप विज्ञानघन स्वभाव मृतक कलेवरमे मूर्च्छित हुआ है । पहले वाक्यमे रुक गया कहा और दूसरेमे ढँक गया कहा, तथा तीसरे वाक्यमे मूर्च्छित हुआ कहा—इसप्रकार तीनो वाक्योमे एकसे एक बढकर शब्द है ।

इस शरीरको मुर्देकी उपमा दी है । आत्मा तो शाश्वत् शातमूर्ति है, परका कुछ भी करना वह उसका स्वभाव नही है, पुण्य-पापके परिणाम भी अजाग्रतभाव मलिनभाव होनेसे आत्माका स्वभाव

नही है; परन्तु अज्ञानी जीव अपनी भूलसे ही—अज्ञानके कारण अमृतघन आत्माको भूलकर मुर्देमे मूर्च्छित हो गया है, उलझ गया है। इस शरीरको ऐसा रखना, वैसा रखना—ऐसी माथापच्ची करता ही रहता है, शरीरकी पुष्टिके साधनोंकी चितामें ही मग्न रहता है। पेटको रोटी चाहिये है; लेकिन सिर पर पाँच-दस लाखका भार रखकर प्रसन्न होता है कि-यह अच्छा हुआ! जिसके पैसा न हो उसे मालदार होनेकी चिता और जिसके हो उसे उससे भी अधिक इकट्ठा करनेकी चिता, चाहे जितने लाख हो जायें तो भी संतोष नही होता, और जितना है उसे संभालनेकी चिता रहती है, इसप्रकार अमृतघन आत्मा परमे उलझ गया है।

मनके विषयमे छहो पदार्थ आये, स्त्री, कुटुम्ब, देव, गुरु, शास्त्र सभी आये। मनका विषय, इन्द्रियोका विषय और मृतककलेवरमें मूर्च्छित हुआ, उन तीनोमे कर्तृत्वकी बुद्धि है, उन तीनों प्रकारके भावोसे बन्धन होता है। मनके विषयमें छह पदार्थ आये उनसे मैं पृथक् कैसे होऊँ! अर्थात् मैं उनके साथ एकमेक हूँ, परन्तु पृथक् नही हूँ। पाँच इन्द्रियोंके विषयसे मैं पृथक् कैसे होऊँ! अर्थात् मैं उनके साथ एकमेक हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है। व्यवहार रत्नत्रय,-शुभाशुभराग भी चैतन्य शक्ति रहित होनेसे मृतक कलेवर है—ऐसा नही मानता किन्तु मृतक कलेवरसे मैं पृथक् कैसे होऊँगा! अर्थात् मैं उसमें एकमेक हूँ, किन्तु पृथक् नही हूँ—ऐसी विपरीत दृष्टिसे परका कर्ता होता है और उससे बन्धन होता है।

यहाँ क्रोधादिकके साथ एकत्वकी मान्यतासे उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझानेके लिये भूताविष्ट पुरुषका दृष्टान्त दिया है और धर्मादिक अन्य द्रव्योंके साथ एकत्वकी मान्यतासे उत्पन्न होनेवाला कर्तृत्व समझानेके लिये ध्यानाविष्ट पुरुषका दृष्टान्त दिया। भैंसेका ध्यान करनेवालेको ऐसा हो गया कि मैं ही भैंसा हो गया, फोनोग्राफका आविष्कार करनेवाला, रिकार्डमें शब्द कैसे उतारा जाये—उसमें इतना एकाग्र हो गया कि तीन दिन तक खानेकी भी खबर नही रही।

देखो ! विपरीत ध्यानमे कितना एकाग्र हुआ ! इसीप्रकार आत्माके अतिरिक्त—आत्माको भूलकर छह पदार्थोके विषयमे, पाँच इन्द्रियोंके विषयमे, शरीरमे एकाग्र हुआ वह सब भैंसे जैसा ध्यान है। ज्ञेयरूप धर्मादिक छह द्रव्योको ज्ञायकके साथ एकमेक करता हुआ, इन्द्रिय विषयोको और शरीरको ज्ञायकके साथ एकमेक करता हुआ परका कर्ता होता है, और उससे बन्धन होता है। ९६।

इससे, पूर्वोक्त कारणसे ऐसा सिद्ध हुआ कि ज्ञानसे कर्तृत्वका नाश होता है। ज्ञानमे, दर्शन–ज्ञान–चारित्र तीनो आ जाते हैं। अब, ऐसा कहते हैं कि ज्ञानसे ही कर्तृत्वका नाश होता है —

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥९७॥

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः।
एवं खलु यो जानाति सो मुंचति सर्वकर्तृत्वम् ॥९७॥

अर्थः—इस (पूर्वोक्त) कारणसे निश्चयके ज्ञाता ज्ञानिओने उस आत्माको कर्ता कहा है—ऐसा जो निश्चयसे जानता है वह (ज्ञानी होता हुआ) सर्व कर्तृत्वको छोडता है।

इस पूर्वोक्त कारणसे निश्चयके जाननेवाले सर्वज्ञ भगवानने उस आत्माको कर्ता कहा है, जिस आत्माको अपने स्वरूपका भान नही है वही परका कर्ता होता है। कर्ताका ऐसा स्वरूप है—ऐसा जो जानता है वह ज्ञानी होता हुआ परके कर्तृत्वका भाव छोडता है। वह ऐसा जानता है कि पर विकार मुझमे है ही नही, परवस्तु भी मुझमे नही है, पुण्य-पापके भावमे अज्ञानतासे एकरूप हो जानेवाला मैं, पुण्य-पापके भावोसे बिल्कुल पृथक् ही हूँ, मैं किसी कालमे पुण्य-पापके भावरूप हुआ ही नही तो फिर परवस्तुरूप हुआ होऊँ—ऐसा कैसे हो सकता है ? मैं अनादि-अनन्त ज्ञायक स्वरूपसे, एकरूपसे हूँ, पुण्य-पापके भाव जो पराश्रयसे उत्पन्न होनेसे क्षण भंगुर होनेसे, और परिवर्तित होनेसे मेरा चैतन्यद्रव्य किसी काल उस अवस्थारूप हुआ ही नही—

ऐसा जाननेवाला भगवानका भक्त,–दास, सकल कर्तृत्वको छोडता है।

यह आत्मा अज्ञानके कारण परके और अपने एकत्वका विकल्प करता है इससे वह निश्चयसे कर्ता प्रतिभासित होता है—ऐसा जो जानता है वह समस्त कर्तृत्वको छोड़ता है, इससे वह निश्चयसे अकर्ता प्रतिभासित होता है।

अज्ञानी मूढ, आत्माका विरोधी—भगवानका विरोधी ऐसा मानता है कि पर और मैं–दोनो एक है, वैसा आत्मविकल्प करता है इससे परका कर्ता होता है। विकार और मैं दोनो एक हैं—ऐसा अज्ञानीको भासित होता है, रागको भला माना वह विकाररूप हुआ इससे अब उसे दूर करना नही रहा, पररूप हुआ, इससे स्वतः भिन्न नही रहा, परके साथ एकत्वबुद्धिके कारण कर्तृत्व वना रहता है। इसप्रकारके अज्ञानके स्वरूपको जो जानता है वह समस्त कर्तृत्वको छोडता है। सच्ची आत्माकी भक्ति करनेवाला—सच्ची भगवानकी भक्ति करनेवाला ऐसा मानता है कि विकार मेरे नही होते, परपदार्थ मेरे नही होते, मैं तो समस्त पदार्थोंसे भिन्न ज्ञाता हूँ—ऐसा जिसको ज्ञान है वह परका अकर्ता ही है।

यह आत्मा अज्ञानी होता हुआ अज्ञानके कारण अनादि–ससारसे लेकर मिश्रित (मानों एकमेक हो गये) स्वादका स्वादन–अनुभवन होनेसे (अर्थात् पुद्गल कर्मके और अपने स्वादका मिश्रितरूपसे एकरूपसे अनुभवन होनेसे), जिसकी भेदसवेदनकी (भेदज्ञानकी) शक्ति अस्त हो गई है—ऐसा अनादिसे ही है।

सम्पूर्ण त्रैकालिक स्वभावका अभान ही अज्ञान है। आचार्य-देव कहते हैं कि ऐसी अज्ञानकी भूल कही इससमयकी नही है, परन्तु अनादि संसारसे ऐसी भूल जीव करता ही आया है, किसी वार सीधी-सच्ची दृष्टि की ही नही, दृष्टिको बदला ही नही, स्वभाव सन्मुख देखा ही नही इससे स्वभावका अमृतस्वाद नही लिया, परन्तु विकार मिश्रित स्वाद लिया है। आत्मा ज्ञान और शान्तरस–स्वरूपसे है, उसका भान नही होनेसे पुण्य-पापके भावोंका ही अनुभव करता है।

अज्ञानीकी दृष्टि परके ऊपर है, इससे उसे ऐसा लगता है कि पर और मैं—दोनो एक हो गये है, इससे उसे शुभाशुभभावोका स्वाद आनेसे ऐसा मानता है कि पर और मैं—दोनो एक हो गये हैं। एकमेक हो जानेका अर्थ यह है कि आत्माके स्वादके आनन्दसे च्युत होकर पुण्य-पापके स्वादका ही अनुभव करता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नही है कि थोडा आत्माका निर्मल आनन्द और कुछ परका आनन्द, परन्तु अज्ञानी परका और अपने आत्माका पृथक्त्व न जाननेसे दोनोको एकमेक मानता है इससे, परके और अपने मिश्रित स्वादका अनुभव अज्ञानी करता है—ऐसा कहा है। अज्ञानी मात्र विकारी स्वादका ही अनुभव करता है परन्तु निर्विकारी स्वादका किंचित् अनुभव नही करता।

पाँच सेर दूधमे मात्र आधा तोला विप मिला दिया जाये तो उसे विपका ही स्वाद आयेगा किन्तु दूधका बिल्कुल स्वाद नही आयेगा, उसीप्रकार आत्माका तो मात्र आनन्द स्वभाव है, मीठे दूध जैसा स्वभाव है, किन्तु उसमें विपरीत दृष्टिके विषके कारण मात्र आकुलताका ही स्वाद लेता है, राग-द्वेषका ही स्वाद लेता है, मलिन स्वाद लेता है। अशुभ भाव तो आकुलता है ही, परन्तु शुभभाव भी आकुलता है। दोनो चेतन स्वभावसे विरुद्ध औपाधिक भाव है, अपने स्वादसे च्युत हुआ इससे ऐसे आकुलित स्वादमे लीन हुआ, दुःखमय स्वादमे लीन हुआ।

अनेक कहते हैं कि लड्डूमेसे स्वाद आता है, शाकमेसे स्वाद आता है परन्तु भाई! तू विचार तो कर! जडका स्वाद आत्मामे आता है? पुद्गलका स्वाद आत्मामे आता है? मात्र लड्डूके प्रति जो राग है उसका स्वाद आता है। यह वस्तु मिठास वाली है, इसप्रकार ज्ञान तो मात्र जाननेका कार्य करता है, परन्तु राग किया उससे तुझे रस आता है। आता तो है अपने रागका रस, परन्तु मानता है कि लड्डूका रस आता है। यदि लड्डूमेसे रस आता हो तो मुँहमे लड्डू हो और व्यापार–धन्धेकी चिंतामे पड गया हो, उससमय चिंताका स्वाद आता

है, लड्डूके स्वादकी खबर भी नही रहती। इसलिये सिद्ध होता है कि लड्डूका रस नही किन्तु अपने रागका रस है। रागका स्वाद आकुलित है और आत्माका निर्विकारी स्वाद अद्भुत एवं निराकुल है।

मिष्टान्नका भोजन कर रहा हो, उससमय लडका परदेशसे आये तो लडकेके रागमे लग जाता है और भोजनमे क्या खा रहा था उसका ध्यान भी नही रहता, इसलिये भोजनमेसे स्वाद नही आता परन्तु अपने रागका स्वाद आता है। इसप्रकार सभी प्रकारोमे समझ लेना चाहिये कि पुद्गलमेसे स्वाद नही आता परन्तु अपने रागका-विकारी पर्यायका स्वाद आता है।

परवस्तुको जाननेसे ज्ञान उसमे रुक जाता है, रुका इससे राग हुआ, उससे अज्ञानीको ऐसा लगता है कि परमेसे रस आया; इससे वह रागके स्वादमे अटक जाता है, अरागी स्वादसे च्युत होकर रागके स्वादमे एकमेक हो जानेसे उसकी भेदसवेदन शक्ति मुँद हो गई है।

मैं आत्मा ज्ञाता हूँ, मुझमे ही आनन्द है, वह आनन्द निराकुल है, सुखमय है, शाश्वत है और रागका रस परजनित है, आकुलित है, दुःखमय है, क्षणिक है—ऐसी स्व-परके स्वादकी भिन्नताका विवेकी ज्ञान न होनेसे, भेदज्ञान न होनेसे जिसकी भेदसवेदनशक्ति मुँद गई है—ऐसा अनादिसे ही है, इससे वह परको और अपनेको एकरूप जानता है। इससे मैं क्रोध हूँ, मैं मानस्वरूप हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं शरीर हूँ, मैं ठिगना हूँ, मैं ऊँचा हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं बोलनेवाला हूँ, इत्यादि परमे आत्मविकल्प करता है अर्थात् परमे अपनेपनका विकल्प करता है, इससे निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन-स्वभावसे भ्रष्ट होता हुआ वारम्वार अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

आत्माका स्वभाव निर्विकल्प है, आत्मामे शुभाशुभभावोके विकल्प नही हैं, ज्ञानमे शुभाशुभरागसे भेद पडे वह विकल्प है, वह विकल्प कृत्रिम है, कारण कि वह प्रतिक्षण परनिमित्तके आश्रयसे

होनेवाला नवीन भाव है, भेदरूप भाव है, वह सहज–अकृत्रिम भाव नही है, आत्मा तो अकृत्रिम स्वभावरूप है। परपदार्थको अपना माननेवाला–अपनेरूप विकल्प करनेवाला कृत्रिम और अकृत्रिम स्वभावका भेद नही कर सकता।

जो मनुष्य खानेका लालची हो वह शक्कर और मिश्रीके लड्डुओका स्वाद पृथक्-पृथक् नही जान सकता, शक्कर और मिश्रीके लड्डुओंके स्वादमे अन्तर होता है, परन्तु खानेका लालची यह नही जान सकता कि उस स्वादमे कहाँ भेद पड़ता है क्या अन्तर है, उसीप्रकार अज्ञानी परमे आसक्त होता हुआ अपना निर्विकल्प, अकृत्रिम स्वभाव और परकी आसक्तिवाले, नवीन होनेवाले कृत्रिम विकारी भावो उनमे भेद नही कर सकता और विज्ञानघनस्वभावसे भ्रष्ट होता हुआ अनेक विकल्परूप परिणमित होता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है।

अज्ञानीकी दृष्टि परके ऊपर ही है, इससे परका ऐसा करदूं और यह करदूं, ऐसा चाहिये इसप्रकार परकी आशावाला परमय ही हो रहा है! परन्तु तू चाहे जितना कर तथापि पुण्यके उदय बिना एक कण भी नही फलेगा, मात्र विकल्प ही करता रहेगा, अन्य कुछ नही होगा। मैं एक परसे निराली वस्तु हूँ—वैसा भान कर तो सम्पूर्ण पराश्रय दूर हो जायेगा। ज्ञानस्वरूप आत्माको समझनेसे और उसमे स्थिर होनेसे कर्तृत्व दूर हो जाता है और अकर्तृत्व ज्ञाता स्वभाव आता है।

यह कर्ता-कर्मका अधिकार और ९७ वी गाथा चल रही है। टीकामे अज्ञानीके कर्तृत्वकी बात हो गई अब, ज्ञानीकी बात आती है।

जब आत्मा ज्ञानी होता है तब, ज्ञानके कारण ज्ञानके आदिसे लेकर पृथक् पृथक् स्वादका स्वादन–अनुभवन होनेसे (अर्थात् पुद्गलकर्मके और अपने स्वादका, एकरूप नही किन्तु भिन्न अनुभवन होनेसे), जिसकी भेदसंवेदनशक्ति प्रगट हो गई है—ऐसा होता है।

आत्मा जब ज्ञानी होता है, अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है तबसे वह आत्माके स्वादका और राग-द्वेषके स्वादका भिन्न-भिन्नरूपसे

अनुभव करता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुआ, इससे ज्ञानी, आत्माका अनुभव अमुक अंशमे सिद्धसमान करते हैं। पूर्ण वीतरागताका अनुभव प्रगट नही हुआ, इससे अमुक अंशमे कषायका वेदन रहा है, परन्तु उस पराश्रयरूप कषायके अंशका और आत्माके पवित्र–निर्मल अंशका अनुभव विल्कुल पृथक्–पृथक्रूपसे अर्थात् स्वभाव और विभाव दोनों पृथक् है, विरुद्ध है ऐसा जानता है परन्तु एकरूप अनुभव नही करते, इससे उनके भेदसंवेदन शक्ति प्रगट हो गई है।

राग-द्वेषका अल्प अंश रहा है उसे टालने योग्य मानते हैं और अपने स्वरुपसवेदनमें लीन होना उसे आदरणीय मानते हैं। जो नाश करने योग्य है उसे अपना कर्तृत्व नही मानते, परन्तु जो आदरणीय है उसीको अपना कर्तव्य मानते हैं, आत्माके स्वादको और कषायके स्वादको एकमेक नही मानते। आत्माका स्वाद शांत, निर्मल और परम आनन्दरूप है, उसका उसीरूप अनुभवन करते हैं और कषायका दुःखरूप–आकुलतारूप अनुभव करते हैं; इसप्रकार जिसके भेदसवेदन शक्ति प्रगट हो गई है—ऐसी भेद करनेकी शक्ति प्रगट हो गई वह ज्ञानी है।

भेदसंवेदनशक्ति प्रगट हो गई है इससे वह जानते हैं कि अनादि निधन निरन्तर स्वादमें आनेवाला, समस्त अन्य रसोंसे विलक्षण (भिन्न), अत्यन्त मधुर चैतन्यरस ही जिसका एक मात्र रस है—ऐसा आत्मा है, और कषाय उससे भिन्न रसवाली (कषायली–वे स्वाद) हैं।

ज्ञानी ऐसा समझते हैं कि मैं तो अनादि–अनन्त हूँ, मेरा आत्मा किसीसे उत्पन्न नही हुआ है, इससे उसका आदि नही है और कभी उसका अन्त भी नही होना है। जिसकी उत्पत्ति हो उसका विनाश होता है, आत्माकी उत्पत्ति नही है, इससे उसका नाश भी नही है, इसलिये आत्मा अनादि अनन्त है। निरन्तर स्वादमे आनेवाला चैतन्यरस है; वह चैतन्यरस समस्त अन्य रसोंसे विलक्षण है।

संसारके हर्ष–शोकका जितना स्वाद है वह सब विकारका

स्वाद है, मिष्टान्न खानेसे जो हर्ष होता है, शरीरमे रोग होनेसे जो दुःख होता है, राजपद मिलनेसे जो हर्ष होता है और पुत्र मरे तो जो शोक होता है वह सब विकारी रस है, आत्माका रस नही है। उस समस्त विकारी रससे विपरीत लक्षणवाला आत्माका रस है, जो अत्यन्त मधुर है। चैतन्यका रस अत्यन्त मीठा है, मधुर है, अमृतस्वादसे परिपूर्ण कोई अपूर्व स्वाद है, ऐसा आत्मा है। आत्माके रसके समक्ष ससारके समस्त रस फीके भासित होते हैं। पुण्य-पापके परिणाम, दयाके भाव अथवा हिंसाके भाव—वे सभी शुभाशुभ भाव आत्माके स्वादके समक्ष कषायले—बे स्वाद लगते हैं।

आज तो बहुत सेवा की, वहुत दया की, आज मन अत्यन्त आनन्दित है—ऐसा अनेक कहते हैं, परन्तु वह सब कषायका स्वाद है, शुभपरिणामकी वृत्तिमे आनन्द मानना वह रागका आकुलित स्वाद है। उस रागसे आत्माका निवृत्त आनन्द स्वभाव पृथक् है, आत्माका रस और कषायका रस—उन दोनोमे एकत्वका विकल्प करना सो अज्ञान है।

जब ज्ञान होता है तब परको और अपनेको भिन्नरूप जानता है, भिन्नत्वके भान द्वारा पर विकारके साथ किंचित् आत्मविकल्प नही करता। अकृत्रिम एक ज्ञान ही हूँ परन्तु कृत्रिम, अनित्य अनेक जो क्रोधादिक हैं वह मैं नही हूँ—ऐसा जानता हुआ 'मैं क्रोध हूँ' इत्यादि आत्मविकल्प किंचित् भी नही करता, समस्त कर्तृत्वको छोड़ देता है, इससे सदैव उदासीन अवस्थावाला होता हुआ, मात्र ज्ञाता ही रहता है और उससे निर्विकल्प, अकृत्रिम, एक विज्ञानघन होता हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।

पुत्र-पुत्रियोके विवाहादिका जो भाव है वह अशुभभाव है, और दयादिका जो भाव है वह शुभभाव है, उन शुभाशुभ भावोको आत्माके साथ एकमेक मानना सो अज्ञानभाव है। पुण्य-पापके जो परिणाम होते हैं वे कृत्रिम हैं और आत्माका स्वभाव अकृत्रिम है। शरीर—मन—वाणी दूर रहे परन्तु क्रोध—मान—मायादिके भाव होते हैं

वे भी कृत्रिम है अर्थात् अनित्य हैं, और आत्मा तो अकृत्रिम है अर्थात् स्वत सिद्ध है, नित्यस्थायी वस्तु है।

शरीर-मन-वाणी इत्यादि तो एक ओर रहे परन्तु अणुव्रत और महाव्रतके जो पुण्य परिणाम होते है वे भी अनित्य हैं, क्षणिक है, कृत्रिम है। ज्ञान होनेके पश्चात् ऐसे आत्मविकल्प किंचित् नही करता कि मैं क्रोधी हूँ, विकारी हूँ,—ऐसा आचार्यदेवने कहा है। युद्धमे खडा हो, तथापि युद्धकी क्रियामे और युद्धके अशुभ परिणामोमे किंचित् आत्मविकल्प नहीं करता। ज्ञानी अपने ज्ञायकके सामर्थ्यके अतिरिक्त अन्य कुछ नही करते, युद्धमे हो तो भी दृष्टिसे पृथक् हो गये है, ज्ञातारूप परसे निराले पृथक् रहते हैं; अल्प राग-द्वेष होता है उसे अपना नही गिनते, उसके स्वामी नही होते। वह समझते हैं कि चारित्रका पुरुषार्थ अल्प है इससे रागमे युक्तता हो जाती है परन्तु भिन्नत्वके भान द्वारा परद्रव्य तथा शुभाशुभ विकारके सदैव ज्ञाता ही रहते हैं और उससे समस्त कर्तृत्वको छोड देते है, सदैव उदासीन अवस्थामय होते हुए मात्र ज्ञाता ही रहते हैं।

कोई कहे कि ज्ञानी उदासीन हो तो व्यापार–धन्धा क्यों करता हैं? भाई! धर्मी जीव गृहस्थाश्रममें हो, तथापि अन्तरसे उदासीन ही हैं, परन्तु अल्प राग रहा है इससे गृहस्थाश्रमके रागके कारण रुक रहा है। अपनेको कितना राग होता है, कितना द्वेष होता है, कितना हर्ष होता है, कितना शोक होता है—इत्यादि सब ज्ञाता भावसे जानता ही रहता है। अन्तरसे उदासीन है तो भी अल्पराग है अवश्य। यदि इतना भी राग न हो तो त्यागी हो जाये, जो विशेष पुरुषार्थ करे तो गृहस्थाश्रम भी छूट जाता है। गृहस्थ सम्बन्धी सर्व राग दूर हो जाये तो नग्न दिगम्बर मुनित्व हो जाये। रागका और वाह्य पदार्थोका निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है। पाँचवी भूमिकामे अमुक अशमे त्याग आता है और छठवी भूमिकामे सर्वथा त्याग आता है, और वहाँ स्वरूप रमणता बहुत बढ़ जाती है तथा बाह्यसे भी नग्न—दिगम्बर मुनित्व आता है। वस्त्रका राग छूटनेसे वस्त्र भी छूट जाते हैं

—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जैसा माताने जन्म दिया वैसा मात्र शरीर रहता है, किसी भी प्रकारकी कृत्रिमता नही रहती।

यहाँ तो चतुर्थ भूमिका वालोकी बात चलती है। ज्ञानी अनेकप्रकारके विकारी परिणामोंसे अपनेको पृथक् मानते हैं, स्वतः अपने नित्य स्वभावमे एकरूप—अभेदरूप है जो शुद्धनयका विषय है उसके समक्ष आचार्यदेवने कषायके परिणाम अनेक कहे हैं, एकके समक्ष अनेक कहा है। आत्माका स्वभाव निर्मल ज्ञायकरूप है। मेरे स्वभावमे कषाय नही है, राग-द्वेष नहीं हैं, वे क्षणिक पर्यायमे—अवस्थामे हैं किन्तु स्वभावमे नहीं हैं, चारित्रके दोष मेरे द्वारा होते हैं, इससे उन्हे मैं ही दूर कर सकता हूँ—ऐसे निर्णयके बिना प्रयत्न नही किया जा सकता।

यह बात आबाल-वृद्ध सभीके लिये है। यथार्थ निश्चय करनेकी बात है, प्रथम कक्षाकी बात है और स्वरूप रमणताकी बात विशारदकी है। श्रद्धा पहले होती है, और वर्तन पश्चात् आता है। प्रथम नित्य अकषायकी श्रद्धा करके श्रद्धामेसे कषायसे सर्वथा पृथक् होता है, फिर चारित्रमे अल्प कषाय रहती है उसे भी ज्ञानी दूर कर देते हैं।

गरम पानीमे वर्तमान अवस्था पर्यन्तकी उष्णता है, जिस-समय उष्णता प्रगट है उसीसमय शक्तिरूप स्वभावमे शीतलता है ही, इसीप्रकार आत्माकी अवस्थामे वर्तमान पर्याय जितनी मलिनता है, जिससमय मलिनता है उसीसमय नित्य चैतन्य स्वभावमे निर्मलता भी विद्यमान है। जो राग-द्वेषको दूर करना चाहता है वह, दूसरा कुछ रखना भी चाहता है, रखने योग्य वस्तु क्या है उसकी श्रद्धा और ज्ञान करनेके पश्चात् श्रद्धा और चारित्रके बल द्वारा शुद्धता—स्थिरताकी वृद्धि होती है और राग-द्वेष दूर हो जाते हैं, अर्थात् उत्पन्न नही होते।

आत्मा क्या वस्तु है इसकी पहिचान और प्रतीति किये बिना मलिनताको नष्ट करनेकी शक्ति नही आयेगी और पुरुषार्थ नही चलेगा। और ज्ञानीको भान होनेके पश्चात् अल्प राग-द्वेष रहता है,

तथापि वह समझता है कि मेरी दुर्बलताके कारण यह होता है। अन्तरगमे अपनी दुर्बलताको देखेगा परन्तु उसे दूर करके पुरुषार्थ बढ़ाकर अल्पकालमे ही मुक्ति प्राप्त करेगा। आत्माकी पहिचान और प्रतीति होनेसे ज्ञानी परका अकर्ता होता है, अत्यन्त उदासीन हो जाता है, निर्विकल्प पूर्ण विज्ञानघन होता हुआ अकर्ता प्रतिभासित होता है। आत्माके ज्ञान और श्रद्धान द्वारा चारित्रमे शुद्धिकी वृद्धि करके अल्प-कालमें मुक्ति प्राप्त करता है।

ज्ञानी होनेके पश्चात् परद्रव्यका और परभावका कर्तृत्व रहता ही नही। अज्ञानी रहना हो अर्थात् पवित्र न होना हो वह परका कर्तृत्व रखता है परन्तु जिसे आत्माका कल्याण करना हो वह पर द्रव्यका कर्तृत्व नही रखता। ज्ञानी होनेके पश्चात् परका और रागादिका अकर्ता ज्ञाता होता है; अल्पकषाय रहती है परन्तु उसे दूर करके अवश्य मुक्ति प्राप्त करनेवाला है।

अब, इसी अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(वसततिलका)

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी
ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्धया
गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥५७॥

अर्थः—निश्चयसे स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी अज्ञानके कारण जो जीव, घासके साथ एकमेक सुन्दर आहारको खानेवाले हाथी आदि तिर्यंचोकी भाँति, राग करते है (अर्थात् रागका और अपना एकमेक स्वाद लेते हैं) वे, दही-शक्करके अर्थात् श्रीखण्डके खट्टे-मीठे रसकी अति लोलुपतासे, श्रीखण्ड पीते हुए भी स्वतः गायके दूधको पीता हूँ—ऐसा माननेवाले पुरुषकी भाँति हैं।

जिसप्रकार हाथीको लड्डू दिये जायें तो वह लड्डुओको और घासको इकट्ठा करके खाता है, उसीप्रकार इस संसारके जीव रागमे

आनन्द मानते हैं। अपना आनन्द जैसे परमे ही हो, ऐसा मानकर प्रसन्न होते हैं, रागको और आत्माको एकमेक करते हैं, एकमेकका अर्थ यह नही कि कुछ आत्माका आनन्द और कुछ परका आनन्द— ऐसा नही परन्तु मात्र रागके विकारका ही आनन्द लेता है। विपयमे, खानेमे, पीनेमे, शरीरमे, स्त्रीमे, बच्चोमे—उन सबमे आनन्द हो—वैसा अज्ञानी मान रहा है, अपना आनन्दस्वभाव एक क्षणिक विकारी पर्यायमे कल्पित कर लिया है। लग्नके समय प्रीतिभोजके दिन सुन्दर स्वादिष्ट मिठाइयाँ खा रहा हो, समधी–समधी पास बैठकर जीम रहे हो तो आनन्दित हो—उठता है! अरे! वह दिन निकल जानेके बाद भी उसे याद कर करके सुखकी श्वासे लेता है, अपने स्वभावके आनन्दकी रुचिसे हटकर पशुओकी भाँति परमेसे आनन्द लेता है। जिसप्रकार हाथीका मुख्य भोजन तो लड्डुओका है, परन्तु वह मूढतावश अकेले लड्डू न खाकर घास और लड्डुओको इकट्ठा करके खाता है।

उसीप्रकार आत्माका यथार्थ स्वाद तो परसे निराला, स्वतः सिद्ध स्वभावसे अमृतमय आनन्दरूप है, परन्तु अज्ञानके कारण रागके स्वादको आत्माका स्वाद मानता है। स्वय अज्ञानी जीव क्षणिक विकारी पर्यायमे 'यह मेरा स्वाद है'—ऐसी कल्पना करके रुका हुआ है वह उसका एकमेकपना है शुभाशुभ भावोकी वृत्ति होना वह घास है। घास अर्थात् वे भाव भूसेकी तरह हैं और आत्माके स्वभावका स्वाद दानो जैसा है।

शराबी मनुष्यको श्रीखण्डका स्वाद दूध जैसा लगता है, इससे वह श्रीखण्डके स्वादके लिये गायका दूध दुहता है उसीप्रकार मोहरूपी मदिराके कारण आत्माका अभान होनेसे स्त्री, बच्चे, शरीरादि परपदार्थोंमेसे आनन्द आता हो—ऐसा मानकर उसमेसे आनन्द लेने जाता है और पुण्य–पापके परिणामोमे एकाग्र होकर उनमेसे अपने स्वादको दुहना चाहता है।

जिसे रसकी अत्यन्त लोलुपता हो उसे खट्टे–मीठे रसकी खबर नही पडती, रसकी लोलुपताके कारण परपदार्थमेसे जैसे सुख

आता हो—ऐसा मानकर परपदार्थमेसे सुख लेनेके लिये फिरता है। जिसे मोहरूपी मदिरा चढी है वह अपने स्वाभाविक आनन्दका और रागके—आकुलताके आनन्दके स्वादका भेद नही कर सकता, पृथक् नही कर सकता, पृथक् जान नही सकता।

चक्रवर्ति सम्यक्त्वी राजा छह खण्डका राज्य कर रहा हो, तथापि वह छह खण्डका राग रोगके समान जानता है, रोगकी रुचि नही है। ज्ञानीके जब विषय और युद्धका योग हो तब वह ऐसा समझता है कि—यह रोग आया, यह दुःख आया। जैसे किसी मनुष्यके शरीरमे महामारी निकली हो, और दाने-दानेमे कीड़े पड़ गये हों, उससमय उसे जो पीडा होती है वैसी ही पीड़ा ज्ञानी रोग, भोग और युद्धके योगके समय मानता है, अल्परागके कारण विषय और युद्धमे युक्त अवश्य होता है, परन्तु वह समझता है कि अरे रे ! यह मेरा स्वरूप नही है, यह तो आपत्ति है, उपसर्ग है, इसमेसे सर्वथा मुक्त होकर सर्वप्रकारसे स्वरूपमे लीन होऊँगा, वह दिन मुझे धन्य होगा।

ज्ञानीको स्वभावके अतिरिक्त शुभाशुभभावो. युक्त होना वह रोग और प्रतिकूलता लगती है, आपत्ति मालूम होती है, उपसर्ग जैसा ज्ञात होता है, अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनो ओर युक्त होना, उसे ज्ञानी प्रतिकूलता ही समझते हैं, कारण कि दोनो अपने स्वभावसे विरुद्ध भाव है, इसलिये दोनोका राग रोग ही है—वैसा जानते हैं, तथापि उसमे युक्त होना पडता है वह मेरे पुरुषार्थकी दुर्बलता है, ज्ञानी समझते है कि अपने स्वभावघनसे च्युत होकर परमे युक्त होना उसमे हमारी ही दुर्बलता है किसी परका दोष नही है।

ज्ञानी अशुभ परिणामोसे बचनेके लिये शुभ परिणामोंमे पुरुषार्थ द्वारा युक्त होते अवश्य हैं, परन्तु अन्तरगमे स्वरूपमे स्थिर होनेका उद्यम और पुरुषार्थ होता है, चौथे गुणस्थानमे देव-गुरु-शास्त्रकी पूजा-भक्तिके और स्वाध्यायके शुभपरिणाम होते हैं, वहाँ भी वे स्वरूपमें लीन होनेके उद्यमी रहते है। पाँचवे गुणस्थानमे देव-गुरु-शास्त्रकी पूजा-भक्ति और शास्त्र स्वाध्याय इत्यादिके शुभपरिणाम होते हैं अणु-

व्रतके शुभपरिणाम होते हैं, छट्ठे गुणस्थानमे देव-गुरु-शास्त्रकी भक्तिके स्वाध्याय और महाव्रतादिके शुभपरिणाम होते हैं, परन्तु उन सभी भूमिकाओमे स्वरूपमे स्थिर होनेके उद्यमी रहते है। छट्ठी-सातवी भूमिकामे तो अत्यन्त-अत्यन्त स्वरूप रमणता होती है, अन्तर्मुहूर्तमे आत्मामे निर्विकल्प और अन्तर्मुहूर्तमे बाहर सविकल्प—ऐसी मुनिओकी दशा होती है, क्षणमे स्वरूपमे स्थिर हो जाते हैं और क्षणमे वाह्यमे शुभपरिणाम आते हैं—इसप्रकार हजारो बार आना-जाना करते है।

अज्ञानीको पुद्गलकर्मके स्वादमे लीनता है, भगवान आत्मा परके कर्तृत्वसे रहित शान्तस्वभावी है, उसे नही समझता और परमे लीन हो जाता है। निर्विकारी और विकारी स्वादका भेद न परखनेसे विकारी स्वादको अपना स्वाद मानता है, उस सम्बन्धमे आचार्यदेवने श्रीखण्ड और हाथीके दो दृष्टान्त दिये हैं।

जीव अज्ञानसे कर्ता होते हैं। स्वाश्रयसे सुख होता है पराश्रयसे दु.ख होता है ऐसा निर्धार नही है उसे स्व-परकी खबर नही है—ऐसा अज्ञानी जीव अपनेको परका कर्ता मानता है—ऐसे अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं :—

(शार्दूल विक्रीडित)

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावंति पातुं मृगा,
अज्ञानात्तमसि द्रवंति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनाः।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरंगाब्धिवत्
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवंत्याकुलाः ॥५८॥

अर्थः—अज्ञानके कारण मृगजलमे जलकी बुद्धि होनेसे हिरण उसे पीने दौडते हैं, अज्ञानके कारण अधकारमे पडी हुई डोरीमे सर्पका अध्यास होनेसे लोग (भयसे) भाग जाते हैं, और (उसीप्रकार) अज्ञानके कारण यह जीव, पवनसे तरंगित समुद्रकी भाँति विकल्पोंके समूह करता होनेसे—यद्यपि वे शुद्ध ज्ञानमय है तथापि विपरीत दृष्टिके कारण आकुल होते हुए अपने आप कर्ता होते हैं।

हिरन अज्ञानके कारण मृगजलमे जलकी बुद्धि करता है अर्थात् रेतीली भूमिमे सूर्यकी किरणे पडनेसे दूरसे पानी सदृश्य दिखाई पड़ता है, उसे हिरन पानी मानकर पीनेको दौडता है परन्तु वास्तविक पानी नही है, ऐसी पानी सी झलक देखकर मूढ हिरन पानी पीनेके लिये दौड़ता ही रहता है। उसे इतनी भी खवर नही है इतना मार्ग तय करके आया तथापि ठण्डी हवा भी नही लगती, मेरी दृष्टिमें पानी दिखाई दिया वहाँतक मैं आया, फिर भी दूर-दूर वढता ही जा रहा हूँ, इसलिये दूर तो दूर ही है, निकट है ही नही, अर्थात् पानीकी झलकमे यथार्थ पानी है ही नही—वैसा न समझकर पीने दौड़ता है और पश्चात् दुःखी होता है।

उसीप्रकार आत्मा अज्ञानके कारण राग-द्वेपमे सुख है—ऐसा मानता है; दूर-दूर सुखकी कल्पना करता रहता है। क्षणमे मानता है कि यह लड़का मुझे सुखरूप है, और फिर मानता है कि लड़का नही, लेकिन स्त्री सुखरूप है; पश्चात् मानता है कि स्त्री भी नही किन्तु धन सुखरूप है, इसप्रकार दूर-दूर सुखकी कल्पना करता रहता है।

कोई ऐसा कहता है कि पुण्यपरिणाम करके देवगतिमें जाऊँगा, वहाँ सुख भोगूंगा, परन्तु अरे मूढ़! देवमे कहाँ सुख है? वह तो, जैसा यह ससार है उसीप्रकार वह है। जिसप्रकार हिरनको दृष्टिभ्रम-पूर्वक दौड़नेसे पानीकी तृप्ति नही होती उसीप्रकार अज्ञानीको परके ऊपर दृष्टि होनेसे कही सुख–शांति नही मिलती, तथापि उसमे सुख मानना नही छोड़ता।

और कितने ही कहते हैं कि यहाँ पर वाल वच्चोंको सुखी करके और फलता–फूलता देखकर मरे तो सुखी कहलाये, परन्तु भाई! वह सव छोड़कर तुझे कहाँ जाना है उसकी कुछ खवर है! अपने आत्माको भी कुछ हरा-भरा किया है कि मात्र वाहरका ही फलता–फूलता देखना चाहता है। आत्मामे हरी–भरी फुलवारी प्रगट किये विना सुखी है ही नही;—दुःखी ही है।

पुनश्च, अनेक मनुष्य कहते हैं कि बचपनमे तो धर्म किया नही जा सकता, इसलिये जवान हो जाएँगे तब धर्म करके सुखी होगे। फिर जवान होते है तो कहते हैं कि वृद्धावस्थामे धर्म करेंगे, परन्तु भाई! धर्म बचपन जवानी अथवा वृद्धावस्थामे नही है, परन्तु आत्मामे है, उसमे ढूँढ तो सुखी होगा।

अज्ञानके कारण रस्सीमे सर्पका अध्यास होनेसे, रस्सीमे सर्प मान लेनेसे—अरे! यह सर्प है, ऐसा करके लोग भयभीत होकर भागते है, परन्तु भाई ठहर तो, देख तो सही! यहाँसे सब आ जा रहे हैं तो भी वह हिलता तक नही है, ऐसाका ऐसा पडा है, इसलिये सर्प नही रस्सी है—ऐसा निश्चित् तो कर! निश्चित् करके दौड–दाड करना छोड दे।

जिसप्रकार रस्सीमे सर्पका आरोप करके दौडा, उसीप्रकार अज्ञानी परपदार्थमे सुखका आरोप करके दौड–धूप करता है, परन्तु अपना स्वभाव उदासीन ज्ञाता है, शुद्ध शान्त पवित्र है, उसे न जाननेसे, उसकी श्रद्धा न करनेसे परमे आकुलित होकर परका कर्ता होता है। मनुष्योको निवृत्ति लेकर अन्तरमे समझनेकी ओर हित करनेकी दरकार ही नही है, आकाक्षा ही नही है, इससे जिसमे अपना हित है उस हितके मार्ग पर नही चलते।

जिसप्रकार समुद्रमे पवनके वेगके कारण तरगोंके समूहके समूह उछलते हैं, वैसे ही अज्ञानीके अज्ञानके कारण राग–द्वेषरूप विकल्पोकी तरगें उठती हैं, क्षणमे ऐसा होता है कि व्यापार करना चाहिये, और घडीमें ऐसा लगता है कि सट्टा करे तो पैसा जल्दी एकत्रित हो। फिर, विचार करता है कि लडके का विवाह कोई अच्छा सम्बन्ध ढूँढकर जल्दी करदूँ तो अच्छा है, पश्चात् विकल्प करता है कि यह लडकियाँ बडी हो गई है, अगर इनका सम्बन्ध जल्दी हो जाये तो अच्छा है, लडकोकी तो कोई चिन्ता नही है। फिर दूसरा विकल्प उठता है कि इस शरीरमे कुछ–कुछ रोग सा रहता है, अगर मिट जाये तो अच्छा है, और बादमे सोचता है कि रोग तो जब मिटना होगा

तब मिट जायेगा परन्तु अभी तो भूख लगी है इसलिये खा तो लूँ—आदि अनेक प्रकारके विकल्प करता रहता है, क्रोधके, मानके, मायाके, इत्यादि अनेक प्रकारके विकल्पोके ढेरके ढेर करता रहता है; आत्मा तो शुद्ध ज्ञानघन है, परन्तु उसका भान न होनेसे अनेक प्रकारके विकल्पोका कर्ता होता है।

समुद्र पवनसे क्षोभ पाकर विडोलित होता है, उसीप्रकार चैतन्य भगवान रागके विकल्पोंसे डोलता है। अनेकप्रकारकी आकुलताकी वृत्तिओंसे डंवाडोल है, उनमे किंचित् शान्ति नही है, तथापि अविनाशी सुखसे पूर्णरूप आत्माकी श्रद्धा नही करता इससे दुःखी होता ही रहता है।

अपने आत्माको जाननेका प्रयत्न करे कि मैं तो ज्ञाताज्योति हूँ, जो कुछ हो उसे जानते रहना ही मेरा स्वरूप है; परन्तु ऐसा हुआ और वह हुआ—वैसे विकल्प करना मेरा स्वरूप नही है,—ऐसे अपने मुक्तानन्द स्वरूपकी श्रद्धा और ज्ञान करे तथा उसमे स्थिर हो, वही सुखका उपाय है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ही सुखका उपाय है, उसके अतिरिक्त अन्य कोई सुखका उपाय नही है।

आत्मा ज्ञानसे कर्ता नही हुआ है—ऐसा अब कहते हैं:—

(वसंततिलका)

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम्।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किंचनापि ॥५९॥

अर्थः—जिसप्रकार हंस दूध और पानीके विशेषको (अन्तरको) जानता है, उसीप्रकार जो जीव ज्ञानके कारण विवेक वाला (भेदज्ञानवाला) होनेसे, परके और अपने विशेषको जानता है वह (जैसे हंस मिश्रित हुए दूध जलको पृथक् करके दूध ग्रहण करता है उसप्रकार) अचल चैतन्यधातुमे आरूढ़ होता हुआ (अर्थात् उसका

आश्रय करता हुआ) मात्र जानता ही है, कुछ भी नही करता (अर्थात् ज्ञाता ही रहता है, कर्ता नही होता) ।

हंसकी चोचमे खट्टापन होनेसे जब वह दूधमे चोच डालता है तब दूधका लोथा हो जाता है और पानी पृथक् हो जाता है, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान द्वारा सच्चा बोध हुआ होनेसे सच्चा विवेक हुआ होनेसे, परकी और अपनी भिन्नताको जानता है कि मैं ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ और यह राग-द्वेष परवस्तु है। जिसप्रकार कोई ससारका बुद्धिमान–चतुर मनुष्य ससारका रसिक होनेसे बाजारमे चावल लेने जाये, वहाँ वह घटिया–बढियाका विवेक करता है, उसीप्रकार ज्ञानी अपने स्वरूपानन्दका रसिक होनेसे निर्विकारी, ज्ञानस्वभावी आत्माका और राग-द्वेषरूप विकारी भावोका विवेक करता है, पृथक् जानता है ।

जिसप्रकार हस मिश्रित हुए दूध जलको पृथक् करके दूधको ग्रहण करता है, उसीप्रकार धर्मात्मा ज्ञानी–जीव अचल चैतन्यमे आरूढ होता हुआ, अपने स्वभावका आश्रय करता हुआ, मात्र ज्ञाता ही रहता है—साक्षीरूप ही रहता है, परन्तु अज्ञानमय भावोका कर्ता नही होता ।

परका और अपना पृथक् विवेक होनेसे आत्मा परका ज्ञाता ही रहता है, परन्तु कर्ता नही होता । ज्ञाता रहनेमे अनन्तगुनी क्रिया है । परका कर्ता नही हुआ और ज्ञातारूप रहा, उस ज्ञातारूप रहनेमें अनन्तगुनी क्रिया है, वही चैतन्यकी क्रिया है । जडकी क्रियासे धर्म मानना और शुभरागरूप व्यवहार–जो कि बन्धका कारण है—उससे धर्म मानना सो अज्ञान है ।

अब, ऐसा कहते है कि—जो कुछ ज्ञात होता है वह सब ज्ञानसे ही ज्ञात होता है :—

(मदाक्रान्ता)

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।

ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिंदती कर्तृभावम् ॥६०॥

अर्थः—(गरम जलमें) अग्निकी उष्णताका और पानीकी शीतलताका भेद, ज्ञानसे ही प्रगट होता है। शाकके स्वादसे नमकके स्वादकी विल्कुल भिन्नता ज्ञानसे ही प्रकाशित होती है। निजरससे विकसित नित्य चैतन्य धातुका और क्रोधादि भावोंका भेद, कर्तृत्वको (कर्तापनेके भावको) भेदता हुआ—तोडता हुआ, ज्ञानसे ही सच्चा विवेक ज्ञान प्रगट होता है। कुछ क्रियाकाण्डसे ज्ञान प्रगट नहीं होता।

आत्माका ज्ञानस्वभाव है वही परको और अपनेको जाननेवाला है। अग्निके निमित्तसे पानीकी वर्तमानमें होनेवाली उष्णता और पानीके मूलस्वभावकी शीतलता भी ज्ञान द्वारा ही प्रकाशित होती है। मेरा स्वभाव क्या है, मेरा स्वभाव ठण्डा या गरम है—इत्यादि कुछ भी पानी नही जानता किन्तु ज्ञाता ही उसे जानता है।

करेलेका शाक, लौकीका शाक इत्यादि शाकोंका स्वाद और उसमे डाले हुए नमकका स्वाद—उसकी विल्कुल भिन्नता ज्ञान द्वारा ही जानी जाती है। शाक और नमक नही जानते कि हम कैसे स्वाद वाले हैं। नमकको खवर नहीं है कि मेरा स्वभाव कैसा है और शाकको भी अपने स्वभावकी खवर नही है; वे दोनों जड़स्वभावरूप हैं, उन्हे जाननेवाला ज्ञान है।

अनेक मनुष्य कहते हैं कि ज्ञान द्वारा ज्ञात नही होता, किन्तु मस्तिष्क–दिमाग द्वारा जाना जाता है। परन्तु भाई! मस्तिष्क तो जड़ है, जड़मेंसे जानना नही आता, जाननेकी क्रिया ज्ञाता तत्त्वमें होती है। यदि मस्तिष्कके ज्ञान होता हो तो मुर्देको भी ज्ञान होना चाहिये परन्तु उसे ज्ञान नहीं होता, इससे ज्ञातातत्त्व शरीरसे पृथक् है। मस्तिष्क जड़ है, ज्ञाता तत्त्व चैतन्य है, चैतन्य चैतन्यकी क्रिया द्वारा जानता है, मन इन्द्रिय और मस्तिष्क भी कुछ नही जानता किन्तु ज्ञाता ही सब कुछ जानता है।

निजरससे विकसित चैतन्यधातु और क्रोध, माया, लोभका भेद—इन दोनोका भिन्नत्व ज्ञान ही जानता है, ज्ञान ही उन्हे पृथक् देखता है। मैं कर्ता हूँ और क्रोधादि मेरे कार्य—ऐसा कर्तृत्वको तोडता हुआ ज्ञान प्रगट होता है, ज्ञानका स्व-पर प्रकाशक स्वभाव होनेसे, स्व का भी विवेक करता है और परका भी विवेक करता है। यह क्रोधादि विभाव मैं नही हूँ, मैं तो ज्ञायक आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ—इसप्रकार ज्ञायक पर दृष्टि डालकर उसके अस्तित्वको जानकर जो भेदविज्ञान करता है वह कर्तृत्वको छोडता है।

आत्माका अपरिचित–अज्ञानी शुभाशुभभावोंको करता है, परन्तु जडके भावोंको कदापि नही करता, आत्मा अज्ञान भावसे या तो राग-द्वेष करता है और यदि ज्ञानभावसे रहे तो राग-द्वेषका ज्ञाता रहता है, उसके अतिरिक्त वह अन्य कुछ नही करता। लडकेका कुछ कर सकता है या नही ? कुछ भी नही कर सकता, मात्र पुत्र सम्बन्धी राग-द्वेषको कर सकता है, उसीप्रकार धन, शरीरादि किसीका कुछ किया ही नही जा सकता, मात्र उस सम्बन्धी राग-द्वेष कर सकता है, परके कर्तृत्वका मूलकारण अज्ञान है।

खारापन और शाक–दोनो पृथक् हैं, ऐसे पृथक्त्वका विवेक ज्ञान करता है, जलकी वर्तमान अवस्थामे उष्णता है, और त्रिकाली स्वभाव शीतल है—ऐसा विवेक ज्ञान करता है, क्रोधादि और चैतन्य स्वभाव–दोनों भिन्न हैं—वैसा विवेक भी ज्ञान करता है, पुण्य–पापके क्षणिक भाव पानीकी उष्णता जैसे हैं, वे भाव मैं हूँ, वह मेरा कार्य है—वैसा अज्ञानी अज्ञानभावसे करता है। पुण्य-पापकी उष्ण–क्षणिक पर्याय मैं नही हूँ, मैं तो नित्य ज्ञान शान्तिमय शीतल स्वभावसे हूँ—ऐसा ज्ञानी विवेक करते हैं। नमक और शाकके स्वादको अभेद करने वाला अज्ञानी अज्ञानभावको करता है। नमक और शाकके स्वादको पृथक् जाननेवाला ज्ञानी विवेकज्ञान करता है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञान करता है और अज्ञानी अज्ञान करता है।

अब, अज्ञानी भी अपने ही भावको करता है परन्तु पुद्गलके

भावको कभी नही करता—ऐसे अर्थका, आगेकी गाथाकी सूचनारूप श्लोक कहते है :—

(अनुष्टुप्)

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमंजसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥

अर्थः—इसप्रकार वास्तवमे अपनेको अज्ञानरूप या ज्ञानरूप करता हुआ आत्मा अपने ही भावोका कर्ता है, परभावोका (पुद्गलके भावोका) कर्ता तो कभी नही है ।

क्रोध, मान, माया, हर्ष, शोक, वेद, विकार इत्यादि विभाव-भाव मेरे है, मैं इनका कर्ता हूँ और यह मेरे कार्य हैं—इसप्रकार अज्ञानी अज्ञानभावोको करता है, परन्तु क्रोधादि विकार मेरे नही हैं, और चैतन्यमूर्ति ज्ञान आनन्दका सागर अनन्त गुणोसे भरा हुआ है वही मैं हूँ,—उसे जानना, मानना और उसमे स्थिर होना ही मेरा कार्य है—ऐसा जानता हुआ ज्ञानी ज्ञानभावोको करता है ।

प्रश्नः—आत्मा ज्ञानभावसे तो परका कुछ नही करता, परन्तु विभावभावो द्वारा तो परका कुछ कर सकता है या नही ?

उत्तरः—आत्मा विभावभावोको कर सकता है, परन्तु उन विभावभावो द्वारा परद्रव्यका या परभावोका कुछ भी नही कर सकता ।

इसी बातको दृढ करते हैं :—

(अनुष्टुप्)

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

अर्थः—आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वतः ज्ञान ही है, वह ज्ञानके अतिरिक्त अन्य क्या करेगा ? आत्मा परभावोका कर्ता है–ऐसा मानना (तथा कहना) वह व्यवहारी जीवो का मोह (अज्ञान) है ।

आत्मा तो ज्ञाता ज्ञानस्वरूप है । भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है—ऐसा गुण–गुणीका भेद करके कहा है और पश्चात् कहा है कि

आत्मा स्वतः ही ज्ञान है। पहले कहा कि आत्माका स्वभाव ज्ञान है, और फिर कहा कि आत्मा स्वत ही ज्ञान है–इसप्रकार अभेद कहा है। जो ज्ञान है वही मैं हूँ–ऐसी ज्ञानकी प्रतीति, ज्ञानका ज्ञान और ज्ञानकी रमणता—यह तीनो ज्ञानमे आगये, ज्ञान–दर्शन और चारित्र–उन तीनोका समावेश ज्ञानस्वरूप आत्मामे होगया। आत्मा ज्ञानके अतिरिक्त अन्य क्या कर सकता है? अपने स्वभावको ही कर सकता है, परका कुछ नही कर सकता तथापि परभावोका कर्ता मानना वह व्यवहारी जीवोका मोह है। लडके, स्त्री, मकान आदि पर पदार्थोंका मैं कर सकता हूँ या मैं उनका कुछ कर देता हूँ—ऐसी मान्यता वह व्यवहारी जीवोका मोह है। जितने भेद पडें, प्रकार हो, वे सब व्यवहारके होते हैं, उस पराश्रय रूप व्यवहारमे एक होगया और पृथक् न रहा वह अज्ञानी है। परका मै कर्ता हूँ—ऐसा व्यवहारी जीवोका मोह है। ९७।

अब, कहते हैं कि–व्यवहारी जीव ऐसा कहते हैं—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणी॥९८॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥ ९८ ॥

अर्थः—व्यवहारसे अर्थात् व्यवहारीजन मानते हैं कि जगत्मे आत्मा घडा, रथ इत्यादि वस्तुओको, तथा इन्द्रियोको, अनेक प्रकारके क्रोधादि द्रव्यकर्मोंको और शरीरादि नोकर्मोंको करता है।

व्यवहार अर्थात् वर्तमान दृष्टिसे—स्थूलदृष्टिसे जगतके जीव ऐसा मानते हैं कि मैं घडा बनाता हूँ, मैं कपडा बुनता हूँ, मैं रथ बनाता हूँ अर्थात् मैं वाहन बनाता हूँ, मैं मकान बनाता हूँ, पुस्तक बनाता हूँ, मैं उपदेश देता हूँ—इत्यादि पर वस्तुओ का अज्ञानी जीव कर्ता होता है। शरीरकी इन्द्रियोको मैं अच्छा रखता हूँ, आँखोको जिधर फेरना हो उधर मैं फेर सकता हूँ, मैं जीभ द्वारा रसका स्वाद ले

सकता हूँ, मैं बोल सकता हूँ, जैसा बोलना हो उसीप्रकार जीभको हिला सकता हूँ—इत्यादि पाँचों इन्द्रियोंका अज्ञानी कर्ता होता है।

नवीन कर्म बंधते हैं उन्हे मैं बाँधता हूँ, ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय—मोहनीय इत्यादि जड़कर्मोंको मैं बाँधता हूँ—ऐसा अज्ञानी जीव मानता है। शरीरादि नोकर्मोंको भी मैं करता हूँ—ऐसा व्यवहारी जीवोंका व्यामोह है। शरीर मुझसे चलता है, मुझसे उठता—बैठता है, मुझसे बोलता है, इत्यादि प्रकारसे शरीरादि नोकर्मका अज्ञानी कर्ता होता है।

कोई कहे कि शरीर यदि अपने आप चलता हो तो जब उसे चलना होगा तब अपने आप चलकर तुम्हारे घर आयेगा ! भाई ! दूसरेके यहाँ जानेका भाव हो उससमय यदि शरीरके चलनेका उदय हो तो अपने भावका और शरीरका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध होनेसे दूसरेके घर जाया जाता है, अपने भावका और शरीरका लगभग सम्बन्ध होनेसे—शरीर मुझसे चलता है—ऐसा अज्ञानीको भासित होता है, परन्तु शरीर तो उसके अपने कारणसे ही चलता है, वह आत्माके भावसे नही चलता, यदि वह आत्माके भावसे चलता हो तो जब बीमार पड़ता है और शरीर दुर्बल हो जाता है तब भी चलना चाहिये; उससमय अपने चलनेके बहुत भाव होते हैं तथापि शरीरमें अशक्ति होने से नही चल सकता, इसलिये शरीर तो उसके स्वशक्तिका स्वतंत्र परिणमनके कारण ही चलता है, परन्तु व्यवहारमे ऐसी लम्बी भाषा नही बोली जाती। पानीका लोटा लाओ—ऐसा कहा जाता है, परन्तु उसका अर्थ ऐसा नही है, लोटा तो पीतलका है, परन्तु उपचारसे पानीका लोटा कहा जाता है; उसीप्रकार शरीरकी क्रिया शरीरसे शरीरकी शक्ति अनुसार होती है परन्तु अज्ञानी मानता है कि मुझसे होती है।

आत्माके अतिरिक्त कोई बाह्य-वस्तु आत्माके हाथमे नही है, तथापि अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि—हम थे तो सब व्यवस्था कर दी, सब निर्विघ्न समाप्त होगया। इन्द्रियोका, कर्मो का और नोकर्मोंका

कर्ता मैं हूँ—वैसा माने वह आत्माके स्वभावसे अजान होनेसे, भगवानका भक्त नही है, किन्तु मूढतारूप मिथ्यावासनाका भक्त है।

जिससे अर्थात् सयोगमे एकता बुद्धिसे अपने विकल्प—इच्छा-द्वारा और मन—वचन—कायके (—हस्तादिकी क्रियारूप) व्यापार द्वारा यह आत्मा घट इत्यादि परद्रव्यस्वरूप बाह्य कर्मोको करता हुआ (व्यवहारियोको—अज्ञानियोको) प्रतिभासित होता है।

देखो, इसमे क्या कहा ? कि अज्ञानियोको ऐसा दिखाई देता है कि परद्रव्यस्वरूप बाह्य कर्मोको आत्मा करता है, अर्थात् इसका अर्थ यह है कि वास्तवमे आत्मा परद्रव्योका कर्ता है ही नही। भ्रातिसे मिथ्यादृष्टि द्वारा ऐसा भासित होता है, परन्तु सच्चे ज्ञानसे ऐसा मानते नही, इसमे तो सभी बात आगई। स्त्रियाँ चावल बनायें खिचडी बनायें, रोटी बनायें, बुनाई—सिलाईका काम करें इत्यादि, उन सबका कर्ता आत्मा नही है, उन सभी वस्तुओकी व्यवस्था चैतन्यके हाथमे नही है, उनकी अवस्था इसप्रकारकी होना हो तब स्त्रीका निमित्त होता है। और आत्मा नित्यअमूर्त्तिक ज्ञानरूप है—स्त्री पुरुष आदि अन्य रूप नही है। व्यवहारसे मूर्त्तिक कहनेसे भी आत्मा कभी मूर्त्तिक जड नही हो सकता।

कोई कहे कि हम मोतीके दानो जैसे तो अक्षर लिखते हैं, परन्तु भाई! वैसे अक्षर करना वह तेरे हाथकी बात नही है, यदि अक्षर न होना हो तो अगुलीमे चोट लग जाती है, लिखते लिखते अँगुली अकड जाती है, इसलिये सुन्दर अक्षर करना वह आत्माके हाथकी बात नही है। जब अक्षर सुन्दर होना होते हैं तब हाथ का अनुकूल निमित्त उपस्थित होता है, परन्तु कलम, कलममे है और हाथ, हाथमे, किसीके कार्यका कोई कर्ता नही है, दोनो स्वतत्र वस्तुएँ हैं। कलम (लेखनी) मे हाथका अन्योन्य अभाव है और—उन दोनोमे जीवका और जीवकी इच्छाका त्रिकाल अत्यत अभाव परस्पर अत्यन्त अभाव होनेसे परस्पर किसीका कुछ भी करनेमे असमर्थ है।

जीव तो–अज्ञान भावसे इच्छा और योगके कम्पनका कर्ता है, इन्द्रियोका या शरीरकी क्रियाका तो अज्ञानी भी कर्ता नहीं है। संयोगमात्रको देखनेवालोंको मिथ्याभिमान चढ़ गया है; परका मैं ऐसा करदूँ और यह करदूँ, परन्तु स्वत परसत्तामे कुछ भी नही कर सकता, अपने भावमे मात्र संकल्प–विकल्प करता रहता है।

क्रोधादि समस्त अंतरंग कर्म और बाह्य द्रव्यकर्म तथा नोकर्म–वे दोनो परद्रव्यस्वरूप होनेसे उनमे अन्तर नही है। व्यवहारी जीवोकी ऐसी मूढ़ता है कि शरीरको हम ऐसा चला सकते हैं, कंठको सुरीला कर सकते हैं, वाणी मधुर वोल सकते हैं—इत्यादि परद्रव्यका कर्तृत्व मानकर मूढताका सेवन करते हैं। अज्ञानभावसे क्रोधादि विकारोका, द्रव्यकर्मका और नोकर्मका आत्मा कर्ता होता है।

परद्रव्यके कर्तृत्वका अभिमान किये हो, और उसमे जो चाहे वह न हो, तो वहाँ ऐसी कषाय चढ़ती है कि मर जाता है, पाँच लाखकी पूँजी लगा रखी हो और उसमें नुकसान हो जाये तो शरम–शरम हो जाती है, और सोचता है कि अब तो मर जायें तो, शान्ति हो–झंझट दूर हो, [तो क्या वहाँ मौसी या मामी वैठी है ? कहे कि—'आओ भानेज ! यहाँ तुम्हारे लिये पलंग बिछा है']—वैसा कहने वाला परभवमे कोई नही वैठा है। जैसे परिणाम किये होगे वैसी गतिमे चला जायेगा; कही कौवा, कुत्ता या नरक–निगोदमे चला जायेगा। मान–सम्मान बना रहना वह पुद्गलकी क्रिया है उसमे तेरे आत्माका कुछ भी कार्य नही है। पर चीज किसी प्रकार शरणदाता नही है, किसी वस्तु पराधीन भी नही है।

घट, पट, कर्म, नोकर्म, कीर्ति, लक्ष्मी आदि परद्रव्योका मैं रक्षक हूँ और मैं उनका नाशक हूँ–ऐसा मानना वह व्यवहारी लोगोका अज्ञान है। ९८।

अब ऐसा कहते हैं कि—व्यवहारी लोगोकी यह मान्यता सत्य नही है:—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जह्मा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥ ९९ ॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥ ९९ ॥

अर्थः—यदि आत्मा परद्रव्योको करे तो वह नियमसे तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय हो जाये, परन्तु तन्मय नही है इससे वह उनका कर्ता नही है ।

भगवान आचार्यदेव न्याय रखा है कि यदि आत्मा परवस्तुको करे तो वह नियमसे परवस्तुमे एकमेक हो जाये, परन्तु वह परवस्तुमे एकमेक नही होता इसलिये परवस्तुका कर्ता नही है ।

मेज-कुर्सी या किवाड इत्यादि वस्तुएँ सुतार (-वढई) नही वनाता परन्तु जव वह सव होना होता है तव इसप्रकारका राग करने-वाला सुतार उपस्थित होता है, किन्तु यदि सुतार ऐसा मानता है कि यह सव मुझसे होता है तो वह उसकी मूढता है ।

आत्मा यदि शरीर, वाणी, घट, पट, रथ, मकान इत्यादि परद्रव्योकी कोई भी अवस्था करे तो वह अवश्य तन्मय हो जाये परन्तु वह तन्मय नही होता, उन रूप नही होता, इसलिये वह परका कर्ता नही है ।

यह कार्य मुझे वहुत ही अच्छा करना था, परन्तु अमुक व्यक्तिने वीचमे आकर सव विगाड दिया, किन्तु भाई ! वह बिगडना था इससे विगडा, जो होना था वह हुआ, परके दोष निकालना छोड़ दे, और इसप्रकार यथार्थ दृष्टिमे देख तो कितनी शाति हो और आकुलता दूर हो जाये ।

रुपया-पैसा किसीके रखनेसे नही रहता, कोई किसीको वनाये रखनेमें समर्थ नही है, और न कोई किसीका विनाश करनेमे समर्थ है । परमाणुका स्वतत्र परिणमन हो वैसा होता है । अमुकने आकर मुझे

हानि पहुँचाई इससे सब पैसा चला गया और अमुक व्यक्तिकी सहायतासे पैसा मिला–ऐसी मान्यता मूढता है।

यदि यह आत्मा निश्चयसे या व्यवहारसे परद्रव्यस्वरूप कर्मको करे तो, परिणाम–परिणामीपना अन्य किसीप्रकार नही बन सकनेके कारण, वह (आत्मा) नियमसे तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाये, परन्तु वह तन्मय नही होता।

परिणामी अर्थात् अवस्थाका करनेवाला (–कर्ता) और परिणाम अर्थात् जो अवस्था होती है वह (कर्म)। घट, पट, रथकी अवस्था होती है वह परिणाम है और आत्मा परिणामी होकर यदि उन घट–पटादि परिणामोको करे तो वह जड़ हो जाये, यदि आत्मा जड़की अवस्थाको करे तो परिणाम और परिणामी दोनो एक हो जाये, इससे आत्मा जड़ हो जाये। क्योकि जो कर्ता हैं वे क्रियासे तन्मय हुए विना (व्यापक एकमेक हुए विना) कर्ता नही हो सकते, तो क्या किसीकी सत्तामे किसीका प्रवेश हो सकता है ?

आत्मा यदि घडेको वनाये तो वह घडेमे प्रविष्ट होजाये—घडा हो जाये,

यदि आत्मा मकानका कर्ता हो तो मकानरूप हो जाये, शरीरका कर्ता हो तो शरीररूप हो जाये, रथका कर्ता हो तो रथमय हो जाये और आत्मा आठ–कर्मोका कर्ता हो तो अष्टकर्ममय हो जाये, अन्य जीवका कुछ कर सके तो अन्य जीवरूप हो जाये इससे आत्मा स्वतंत्र स्वसत्ता रूप नही रहेगा परन्तु परद्रव्यमय हो जायेगा। पर्याय और पर्यायीका किसी भी प्रकार पृथक्त्व नही हो सकता, इससे यदि आत्मा परद्रव्यको करे तो पर्याय और पर्यायी–दोनो एक हो जाये, परन्तु आत्मा परद्रव्यका कुछ भी नही कर सकता।

गरम उकलते हुए शीरेको यदि स्वतः करता हो तो स्वय शीरेमें एकमेक हो जाना चाहिये, खीर या गुलावजामुनका यदि आत्मा कर्ता हो तो उसे उनरूप होजाना चाहिये, कारण कि पर्याय और पर्यायी दोनो एक होते हैं, अलग नही होता इससे यदि आत्मा परद्रव्यमे कुछ

करे तो वह उसमय हो जाना चाहिये, परन्तु वैसा तो नही होता। पर्यायी आत्मा अपनी चैतन्य पर्यायका कर्ता है परन्तु परकी अवस्थाका कर्ता नही है, कारण कि कोई द्रव्य किसी अन्यद्रव्यमय हो जाये तो उस द्रव्यके नाशकी आपत्ति (–दोष) आजाये, इसलिये आत्मा व्याप्य–व्यापक भावसे परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता नहीं है। अर्थात् पर चीजमे व्याप्य व्यापकपना नही होनेसे किसी भी प्रकार–परद्रव्यकी पर्यायका कर्ता नही हो सकता।

मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मान रहा है कि मुझसे परके कार्य होते हैं, उससे आचार्यदेव यह व्याप्य–व्यापकका सूत्र कहकर अस्वीकार करते हैं कि तू किसी भी प्रकार परका कर्ता नही है। व्याप्य अर्थात् जो जडकी अवस्थामे प्रविष्ट नही होगया है, और प्रविष्ट हुए विना उसका कर्ता माने वह बिल्कुल मिथ्या बात है। जो जिसमे प्रविष्ट होजाये वही उसका कर्ता हो सकता है, परमे प्रविष्ट नही हो सकता इसलिये परका कर्ता नही है। साथमे–उपस्थित रहनेवाला ऐसा मानता है कि मुझसे परका कार्य होता है, तो ऐसा माननेवाला बिल्कुल असत्यका सेवन करनेवाला है। स्वतत्र सत्रूप–उत्पाद–व्यय ध्रौव्यरूप किसी भी वस्तुको नही मानता। एक वस्तु दूसरी वस्तुमे कुछ भी करे तो दोनो द्रव्य एक हो जायें, एक वस्तुमे दूसरी वस्तुकी नास्ति है, सभी द्रव्योकी स्वत· अपनेसे अस्ति है, स्वत· अपनेसे सत् है और परसे असत् हैं। किसी द्रव्यका कोई अन्य द्रव्य कर्ता नही है। कोई भी वस्तु अन्य वस्तुरूप हो तो उस वस्तुका नाश हो जाये, इसलिये आत्मा व्याप्य व्यापकभावसे या दूर रहकर भी परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता नही है। एक वस्तु अन्य वस्तुमे प्रविष्ट हुए बिना कर्ता-कर्मपना नही हो सकता, कोई द्रव्य किसी अन्य द्रव्यमे प्रविष्ट होता ही नही इसलिये आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म (–कार्य) का कर्ता नही है।

आत्मा घडा, मकान, वस्त्रादि परवस्तुओका कर्ता नही है, क्योकि उसका परवस्तुके साथ व्याप्यव्यापक संबध नही है। व्याप्य अर्थात् अवस्था और व्यापक अर्थात् वस्तु स्वतः। आत्मा परद्रव्यमे या

परद्रव्यको कुछ नही कर सकता, कारण कि परिणाम-परिणामीपना एक द्रव्यमे ही हो सकता है। शरीरकी हिलने-डुलनेकी अवस्थाका कर्ता आत्मा नही है, यदि वह उसका कर्ता हो तो उसमे तन्मय हो जाये।

शरीरकी जो क्रिया होती है वह उसके उपादानरूप निज शक्तिसे होती है, आत्मा उसका निमित्त-नैमित्तिक भावसे भी कर्ता नही है। मकानके रजकणोंकी जो अवस्था होती है उसमे रजकण अपने आप व्यवस्थितरूपसे आये वह रचना-क्रिया उनकी क्रियावती शक्तिके कारण हुई है। मिट्टीके घडेकी अवस्था उसकी अपनी क्रियावती शक्तिके कारण हुई है, कुम्भार उसका कर्ता नही है। उपादानरूपसे तो कुम्भार कर्ता नही है, किन्तु निमित्त-नैमित्तिक रूपसे है या नही—उसका स्पष्टीकरण आगेकी गाथामे आयेगा ॥ ९९ ॥

आत्मा (व्याप्यव्यापकभावसे तो कर्ता नही है परन्तु) निमित्त नैमित्तिक भावसे भी कर्ता नही है—ऐसा अब कहते हैः—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकानि द्रव्याणि।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥ १०० ॥

अर्थः—जीव घटको नही करता, पटको नही करता, शेष किन्ही भी द्रव्योको (पर द्रव्यकी किसी भी अवस्थाओंको) नही करता, परन्तु जीवका योग और उपयोग घटादिको उत्पन्न करनेवाले निमित्त है, उन योग-उपयोगका कर्ता जीव होता है।

आत्मा घड़ेकी अवस्थाको नही करता, खिचड़ीको अवस्थाको नही करता, शरीरकी अवस्थाको नही करता, वस्त्रकी अवस्थाको नही करता, अन्य किसी भी परवस्तुकी अवस्थाको नही करता। परन्तु योग अर्थात् योग गुणकी कम्पन दशा और उपयोग अर्थात् इच्छा-विकल्प-रूप विकारी भाव अर्थात् अशुद्ध उपयोग उसका अज्ञानी कर्ता है, और योग

तथा उपयोग परवस्तुकी अवस्थाको निमित्त हैं, योगका अर्थ बाह्यके जड योग नही समझना चाहिये परन्तु चैतन्यके प्रदेशमे चचलतारूप कम्पन समझना चाहिये ।

जो योग और इच्छाका कर्ता होता है और जिसका लक्ष्य परके ऊपर है वह ऐसा मानता है कि मैं परका निमित्तरूपसे कर्ता हूँ । वस्तु अखण्ड है–ऐसी जिसकी दृष्टि हुई है वह निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है, वस्तु कर्ता नही है इससे वस्तुकी दृष्टि वाला भी कर्ता नही है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है । आत्मवस्तु स्वत घट–पटादि होनेमें निमित्त नही है, परन्तु अज्ञानीकी वृत्ति निमित्त है । घट करूँ, पट करूँ उस वृत्तिका अज्ञानी कर्ता होता है, इससे अज्ञानीकी रागकी वृत्ति घट–पट होनेमे निमित्त माना है, परन्तु ज्ञानी रागकी वृत्तिका स्वामी या कर्ता नही होता और उस वृत्तिको अपना नही मानता । अखण्ड वस्तुदृष्टि प्रगट हुई है, इससे ज्ञानी परवस्तुकी अवस्था-का कर्ता नही है ।

वास्तवमे जो घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप कर्म है उसे आत्मा व्याप्यव्यापक भावसे तो नही करता, क्योकि यदि ऐसा करे तो तन्मयताका प्रसग आये । और निमित्त नैमित्तिक भावसे भी नही करता क्योकि यदि ऐसा करे तो नित्यकर्तृत्वका (सर्व–अवस्थाओमे कर्तृत्व रहनेका) प्रसग आ जाये ।

आत्मा घट–पटादिको और क्रोधादिक परद्रव्यको व्याप्य–व्यापक भावसे करता ही नही, क्योकि यदि ऐसा करे तो तन्मय हो जाये, परन्तु निमित्त नैमित्तिक भावसे भी नही करता, यदि ऐसा करे तो नित्य कर्तृत्व बना रहे–वह कभी दूर न हो ।

वस्तु स्वतः परद्रव्यकी कर्ता नही है, परन्तु योग और इच्छा परवस्तुकी अवस्था होनेमे निमित्त हैं किन्तु ज्ञानी योग और इच्छाका कर्ता नही है इसलिये ज्ञानी परवस्तुकी अवस्थाका निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है । वस्तु स्वत तो कर्ता नही है परन्तु वस्तुकी दृष्टिवाला निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है ।

अनेक लोग कहते हैं कि मकानकी, घट–पटकी, भोजनादि परद्रव्योंकी अवस्थामे आत्मा एकमेकरूपसे प्रविष्ट होकर कर्ता नही होता किन्तु निमित्तरूपसे तो कर्ता होता है न ? भाई ! यदि द्रव्य कर्ता हो तो नित्य कर्तृत्व रहे, इसलिये द्रव्य कर्ता नही है, परन्तु अज्ञानी अहंकार वश मानता है कि—द्रव्यका विकारी उपयोग और कंपन–वे दोनो विकारी पर्याये परद्रव्यकी अवस्था होनेमे निमित्तरूपसे कर्ता हैं, परन्तु उस योग–उपयोगका अज्ञानी कर्ता होता है, ज्ञानी कर्ता नही होता। इसलिये, जिसप्रकार आत्मा कर्ता नही है, उसीप्रकार आत्माकी दृष्टिवत परद्रव्यकी अवस्थाका निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है। आत्माकी दृष्टिवालेके विकारी अवस्था होती हो, कम्पन और इच्छा होते हों तथापि वहाँ उनका भार नही है, (–मुख्यता नही है) नित्य स्वभावऊपर भार है, वस्तु दृष्टि पर भार है, विकारी पर्याय पर भार नही है; उसे अपनी पर्याय नही मानता इसलिये वह परवस्तुका निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है।

वस्तु तो स्वतः निमित्तरूपसे कर्ता नही है, परन्तु विकारी पर्याय निमित्तरूपसे कर्ता है। परमे कर्तापन मानता है। अज्ञानीने विकारी पर्यायका कर्तृत्व स्वीकार किया है और विकारी पर्यायका झुकाव परके ऊपर है, इससे अज्ञानी निमित्तरूपसे कर्ता है परन्तु ज्ञानी कर्ता नही है।

वस्तु तो नित्य–स्थायी है; यदि वस्तु स्वतः कर्ता हो तो परका कर्तृत्व कभी दूर नही हो, और परका कर्तृत्व भाव अपना स्वभाव हो जाये, इसलिये वस्तु स्वतः परकी कर्ता नही है।

सम्यक्त्वी स्त्री रसोई बना रही हो तो भी वह रसोईकी निमित्तरूपसे भी कर्ता नही होती, क्योकि नित्य वस्तु स्वतः कर्ता नही है और वस्तुके ऊपर दृष्टि है और अनित्य इच्छाका स्वामी नही है कर्ताबुद्धि नही है इससे निमित्तसे भी कर्तृत्वका स्वीकार नही करती। अपनी पर्यायमे राग होता है; उस रागकी पर्याय निमित्त है परन्तु उस रागके ऊपर ज्ञानीकी दृष्टि नही है, उसका कर्तृत्व स्वीकार नहीं करती,

अपने अखण्ड स्वभाव पर दृष्टि है, शुद्ध द्रव्य कर्ता नही है, इससे शुद्ध दृष्टि भी कर्ता नही है—ऐसा आचार्यदेवने कहा है।

यदि कुँभार ज्ञानी हो तो वह भी घडेका कर्तृत्व निमित्तरूपसे भी स्वीकार न करे क्योकि उसकी दृष्टि वस्तु पर है। ज्ञानी जानते हैं कि योग और इच्छा मेरे है ही नही, इसलिये मैं निमित्तरूपसे भी कर्ता नही हूँ।

वस्तु यदि कर्ता हो तो निमित्तरूपसे कर्तृत्व कभी नही छूटेगा, इससे नित्यकर्तृत्वका प्रसग आयेगा। वस्तु यदि निमित्तरूपसे कर्ता हो तो केवलज्ञानी भी कर्ता बने रहे और इससे किसी दिन कर्तृत्व नही छूट सकेगा।

ज्ञानी मानते हैं कि शरीर, मन, वाणी, घट, पटादि समस्त परवस्तुओके हम उपादानरूपसे तो कर्ता नही हैं, किन्तु निमित्तरूपसे व्यवहारसे भी कर्ता नही हैं। हम स्व–परको जानते अवश्य हैं परन्तु उसके कर्ता नही होते।

ज्ञानीके योग (प्रदेशका कम्पन) और इच्छा होते हैं, परन्तु उनका कर्ता नही है, स्वामी नही है इसलिये वह वस्तुदृष्टिसे परवस्तुका निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है। अज्ञानी जीव अपने भावमे योग और उपयोगका कर्ता है इससे वह निमित्तरूपसे परवस्तुका कर्ता है ऐसा उपचारसे कहा है। इसमे ज्ञानी और अज्ञानीका सारा कार्य आ जाता है।

अनित्य (अर्थात् जो सर्व अवस्थाओमे व्याप्त नही होता–ऐसा) योग और उपयोग ही निमित्तरूपसे उसके (परद्रव्यस्वरूप कर्मके) कर्ता हैं। (रागादि विकारवाले चैतन्य परिणामरूप) अपने विकल्पको और (आत्माके प्रदेशोंके चलनरूप) अपने व्यापारको कदाचित् आत्मा अज्ञानसे करता होनेके कारण, योग और उपयोगका तो आत्मा भी कर्ता (कदाचित्) भले हो तथापि परद्रव्यरूप कर्मका कर्ता तो (निमित्तरूपसे–व्यवहारसे भी कभी) नही है।

यदि वस्तु कर्ता हो तो नित्य कर्तृत्वका प्रसग आये; परन्तु

वस्तु कर्ता नही है किन्तु अनित्य अर्थात् जो सर्व अवस्थाओमें प्रसरित नही होते—ऐसे योग और उपयोग ही निमित्तरूपसे परद्रव्यस्वरूप कर्मके कर्ता कहे हैं। जो अनित्य हैं, क्षणिक हैं, वर्तमान क्षणपर्यंत हैं—ऐसे योग और उपयोग ही परद्रव्यके निमित्तरूपसे कर्ता हैं ऐसा उपचार–व्यवहारनयका कथन है। परद्रव्यका कुछ भी कार्य जीवसे नही हो सकता किन्तु रागादि व्यापारको और प्रदेशोके चलनरूप चैतन्यके व्यापारको अज्ञानसे कर्ता है तथापि परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता तो कभी निमित्तरूपसे भी नही है।

अज्ञानसे आत्मा योग और उपयोगका कर्ता तो कदाचित् भले हो तथापि परवस्तुका कर्ता तो आत्मा निमित्तरूपसे कभी नही है।

अज्ञानी परवस्तुको व्याप्य–व्यापक भावसे तो नही करता, परन्तु वे कर्तृत्व बुद्धिवान होनेसे उसकी दृष्टि परके ऊपर है इससे निमित्तरूपसे कर्ता कहा है, नित्य ज्ञानमात्र स्वरूपमे दृष्टि नही है और इच्छा और योग पर अज्ञानी की दृष्टि है इससे परवस्तुका कर्तृत्व स्वतः निमित्तरूपसे स्वीकृत कर लेता है। मैं नित्य चिदानन्दस्वरूप निर्विकार हूँ—वैसा न मानकर मैं इच्छा और कम्पन जितना ही हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है इससे परवस्तुका कर्तृत्व निमित्तरूपसे स्वीकृत कर लेता है। जिस समय हाथ–घटादिकी अमुक अवस्था होती हो उससमय इच्छा और योग परवस्तुका कार्य होनेमे निमित्त है, उन इच्छा और योगका अज्ञानी कर्ता हुआ इससे परका कर्तृत्व स्वतः निमित्तरूपसे स्वीकार कर लिया।

आत्मा किसे कहा जाये? योग और इच्छा वर्तमान हों–इतना आत्मा कहलाता है?

नही; आत्मा योग और इच्छा जितना नही है, परन्तु योग और इच्छासे रहित वीतरागता, अचल–अयोगपना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वल इत्यादि अनन्त गुण–पर्यायका पिण्ड है—ऐसा आत्मा यदि निमित्तरूपसे भी परका कर्ता हो तो उसका निमित्तरूपसे कर्तृत्व तीनकालमे कभी भी नही छूटेगा।

ज्ञानी जानता है कि मैं स्व और परका ज्ञाता हूँ परन्तु कर्ता नही हूँ। परवस्तुका उपादानरूपसे तो कर्ता नही ही है किन्तु निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है। अज्ञानीकी दृष्टि परके ऊपर है इससे निमित्तरूपसे कर्तृत्व स्वीकार करता है। नित्यस्थायीरूपसे न रहनेवाली–ऐसी कम्पन और इच्छा की विभाव पर्याय, जब परवस्तुकी अवस्था होने वाली हो तब निमित्तरूप है, कम्पन और इच्छाका जो स्वामी होता है वह ऐसा मानता है कि परवस्तुकी अवस्थाके समयमे उपस्थित था। और मेरा निमित्तसे हुआ कम्पन और इच्छा अपना स्वभाव नही है, तथापि उन्हे अपना मान लेता है, उसीप्रकार पर्याय बुद्धि–मूढजीव घट–पटादिका निमित्त कर्ता मैं हूँ—वैसा स्वतः मान लेता है।

दाल-रोटी बनानेमे, कपडे पहिननेमे, कपडे बनानेमे योग और उपयोग निमित्तरूपसे कर्ता हैं ऐसा अज्ञानी मानता है।

प्रश्नः—यह बात समझमे न आये तो भारी भ्रम रह जाये न ?

उत्तरः—हाँ, भारी भ्रम रह जाये। यह बात समझमे आ जाये तो वह भ्रम टालनेका मूल है, और न समझे तो अनत ससार दु'खका कारण रूप भ्रम रहने का भी मूल है।

अज्ञानीने राग और कम्पनको अपना माना है, इससे आचार्यदेवने ऐसा कहा है कि अपने विकल्पका और अपने कम्पनका कदाचित् अज्ञानसे कर्ता है। अज्ञानीने रागको करने योग्य माना है—अपना माना है इससे आचार्यदेवने 'अपना विकल्प'—ऐसा शब्द लिया है। (परन्तु वास्तवमे विकल्प अपना नही है क्योंकि नित्यस्वभावमे वह नही है।) रागको अपना मानता है वह पराधीनतारूप पराश्रयकी श्रद्धा रखता है इससे 'यह वस्तु मैंने की है'—ऐसा मानता है।

कोई कहे कि किसी अच्छे कार्यमे बुद्धिमान–चतुर मनुष्य हो तो अन्तर पडता है न ? तू भले मिथ्या माना कर ! कोई अन्तर–वन्तर नही पडेगा, जैसा होना हो वैसा ही होता है।

कोई भी घट, पट, पुस्तक, मकान या व्यावहारिक कार्य आदि परवस्तुकी अवस्था उसके अपने कारणसे होती है, परन्तु जो साथ उपस्थित होता है वह मानता है कि मैं इस सबका कर्ता हूँ—वह अज्ञानी है।

प्रश्नः—इसे धर्म कहा जाता है ?

उत्तरः—हाँ, यह धर्म कहलाता है। इसे समझनेसे ही सच्चा धर्म होता है, इसमे एक भी उल्टी-सीधी अपेक्षा मिलाये तो मिथ्यात्व आता है। निमित्तसे कथन हो वह दूसरी बात है और निमित्तसे कर्तृत्व मानना अलग बात है।

शिष्य गुरुसे कहे कि अहो ! प्रभो ! आपने मेरा परम उपकार किया है, मुझे आपने कृतार्थ कर दिया, आपने मुझे तार दिया—इत्यादि अपने गुणोकी पर्याय प्रगट करने के लिये विनय और भक्तिसे कहता है, व्यवहारमे गुरुके प्रति विनय और नम्रता करता है, गुरुके गुणोका बहुमान करता है और निश्चयसे अपने पूर्ण स्वभावके प्रति विनय, नम्रता और बहुमान करता है।

अभी अपूर्ण है इससे व्यवहारमे देव, गुरु, शास्त्र इत्यादिके गुणोका बहुमान आये विना नही रहता, स्वतःको पूर्णता चाहिये है, निश्चयमे अपनेको पूर्ण स्वभावका बहुमान है इससे व्यवहारमे देव, गुरु, शास्त्रका बहुमान आये विना नही रहता। देव, गुरु गुणमे विशेष हैं, इससे समझकर सामनेवाले पर आरोप करके कहता है कि आपने मुझे तार दिया—वह अलग बात है, परन्तु यदि वैसा मान वैठे तो वह मिथ्या है।

अज्ञानीके इच्छा है, उसीप्रकार ज्ञानीके भी अपूर्णता है वहाँतक तो इच्छा है परन्तु उस इच्छाको ज्ञानी अपना मानते ही नही, इससे ज्ञानीकी वह इच्छा नष्ट होनेके लिये है। इच्छा, राग, द्वेषादि भावोका कर्ता चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर ऊपरके गुणस्थानोमे नही है, इसलिये परवस्तुका निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है।

जहाँ तक अनित्य पर्याय बुद्धि द्वारा अपनेमे राग और कम्पन

मानता है वहाँतक वह धर्मका अजान जीव राग और योगका कर्ता तो कदाचित् भले ही हो परन्तु परद्रव्यस्वरूप कर्मका कर्ता तो निमित्तरूपसे भी नही है ।

टीकामे आचार्यदेवने पहले कहा कि आत्मा कर्ता नही है, और पश्चात् कहा कि अज्ञानी आत्मा कर्ता भले हो । कर्ता तो अवस्था है, कही द्रव्यकर्मका कर्ता आत्मा नही है परन्तु आत्माकी विकारी अवस्था द्रव्यकर्मकी अवस्था होनेमे निमित्तमात्र है । अज्ञानी आत्मा तो वास्तव मे योग और उपयोगका कर्ता है, जडका कर्ता नही है । परन्तु राग और योगका कर्तृत्व मानता है इससे भी अज्ञानी आत्माको कर्ता कहा जाता है, किन्तु वास्तवमे तो रागको और योगको अपना माना वह आत्मा ही नही है—अनात्मा है ।

घडा बनानेमे जिसप्रकार ज्ञानी निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है उसीप्रकार घडा फोडनेमे भी निमित्तरूपसे कर्ता नही है—वैसा समझ लेना चाहिये । अज्ञानी घडेको फोडनेका भी कर्ता होता है । ज्ञानी युद्धमे खडा हो तथापि योग और इच्छाका कर्ता नही होता । मैं युद्धका निमित्तरूपसे भी कर्ता नही हूँ—ऐसा वह मानता है । मैं तो ज्ञायक हूँ, ज्ञाता दृष्टा रहनेवाला हूँ और मेरा ज्ञान, दर्शन उपयोगका कर्ता है—ऐसा ज्ञानी मानते हैं ।

योग अर्थात् मन–वचन–कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोका चलन, और उपयोग अर्थात् ज्ञानका कषायोंके साथ युक्त होना—जुड जाना । यह योग और उपयोग घटादिक तथा क्रोधादिकको निमित्त हैं, इससे उन्हे तो घटादिक तथा क्रोधादिकका निमित्तकर्ता कहा जाता है परन्तु जीवद्रव्यको अनित्य विकारका कर्ता नही कहा जाता । किन्तु ससार अवस्थामे अज्ञानसे मात्र योग–उपयोगका कर्ता कहा जा सकता है ।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि क्रोध और कम्पन मैं हूँ, इससे वह ऐसा स्वीकार करता है कि घटादिकका मैं निमित्तरूपसे कर्ता हूँ, परन्तु भगवान आत्मा परवस्तुका निमित्तरूपसे भी कर्ता नही कहलाता ।

आत्मा स्वतः कर्ता नही है इससे आत्माका दृष्टिवत भी कर्ता नही है ।

संसारदशामे अज्ञान अवस्थाके कारण निमित्तरूपसे कर्तृत्व स्वीकार किया है । संसार तो चतुर्थसे चौदहवे गुणस्थान तक भी है, तथापि वह संसार अपने कारणसे नही किन्तु परके कारण है, अपनी विकारी पर्यायके कारण है ।

आत्माके नित्य स्वभावमे तो संसार है ही नही । जैसा स्वभाव है उसे वैसा–यथावत् जाना श्रद्धा की और अनुभवन किया—वैसे स्वभाव–दृष्टिवतके अनित्य ससार दशाका स्वीकार नही है । स्वामित्व नही है । अपनी स्वभावदृष्टिमे संसार नही है, अल्पस्थिरताके कारण एकाध भव रहता है—वह वात यहाँ गौण है । दृष्टि स्वभाव पर है, वह मुख्य है, पूर्णपर्याय प्रगट करनेका पुरुषार्थ चालू है, इससे पूर्ण पर्याय प्रगट हो जाना है, इसलिये संसार नही है । इससे अज्ञानीके संसार गिना है किन्तु ज्ञानीके ससार नही गिना है ।

इस १००वी गाथामे द्रव्यदृष्टिकी अधिकता है, सम्पूर्ण वस्तुस्थिति इसमे वतादी है । द्रव्यदृष्टिसे तो कोई दव्य किसी अन्यद्रव्यका कर्ता नही है परन्तु पर्यायदृष्टिसे भी कर्ता नही है किन्तु किसी द्रव्यकी पर्याय किसी समय किसी अन्यद्रव्यकी पर्यायको निमित्त होती है । किसीसमय अर्थात् अज्ञान अवस्थामें ही योग और रागको अपना मानता है वहाँ तक किसी अन्य द्रव्यकी पर्यायको निमित्त होता–वैसा कहा जाता है, क्योकि मैं निमित्त हूँ—वैसा माना है, इससे निमित्त होता है ऐसा कहा जाता है । परमार्थसे द्रव्य अपने ही परिणामोका कर्ता है, अन्य द्रव्यकी अवस्था अन्य द्रव्य नही कर सकता–वह त्रिकाल अवाधित सिद्धान्त है । परवस्तु उसके अपने कारणसे परिणमित होती है उसमे कोई अन्य क्या कर सकता है ? इस १०० वी गाथामें स्वद्रव्यको सम्पूर्ण स्थित रखा है । परका कर्ता तो तू निमित्तरूपसे भी नही है—ऐसा कहकर पूर्ण स्वतंत्रता घोषित की है ।

ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है, ज्ञानीके नवीन कर्मवंध हो तो उसमे वह निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है । कोई कहेगा कि ज्ञानीको

अल्प कर्मबंध तो होता है न ? इससे उसका निमित्त तो हुआ या नही ? नही, उसका भी ज्ञाता है, अल्प इच्छा और योग है उसका भी ज्ञाता है, निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है। अहो ! इस समयसारमे सभी बातें कही हैं, कुछ भी शेष नही रखा, वस्तुस्थितिको स्पष्ट समझाने वाला चौदह पूर्वका रहस्य इसमे आजाता है। किसी ऐसे सुयोगकालमे इस समयसारकी रचना हुई है कि जिसमे सर्वज्ञ–केवलीका हृदय आगया है। जो इस समयसारको समझले उसे धन्य हो जानेका समय है।

पुनः १०० वीं गाथा।

शरीरकी अवस्था, वाणीकी अवस्था इत्यादि परवस्तुओकी अवस्थाका व्याप्य–व्यापक भावसे तो आत्मा कर्ता नही है, परन्तु निमित्त–नैमित्तिक भावसे भी कर्ता नही है—ऐसा इस गाथा मे कहते हैं।

मूल गाथामे आता है कि जीव घटादिकी अवस्थाको नही करता। जीव अर्थात् वस्तु स्वत कर्ता नही है, आत्मद्रव्य स्वतः घडेकी अवस्थाका कर्ता नही है, एक आत्मद्रव्य अन्य आत्माओकी अथवा आत्माके अतिरिक्त अन्य किसी परमाणुकी अवस्थाका निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है। वस्तु कर्ता नही है इसलिये वस्तुका दृष्टिवत भी कर्ता नही है।

आत्मा घट–पटका कर्ता नही है, एक रजकणसे लेकर समस्त जड द्रव्योका कर्ता नही है, एक निगोदसे लेकर समस्त आत्माओकी अवस्थाका वस्तुका दृष्टिवत अर्थात् ज्ञानी आत्मा निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है।

इच्छा और योगका ज्ञानी कर्ता नही है, परन्तु अज्ञानी उनका कर्ता है, उसकी दृष्टि राग और योग पर है, राग और योगका विषय पर है इससे अज्ञानी निमित्तरूपसे परका कर्ता है—ऐसा आचार्यदेवने कहा है।

मैं राग और कम्पन जितना हूँ, राग और कम्पन मेरे है, मैं उनका कर्ता हूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है इससे परद्रव्यका कर्तृत्व भी

निमित्तरूपसे मान लेता है। राग और योगका विषय पर है, तथा द्रव्यकर्म, राग और योगका निमित्त है, इससे राग और योगका कर्तृत्व स्वीकार करते हुए परद्रव्यका कर्तृत्व भी साथ आजाता है।

घडेकी अवस्था आत्मा व्याप्य–व्यापक भावसे नही करता अर्थात् उसमे प्रविष्ट होकर नही करता। यदि ऐसा हो तो दो द्रव्य एक हो जायें। घडेकी अवस्थाका आत्मा उपस्थित रहकर—निमित्त रहकर भी कर्ता नही है; यदि ऐसा हो तो परद्रव्यका कर्तृत्व नित्य वना रहे अर्थात् योग और रागका नित्य कर्ता वना रहे, इससे परवस्तुका कर्ता भी नित्य वना रहे।

व्यवहारसे कर्ताका अर्थ यह है कि कर्ता नही है निमित्त कर्ता है—निमित्त कर्ता है—ऐसे निमित्तके अभिप्रायके वहानेसे जीवोने निमित्तको उपादान मान लिया है अर्थात् दो द्रव्योको एक मान लिया है। निमित्त अर्थात् मात्र सामनेवाली वस्तुकी उपस्थिति, जैसे—घडा होनेमें वहाँ कुम्भारकी उपस्थिति अनुकूल होती है किन्तु धोवीकी उपस्थिति अनुकूल नही होती, उस अस्तित्व मात्र निमित्तको जीवोंने निश्चयरूप उपादानरूपसे स्वीकार कर लिया है, अर्थात् उपादान और निमित्तको एक मान लिया है। वस्तुका दृष्टिवंत, परवस्तुका उपस्थिति रूपसे भी कर्ता नही होता, उपचारसे कहा जाता है कि अमुक व्यक्तिके आनेसे यह कार्य हुआ, परन्तु स्वभाव दृष्टि उस निमित्तको भी स्वीकार नही करती।

जिसमे जो शक्ति है वे ही–क्षेत्रान्तर–रूपान्तर क्रियारूप प्रगट होती है घड़ा वनते समय कुम्भार अपनेमें स्थित रहा, उसके हाथकी क्रिया हाथमे हुई, डोरा डोरेमे फिरा हाथ- हाथमें फिरा और चाक चाकमें फिरा—सभीकी क्रिया अपने अपनेमें होती है; यदि कुम्भारके हाथने चाकको घुमाया हो तो उसका हाथ चाकमे प्रविष्ट हो जाना चाहिये परन्तु वैसा तो नही होता, इसलिये कुम्भार का हाथ इधरसे उधर फिरता है वह स्वतः अपनेमें ही फिरता है—चाकमे नही फिरता। प्रत्येक द्रव्य स्वतः अपनेमे स्वतंत्र परिणमित होता है, परन्तु कुम्भार

अज्ञानके कारण मान लेता है कि मैं उपस्थित था इसलिये घडा हुआ है। इसप्रकार निमित्तसे कर्तृत्व स्वीकार कर लिया है, इसलिये कर्ता नही है।

अज्ञानीका लक्ष्य योगमे और रागमे गया है और योग तथा रागका विषय तो पर है। योग और राग मेरे हैं, मैं उनका हूँ, जिसने रागको अपना माना उसने रागादि का विषय जो पर द्रव्य है, उन्हे भी अपना माना है। रागका कर्ता हुआ इससे रागका विषय जो परद्रव्य है उसका भी निमित्तरूपसे कर्ता है।

वस्तु स्वत· निमित्तरूपसे भी परद्रव्यकी अवस्थाकी कर्ता नही है, यदि वस्तु कर्ता हो तो नित्यकर्तृत्वका प्रसंग आये। जिसे यह वात नही जमती वह चौरासीके चक्करमे परिभ्रमण करेगा। योग और रागका कर्ता होता है इससे परवस्तुकी अवस्थाका कर्तृत्व स्वीकार कर लेता है, इसलिये जो परवस्तुकी अवस्थाका कर्तृत्व निमित्तरूपसे स्वीकार करता है उसके रागका कर्तृत्व नित्य रहनेसे कभी भी राग छूटकर निर्विकल्प वीतरागता नही होगी। जिसे परवस्तुके कर्तृत्वकी पकड होती है वह नही सुधरती, किन्तु यदि भूल हो और उसे स्वीकार करे तो सुधर जाती है। तीनलोकके नाथ तीर्थंकरदेव आयें तो भी जिसने पकड़ की होगी वह नही छूटेगी। हमारी भूल है—ऐसा जिन्हे नही देखना है और मात्र पकड रखना है वह कैसे सुधरेगी ?

कुम्भारको आत्माका भान होनेके पश्चात् यदि लाखो घडे वननेमे वह उपस्थित हो तथापि वह निमित्तरूपसे कर्ता नही होता। कुम्भारको वीतरागता नही हुई है इससे घडा वनानेके रागका विकल्प आये, योगकी क्रिया भी हो, हाथकी क्रिया हो, योग और रागकी क्रिया घडेको अनुकूल हो—परन्तु उसका वह कर्ता नही होता। कुम्भार क्षायिक-सम्यक्त्वी हो तथापि जव तक सम्पूर्ण वीतरागता नही हुई है वहाँतक उसे घडा वनानेका विकल्प उठता है, योगकी क्रिया भी होती है, परन्तु निमित्तकर्तृत्वकी दृष्टि नही है। जो योग और कषायका कर्ता है वह निमित्तकर्तृत्वको स्वीकार करता है।

वाह्य वस्तु जैसीकी जैसी है, परन्तु विपरीत मान्यता थी तव उस वस्तुका कर्ता होता था और ज्ञान होने पर उसका अकर्ता होता है। मकान, पुस्तक, वाणी इत्यादि परद्रव्य तो वहीके वही हैं परन्तु पहले कर्ता होता था और अव, ज्ञान होनेसे कर्तृत्व छूट गया है।

वाणीकी अवस्था वाणीसे होती है, ज्ञानी उसका कर्ता निमित्तरूपसे भी नहीं होता।

प्रश्नः—भगवानको ऐसा तो कहा जाता है न, कि—हे प्रभो ! आपने हमपर करुणा करके दिव्यध्वनि छोड़ी ?

उत्तरः—भगवानकी वाणी और योगका भगवानके वीर्यके साथ निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध है इससे, भगवान वोले—ऐसा कहा जाता है परन्तु उसका अर्थ ऐसा नहीं है। एक दूसरेकी उपस्थितिमें एक दूसरेको अनुकूल, योग्यताके समय क्रिया होती है—ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्वन्व है, परन्तु उससे उसमे निमित्तरूपसे कर्तृत्व नहीं आता। भगवानके ज्ञान अनुसार वाणीकी क्रिया अनुकूल, मेल खाती हुई होती है—ऐसा निमित्त–नैमित्तिक सम्वन्व है, परन्तु उससे निमित्त-कर्तृत्व किंचित् नही है।- केवलीको इच्छा नहीं है—योग है, योगसे वाणी खिरे तो निरन्तर क्यो नही खिरती इसलिये—किसीसे अन्यका कर्तृत्व नही है।

ज्ञानीके भी रागकी और योगकी जो क्रिया होती है वह, घड़ा इत्यादि परद्रव्यकी अवस्थाको अनुकूल पडे—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्वन्व है, तथापि वस्तुका दृष्टिवंत ज्ञानी उसका निमित्तरूपसे भी कर्ता नही होता। किन्तु उसका ज्ञान करता है। मकान, पुस्तक, घड़ा आदि वनवानेका विकल्प अस्थिरताके कारण ज्ञानीको होता है—इससे, तथा उस कार्यके होनेमें ज्ञानीकी उपस्थिति होती है—इससे उपचारसे उसे कर्ता कहा जाता है कि इस मनुष्यने यह कार्य किया, परन्तु वस्तुका दृष्टिवंत ज्ञानी अस्थिरताका कर्ता नही है, योगका भी कर्ता नही है तव फिर परद्रव्यकी अवस्थाका कर्ता तो कहाँसे होगा ?

विकल्प और योग अपने हैं ही नही, परन्तु अज्ञानीने उन्हें अपना माना है; जिसने विकल्प और कम्पनको अपना माना है उसके

कदाचित् अर्थात् अज्ञान प्रवर्तमान है वहाँ तक योग और उपयोगका कर्तृत्व है और उससे निमित्तरूपसे परका कर्ता होता है। अज्ञान स्थायी नही रहता परन्तु पलट जाता है, इससे 'कदाचित्' शब्द आचार्यदेवने कहा है। योग–उपयोगका कर्ता आत्मा भी अज्ञानभावसे भले हो परन्तु परद्रव्यका कर्ता तो कभी भी नही है।

यहाँ तो यह सिद्धान्त है कि आत्मा स्वत और जिसे आत्माकी दृष्टि हुई है वह, परनिमित्तसे भी कर्ता नही है और पर उसे निमित्त नही हैं। उसीप्रकार द्रव्यदृष्टिमे छहो–द्रव्योका निमित्त–नैमित्तिक सम्वन्ध भी नही आता। स्वत अपनेरूपसे है और पररूपसे नही है, स्वतः अपनेरूप है—वह अस्ति और पररूप नही है—वह नास्ति। दर्शनका विषय अपने द्रव्य–गुण–पर्यायमे परके द्रव्य–गुण–पर्यायके सम्वन्धका अस्वीकार करता है। छहो द्रव्य स्वतः अपनेमे अस्तिरूपसे हैं और परमे नास्तिरूपसे हैं—इसप्रकारसे छहो द्रव्योका निमित्त नैमित्तिक सम्वन्ध भी सम्यक्‌दर्शनके विषयमे नही है। अरे ! दर्शनका विषय तो अपने स्वद्रव्यके गुण–पर्यायके भेदको भी स्वीकार नही करता, अनन्त गुण–पर्यायके पिण्डस्वरूप अभेद द्रव्य पर ही उसका लक्ष्य है, अभेद द्रव्य ही उसका विषय है।

दर्शन कारण है और ज्ञान कार्य है। दर्शन पूर्वक हुआ ज्ञान दर्शनको जानता है। दर्शनका विषय अपने द्रव्यमे परद्रव्यका अस्वीकार करता है परन्तु ज्ञान पर ज्ञेयको जानता है, ज्ञान स्व–पर–प्रकाशक है। दर्शनका विषय अभेद है, वह अपूर्ण, पूर्ण और विकारी पर्यायको स्वीकार नही करता, निमित्त नैमित्तिक सम्वन्धको भी स्वीकार नही करता, उसका विषय तो अखण्ड परिपूर्ण स्वद्रव्य है। ज्ञान अभेद और भेद–दोनोको जानता है, वह दर्शनको जानता है, दर्शनके विषयको जानता है, स्वद्रव्यको जानता है, परद्रव्यको जानता है, निमित्त नैमित्तिक सम्वन्धको भी जानता है तथा अपूर्ण, पूर्ण और विकारी पर्यायोको भी जानता है। दर्शनका विषय परिपूर्ण, अखण्ड, अभेद है। ज्ञान निमित्त–नैमित्तिकको जानता है तथापि कर्ता नही होता।

अज्ञानीको द्रव्यदृष्टिका ज्ञान नही है इससे उसे अपने अखण्ड स्वरूपका ध्यान नही आता; मैं परका कर्ता हूँ–ऐसा वह मानता है, क्योकि दृष्टि परके ऊपर है। अज्ञानीके योग और राग निमित्तकर्ता किसलिये कहे जाते हैं ? वह मानता इससे कहलाते हैं, उसके मान्यताका भावरूप वाच्य है इसलिये निमित्तकर्ताका वाचक शब्द भी है। आत्मा कर्ता नही है, क्योकि सम्पूर्ण वस्तुको कर्ता कहो तो वस्तु तो स्थायी है इसलिये नित्य कर्तृत्वका प्रसग आयेगा। वस्तुस्वरूपके ज्ञान विना उपादानकी ओर उन्मुखता नही होती इसलिये वस्तुस्वभावका ज्ञान करना प्रयोजनभूत है।

कोई द्रव्य किसी अन्यद्रव्यका कर्ता तो कहा नही जासकता, परन्तु पर्याय दृष्टिसे किसी वस्तुकी अवस्था किसी समय अन्य द्रव्यकी पर्यायको निमित्तभूत होती है। द्रव्यदृष्टिसे तो सर्व सम्वन्धका अभाव है—ऐसी दृष्टिका स्वीकार किये विना निमित्त नैमित्तिक सम्वन्व नही जाना जासकेगा। किसी वस्तुकी अवस्था होते समय किसी वस्तुकी अवस्था उपस्थित होती है। अज्ञानी परका कर्तृत्व मानता है, इससे उसे कर्ता कहा है परन्तु परमार्थसे कोई किसीका कर्ता नही है।

१०० वी गाथाकी टीकाके प्रथम वोलमे आचार्यने ऐसा कहा कि यदि आत्मा परद्रव्यको करे तो वह परद्रव्यमे प्रविष्ट हो जाये, तन्मय हो जाये; इसलिये वह परद्रव्यको व्याप्य–व्यापक भावसे नही करता। दूसरे बोलमे कहा है कि आत्मा परद्रव्यकी पर्यायको निमित्त-नैमित्तिक भावसे भी नही करता। पुनश्च कहा है कि यदि आत्मा परद्रव्यकी पर्यायको निमित्त–नैमित्तिक भावसे भी करे तो नित्यकर्तृत्वका प्रसंग आये, कर्तृत्व कभी दूर न हो और इससे वह कर्तृत्व छूटकर स्वद्रव्यकी निर्मल पर्यायको प्रगट करनेका प्रसंग न आये, इसलिये आत्मा परद्रव्यकी अवस्थाका कर्ता नही है, परन्तु अज्ञानी अज्ञान अवस्थासे योग और रागादि उपयोगका कर्ता होने से उसकी दृष्टि निमित्त पर है, इससे अज्ञानीके योग–उपयोगकी अवस्था सामनेवाले परद्रव्यकी अवस्थाको निमित्तरूपसे कर्ता है, किन्तु सम्यक्ज्ञान ज्ञान

अवस्थासे योग और रागादि उपयोगका कर्ता नही है, इसलिये परद्रव्यका निमित्त-कर्ता नही है। १००।

अब, ज्ञानी अपने ज्ञानका ही कर्ता है—देखो, परद्रव्यका कर्ता और निमित्तनैमित्तिक कर्ता निकाल दिया, अब निजमे ही अपनी अवस्थाका कर्ता है—उसे स्थित रखा है। ज्ञानी ज्ञानपर्यायको करता है उससमय चारित्रमे अल्पराग है इससे नवीन बन्धन होता है, तथापि उसमे मैं निमित्तरूपसे भी कर्ता नही हूँ, मात्र उसका मैं ज्ञाता हूँ—वह अब कहते हैं —

(सम्यक् ज्ञानीकी पहिचान कराते हैं)

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाण आवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी।१०१

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवंति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥१०१॥

ज्ञानावरणआदिक सभी, पुद्गल दरव परिणाम हैं।
करता नहीं आत्मा उन्हें, जो जानता वो ज्ञानि है ॥१०१॥

अर्थः—जो ज्ञानावरणादिक पुद्गलद्रव्योके परिणाम हैं—उन्हे जो आत्मा करता नही परन्तु जानता है वह ज्ञानी है।

जो ज्ञानावरणादिक कर्म बन्धते हैं उन्हे ज्ञानी जानता है कि—ऐसा हो रहा है, कर्म बन्धते हैं, परन्तु कर्ता नही होता। जिसप्रकार ज्ञानमे परवस्तु ज्ञात होती है उसीप्रकार जो कर्म बन्धते हैं उन्हे भी ज्ञानी-धर्मात्मा अपने ज्ञानकी वृद्धि सहित जानते हैं। मैं बन्धनको ज्ञातारूपसे जानता हूँ, इसलिये मेरे ज्ञानकी ही वृद्धि है, बन्धनकी वृद्धि नही है। जाननेका विस्तार हुआ, उसमे ज्ञान विस्तृत हुआ इसलिये ज्ञानकी ही वृद्धि हुई—उसमे बन्धन कहाँ आया ? इसलिये ज्ञानीके कर्मबन्ध नही होता परन्तु निर्जरा हो जाती है—वैसी बात है। ज्ञानका स्वभाव स्व-पर प्रकाशक है, चारित्र गुणमे पुरुषार्थकी

कमजोरी वश भूमिकानुसार रागादि होते हैं उन्हे ज्ञानी भेदविज्ञान द्वारा जानता है, स्व-पर प्रकाशक ज्ञानकी स्वच्छतारूप ज्ञानकी पर्यायमे योग्यता ही ऐसी होती है कि भूमिकानुसार इसप्रकारके रागादिको भी जाने। ज्ञान अलग है राग अलग है, ज्ञान ज्ञानका ही काम करेगा, रागका कार्य चारित्रका है उसमे जीवकी भूलरूप विपरीत पुरुषार्थ कारण है किन्तु ज्ञान तो उसे ज्ञेय बनाता हुआ ज्ञानपर्यायकी वृद्धि करता हुवा जानता है, ज्ञातृताकी ताकत सूक्ष्म होती है, रागके समय भी (सविकल्पदशा होने पर भी) स्वावलम्बी जागृतिको बढाता रहता है, फिर भी पुरुषार्थकी मन्दतासे अल्प रागादि होते हैं उसे ज्ञातापनमे स्थिरता करके हटाना चाहता है अर्थात् स्वरूपमे लीनताके पुरुषार्थमे वृद्धि करके मुक्तिको प्राप्त करनेवाला है, प्रमादी, स्वच्छदी होनेवाला नही है।

जिसप्रकार दूध—दही जो कि गोरस द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेसे गोरसके खट्टे—मीठे परिणाम हैं।

गायके दूधके रसका जो सामान्यपना है उसे गोरस कहा जाता है, गोरस स्वत व्याप्त होकर खट्टी, मीठी अवस्थारूप परिणमित होता है, उसे गोरसका तटस्थ दिखाई देनेवाला पुरुष नही करता। स्त्री दूध जमाती है वह गोरसको जानती है कि इस दूधमेसे दही होगा; परन्तु गोरसके खट्टे—मीठे परिणामोको वह स्त्री नही करती है। दूध परिणमित होकर दही हुआ, दही परिणमित होकर मक्खन हुआ, मक्खन परिणमित होकर घी हुआ—वह सब गोरसकी अवस्था है, स्त्री तो तटस्थरूपसे सब देखती रहती है, स्त्रीके हाथकी अवस्था कही गोरसमे प्रविष्ट नही हो गई है। स्त्री तो मात्र जानती ही रहती है।

उसीप्रकार ज्ञानावरण इत्यादि जो कि वास्तवमे पुद्‌गलद्रव्य द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होनेसे पुद्‌गलद्रव्यके परिणाम हैं, उन्हे ज्ञानी नही करता। मात्र जाननेवाला है।

ज्ञानावरणादिक वास्तवमे पुद्‌गलके परिणाम हैं उन्हे मैं नही करता हूँ—वैसा ज्ञानी समझते हैं, क्योकि ज्ञानावरणादिक कर्म पुद्गल

स्वत व्याप्त होकर होता है, उन्हे मैं कैसे करूंगा ? मैं तो तटस्थ ज्ञाता हूँ। जिसप्रकार कोई नदीके किनारे खड़ा हुआ मनुष्य नदीमे चाहे जितनी हिलोरे आयें उन्हे देखता ही रहता है। पानीमे चाहे जितनी लहरें उठें उसमे देखनेवालेको क्या ? उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म चाहे जैसे बधें उन्हे ज्ञानी जानता ही रहता है। पुद्गल स्वत. परिणमित होकर कर्मरूप हो उसमे ज्ञानी समझता है कि मुझे इससे क्या ? यहाँ द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे कथन है, अस्थिरताकी वात गौण है। नित्य अखण्डित ज्ञायक स्वभाव ही मुख्य है, अनित्य रागादि विकल्प अत्यन्त गौण है, यह ज्ञानी साधककी वात है।

जिसप्रकार वह गोरसका देखनेवाला, स्वत से (अपने दृष्टा भावसे) व्याप्त होकर देखने मात्रपनाका कर्ता है। उत्पन्न होनेवाला जो गोरसपरिणामका दर्शन (दृष्टापना) है उसमे व्याप्त होकर मात्र देखता ही है, उसीप्रकार ज्ञानी, स्वत से (ज्ञानीसे) व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाला पुद्गलद्रव्य परिणाम जिसका निमित्त है—ऐसा जो ज्ञान है उसमे व्याप्त होकर मात्र जानता ही है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता है।

ज्ञानावरणादिक जो कर्म होते हैं उन्हे ज्ञानी नही करता। नही करता अर्थात् निमित्त भी नही होता—ऐसा यहाँ कहना है। यहाँ द्रव्य दृष्टिका वल है, अस्थिरताकी वात गौण रखकर नित्य स्वद्रव्याश्रित दृष्टिसे तो कृतकृत्य–मोक्ष है—ऐसा यहाँ वतलाना है।

ज्ञानी, स्वत से व्याप्त होकर उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है उसमे व्याप्त होकर मात्र जानता ही है। निमित्तका ज्ञान हुआ इतनी ज्ञानमे वृद्धि हुई। पुद्गलद्रव्यमे नवीनकर्मरूप जो अवस्था हुई वह और रागके परिणाम—उन सवका दृष्टिमे निषेध किया और ज्ञानने उन सवका ज्ञान किया उसमे ज्ञानका विशेपपना ही होता जाता है। दर्शनगुणमें अर्थात् देखनेके गुणमे वृद्धि की, कि मेरा जानने–देखनेका जो सामर्थ्य है उसकी वृद्धि होनेमे यह एक निमित्त हुआ। निमित्तका ज्ञान किया उससे मेरे ज्ञानगुण, दर्शनगुण और आनन्दगुण अल्प नही

होते किन्तु वृद्धिको प्राप्त होते हैं। निरन्तर स्वोन्मुखता होनेसे ज्ञान वढा ही है वैसा प्रतीतिमे आता है, क्योंकि चाहे जैसे प्रसंगोमे ज्ञानीके ज्ञातृत्वकी उग्रता होती ही जाती है, ज्ञान, दर्शन चारित्र सव वढ़ते ही जाते है। दृष्टिमे राग नही, विकल्प नही, कर्म नही, कर्मकी पर्याय कर्ममे हुई, मुझमे तो निमित्तको जाननेके समय भी ज्ञानपर्यायकी वृद्धि हुई,—इसप्रकार धर्मी जीव अपनी अनन्तगुणोकी निर्मल पर्यायरूप होनेवाला है परन्तु परकी अवस्थारूप होनेवाला नही है इसलिये पर-द्रव्यकी पर्यायका कर्ता नही है।

कोई कहे कि समझकर लीन होनेका ही काम है न ? यही अन्तिम फल है न ? परन्तु यह सभी पहलुकी वात समझे विना कहाँ लीन होगा ? भेदज्ञान किये विना स्थिर हुआ ही नही जा सकता, विना समझे कहाँ–किसमे स्थिर होगा ? विश्वास तो कर कि स्वसन्मुख होनेके वाद निरन्तर मेरी ज्ञानपर्याय् वढती ही जा रही है, मैं निमित्त-रूप नही हूँ, साक्षीरूप हूँ, ज्ञातारूप हूँ इसमे तो अनन्त पुरुपार्थकी आवश्यकता होगी, मेरे गुणोकी अवस्था प्रतिक्षण वढती ही जाती है– वैसा ज्ञान जव द्रव्यदृष्टि प्रगट होगी तभी होता है; द्रव्यदृष्टि प्रगट होनेसे तो अनन्त पुरुषार्थ प्रगट होता है, केवली परमात्माका हृदय जाना जाता है, सिद्ध जातिकी वानगी देखी जाती है, ऐसी द्रव्यदृष्टि प्रगट होनेके पश्चात् ही स्थिर हुआ जा सकता है।

आत्मा रागद्वेषादि विकारका स्वभावदृष्टिसे कर्ता नही है, अर्थात् उत्पादक नही है, तो फिर जो ज्ञानावरणादिक कर्म नवीन वन्धते हैं उनका कर्ता तो कहाँसे होगा ? अर्थात् ज्ञानी उनका कर्ता नही है।

जिसप्रकार गोरसके खट्टे-मीठे परिणामको तटस्थ देखनेवाला पुरुप कर्ता नही परन्तु दृष्टा है, उसीप्रकार ज्ञानी रागादिका कर्ता नही किन्तु दृष्टा है। कर्मकी जो अवस्था हो, उसका जो फल आये उसरूप ज्ञानी परिणमित होनेवाला नही है और नये कर्मरूप होनेवाला नही है अर्थात् कर्ता नही है। ज्ञानी जानता है कि अपनी ज्ञान अवस्थारूप ही

मैं परिणमित होनेवाला हूँ, परन्तु कर्मकी अवस्थारूप मैं परिणमित होनेवाला नही हूँ। कर्म दिखाई नही देते किन्तु उनका फल दिखाई देता है—उसे ज्ञानी मात्र जानते हैं।

ज्ञानी जानते हैं कि कर्म एक वस्तु है और मैं उसमे युक्त हो जाता हूँ, यदि दूसरी वस्तु न हो तो विकार न हो। यदि मैं स्वाधीन होऊँ तो सिद्धपना और मोक्ष होना चाहिये परन्तु सिद्धत्व तो दिखाई नही देता और विकार दिखाई देता है, इसलिये कर्म है, दूसरी वस्तु है—ऐसा उसके फलसे सिद्ध होता है। जो विकार दिखाई देता है वह कर्मका फल है।

आत्मा अनन्तगुणोका पिण्ड है, आत्मा परका कर्ता नही है, परका भोक्ता नही है, परन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं परका कर्ता-भोक्ता हूँ, किन्तु सम्यग्भान होनेसे परका कर्तृत्व छूट जाता है। मैं अनन्त गुणोका पिण्ड स्वाधीन हूँ, स्वाधीन स्वरूप हूँ, मैं परका कर्ता नही हूँ, पर मेरा कर्तव्य नही है, मैं पर अवस्थारूप होनेवाला नही हूँ परन्तु ज्ञानकी अवस्थारूप मैं होनेवाला हूँ। ज्ञानीके अल्प अस्थिरता होती है, परन्तु उसकी वात यहाँ गौण है।

जिसप्रकार ज्ञानी ज्ञानावरणीय कर्मका कर्ता नही है, उसी-प्रकार दर्शनावरणीय कर्मका भी कर्ता नही है, आत्मामे एक दृष्टाशक्ति है उसे आवरणरूपसे निमित्त होनेवाला एक दर्शनावरणीय कर्म है उसे ज्ञानी जानता है परन्तु उसका कर्ता नही होता। कोई कहेगा कि ज्ञानीने कर्मको देखा तो नही है फिर वह कर्मको जाननेवाला कैसे हुआ?

ज्ञानी जानता है कि मेरी दर्शनशक्ति पूर्णतया दृष्टिगोचर नही होती, इससे दर्शनावरणीय कर्म है—ऐसा कर्मके फलसे प्रतीत होता है। अपनी परिणमन शक्ति स्वतःसे ही रुकी हुई है, स्वतः स्वाधीन है, कर्म तो निमित्तमात्र है, उस दर्शनावरणीय कर्मका ज्ञानी ज्ञाता है। कर्मके फलके समय कर्मकी अवस्थारूप न होकर अपनी

ज्ञानकी अवस्थाका कर्ता होता है। मेरी अवस्था मेरे आधीन है, पराधीन नहीं है—ऐसा ज्ञानी जानता है।

जीवोंको शरीरका नाम इतना पक्का हो गया है कि कोई विना पूर्व सूचनाके आधी रात्रिको बुलाये कि "ओ लक्ष्मीचन्द" तो कहेगा कि 'हाँ...' उसमें थोड़ी भी भूल नहीं होगी। उसीप्रकार ज्ञानीको—मैं अपने स्वभावका ही कर्ता हूँ, परका कर्ता नहीं हूँ, यह संयोगी वस्तु मेरे अधीन नहीं है और मैं इसके अधीन नहीं हूँ, मैं अपने आधीन हूँ और यह अपने आधीन है, सब स्वतंत्र हैं। मैं शरीर, मन, वाणी और संकल्प-विकल्पसे पृथक् ज्ञायकस्वरूप आत्मा हूँ; मैं परका साक्षी हूँ किन्तु कर्ता नहीं हूँ। मैं अपने स्वभावका ही कर्ता हूँ,—ऐसा परसे पृथक्त्वका ज्ञान ज्ञानीको इतना पक्का हो गया है कि उसमें कभी भूल नहीं होती। रात्रिको सोते समय भी परसे पृथक्त्वका भान नहीं चूकता।

ज्ञानी वेदनीय कर्मका कर्ता नहीं होता। सातावेदनीय या असातावेदनीय कर्मने चाहे जितनी प्रतिकूलता या अनुकूलताका घेरा डाला हो तथापि ज्ञानी उसरूप नहीं हो जाता। ज्ञानी समझता है कि साता और असातावेदनीयके फलरूप मैं नहीं हूँ; मेरा स्वरूप साता-असातासे पृथक् है, मैं उनसे भिन्न हूँ। ज्ञानीका वीर्य ज्ञानकी अवस्थामें वृद्धि ही करता जाता है। चाहे जैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग हो ज्ञानी उसे भिन्न ज्ञेयरूप जानता है इष्ट अनिष्ट नहीं मानता है।

अज्ञानी साता-असाताके अनुकूल-प्रतिकूल संयोगोंमें एकमेक होता है। वेदनीयकर्म मुझे दुःख देता है और वेदनीयकर्म मुझे सुख देता है—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु साता-असाता तो कर्मका फल है-संयोगी वस्तुएँ हैं, वह मेरा स्वरूप नहीं है, मैं उससे पृथक् हूँ—ऐसा अज्ञानी नहीं मानता।

आत्मा अनन्त गुणोंका स्वामी है, इसकी पहिचान ज्ञानीको होती है; चाहे जैसा असातावेदनीय कर्मका तीव्र उदय हो, तब भी वह उदय ज्ञानीके ज्ञातृत्वसे च्युत नहीं कर सकता; ज्ञानीको अल्पराग है

इससे औषधि–उपचार भी कराता है, तथापि ज्ञानी उसका कर्ता नही होता। वेदनीयकर्मके उदयके समय भी ज्ञानीकी ज्ञातृत्वकी अवस्था वढ़ती ही जाती है। ज्ञानी रोगको ज्ञेयरूपसे जानता है, रोगका ज्ञाता रहता है, परन्तु उसमे एकमेक नही होता।

ज्ञानी समझता है कि मैं मोहनीय कर्म नहीं हूँ, मोहनीयकर्मके फलके समय मैं उसकी अवस्थाका कर्ता नही हूँ, मैं तो अपनी ज्ञानपर्यायका कर्ता हूँ—इसप्रकार ज्ञानी मोहनीय कर्मका ज्ञाता रहता है।

धर्मात्मा ज्ञानी आयुष्यकर्मकी अवस्थाका परिवर्तन करनेवाला नही है। आयुष्य अल्प वँधे या अधिक वधे जैसा चाहे आयुष्य कर्म वंधे, उसका ज्ञानी कर्ता नही है। धर्मात्मा ज्ञानीके एक-दो भव शेष हो तो नवीन आयुप्यकर्म वंधता है परन्तु ज्ञानी समझते हैं कि मेरी स्थिति तो अक्षय है—इसप्रकार अपने आत्माकी अखण्ड प्रतीतिमे, ज्ञानकी अवस्थामे वढ़ते हैं। जो आयुष्यकर्म वंधता है वह तो जड़कर्म है—इसप्रकार ज्ञानी आयुप्य कर्मका कर्ता नही होता।

इसप्रकार नामकर्म वंधता है उसकी अवस्थाका कर्ता धर्मी नही है, धर्मी अपनी ज्ञान अवस्थाका कर्ता है।

इसप्रकार गोत्रकर्म वधता है उसका कर्ता ज्ञानी नही है, ज्ञानी अपनी ज्ञानअवस्थाका कर्ता है।

इसप्रकार अन्तराय कर्मका कर्ता ज्ञानी नही है, दानान्तराय, वीर्यातराय इत्यादि कर्म हैं वे यदि आत्मा दानादि शक्तिके विकासको रोकते हैं तो वे कर्म निमित्त हैं, निजस्वरूपकी अनन्त दानादि शक्तिको जीव स्वयं रोकते हैं, तो कर्म निमित्त है उसका कर्ता अज्ञानी होता है परन्तु ज्ञानी नही होता, ज्ञानीके अल्प अस्थिरता है इससे अल्प वीर्यातराय इत्यादि कर्म वधते हैं परन्तु ज्ञानी उन सवका ज्ञान करनेवाला है।

जो अल्पराग आता है उसका ज्ञानी ज्ञान करनेवाला है; रागका नाशक है परन्तु कर्ता नही है, साक्षीरूपसे स्थित रहकर रागको ज्ञेयरूपसे जानता है परन्तु उसमे एकमेक नही होता। ज्ञानीको अल्प

द्वेष भी आता है, उसका भी ज्ञानी ज्ञान करनेवाला है। द्वेषके ज्ञानकी अवस्थारूप ज्ञानी होता है, परन्तु द्वेषरूप नहीं होता अर्थात् कर्ता नही है, द्वेषमे एकमेक नहीं होता।

ज्ञानीको अल्पक्रोध भी होता है परन्तु उस क्रोधमे वह तन्मयरूपसे युक्त नही होता। ज्ञानीको आत्माका विश्वास रहते हुए अल्प क्रोध होता है और अज्ञानी क्रोधके विश्वासमे रहते हुए अपार क्रोध करता है।

लड़केकी माँ जब क्रोधमें आई हो तब लड़केसे कहती है—पाजी! लुच्चा! ऊधम मचायेगा तो वावाको पकड़ा दूँगी। तो क्या वह वात सच्ची है? बिल्कुल सच्ची नही है, सारा धन सम्पत्ति लड़केको देना है, वाहरसे क्रोध दिखाई दे रहा है तथापि अन्तरमे पुत्र पर अप्रीति नही हुई है—अत्यन्त प्रीति है। उसीप्रकार ज्ञानीके अल्प क्रोध अवस्थामे होता है परन्तु अपने ज्ञायकस्वभावके साथ सम्बन्ध रखकर, तन्मयता रखकर जो अल्प क्रोध होता है उसका ज्ञान करते हैं। दुनियाँकी रीति और कथनसे इस मार्गकी अपूर्व शैली है।

जिसप्रकार माताने लड़के पर शत्रुरूपसे क्रोध नही किया परन्तु प्रीति रखकर अल्प द्वेष किया है; किसी वार माता लड़केसे कहती है कि—कानोंके वीचमे सिर कर दूँगी! परन्तु सिर तो दो कानोंके वीचमे है ही, इसलिये जैसा है वैसा जानती है और कहती है, वेटा! तेरा ज्ञान जैसा है वैसा ही मुझे रहा करे—ऐसा उसका अर्थ है। उसीप्रकार ज्ञानी अल्प क्रोधमें युक्त होते है परन्तु स्वभावकी प्रतीतिसे च्युत नही होते, स्वभावकी प्रतीति रखकर पुरुषार्थकी मंदतासे अल्प विकारमें युक्त हो जाते हैं, जिसप्रकार अन्य वस्तुको ज्ञानी पररूप जानते हैं, उसीप्रकार क्रोधको भी पररूप जानते हैं; कोई पुरुष वाहरकी या दूरकी वस्तुको पृथक्रूप जानता है उसीप्रकार ज्ञानी क्रोधको दूररूप, पृथक्रूप, तटस्थरूपसे जानता है, अनन्त गुणोंके पिण्ड स्ववस्तु—आत्मा पर ज्ञानीकी दृष्टि पड़ी है, अखण्ड ज्ञाता स्वरूपके सन्मुख ही दृष्टि वर्तती है, इसलिये ज्ञानी ज्ञानकी अवस्थाका ही करनेवाला है।

ज्ञानी वीतराग नही हुआ है इससे अल्प मान भी आ जाता है, तथापि वह मानकी अवस्थाका स्वामी नही होता, वह तो त्रैकालिक ज्ञाता स्वभावके लक्ष सहित उसका ज्ञाता रहता है।

ज्ञानीके अभी अल्पकषाय है इससे अल्प माया होती है, साधारण माया होती है; वह मायाको अपना कर्तव्य नही मानता। कषायसे छूटनेकी ज्ञानीकी निरतर भावना होती है। वास्तविक माया तो अज्ञानी ही करता है, ज्ञानी माया करता ही नही। परसे निराले आत्माकी जिसे प्रतीति नही है वह अपनेको ठगता है। ज्ञानी समझता है कि मेरे स्वरूपमे तो माया है ही नही, मैं तो त्रिकाल सरल और सीधे स्वभावरूप हूँ—ऐसा जहाँ माना, स्वरूपकी प्रतीति होनेके पश्चात् अल्प सहज माया होती है परन्तु वह वर्तमान जितनी ही होती है, मायाकी लम्बी लार चलती ही नही, लम्बी लार तो ज्ञान और एकाग्रता की चलती है।

उसीप्रकार अल्प लोभ भी ज्ञानीको होता है परन्तु उस लोभको वह अपना स्वरूप स्वीकार नही करता, ज्ञानी अभी वीतराग नही हुए हैं इससे अल्प कषाय है, इससे क्रोध, मान, माया, लोभ–इन चारों कषायोका अल्प उदय होता है। लोभ अर्थात् इच्छा। शास्त्रमे आचार्योंने कहा है कि योग्य स्थलमे लक्ष्मीका सद्व्यय न करे तो वह लोभी है, लडकेके लिये पैसा रख छोडनेकी वृत्ति लोभ है। लडकेके लिये तो ऐसी व्यवस्था करता है कि पैसा और व्याज दोनो मिलते रहे, और भी अनेक प्रकारकी युक्तियाँ करता है परन्तु वह सब लोभ है। पैसेके ऊपर जीवोका इतना भारी ममत्व होता है कि यदि पर भवमे भी उसे साथमे ले सकते तो कोई छोडकर जानेवाला नही था, किन्तु क्या किया जाये? लडकेके लिये छोडकर जाता है।

पद्मनन्दि आचार्यदेव तो कहते हैं कि हे भाई! तुझे जो लक्ष्मी मिली है उसे तू जिन भगवानके मन्दिरमें, देव–गुरु–शास्त्रकी प्रभावनादिमे सद्व्यय कर तो तुझे वह लक्ष्मी मिली है, नही तो जो

लक्ष्मी मिली वह न मिलेके बराबर है, पेट तो कौए–कुत्ते भी भरते हैं, और तू यदि लक्ष्मी मिलने पर भी धर्मप्रभावनामे उसका सद्व्यय न करे तो तेरे और कौए–कुत्तोंके जीवन मे क्या अन्तर हुआ ? सम्यग्दृष्टि जीव दानका अधिकाश भाग धर्म प्रभावनामे देता है क्योकि उसका धर्मकी ओर झुकाव है इससे देव–गुरु–शास्त्रके प्रति ही उसकी सर्वप्रथम उन्मुखता होती है।

शरीर, मन, वाणी, अनुकूल–प्रतिकूल सयोग–वे सब नोकर्म हैं। सामने दृष्टि डालनेसे बीचमे जो भीत आती है वह भीत भी नोकर्म है क्योकि जाननेमे विघ्नरूप निमित्त हुआ इसलिये वह नोकर्म है; उन सबका ज्ञानी ज्ञान करनेवाला है। ज्ञानी समझता है कि भीतने मेरे ज्ञानको नही रोका है परन्तु मेरे ज्ञानकी योग्यता ही ऐसी थी इससे बीचमे ऐसा निमित्त बना है। अज्ञानी मानता है कि भीत बीचमे आई इसलिये मुझे दूरकी वस्तुका ज्ञान नही होता। ज्ञानी तो निमित्तका भी ज्ञान करता है, अपने ज्ञानकी योग्यताका भी ज्ञान करता है, कुगुरु–कुदेव–कुशास्त्र सम्मुख आये उनका भी ज्ञान करता है। जो कुदेवादि मिथ्यात्वका निमित्त बनते है उन्हे ज्ञानी ज्ञानका निमित्त बनाता है।

ज्ञानीके जड़ मनका निमित्त होने पर भी वह मनका ज्ञान ही करता है, अज्ञानीको तो ऐसा होता है कि हम मनके बिना कैसे रह सकेंगे ? मन बिना आत्मा कैसे रह सकता है ? इसप्रकार अज्ञानी मन और आत्माको एक मानता है। ज्ञानी तो समझते हैं कि मन आत्माका स्वरूप ही नही है, मन तो जड है, ज्ञानस्वरूप आत्मा उससे पृथक् है। हृदयमे आठ पँखुडियोके कमलके आकाररूप मन है वह चैतन्यका स्वरूप नही है, चैतन्य तो ज्ञानादि अनन्त गुणोका पिण्ड है। ज्ञानीको आत्मस्वरूपका भान है इससे वह मनकी अवस्थाका कर्ता नही है।

उसीप्रकार वाणीकी अवस्थाका कर्ता ज्ञानी नही है, ज्ञानी तो सबका ज्ञान ही करता है। ज्ञानी शरीरकी अवस्थाका कर्ता नही है, वह तो उसका ज्ञान ही करता है। इसीप्रकार श्रोत्रेन्द्रियका भी ज्ञानी

ज्ञान ही करता है, ज्ञानी समझता है कि श्रोत्रेन्द्रिय जड है और मैं चैतन्य हूँ इसलिये मैं श्रोत्रेन्द्रियका कर्ता नही हूँ। उसीप्रकार आँखका, नाकका, जीभका, स्पर्शादि सभीका ज्ञानी ज्ञान ही करता है परन्तु कर्ता नही है। १०१।

अब कहते हैं कि–जिसे धर्म की खबर नही है—ऐसा अज्ञानी जीव भी परद्रव्यके भावको तो कभी कर ही नही सकता।

ज भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥१०२॥

जो भाव जीव करे शुभाशुभ उस हि का कर्ता बने।
उसका बने वो कर्म, आत्मा उस हि का वेदक बने ॥१०२॥

अर्थः—आत्मा जिन शुभ या अशुभ (अपने) भावोको करता है उन भावोका वह वास्तवमे कर्ता होता है, वे (भाव) उसका कर्म होता है और वह आत्मा (उन भावरूप कर्मोंका) भोक्ता होता है।

अज्ञानी शुभाशुभ भाव करता है और उन भावोका कर्ता होता है, अपने स्वभावकी शुद्धताकी उसे खबर नही है, इससे उन शुभाशुभ भावस्वरूप ही अपनेको मानता है और उनके कर्तृत्व भावमे वर्तता रहता है। दया, दान, हिंसा, झूठ आदिके भावोंके अतिरिक्त मैं कितना हूँ—उसकी उसे खबर नही है, क्रोध करता है उतना ही अपनेको मानता है। अपने स्वरूपकी उतनी ही कल्पना करता है और कहता है कि–क्रोध करते हैं वह हमारी प्रमाणिकता है। अरे भाई! समझ तो! क्रोध किया अर्थात् कषाय किया—इसमे प्रमाणिकता क्या होती है? प्रमाणिकता तो सम्यग्ज्ञान मे होती है?

जो भाव किया उसी भावका ही वेदन अर्थात् भोक्तृत्व होता है। जिससमय राग-द्वेषके भाव करे उस समय ही उसे आकुलताका वेदन होता है इसलिये उसका भोक्तृत्व भी उसीसमय है। मनुष्य बाह्यदृष्टिसे देखते हैं कि इसने पाप किया इसलिये वह कब नरकमे जायेगा ? यह झूठ बोलता है और इसकी जीभ क्यों तुरन्त नही कट जाती ? परन्तु भाई ! वह जिससमय हिंसा और झूठके भाव करता है उसी समय उसके भावोमे आकुलताका वेदन होता है, जो आकुलताका वेदन है वह दुःखका ही वेदन है। अपने स्वभावका घात किया इससे उसी समय उसके भावमे फल मिल गया है, उसीसमय गुणोकी शक्तिका परिणमन कम होगया है और उसीसमय विपरीत फल मिल गया है। अंतरमे जो फल आता है उसे नही देखता और बाह्यफल आता है—इसप्रकार जो देखता है वह पराश्रित दृष्टिवाला है, बाह्यफल मिलना वह व्यवहार है; बाह्यफल कभी अधिक समयमें मिलता है और कभी जल्दी मिलता है, परन्तु अन्तरग फल तो तुरन्त—उसीक्षण मिल जाता है।

अपना अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वाद होने पर भी इस लोकमे जो यह आत्मा अनादिकालीन अज्ञानके कारण परके और अपने एकत्वके अध्याससे मंद और तीव्र स्वादवाली पुद्गलकर्मके विपाककी दो दशाओ द्वारा अपने (विज्ञानघनरूप) स्वादको भेदता हुआ अज्ञानरूप शुभ या अशुभ भावोको करता है।

अचलित विज्ञानघन कहकर प्रथम द्रव्यदृष्टिसे बात की, और पश्चात् पर्यायदृष्टिसे कहते हैं कि आत्माका तो एकरूप स्वाद है, पुण्य-पापके विकल्परूप अस्थिरता वह आत्माका स्वाद नही है, आत्मा शांत निर्मल अतीन्द्रियस्वरूप है, आत्माका आनन्द ही स्वभाव है, उसमे परका आश्रय नही है; स्वभावमे अपूर्णता नही होती, आत्माका स्वाद एकरूप है—ऐसे नित्य निरुपाधिक स्वभावको अज्ञानताके कारण शुभाशुभरूप अनित्य-औपाधिक भावरूप मानता है और त्रैकालिक

स्वभावको अर्थात् अपने और परके भावोको एकत्वके अध्यासके कारण —यह पुण्य–पापके भाव मैंने किये हैं, इसप्रकार पुण्य–पापके भावोका कर्ता होता है। मेरा जो नित्य ज्ञानस्वभाव है वही मैं हूँ—ऐसा अभ्यास करना चाहिये उसके बदले अनित्य शुभाशुभ भाव हैं वह मैं हूँ—ऐसी आदत पाड ली है।

किसी समय कषायके परिणाम मंद होते है अर्थात् पुण्य-परिणाम होते है, कभी कषायके तीव्र परिणाम होते हैं अर्थात् पाप-परिणाम होते हैं—इसप्रकार मद राग और तीव्र राग, मद तृष्णा और तीव्र तृष्णा, मद मान और तीव्र मान इत्यादि वैसे स्वाद वाली पुद्गल-कर्मकी दो दशाओं–अवस्थाओ द्वारा अपने स्वादका भेदन करता हुआ–तोडता हुआ अर्थात् असली स्वभावस्वादका अनुभव न लेता हुआ शुभाशुभ भावोको अपना मानता है—अपना स्वाद मानता है। अपने निराले स्वभावका भान नही है, इससे शुभाशुभभावोका कर्ता होता है, अपने स्वरूपकी प्रतीति नही है इससे अपनी शाति–समाधिको तोडता हुआ शुभाशुभरूप दोनो भावोको करता है।

जिससमय आत्मा शुभाशुभ भावोको करता है उस समय वह आत्मा तन्मयरूपसे उन भावोका व्यापक होनेसे उनका कर्ता होता है और वे भाव भी उससमय तन्मयरूपसे उस आत्माका व्याप्य होनेसे उसका कर्म होते हैं।

आत्मा जब पुण्य–पापकी वृत्तिके भाव करता है, उसीसमय उसमे परिणमित होकर उन भावोका व्यापक होकर—वही मेरा कार्य है, वही मेरा कर्तव्य है—वैसा मानकर उनका कर्ता होता है और शुभाशुभ भावरूप कर्म व्याप्य होनेसे वे आत्माका तन्मयरूप कर्तव्य होते हैं अर्थात् उन विकारी परिणामोको वह तन्मयरूपसे अपना कर्तव्य मानता है।

पुनश्च, वही आत्मा उससमय तन्मयरूपसे उन भावोका भावक होनेसे उनका अनुभवन करनेवाला होता है और वे भाव भी उससमय

तन्मयरूपसे उस आत्माका भाव्य होनेसे उसका अनुभाव्य (अर्थात् भोग्य) होते है। इसप्रकार अज्ञानी भी परद्रव्योंके भावका कर्ता नही है परन्तु अपने विकारी भावोका कर्ता है।

आत्मा जिससमय व्यापक होकर विकारी भावोका कर्ता होता है उसीसमय उनका तन्मयरूपसे भोक्ता भी होता है, तन्मयरूपसे पुण्य-पापके भाव किये—उससमय अपनेमे अपना अतीन्द्रिय आनन्द है उसका भान न होने से—पुण्य-पापकी जो वृत्तियाँ हैं वही मेरा स्वाद है—वैसा मानता हुआ उनका भोक्ता होता है और विकारी परिणाम उसका तन्मयरूपसे भोग्य होते हैं। पुद्गलकर्मका उदय वादमे आयेगा और भोगना होगा—वैसा कहना व्यवहार है। वास्तवमें जिससमय भाव होता है उसीसमय भोक्ता होता है—इसप्रकार अज्ञानी भी पर-द्रव्यके भावोका कर्ता नही है परन्तु विकारी परिणामोका ही कर्ता होता है।

कोई लकडी मारे वह कर्मका वाह्य फल है। वास्तविक फल तो उसने अज्ञान और राग-द्वेषसे स्वभावका घात किया वही है। जिस क्षण राग, द्वेप भाव किये उसी क्षण आत्माके गुणोंकी हिंसा हो रही है, इसप्रकार जिसक्षण भाव किये उसीक्षण उनका फल है।

किसीने अज्ञानतामे चोरीके भाव किये और फिर समझदार हो गया, ज्ञानी हो गया, उसके पश्चात् उस पर किसीने दावा किया और उससे वह जेलमे गया, तथापि वहाँ उसको निराले आत्माका भान वर्त रहा है, जेलके उदयको ज्ञातारूपसे जानता हुआ ज्ञानकी वृद्धि करता है; चोरीके भाव पलट गये इससे अव चोरीके भावोंका वेदन नहीं है, फल आया किन्तु वेदन पलट गया, इसलिये वास्तविक वेदन तो जिस क्षण भाव करे उसी क्षण है, जेलमें उसके आत्माका भान वर्त रहा है इससे सत्यका-मोक्षका मार्ग वहाँ भी उसके प्रवर्तमान ही है।

अज्ञानी अपने शुभाशुभ भावोको कर सकता है और शुभाशुभ भाव उसका कार्य होता है; उसके अतिरिक्त शरीर-मन-वाणी इत्यादि

जड द्रव्योका आत्मा कुछ नही कर सकता। आत्मा तो ज्ञानमूर्ति स्वभावसे है, उसे भूलकर अज्ञानी राग-द्वेष, हर्ष-शोकको करता है उसी क्षण उसे आकुलताका वेदन होता है और उसीक्षण आत्माके गुणोकी हिंसा होती है।

आत्मा अपने भावोंके अतिरिक्त पुत्र–पुत्रियोका या शत्रुका कुछ भी नही कर सकता, परन्तु इष्ट मानकर स्त्री, कुटुम्ब, पुत्रादिके प्रति राग करता है और अनिष्ट मानकर–शत्रु मानकर उसके प्रति द्वेष करता है—उन भावोका कर्ता होता है और उसीक्षण उन विकारी भावोका वेदन करनेवाला अर्थात् भोक्ता होता है।

बाह्य शरीरादिका जैसा होना हो वैसा होता है, परन्तु स्वतः मिथ्या मान्यता करता है कि मैं परका करता हूँ, अरुचि अप्रीति आदि विकारी परिणाम चैतन्यकी सत्ताके क्षेत्रमे होते है, परन्तु मकान, स्त्री, कुटुम्ब, शरीरादिका कुछ भी करना अपनी सत्ताके क्षेत्रसे बाहर है अर्थात् वह अपने हाथकी बात नही है।

कोई कहे कि–हिंसाके भाव करे, क्रोधके भाव करे उसमे किसी भी प्रकारका दुःखका वेदन तो दिखाई नही देता, अरे भाई! कुछ विचार करके देख तो उसमे आकुलताका वेदन हो ही रहा है, कमानेका भाव करे, पुत्रके व्याहका भाव करे, हिंसाका या क्रोधका भाव करे, तब वह दुःखी ही है, उससमय आकुलताका वेदन हो ही रहा है।

उसीप्रकार जब शुभभाव करे उससमय भी आकुलताका वेदन हो ही रहा है। दया, पूजा, व्रतादिके परिणाम करे उससमय भी यदि सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाये तो पता चले कि आकुलताका ही वेदन हो रहा है। एक तीव्र कषाय है और दूसरी मन्द कषाय है परन्तु हैं तो दोनो आकुलता स्वरूप ही। आत्माके बिल्कुल अकषाय–अनाकुल आनन्द स्वभावसे शुभाशुभ परिणामोका स्वाद विपरीत है, वह दुःखस्वरूप ही है, आत्माके आनन्द गुणका हनन करनेवाला है।

अज्ञानरूप मिथ्या अभिप्राय द्वारा अपने शुभाशुभ परिणामोंको आत्मा कर सकता है परन्तु परद्रव्यका कुछ कर ही नही सकता। देव-गुरु–शास्त्र किसीका भी जीव कुछ भी नही कर सकता, अपने शुभ या अशुभ भावोको ही करता है।

कोई कहता है कि ईश्वर अन्य पदार्थोकी अवस्थाको करता है, परन्तु भाई! ईश्वर भी किसी परपदार्थकी अवस्थाको नही कर सकता, ईश्वर भी समस्त परपदार्थोसे भिन्न एक चैतन्य पदार्थ है। किसी पदार्थमे अन्य पदार्थकी अवस्था करनेका सामर्थ्य नही है; कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थकी अवस्थाको करे तो दो पदार्थ एक हो जाये, वस्तु पराधीन हो जाये, परन्तु वस्तुस्वभाव ऐसा है ही नही, प्रत्येक वस्तु स्वाधीनरूप परिणमित होती है। प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्माका कर्ता और कार्यपना अपने अपने द्वारा पृथक् पृथक् होता है। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और आधार स्वयं अपने अपनेमे ही है।

जिस क्षण विकारी भाव किये उसीक्षण उनका भोक्ता होता है, कर्म पश्चात् उदयमें आयेंगे और भोगना पडेंगे—ऐसा कहना सो व्यवहार है। अज्ञानी परद्रव्यको नही कर सकता, परन्तु कर्तृत्व मानता है कि मैं परद्रव्यको करता हूँ। ज्ञानी, परद्रव्यकी जो अवस्था होती है उसका ज्ञाता रहता है, उसकी ज्ञानपर्याय बढती ही जाती है। ज्ञानी ज्ञानका ही कर्ता होता है परन्तु परद्रव्यकी अवस्थाका कर्ता नही होता। अज्ञानी व्यवहारसे भी परद्रव्यकी अवस्थाको नही कर सकता परन्तु कर्तृत्व मान लेता है; अज्ञानी अपने शुभाशुभ भावोंको कर्ता है परन्तु जड़ कर्मका कर्ता कभी भी नही है अर्थात् अज्ञानी अपनी अवस्थामे भावकर्मोंका करता है परन्तु पुद्गलद्रव्यस्वरूप द्रव्यकर्म और नोकर्मका कर्ता तो कभी भी नही है। १०२।

परभावोंको कोई (द्रव्य) नही कर सकता—ऐसा कहते हैं:—

जो जह्मि गुणे दव्वे सो अण्णह्मि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न संक्रामति द्रव्ये ।
सोऽन्यदसंक्रांतः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम् ॥१०३॥

जो द्रव्य जो गुण-द्रव्यमें, परद्रव्यरूप न संक्रमे ।
अनसंक्रमा किसभाँति वह परद्रव्य प्रणमावे अरे ॥१०३॥

जो वस्तु (अर्थात् द्रव्य) जिस द्रव्य और गुणमे प्रवर्तमान होती है वह अन्यद्रव्यमे तथा गुणमे सक्रमण नही पाती (अर्थात् बदलकर अन्यमें नही मिल जाती) । अन्यरूपमे सक्रमण न पाती हुई वह (वस्तु) अन्यवस्तुको कैसे परिणमित कर सकती है ?

आत्मा आत्मामे है, परमाणु परमाणुमे है, अन्य आत्मा अन्य आत्माओमे हैं—इसप्रकार छहो द्रव्य स्वत अपनेमे ही हैं । किसी द्रव्यके गुण पर्याय किसी अन्य द्रव्यके गुणपर्यायरूपमे बदलकर होते ही नही; कोई वस्तु अन्य वस्तुरूप नही होती, कोई गुण किसी अन्य द्रव्यके गुणरूप नही होता, कोई पर्याय किसी दूसरे द्रव्यकी पर्यायरूप नही होती, एक आत्मा दूसरे आत्माको बदलकर कुछ नही देता, आत्मा बदलकर रजकणको कुछ नही देता । एक वस्तु दूसरी वस्तुमे प्रविष्ट हो जाये तो कुछ दिया कहलाये, परन्तु ऐसा नही होता इसलिये कोई किसीको कुछ नही देता, तीनकाल और तीनलोकमे एक वस्तु दूसरी वस्तुमे पर्यायरूपसे भी परिवर्तित होकर नही होती, एक वस्तुको दूसरी वस्तुमे परिवर्तित करनेका सामर्थ्य किसी वस्तुमे नही है, एक वस्तु दूसरी वस्तुरूप पलट नही जाती—परिवर्तित नही हो जाती असर, प्रभाव, प्रेरणा नही कर सकती । द्रव्य अपेक्षा या पर्याय अपेक्षा किसी भी प्रकार परभावोका कर्तापना तीनकालमे नही है । परका कर्ता मानना वह व्यवहारी जनोका मोह है ।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्यको अधिक कालतक समझाये तो भी

नही समझता; इसलिये समझनेवाला स्वतः अपनेसे समझता है। समझनेवालेको कोई अन्य द्रव्य नही समझा सकता—नही बदल सकता। कर्ताकर्मपना भिन्न-भिन्न समझनेका इस गाथामे सिद्धान्त है।

जगतमे जो कोई जितनी बड़ी वस्तु जो जितना बड़ा चैतन्य-स्वरूप या अचैतन्य स्वरूप है वह द्रव्यमें और गुणमें निजरससे अनादिसे ही प्रवर्तमान है।

जगतमे चैतन्य है वह चैतन्यस्वरूप जितना ही है, अर्थात् चैतन्य चैतन्यस्वरूपसे बाहर नही है या चैतन्यस्वरूपसे अपूर्ण नही है, अर्थात् चैतन्य चैतन्यमे ही है। इसीप्रकार रजकण भी रजकणमे ही है, जड़ और चैतन्य अपने भावसे ही अनादिसे प्रर्वतमान हैं, पुद्गलके रजकण पुद्गलसे ही पुद्गलके आधारसे ही अनादिसे वर्त रहे हैं। इसप्रकार प्रत्येक-प्रत्येक द्रव्य अपने निजरससे ही अनादिसे प्रवर्तमान है; पुद्गलमे भी वर्ण, गंध, रस, स्पर्श है, इसलिये पुद्गलका रस पुद्गलमे है और चैतन्यका चैतन्यमे। ऐसी वस्तुस्थितिकी मर्यादा व्यवस्थित होनेसे किसीका अन्य कर्ता नही हो सकता है।

एक आत्मा अपना एक आत्मामे और दूसरा आत्मा दूसरे आत्मामे, एक रजकण एक रजकणमे और दूसरा रजकण दूसरे रजकणमे; —इसप्रकार रजकण, रजकणमे है और आत्मा आत्मामे है। अतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका किसी प्रकार भी कर्त्ता, भोक्ता या स्वामी नही है।

वास्तवमे ऐसी अचलित वस्तुस्थितिकी मर्यादाको तोडना अशक्य होनेसे, उसीमें (अपने उतने बडे द्रव्य-गुणमें ही) प्रवर्तमान रहती है। अचलित अर्थात् जो चल न सके—वैसी वस्तुस्थितिकी मर्यादा है। आत्मा जड हो जाये और जड आत्मा बन जाये—ऐसा नही हो सकता। वस्तु अपनी मर्यादामें ही प्रवर्तमान रहती है, उस मर्यादाको त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव भी नही तोड़ सकते। वस्तुस्थितिकी मर्यादा-को तोडकर, उसकी तैयारीके बिना किसीको बलात् दूसरा नही समझा सकता। जो वस्तु अपने द्रव्य, गुण और पर्यायसे वर्त रही है उस मर्यादाको तोड़ना अशक्य है अर्थात् उसे कोई भी नही तोड़ सकता।

प्रत्येक वस्तुका अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप होना—परसे या परके द्रव्यादिके आधीन न होना ऐसी मर्यादा तीनो काल वर्तती है, वस, ऐसी वस्तुस्थितिकी मर्यादाको तोडना अशक्य होनेसे वस्तु द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप सक्रमण नही पाती। गुणान्तरमे पर्याय भी आगई। वस्तु अपने आप स्वतत्र परिवर्तित होती है, अपनी शक्तिसे वदलती है तब स्वतंत्ररूपसे उसकी पर्याय प्रगट होती है, कोई वलात् परिवर्तित नही कर सकता और वलात् समझा कर उसकी पर्याय प्रगट नही कर सकता। यदि वलात् समझा सकता हो तो त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव सवको मोक्षमे ले जाये न? परन्तु तीर्थंकरदेव किसीको मोक्षमे नही ले जाते। स्वतः समझे तव अपनी मोक्ष पर्याय प्रगट होती है।

एक जड़ दूसरे जड़का कुछ नहीं करता, एक आत्मा दूसरे आत्माका कुछ नहीं करता, एक रजकण आत्माका कुछ नहीं करता और प्रत्येक आत्मा रजकणका कुछ नहीं करता। कर्मकी अवस्था उसमें होरही है, आत्मा उसे कुछ नहीं कर सकता। छहों पदार्थ स्वतः जितनी वड़ी वस्तुओं–जितने बड़े द्रव्योंमें वर्त रहे हैं उसे कोई नहीं वदल सकता। छहों द्रव्य कोई किसीको कुछ नहीं देसकते। कितनी अच्छी वात है। उसे माने तो सर्व समाधानरूप सुख हो जाये। निमित्त कारण सच्चे कारण नहीं है, निमित्तकी मुख्यतासे कथन होता है किन्तु कभी भी निमित्तकी मुख्यतासे कार्य नहीं होता।

करोडो रुपये पुण्यके कारण आते हैं और चले जाते हैं, उनका आना–जाना अपने हाथकी वात नही है। किसीको दस लाख रुपये आये और चले गये। परन्तु भाई! पुण्यके रजकण थे तो आये परन्तु उन्हे जाना हो तो कोई रोक नही सकता। शरीरमे रोग आये तव आत्मा उसे रोक सकता है? पेटमे वायु चढे, जलन हो तव कहता है कि मैं मरता हूँ। स्वत शरीर पर ममत्व किया इससे

जलन मालूम होती है और कहता है कि मैं जला जाता हूँ; परन्तु वास्तवमे जलन शरीरमे होती है आत्मामें नही होती। आत्मा तो शरीरसे भिन्न है, शरीर अपने रखनेसे नही रहता, शरीर उसकी स्थितिके अनुसार स्थिर रहता है। कोई द्रव्य किसी द्रव्यको नही रख सकता, आत्मा अपने स्वभावके अतिरिक्त परका कुछ नहीं कर सकता; अधिक तो विपरीत मान्यता और पुण्य-पापके भाव कर सकता है परन्तु पर द्रव्योंको परिवर्तित कर ही नही सकता।

पैसेका रहना या जाना वह अपने हाथकी वात नही हैं; जब पुण्य फिरता है तव दुकान जल जाती है, लड़की विधवा हो जाती है, धरतीमे रखा हुआ धन राख हो जाता है—इत्यादि एक ही साथ सब आपत्तियाँ आती हैं। कोई कहे कि ऐसा तो किसी समय होता है न ? अरे ! पुण्य फिरे तो सव प्रसंग फिरते देर नही लगती। परद्रव्यको कैसे रहना है वह तेरे हाथकी वात ही नही है न ! इसलिये आत्माकी पहिचान करके उसमे स्थिर हो जा।

धर्मकी श्रद्धा होनेके पश्चात् पुरुषार्थकी मन्दताके कारण पूर्ण स्थिरता न हो इससे अल्प अस्थिरता रहती है परन्तु वह वस्तुकी स्थिरता जैसी है उसे यथावत् जानता है। पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण अल्प अस्थिरताके परिणाम आते हैं, परन्तु वह समझता है कि एक तत्व दूसरे तत्वका कुछ भी नही कर सकता। मैं पुण्य भाव करूँ तो पिंजरा-पोल चलती रहे, और मैं पापभाव करूँ तो दूसरेका बुरा हो जाये—ऐसा धर्मात्मा नही मानता, वह समझता है सामनेवालेका भला-बुरा संयोग होना वह उसके पुण्य-पापके उदयके आधार पर है, मैं उसे नही कर सकता, मैं तो मात्र भले-बुरे परिणाम कर सकता हूँ; अल्प अस्थिरताके कारण राग-द्वेष होता है किन्तु वास्तवमे मैं उसका कर्ता नही हूँ, स्वामी नही हूँ, परन्तु ज्ञाता हूँ।

इसप्रकार भगवान आत्मा आठ जड़ कर्मोका कर्ता नहीं है, परन्तु भावकर्मका कर्ता है; भावकर्मके कारण द्रव्यकर्म स्वयं—अपने

आप बँधता है। इन गाथाओंके सिद्धान्तसे आत्मा आठ जडकर्मोंका अकर्ता सिद्ध हुआ, क्योकि वस्तुस्थितिकी मर्यादाको कोई तोड नही सकता।

इस (उपर्युक्त) कारणसे आत्मा वास्तवमे पुद्गल कर्मोका अकर्ता सिद्ध हुआ—ऐसा अब कहते हैं —

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयह्मि कम्मह्मि।
तं उभयमकुव्वंतो तह्मि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥ १०४ ॥

आत्मा करे नहिं द्रव्य-गुण पुद्गलमयी कर्मों विषै।
इन उभयको उनमें न करता, क्यों हि तत्कर्ता बने ॥१०४॥

अर्थः—आत्मा पुद्गलमय कर्ममे द्रव्यको तथा गुणको नही करता, उसमे वह दोनोको न करता हुआ उसका कर्ता कैसे होगा ?

आत्मा सदा अरूपी ज्ञानघन है वह जगतके रूपी पुद्गलोको कैसे कर सकेगा ? क्या जगतमे रूपी पुद्गल नही हैं कि आत्मा उन्हे नवीन उत्पन्न कर सके ? कोई द्रव्य किसी द्रव्यको उत्पन्न नही कर सकता, कोई द्रव्य किसी द्रव्यकी पर्यायको नही कर सकता। कर्मकी अवस्था पुद्गलकी शक्तिमेसे उत्पन्न हुई है, इसलिये आत्मा उस कर्मकी अवस्थाका कर्ता नही है। आत्माने आठ कर्मोंको किया वह उपचार-व्यवहार कथन निमित्तका ज्ञान करानेके लिये है। आत्मा शुभाशुभ भाव करे उनका निमित्त पाकर पुद्गल स्वय कार्यरूप परिणमित होते हैं, आत्मा अपने विकार भावोको करता है परन्तु जडकर्मोंको तो करता ही नही।

जिसप्रकार-मिट्टीमय घडारूपी कर्म जो कि मिट्टीरूप द्रव्यमे और मिट्टीके गुणमे निजरससे ही प्रवर्तमान रहता है उसमे कुम्भार अपनेको या अपने गुणोको डालता-रखता-मिलाता नही है।

मिट्टीमय घड़ारूपी कार्य है अर्थात् मिट्टीका जो घड़ा हुआ वह कार्य मिट्टीमय है या कुम्भारमय ? घडा तो मिट्टीमय ही है। मिट्टी-स्वरूप जो घड़ारूपी कार्य है वह मिट्टीकी अवस्थारूप वंर्तता है, मिट्टीके रसमे घड़ा प्रवर्तमान है, कुम्भारका कर्म (—कार्य) घड़ा नही है, कुम्भार अपने गुणोको अथवा अपनी वस्तुको घडेमे डालता—मिलाता नही है, तव फिर, कुम्भारने क्या किया ? कुम्भारने जाना कि घडा होता है, जिससमय होनेवाले हो उससमय घड़ा होता है परन्तु कुम्भार घडे को नही कर सकता। वहाँ खड़े—खडे कुम्भारने क्रोध किया, प्रेम किया तो वह कुम्भारकी क्रोध या प्रेमरूप अवस्था घड़े मे प्रविष्ट हो जाती है ? नही हो सकती। क्योकि किसी द्रव्यान्तर या गुणान्तररूप सक्रमण होने का वस्तुस्थिति से ही निषेध है, कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तुरूप हो या कोई गुण किसी अन्य गुणरूप हो—वैसा होतां ही नही —ऐसी वस्तुस्थिति की मर्यादा है। कुम्भार मिट्टीमय हुए विना घड़ारूप होनेका कार्य नही कर सकता, क्योकि जो द्रव्य जिससमय होती है उसीसमय उसकी अवस्था होती है, इसलिये घड़ारूपी अवस्था मिट्टीमय ही होती है परन्तु कुम्भारमय नही होती, क्योंकि कुम्भार मिट्टीमय हो ही नही सकता। एक वस्तु दूसरी वस्तुमे प्रविष्ट हुए विना, संक्रमण अर्थात् स्वतः पलटकर पररूप हुए विना परमे कर्तापना कैसा ?

द्रव्यातररूपसे (अर्थात् अन्यद्रव्यरूपसे) संक्रमण पाये विना अन्य वस्तुको परिणमित करना अशक्य होनेसे, अपने द्रव्य—और गुण दोनोंको उस घड़ारूपी कर्ममे न डालता हुआ वह कुम्भार परमार्थसे उसका कर्ता प्रतिभासित नही होता।

इसमे कर्ताकर्मका स्पष्ट खुलासा किया है कि एक वस्तु दूसरी वस्तुमे नही जाती; तव फिर उस वस्तुने दूसरी वस्तुको क्या किया ? कुछ भी नही किया। अपने द्रव्य गुणको घडेमे न डालता हुआ वह कुम्भार परमार्थसे परका कर्ता प्रतिभासित नही होता। कुम्भार जव क्रोधमे हो और चाक घुमा रहा हो तव उस चाक परसे उतरे हुए घड़ेमें

भी क्रोध भर जाना चाहिये, और उस घडेका पानी पीनेवालेको भी क्रोध होना चाहिए, परन्तु वैसा तो नही होता, इसलिये कुम्भार घडेका कर्ता नही है ।

कुम्भार क्षायिक सम्यक्त्वी हो और घडा बनानेके लिये चाक घुमा रहा हो उस समय कुम्भारको क्षायिक सम्यक्त्वमे जिस सुख और शातिका वेदन होता है वह सुख और शांति क्या घडेमे प्रविष्ट हो जाते है ? और घडेका पानी पीनेवालेको क्या सुख और सम्यक्त्व हो जाते हैं ? वैसा तो नही होता इसलिये कुम्भार घडेका कर्ता प्रतिभासित नही होता अर्थात् घडेका कर्ता दिखाई ही नही देता । उसीप्रकार—पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म जो कि पुद्गलद्रव्यमे और पुद्गलके गुणोमे निजशक्तिसे ही वर्तते हैं—उनमे आत्मा अपने द्रव्यको या गुणोको वास्तवमे डालता–मिलाता नही है, क्योकि (किसी वस्तुका) द्रव्यान्तर या गुणान्तररूपसे संक्रमण होना अशक्य है ।

मिट्टीकी अवस्था कुम्भार नही करता उसीप्रकार ज्ञानावरणादि आठकर्मोंकी अवस्था पुद्गलमय ही है और पुद्गलके निजरससे ही वर्तती है । आत्माका कोई भी गुण या अवस्था आठकर्मोमे नही जाते और पुद्गलकी कोई भी अवस्था आत्मामे नही आती । आचार्यदेव समझाते हैं कि तू अपने भावोको कर सकता है, परका कुछ नही कर सकता । जब पुद्गलमे घडा होने की योग्यता हो तब उसी प्रकारकी योग्यता वाले रजकण वहाँ उपस्थित होते हैं । पहले मिट्टीका पिण्ड होता है फिर थाला होता है—इसप्रकार जब जैसी क्रमबद्ध पर्याय होना हो तब उसीप्रकारकी योग्यतावाले रजकण घडा होनेरूप उपस्थित होते हैं । उसीप्रकार जो परमाणु कर्मरूप होनेकी योग्यतावाले होते हैं वे ही कर्मरूप बँधते हैं, उनमे आत्मा अपने द्रव्य या गुणोको नही मिलाता । आत्मा विकारी भाव करता है तब उनका निमित्त प्राप्त करके कर्मके रजकण कर्मरूप अपने आप परिणमित होते हैं । नीमके पत्तेकी अवस्थारूपमे कौनसे रजकण आते

हैं ? जो कड़वे रसरूप परिणमित होनेकी योग्यतावाले होते है वे ही रजकण नीमरूप परिणमित होते है, उसीप्रकार जिन परमाणुओं मे आठकर्मरूप परिणमित होनेकी योग्यता हो वे ही परमाणु कर्मरूप परिणमित होते हैं।

आत्मा कर्मसे पृथक् पदार्थ है, वह कर्ममे नही जाता और पुण्य–पापके भाव भी कर्म मे नही जाते, आत्मा स्वतः अपने द्रव्य–गुणको या पर्यायको आठकर्मोंमे नही डालता–नही मिलाता, क्योकि किसी वस्तुका द्रव्यान्तर अर्थात् एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यरूप होना और गुणान्तर अर्थात् एक द्रव्यके गुणोका दूसरे द्रव्यके गुणोंमें सक्रमण होना अर्थात् बदलना बिल्कुल अशक्य है तब फिर द्रव्यान्तर और गुणान्तररूप हुए बिना अन्य द्रव्यको परिणमित करना अशक्य होनेसे अपने द्रव्य और गुण दोनोको ज्ञानावरणादि कर्मोमे न डालता हुआ वह आत्मा परमार्थसे उनका कर्ता कैसे हो सकता है ? कभी हो ही नही सकता, इसलिये वास्तवमे आत्मा पुद्गलकर्मका अकर्ता सिद्ध हुआ।

वास्तवमे आत्मा परका कर्ता है ही नही क्योकि पररूप हुए बिना परका कर्ता हो ही नही सकता, इसलिये आत्मा अकर्ता है। आठ कर्मोकी अवस्था आत्मा नही करता, तो फिर शरीर, व्यापारादिकी अवस्था तो कहाँसे करेगा ? शरीर–व्यापार–धंधेकी अवस्था मैं कर सकता हूँ— ऐसा मानना मिथ्यात्व है।

अज्ञानी निमित्तरूपसे परका कर्ता होता है, स्वतः विकारी भाव करे तब कर्म बँधते है अर्थात् अज्ञानी मानता है कि मैं कर्मका (परके कार्यका) निमित्तकर्ता हूँ, अतः अज्ञानी परमे अपना कर्तापन मानता है इससे उपचारसे कर्ता कहा जाता है कि आत्माने जड़ कर्म किया। १०४।

आत्माको पुद्गल कर्मका कर्ता कहना वह उपचारमात्र है— ऐसा अब कहते हैः—

जीवह्मि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं ।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयार मत्तेण ॥१०५॥

जीवे हेतुभूते बंधस्य तु दृष्ट्वा परिणामम् ।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥१०५॥

जीव हेतुभूत हुआ अरे ! परिणाम देख जु बंधका ।
उपचारमात्र कहाय यों यह कर्म आत्माने किया ॥१०५॥

अर्थः—जीव निमित्तभूत बननेसे कर्मबन्धका परिणाम होता देखकर, 'जीवने कर्म किया'—ऐसा मात्र उपचारसे कहा जाता है ।

जीव निमित्तभूत बननेसे, अर्थात् अज्ञानी आत्मा पुण्य–पाप, राग-द्वेष, हर्ष-शोकके भाव अपनेमे करता है वे भाव निमित्तभूत होनेसे कर्मका परिणाम अर्थात् अवस्था होती है । जहाँतक पुद्गलोकी अवस्था कर्मरूप नही होती वहाँतक वे पुद्गल अन्य अवस्थारूप होते है, जीवने राग-द्वेषके भाव किये उससमय पुद्गलोमे कर्मबन्धका परिणाम हुआ—उसे देखकर उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि जीवने कर्म किया । देखो ! आचार्यदेवने स्पष्टीकरण किया है कि जीव कर्मको करता है—ऐसा उपचारमात्रसे ही कहा जाता है अर्थात् वास्तविक रीतिसे जीव जडकर्मको नही करता । अपने राग-द्वेषके भावोको अज्ञान अवस्थासे करे, परन्तु जड कर्मोका कर्ता तो आत्मा है ही नही ।

इस लोकमे वास्तवमे आत्मा स्वभावसे पौद्गलिक कर्मको निमित्तभूत न होने पर भी पौद्गलिक कर्म आत्माने किया—ऐसा उपचार है । स्वभावसे अर्थात् सम्यग्दृष्टि पौद्गलिक कर्मका निमित्तभूत नही है, क्योकि आत्मा कर्मको निमित्तभूत नही है और सम्यग्दृष्टिका विषय भी आत्मा है इसलिये सम्यग्दृष्टि कर्मका हेतुभूत नही है । ज्ञानीके विभाव नही है विभावका स्वामी नही है । वह तो ज्ञान करनेवाला है । आत्माका स्वभाव यदि कर्मको निमित्तभूत हो तब तो आत्माको परके साथ स्वभाव सम्बन्ध हुआ और वह साथ कभी छूट नही सकता,

इसलिये आत्माका स्वभाव कर्मको निमित्तभूत नहीं है। सम्यग्दृष्टि भी कर्मको निमित्तभूत नही हैं; सम्यग्दृष्टिको अल्प अस्थिरता होती है उसके निमित्तसे अल्प कर्म बन्ध होता है, परन्तु ज्ञानी अस्थिरताका स्वामी नही है, इससे वह बात गौण है। अज्ञानी कर्मको निमित्तभूत होता है।

इस लोकमे वास्तवमें आत्मा स्वभावसे पौद्गलिक कर्मको निमित्तभूत न होने पर भी अनादि अज्ञानके कारण पौद्गलिक कर्मको निमित्तरूप होनेवाले अज्ञानभावरूप परिणमित होनेसे जीवकी विभाव पर्यायका निमित्त पाकर पौद्गलिककर्म उत्पन्न होता है, इससे 'पौद्गलिक कर्म आत्माने किया'—ऐसा, निर्विकल्प विज्ञानघनस्वभावसे भ्रष्ट, विकल्पपरायण अज्ञानियोका विकल्प है, वह विकल्प उपचार ही है, परमार्थ नही।

इस जगतमे आत्माका स्वभाव कर्मबन्ध होनेमे निमित्त नहीं है, यदि स्वभाव निमित्तभूत हो तो कर्मका बन्ध कभी छूट नही सकता। आत्माका स्वभाव तो अनादि-अनन्त एकरूप है, वह स्वभाव यदि कर्मको निमित्तभूत हो तो त्रिकाल कर्मबन्धमें निमित्तभूत होना ही चाहिये और त्रिकाल निमित्तभूत होनेसे कर्मका अभाव होगा ही नही, परन्तु वैसा तो होता ही नही, नित्य स्वभाव कर्मबन्धमें निमित्तभूत नही होता, अनित्य, विभाव निमित्तभूत होता है, इसलिये अनादि अज्ञान ही पौद्गलिक कर्मको निमित्तभूत है। जहाँ आत्मा अज्ञानरूप परिणमित होता है वहाँ उस अज्ञानभावका निमित्त प्राप्त करके पुद्गलकर्म स्वतः बँधते हैं, पुद्गलकी वह कर्मरूप अवस्था आत्मा नही करता, आत्मा तो अज्ञानभावसे अपने शुभाशुभभाव करता है, उन भावोंका निमित्त प्राप्त करके पुद्गलकर्म बँधते हैं। उन पुद्गल कर्मोको आत्माने बाँधा—ऐसा कहना व्यवहार है—उपचार है।

वे पौद्गलिक कर्म आत्माने बाँधे—ऐसा निर्विकल्प स्वभावसे भ्रष्ट विकल्पपरायण अज्ञानियोका अभिप्राय है। उन मिथ्या विकल्पमे

आरूढ हुआ अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं कर्मोंको निमित्तभूत हूँ इससे वह कर्मोका निमित्तकर्ता कहलाता है। अज्ञानीके अपने स्वभावकी दृष्टि नही है इससे वह विकल्पमे एकत्वबुद्धिसे प्रवर्तमान रहता है, मै परको करता हूँ, मैं परको करता हूँ—ऐसे मिथ्या विकल्प करके स्वत परका कर्तृत्व और स्वामित्व स्वीकार कर लिया है, इससे उसे परका कर्ता कहा जाता है, वास्तवमे परको अज्ञानी भी नही कर सकता। अज्ञानी अज्ञानभावसे राग-द्वेष करता है और ज्ञानी ज्ञानभावसे राग-द्वेष रहित निर्मल भावोको करता है, परन्तु परका कर्ता ज्ञानी या अज्ञानी कोई नही है।

वीतराग स्वरूपकी साधनामे राग कुछ सहायता करता है ? नही करता। ज्ञानीकी दृष्टि स्वभाव पर है, वह रागका स्वामी नही होता, इसलिये वह बन्धका निमित्त नही होता। अज्ञानी परका निमित्त स्वीकार करता है, इसलिये उसे उपचारसे परका कर्ता कहा है, ज्ञानी परका निमित्त स्वीकार नही करता इसलिये वह परका कर्ता नही है। १०५।

अब, उपचार किसप्रकार है वह दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः।
व्यवहारेण तथा कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥१०६॥

योद्धा करें जहँ युद्ध, वहाँ वह भूपकृत जनगण कहैं।
त्यों जीवने ज्ञानावरण आदिक किये व्यवहारसे ॥१०६॥

अर्थः—योद्धाओ द्वारा युद्ध किये जाने पर, "राजाने युद्ध किया" ऐसा लोक (व्यवहारसे) कहते हैं, उसीप्रकार 'ज्ञानावरणादि कर्म जीवने किये'—ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है।

इस जगतमें योद्धा युद्ध करते हैं, तथापि उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि राजाने युद्ध किया। सैन्य लड़ती है तो भी उपचारसे कहते हैं कि राजा लड़ रहा है; उसीप्रकार आत्मा अज्ञान भावसे रागद्वेप करता है तब नवीन कर्म अपनेआप वँध जाते हैं, मात्र आत्माके परिणामोंकी उपस्थिति होती है; कर्म अपनेआप वँध जाते हैं तो भी उपचारसे कहा जाता है कि आत्माने कर्मवन्ध किया।

जिसप्रकार—युद्धपरिणामरूप स्वतः परिणमित होते हुए योद्धाओ द्वारा युद्ध किये जाने पर, युद्धपरिणामरूप परिणमित न होनेवाले राजाको "राजाने युद्ध किया" जो उपचार किया जाता है वह परमार्थ नही है।

युद्धके परिणामरूप तो योद्धा परिणमित हो रहे हैं, लड़नेका भाव लड़नेवालेका है, मारनेका भाव योद्धाका है,—राजाका नहीं है; राजा तो आदेग देनेमें निमित्त है किन्तु लड़ते समय राजा नहीं है। राजाने आदेश दिया, फिर युद्धके समयके भाव योद्धाओंके हैं। योद्धा जव युद्ध करते हैं तब राजा एक ओर वैठा है।

सिद्धान्तमे दृष्टान्तका एक अंग लिया जाता है, दृष्टान्त तो अंशतः लागू होता है, यदि पूर्ण दृष्टान्त लागू हो तो दृष्टान्त सिद्धान्त हो जाये; इसलिये सिद्धान्तमें दृष्टान्तका एक अंग लिया जाता है। लडते समय योद्धा लडता है—राजा नही।

उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूप स्वतः परिणमित होनेसे—ऐसे पुद्गलद्रव्य द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जाने पर, ज्ञानावरणादि कर्मरूप स्वतः परिणमित न होनेवाले आत्माको "आत्माने ज्ञानावरणादि कर्म किये"—ऐसा उपचार किया जाता है—वह परमार्थ नहीं है।

जिसप्रकार राजा लड़नेका आदेग करता है और उसका निमित्त पाकर योद्धा युद्ध करते हैं, उसीप्रकार आत्मा अज्ञानसे राग-द्वेप

करता है वह आदेशके स्थान पर है और उसके निमित्तसे जड–परमाणुओंमे ऐसी शक्ति है कि वह स्वतंत्र कर्मरूप परिणमित होते हैं, आत्मा उन्हे नही करता है। आत्माकी सत्ताभूमिमे आत्मा रागद्वेषकी पर्यायको करता है परन्तु परसत्तामे वह कुछ नही कर सकता।

जिसप्रकार योद्धा युद्ध करते हैं परन्तु राजा तो एक ओर बैठा है। उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध होता है उसमे आत्माका हाथ नही है। सभी वस्तुएँ स्वतंत्र भिन्न हैं, रजकण स्वतन्त्र वस्तु हैं। आत्मा जब अज्ञानभाव करता है तब उसका निमित्त पाकर परिणमित होनेकी शक्ति रजकणोमे है, उसमे आत्माका हाथ नही है। आत्मा अपने अरूपी विकारको कर सकता है, परन्तु जड–रूपीमे कुछ भी कमी–वेशी नही कर सकता। पुद्गलद्रव्य स्वतः परिणमित होकर ज्ञानावरणादि कर्मोंको करता है परन्तु आत्मा कही उनरूप परिणमित नही होता, आत्मा उन्हे नही करता, मात्र आत्माके राग-द्वेषरूप विकारी पर्याय ज्ञानावरणादि कर्म जब स्वत बँधते हैं तब उसमे निमित्त होती है, इससे उपचारसे कहा कि यह कर्म आत्माने किया, परन्तु वह परमार्थ नही–व्यवहार है।

सबके कार्य पृथक्-पृथक् हैं—ऐसा यहाँ पर बतलाना है, तू दूसरे द्रव्यको दबाये और दूसरा द्रव्य तुझे दबाये–ऐसा कुछ नही है। अपने भाव अच्छे हो और कोई शत्रु आकर चाहे जैसा क्रोध करे, तथापि अपने भावोको दबा नही सकता, हीन नही कर सकता। उसके भावोका भार उसपर और इसके भावोका भार इसपर, सभी द्रव्य स्वतन्त्र भिन्न–भिन्न हैं।

सूर्यकी किरणोका निमित्त पाकर बारिसके समय इन्द्रधनुष स्वतः परिणमित होता है, परन्तु सूर्यकी किरणोने उसे परिणमित नही किया है। यदि सूर्यकी किरणोने इन्द्रधनुषको परिणमित किया हो तो सभी जगह इन्द्रधनुष कर दे, परन्तु वैसा नही है। इन्द्रधनुषके हरे–पीले–लाल इत्यादि पृथक्–पृथक् रङ्गोमे परिणमित होनेकी शक्ति स्वतः

पुद्गलमें है, पुद्गल परमाणु स्वतः परिणमित होकर उस अवस्थारूप हुए हैं, सूर्यकी किरणोंने वह अवस्था नही की है। बरसातमें सूर्यकी किरणोंका निमित्त पाकर इन्द्रधनुष होता है वह सूर्यकी किरणोंसे हुआ है—ऐसा कहना व्यवहार है।

इसीप्रकार आत्माकी अवस्थामे जो राग-द्वेष हुए वे सूर्यकी किरणोंके समान हैं और कर्म हैं वे इंद्रधनुषके समान हैं। राग-द्वेषका निमित्त पाकर जिन कर्मरजकणोंमें कर्मरूप होनेकी योग्यता हो वे कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं; स्वतःमें (रजकणोंमें) कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्ति है इससे वे स्वतः कर्मरूप परिणमित हो जाते हैं; इससे उपचारसे कहा जाता है कि आत्माने ज्ञानावरणादि कर्म किये हैं; परन्तु वह परमार्थ नहीं है। १०६।

अब कहते हैं कि उपरोक्त हेतुसे ऐसा सिद्ध हुआ:—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च ।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम् ॥१०७॥

उपजावता, प्रणमावता, ग्रहता, अवरु बांधे, करे ।
पुद्गलदरवको आतमा—व्यवहारनयवक्तव्य है ॥१०७॥

अर्थः—आत्मा पुद्गलद्रव्यको उत्पन्न करता है, करता है, बांधता है; परिणमित करता है और ग्रहण करता है—यह व्यवहारनयका कथन है।

आत्माके साथ यह जो औदारिक शरीर है वह स्थूल है परन्तु कार्माण शरीर है वह सूक्ष्म है,—ये सब शरीर जड़ हैं। उन्हें आत्मा उत्पन्न करता है, बांधता है, परिवर्तित करता है, ग्रहण करता है—वैसा कहना व्यवहारनयका कथन है।

यह आत्मा वास्तवमे व्याप्य व्यापक भावके अभावके कारण, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक (पुद्गलद्रव्यस्वरूप) कर्मको ग्रहण नही करता, परिणमित नही करता, उत्पन्न नही करता, करता नही और बाँधता नही है।

यह आत्मा वास्तवमे व्याप्य-व्यापक भावके अभावके कारण जडरजकणोमे प्रविष्ट नही हो जाता, द्रव्यकर्मरूप अवस्था आत्मा स्वतः नही करता, स्थितिबन्ध भी आत्मा नही करता, कर्ममे जो अवधि पडती है वह कर्म स्वतन्त्र परिणमित होकर पडती है। आत्मा अपने परिणामोमे उग्रता करता है अर्थात् स्वत मे परिणमनका चक्र चढता है उसका निमित्त पाकर जड-पुद्गलमे स्थितिबन्ध होता है वह पुद्गल स्वतः परिणमित होकर होता है, आत्मा उसे नही करता। जडमे अनुभागबन्ध भी आत्मा नही करता, वह अनुभागबन्ध पुद्गल स्वतः परिणमित होकर होता है, जडका प्रदेशबन्ध भी आत्मा नही करता, पुद्गल स्वतः परिणमित होकर प्रदेशबन्ध होता है।

पुद्गल स्वत अपनी अवस्थाको प्राप्त होता है अर्थात् ग्रहण करता है वह प्राप्य है, पुद्गल स्वत अपनी पर्यायका परिवर्तन करके परिणमित होता है वह उसका विकार्य कर्म है। पुद्गल स्वतः अपनी पर्यायको उत्पन्न करता है वह उसका निर्वर्त्यकर्म है। प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्यरूप पुद्गलकर्म स्वतः परिणमित होते हैं, आत्मा उन पुद्गल कर्मोको ग्रहण नही करता, परिणमित नही करता, उत्पन्न नही करता और बाँधता भी नही है।

आत्मा कर्मको ग्रहण नही करता अर्थात् पकडता नही है, आत्मा अपने विपरीत भावमे अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्वादिमे जकडा गया है परन्तु वह जडको नही पकडता। अपना चैतन्यस्वभाव ज्ञानघन अरूपी है उसका अज्ञानीको भान न होनेसे उसकी भेद सवेदन शक्ति ढँक गई है इससे वह अज्ञानभावके कारण विकारी भावोमे पकड़ा जाता है, परन्तु वह जड़को तीनकाल तीनलोकमे

भी पकड़कर नही रखता। आत्मा पुद्गल कर्मको परिणमित भी नही करता, उत्पन्न भी नही करता, करता भी नही है और बाँधता भी नही है। पुद्गलकर्ममे रसस्थिति बँधती है उसे आत्मा नही बाँधता, तथापि मैं परको बाँधता हूँ, उत्पन्न करता हूँ, करता हूँ, परिवर्तित करता हूँ और ग्रहण करता हूँ—ऐसा मानना सो भ्रम है।

आत्मा व्याप्यव्यापक भावके अभावके कारण परमें प्रविष्ट नहीं हो सकता इसलिये परकी अवस्थाको नहीं कर सकता; व्याप्य-व्यापक भावका अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य—ऐसे पुद्गलद्रव्यात्मक कर्मको आत्मा ग्रहण करता है, परिणमित करता है, उत्पन्न करता है, करता, और बाँधता है—ऐसा जो विकल्प है सो वास्तवमें उपचार है, परमार्थ नहीं।

जहाँ व्याप्यव्यापकपना न हो वहाँ, कर्ताकर्मपना नहीं हो सकता; जहाँ व्याप्यव्यापकपना हो वहाँ कर्ताकर्मपना हो सकता है। आत्माका पुद्गलकर्मके साथ व्याप्यव्यापकपना नहीं है इससे, कर्ताकर्मपना भी नहीं है, तथापि अज्ञानी मानता है कि पुद्गलकर्मको मैं करता हूँ—इससे अज्ञानीकी अपेक्षासे उपचारसे कहा जाता है कि कर्म आत्माने किये।

जिसप्रकार बच्चोंने लकड़ीको घोडा माना होता है इससे वे कहते हैं कि यह मेरा घोडा है, तब उससे कहना पडता है कि भाई! अपने लकडीके घोडेको तू दूर रख! उसीप्रकार अज्ञानी मानता है कि कर्म मैंने किये है, इससे उपचारसे कहा जाता है कि कर्म आत्माने किये। सूर्यकी किरणोंका निमित्त पाकर जिस तरह इंद्रधनुष स्वयं परिणमित होता है—सूर्य उसे परिणमित नही करता इसीप्रकार आत्माके राग-द्वेष और अज्ञानकी अनुकूल उपस्थिति पाकर पुद्गलकर्म अपनेआप परिणमित होते है, आत्माकी राग-द्वेष और अज्ञान अवस्था उन्हे परिणमित नही करती परन्तु राग-द्वेष और अज्ञानकी अनुकूल

उपस्थितिके कारण उपचारसे कहा जाता है कि कर्म आत्माने किये, परन्तु वास्तवमे पुद्गल कर्मका कर्ता आत्मा नही है।

आत्मा अज्ञान भावसे अपने राग-द्वेषको करता है और हर्ष-शोकको भोगता है परन्तु जडको कोई कर नही सकता और भोग भी नही सकता, जड़कर्मका फल आये उसे आत्मा भोग नही सकता। मैं लड्डू खाता हूँ, मैं दूध पीता हूँ, मैं मोटरमे बैठता हूँ—इत्यादि जड वस्तुओका उपभोग मैं करता हूँ—ऐसी मान्यता अज्ञान है, लड्डू कही तेरे आत्मामे प्रविष्ट हो जाते हैं? तूने क्या खाया? अज्ञानभावसे रागद्वेषको खाया है, जडको तो कोई नही खा सकता। ज्ञानभावसे तो राग-द्वेषको भी नही खाता क्योकि ज्ञानी राग-द्वेषकी पर्यायका स्वामी नही होता, उसे अपना नही मानता इसलिये ज्ञान पर्यायको ही खाता है। विकारी पर्याय चैतन्यकी अवस्था है तथापि ज्ञानी उसका स्वामी नही होता, इससे वह विकारी पर्यायको खाता भी नही है।

अज्ञानी विकारी पर्यायको अपना मानता है और विकारी पर्याय चैतन्यकी अवस्थामे होती है इससे वह उसका भोक्ता है, परन्तु चैतन्यद्रव्यसे विल्कुल भिन्न—ऐसे पुद्गलकर्मका तो वह भी भोक्ता नही है, पुद्गलद्रव्य चैतन्यसे, द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे सभीप्रकार भिन्न है, चैतन्यद्रव्यको जडद्रव्यका कर्ता मानना, ऐसा विकल्प करना वह उपचार है—अज्ञान है। आत्मा कर्मको ग्रहण नही करता, उत्पन्न नही करता, परिवर्तित नही करता।

कोई कहेगा कि चेतनकी प्रेरणा न हो तो कर्मको कौन ग्रहण करेगा? चैतन्य कर्मको प्रेरित करता है—ऐसा उसका अर्थ नही है परन्तु प्रेरणाका अर्थ मनन होता है, चैतन्य स्वतः परिणामोमे रागादि भावोका मनन करता है वहाँ कर्म अपनेआप वँध जाते हैं परन्तु आत्मा कहीं कर्ममे प्रविष्ट नही हो जाता।

जीवकी सत्तामे अजीव सत्ताका अभाव है, अनादिसे ऐसी पकड है कि यह वात जमना मुश्किल होता है। लोग कहते हैं कि—कर्म

आत्मा करता है और आत्मा भोगता है, परन्तु वास्तवमे आत्मा कर्म करता नही और न भोगता ही है। आत्मा कर्मको करता है और उसके फलको भोगता है—वैसा कहना निमित्तका कथन है—असद्भूत व्यवहारका कथन है। कर्मोदयके समय होनेवाले हर्ष–शोकको आत्मा अज्ञान भावसे भोगता है परन्तु वाह्य सयोगोको कोई भोग नही सकता और कर भी नही सकता तथापि उपचारसे कहा जाता है कि कर्म आत्माने किये और आत्मा ने भोगे।१०७।

अब, पूछते हैं कि यह उपचार किसप्रकार है ? उसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं:—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

यथा राजा व्यवहाराद्दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः।
तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥१०८॥

गुणदोषउत्पादक कहा ज्यों भूपको व्यवहारसे।
त्यों द्रव्यगुणउत्पन्नकर्त्ता, जीव कहा व्यवहारसे ॥१०८॥

अर्थ:—जिसप्रकार राजाको प्रजाके दोष और गुणोंका उत्पादक व्यवहारसे कहा है, उसीप्रकार जीवको पुद्गल द्रव्यके द्रव्य-गुणका उत्पादक व्यवहारसे कहा है।

जगत्मे कहावत चलती है कि "यथा राजा तथा प्रजा" तो क्या वह सच्ची है ? वास्तवमे वह वात सच्ची नही है। राजा महान धर्मात्मा हो तथापि प्रजा राजाकी आज्ञामें नही चलती, किसी–किसी वातमे प्रजा विरोध भी करती है। राजा महान् अधर्मी होता है और प्रजा धर्मपरायण होती है; इसलिए जैसा राजा वैसी प्रजा कहाँ हुई ? परन्तु व्यवहारसे राजा और प्रजामे सम्वन्ध है इससे व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि जैसा राजा वैसी प्रजा, परन्तु यथार्थतया वैसा नही है।

प्रजा अच्छी हो और राजा महा अधर्मी होता है वह अपने पापके उदयका कारण है। इस पचमकालमे तो ऐसा बहुत कुछ बनता रहता है, अभी इस पंचमकालमे मुनिके हाथमे से आहार छीन लेनेवाले राजा होगे, राजा अपने मत्रीसे पूछेगा कि अपनी प्रजामें कोई ऐसा मनुष्य है जो राज्यका कर न देता हो ? तब मत्री कहेगा कि हाँ ! एक नग्न दिगम्बर मुनि है जिनके पास कुछ भी वस्तु नही है, वे बिल्कुल नग्न–दिगम्बर ही होते हैं, तब राजा कहेगा कि खाते तो होगे न ? जब वे खायें उनके आहारमेसे एक पहला ग्रास ले लेना—ऐसा हुक्म राजा करेगा, इससे जब मुनिराज गृहस्थके यहाँ आहार लेने जायेंगे तब राजाके नौकर आयेगे और जब गृहस्थ मुनिके हाथमे पहला ग्रास रखेगा कि राजाका नौकर उसे उठा लेगा, इससे मुनिको अन्तराय हो जायेगा और वे विना आहार ग्रहण किये ही चले जायेंगे, पश्चात् मुनि जान लेंगे कि अब पंचमकालका अन्त आ चुका है—ऐसा जानकर मुनि उपवास करेंगे और समाधिमरण करके देवगतिको प्राप्त होगे, और देवोमेसे कोई देव आकर राजाको मार डालेगा और वह मरकर नरक गतिमे जायेगा, मुनि देवसे मनुष्यका एक भव धारण करके उसी भवमे मुक्ति प्राप्त करेंगे।

व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि यथा राजा तथा प्रजा, परन्तु वास्तवमे राजाके आत्माके गुण–दोष राजाके साथ व्याप्त होते हैं और प्रजाके उसके साथ।

जिसप्रकार प्रजाके गुण–दोषोका व्याप्यव्यापक प्रजाके साथ होनेके कारण स्व–भावसे ही (प्रजाके अपने भावसे ही) उन गुण–दोषोकी उत्पत्ति होनेसे—यद्यपि उन गुण–दोषोको राजाको व्याप्य-व्यापकभावका अभाव है, तथापि 'उनका उत्पादक राजा है'—ऐसा उपचार किया जाता है।

राजाके गुण–दोषोका और प्रजाके गुण–दोषोका कुछ भी सम्बन्ध नही है, तथापि राजाको प्रजाके गुण–दोषोका उत्पादक कहना सो उपचार है। जिसप्रकार लोकमे कहते हैं कि बापकी शिक्षा पाये

हुए लड़के बाप जैसे ही होते हैं, परन्तु बापकी शिक्षासे लड़के सुधरे हैं—ऐसा कहना व्यवहार है। वास्तवमे लडकोमें ही शिक्षा लेनेकी शक्ति थी इससे वह बुद्धिमान हुए है; बापका मात्र निमित्त हुआ। बाप और लडके—सब सबके गुण–दोष अपने अपनेमे ही व्याप्त होते हैं, बापके गुण–दोष लड़केमे और लड़केके बापमे व्याप्त नही होते, बाप मरकर नरकमें जाये और लड़का स्वर्गमें तथा बाप स्वर्गमे जाये और लड़का नरकमें अथवा तो दोनों स्वर्गमे जायें या दोनों नरकमे—इसलिये बाप और लड़केके गुण–दोषोंका कोई मेल नही है।

बाप लड़केका या लड़का बापका—कोई किसीका कुछ नही सुधार सकता। स्वत: भाव अवश्य करता है कि लड़का अच्छी शिक्षा पा जाये तो अच्छा; उसके लिये अलग पैसा भी रख दे, मकान बनवा दे, पढनेके लिये रुपयोकी व्यवस्था कर दे, अच्छी शिक्षा पाया हुआ लड़का हो तो व्याह भी अच्छी जगह हो जाये—ऐसे भाव करे परन्तु स्वत: परका कुछ नही कर सकता। यदि बाप शिक्षा दे सकता हो तो कई लडके शिक्षा देने पर भी नही सुधरते, इसलिये जो सुधरता है वह अपने ही शक्ति द्वारा सुधरता है और जो नही सुधरता वह अपनेसे ही नही सुधरता; उसमे तेरा कोई भी कारण नही है। स्वत: अपने द्वारा सुधरे तब सामनेवालेको मात्र निमित्त कहा जाता है, परन्तु वास्तवमें कोई किसीका कुछ नही कर सकता; लडकोको स्वयं जो बात जमती है उसे मानते हैं, तब तू कहता है कि मेरा कहना माना; वह मात्र भ्रांति है। जो अपनेको पसंद आये, रुचिकर दीखे वही सब मानते हैं, परन्तु वास्तवमें कोई किसीका नही मानता।

उसीप्रकार प्रजाके गुण–दोष राजामे व्याप्त नही होते और राजाके गुण–दोष प्रजामे व्याप्त नहीं होते, राजाके गुण–दोषोका प्रजामे अभाव है और प्रजाके गुण–दोषोका राजामे अभाव है; राजाके गुण–दोष राजामें हैं और प्रजाके प्रजामे, तथापि जैसा राजा वैसी प्रजा—वैसा कहना वह उपचार है। राजा अच्छा हो और प्रजा भी अच्छी हो तो वह प्रजा अपने कारण अच्छी होती है और राजा अधर्मी

हो तथा प्रजा भी अधर्मी हो तो प्रजा अपने कारण अधर्मी होती है—राजाके कारण नही। जैसा राजा हो वैसी ही प्रजा होती है—ऐसा कोई नियम नही है, राजा अच्छा हो और प्रजा भी अच्छी होती है, राजा गुणी होता है और प्रजा दोषी होती है, राजा दोषी हो और प्रजा गुणी होती है, राजा दोषी होता है और प्रजा भी दोषी होती है—इसप्रकार चौभगी है। इसलिये राजा जैसी प्रजा कहना मात्र उपचार है।

उसीप्रकार पुद्गल द्रव्यके गुण–दोषोका और पुद्गलद्रव्यका व्याप्यव्यापक भाव होनेके कारण स्वभावसे ही (पुद्गलद्रव्यके अपने भावसे ही) उन गुण–दोषोकी उत्पत्ति होनेसे यद्यपि उन गुण–दोषोको और जीवको व्याप्यव्यापक भावका अभाव है तथापि–'उनका उत्पादक जीव है'—ऐसा उपचार किया जाता है।

जो आठ कर्म बँधते हैं उनका व्याप्यव्यापकपना पुद्गल द्रव्यमे ही है, आठकर्म बाँधनेकी शक्ति पुद्गल द्रव्यमे ही है, वह कर्मकी अवस्था आत्मा नही कर सकता। जिसप्रकार यह शरीर आत्मासे पृथक् वस्तु है उसीप्रकार कर्म भी आत्मासे पृथक् वस्तु है, आत्मा स्वतः अज्ञान–मिथ्यात्व और राग–द्वेषादिके विकारी भावोको करता है, उन विकारी भावोका निमित्त पाकर जड रजकणोमे कर्मरूप अवस्था अपने आप ही होती है—इतना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, उस स्वतत्र निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धके ऊपर एकत्व बुद्धि करनेके कारण, आत्मा कर्म करता है—ऐसा कहा जाता है परन्तु वह उपचार–कथन है अर्थात् वस्तु स्थिति ऐसी नही है॥

आत्माकी अवस्थामे जितनी शक्तिवाले राग–द्वेष होते है उसी प्रमाणमे नवीन कर्म वधते है, वे अपनी स्वतत्रतासे वधते है, परमाणुओमे भी अनन्त शक्ति है इसलिये वह अपने आप कर्मरूप परिणमित होते हैं, कर्म आत्माको खीचते हैं और आत्मा कर्मोको खीचता है—ऐसा नही है, परन्तु आत्मा भी स्वतन्त्र वस्तु है और पुद्गल भी स्वतत्र वस्तु है, जव आत्मामे रागद्वेषके भाव होते है तव कर्मका

निमित्त होता है और पुद्गल कर्मरूप वंधता है तव आत्माके राग-द्वेपके भावोका निमित्त होता है—ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। लोह चुम्बकमे ऐसी शक्ति है कि वह लोहेको खीचता है और लोहेमे खिचानेकी शक्ति है, यदि लोहेमे खिचनेकी शक्ति न हो और लोहचुम्बक ही उसे खीचता हो तो उसे लकड़ीको भी खीचना चाहिये; इसलिये लोहेमे ऐसी योग्यता है कि चुम्बकका निमित्त-उपस्थिति पाकर वह खिच जाता है।

प्रश्नः—आत्माको दूसरी गति मे तो कर्म ही खीच ले जाते हैं न ?

उत्तरः—दूसरी गतिमे जानेकी आत्माकी अपनी योग्यता है, अपनी क्रियावती शक्तिकी योग्यताके कारण आत्मा दूसरी गतिमें जाता है, कर्म आत्माको नरकमे ले जाते हैं या स्वर्ग में ले जाते है—ऐसा कहना सो उपचाररूप व्यवहार है, आत्मा स्वतः अपने शुभाशुभभावोकी योग्यताके कारण नरक या स्वर्गमे जाता है। लोग कहते हैं कि लडकी और गायको जहाँ ले जाओ वहाँ चली जाती है, उसीप्रकार जैसे आत्माने कर्म वाँधे हों तदनुसार अपनेको भी जाना पड़ता है, परन्तु यह सव कथन उपचारसे है। आत्मा कर्मसे दवा हुआ नही है, अपनी योग्यताके कारण वह मनुष्य, तिर्यंच और स्वर्ग-नरकमे जाता है।

आत्मा पुद्गलकर्मकी क्रिया नही करता, आत्मा अपनी ज्ञान क्रिया करता है; ज्ञानका साक्षीपना-उदासीनपना वह ज्ञानका सत्कार्य है। मैं अपनेरूप होनेवाला हूँ परन्तु पररूप होनेवाला नही हूँ—ऐसी श्रद्धा और ज्ञान करके ज्ञानमे स्थिर रहना वह ज्ञानका सत्कार्य है, परके कार्यरूप न होना और अपने कार्यरूप होना वह ज्ञानका सत्-कार्य है।

राजा प्रजाके गुण-दोपोका उत्पादक है—ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है परन्तु वास्तवमे राजा प्रजाके गुण-दोपोका उत्पादक नही है। अच्छे राजासे प्रजा भी अच्छी होती है—ऐसा कहना मात्र उपचार है; अच्छे राजाके कारण प्रजा अच्छी नही होती परन्तु प्रजा स्वतः

अपनेसे ही अच्छी होती है। उसीप्रकार पुद्गलकर्मके गुण–दोषोको आत्मा नही करता, आत्मा अपने भावोको करता है। पुद्गलकर्मको नही करता तथापि पुद्गलकर्म आत्माने किये–ऐसा कहना मात्र उपचार है।

अब आगेकी गाथाकी सूचनारूप काव्य कहते हैं:—अमृतचन्द्राचार्यदेवने गाथाके साथ कलशकी सन्धि की है।

(वसततिलका)

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव,
कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंक यैव।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय
संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्मकर्तृ ॥६३॥

अर्थः—'यदि जीव पुद्गलकर्मको नही करता, तो उसे कौन करता है ?' ऐसी आशका करके, अब, तीव्र वेगवाले मोहका (कर्ताकर्मपनेके अज्ञानका) नाश करनेके लिये पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है' वह कहते है, उसे (हे ज्ञानके इच्छुक पुरुषो !) तुम सुनो !

शिष्य पूछता है कि आठ कर्मोको मैं करता नही हूँ, उसे मैं परिवर्तित नही करता तो उन्हें कौन करता है ? यदि आत्मा आठ कर्मोंकी अवस्थाको न करे तो कर्म कैसे बधे–वह कहिये ? प्रभो ! हम कर्मोंको नही जानते थे, शास्त्रोने कहा कि कर्म है, तब हमने जड कर्मोंको जाना, और आप तो कहते हैं कि तू जड कर्मोंका रचयिता नही है, तो उनका रचनेवाला कौन है ? पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है वह कहिये ? इसप्रकार शिष्य आशका करता है। आचार्यदेव कहते हैं कि—'शृणुत' अर्थात् सुनो ! रागादि और परमे कर्त्ता बुद्धि वही तीव्र मोह है और उस तीव्र मोहका नाश करनेके लिये हे ज्ञानके इच्छुक पुरुषो ! तुम सुनो ! अतरमे क्या गड़बड होती है उसे सुनो ! तीव्र वेगवाले मोहका नाश करनेके लिये पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है—वह कहते है।१०८।

पुद्गलकर्मका कर्ता कौन है वह अब कहते हैं:—

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०६॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यंते बंधकर्तारः।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥१०९॥
तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः।
मिथ्यादृष्ट्यादिः यावत् सयोगिनश्चरमांतः ॥ ११० ॥
एते अचेतना खलु पुद्गलकर्मोदयसंभवा यस्मात्।
ते यदि कुर्वंति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥१११॥
गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वंति प्रत्यया यस्मात्।
तस्माज्जीवोऽकर्ता गुणाश्च कुर्वंति कर्माणि ॥ ११२ ॥

सामान्य प्रत्यय चार, निश्चय बंधके कर्ता कहे।
—मिथ्यात्व अरु अविरमण, योगकषाय ये ही जानने ॥१०९॥
फिर उनहिंका दर्शा दिया, यह भेद तेर प्रकारका।
—मिथ्यात्व गुणस्थानादि ले, जो चरमभेद सयोगिका ॥११०॥
पुद्गलकरमके उदयसे, उत्पन्न इससे अजीव वे।
वे जो करें कर्मों भले, भोक्ता भि नहिं जीवद्रव्य है ॥१११॥

परमार्थसे 'गुण' नामके, प्रत्यय करें इन कर्म को।
तिससे अकर्त्ता जीव है, गुणथान करते कर्मको॥ ११२॥

अर्थः—चार सामान्य प्रत्यय* निश्चयसे बंधके कर्ता कहे जाते हैं—मिथ्यात्व, अविरमण तथा कषाय और योग (यह चार) जानना। और फिर उनका, यह तेरह प्रकारका भेद कहा गया है—मिथ्यादृष्टि (गुणस्थान) से लेकर सयोग केवली (गुणस्थान) तकका। यह (प्रत्यय अथवा गुणस्थान) जो कि निश्चयसे अचेतन हैं, क्योंकि पुद्गल-कर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं, वे यदि कर्म करें तो भले करे, उनका (कर्मोंका) भोक्ता भी आत्मा नही है। जिससे यह 'गुण' नामके प्रत्यय कर्म करते हैं उससे जीव तो कर्मका अकर्ता है और 'गुण' ही कर्मोंको करते है। जीव अज्ञानसे ही आश्रवको जीव मान लेता है जो अनात्मा है उसका कर्ता भोक्ता बनता है वह जीव नही है जीव तो रागादिका अकारक है।

सामान्य प्रत्यय अर्थात् आस्रव भगवानने चार कहे हैं, आस्रव अर्थात् कर्मबंधके कारण–मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग यह चार। शुभाशुभरागका स्वामित्व होना, पुद्गलमे सुखबुद्धि होना वह भ्रांति है—मिथ्यात्व है, मैं किसीका कल्याण करता हूँ और कोई मेरा कल्याण करता है—ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है, आत्मा अखण्ड ज्ञायक-मूर्ति है उसे भूलकर जो शरीर है सो मैं हूँ—वाणी मैं हूँ, मन मैं हूँ, शुभाशुभ परिणाम मैं हूँ—ऐसी मान्यता सो मिथ्यात्व है, परवस्तुमे आसक्ति सो अविरति है, परवस्तुमे प्रीतिका अत्यागभाव सो अविरति है, क्रोध–मान–माया–लोभ वह कषाय है, आत्मप्रदेशोका कम्पन सो योग है,—यह चार प्रकार कर्मबन्धके कारण हैं और इनका विशेष भेद तेरह प्रकारका है, मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर सयोगकेवली (गुणस्थान) तकके आस्रव पुद्गल करता है। यह तेरह गुणस्थान पुद्गलकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं वह अचेतन है, वे कर्म करे तो भले करे किन्तु उन द्रव्यकर्म–भाव कर्मोंका कर्ता–भोक्ता और स्वामी भी आत्मा

* प्रत्यय=कर्मबधके कारण अर्थात् आस्रव।

नही है—आत्मा तो अकर्ता है। कपाय और योगके चार प्रकार है और उनके विशेष प्रकार तेरह हैं वे सभी जड़ है। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरति, देशविरति, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसापराय, उपशातमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली–यह तेरह गुणस्थान कर्मके निमित्तकी अपेक्षा रखते हैं इसलिये जड हैं। भगवान आत्मा तो अखण्ड ज्ञायकमूर्ति है।

शिष्यने प्रश्न किया था कि प्रभो ! कर्मोका कर्ता कौन है ? शिष्य पूछते पूछते यहाँ तक आया है कि शरीरादिकी क्रिया तो आत्मा नही करता परन्तु सूक्ष्म कर्मो और रागादि भाव आस्रवोकी अवस्था भी आत्मा नही करता, तव फिर उसे कौन करता है ? आचार्यदेवने ऐसा उत्तर दिया है कि चैतन्यमे भेद करना वह तेरा स्वरूप नही है तू तो अखण्ड ज्ञायकमूर्ति है। कर्म, चार द्रव्यास्रव और तेरह गुणस्थानों द्वारा वँधते हैं, वह वँधन भी अल्पकाल रहेगा क्योंकि वह तेरा अभेद स्वरूप नही है,—भेद विज्ञान द्वारा–ऐसी आचार्यदेवने संधि की है।

आचार्यदेवने कहा कि वास्तवमे राजा प्रजाके गुण–दोपोंका उत्पादक नही है, उसीप्रकार आत्मा वास्तवमे कर्मोका उत्पादक नही है तो कर्मोका उत्पादक कौन है ? चैतन्य राजाके साथ कर्म वंधते हैं उनका कर्ता कौन है ? ऐसी उसे तीव्र जिज्ञासा हुई है तो अव कहते हैं कि शुद्धनयके विषयभूत तेरा आत्मा शुद्ध है, तेरे आत्मामे किंचित् दोष नही है—ऐसी प्रथम श्रद्धा कर ! तेरा आत्मा अखण्डानन्द है ऐसी एकवार श्रद्धा कर ! अपने स्वभावका वास्तवमे तू कर्ता है, अन्य कोई नही। तू अपने अनन्तगुणोंके पिण्डस्वरूप चैतन्यस्वभावरूप ज्ञानमात्रका कर्ता है—ऐसा यदि एकवार भी तुझे यथार्थरूपसे जम गया तो अल्पकालमे तेरी मुक्ति है।

भाई ! चैतन्य आनन्दमें रागादिका कर्मोका कर्ता भोक्ताका भेद करना, वह तेरा स्वरूप नही है। आचार्यदेव शिष्यसे कहते हैं तू मिथ्यात्व अवस्थामे स्थित है तथापि मिथ्यात्वादि आस्रव तेरा स्वरूप नही है,

और उसके वादका श्रावकत्व, मुनित्व इत्यादि भेद तेरा वास्तविक अखण्डस्वरूप नही है—ऐसी एकवार श्रद्धा कर ! परमार्थकी पूछता हो तो हम कहते है कि रागादिका अकारक नित्य स्थायी अभेद स्वरूपकी श्रद्धा कर ।

शिष्यने उल्लसित होकर पूछा कि आठकर्म रजकणोका कर्ता आत्मा नही है तो कौन है ? शिष्यको उसे समझनेकी आकाक्षा हुई है। आचार्यदेव कहते हैं कि तू कर्मका कर्ता नही है, तेरा अखण्डस्वरूप कर्मका कर्ता नही है परन्तु तेरह गुणस्थान कर्मके कर्ता हैं । तेरे स्वरूपमे भ्रान्ति तीनकालमे भी नही है, यदि तेरे ध्रुव स्वरूपमे भ्रान्ति हो तो वह कभी दूर नही होगी इसलिये तू तो निर्विकल्प विज्ञानघन–वीतराग है—ऐसी एकवार तो हाँ कह ! श्रद्धामे अन्य सव छोडे दे ! रखदे एक ओर ! जिसे सत्समागममे आकर समझनेकी जिज्ञासा हुई है उसे आचार्यदेव समझाते हैं । तेरा ज्ञान स्वभाव कही जडकर्मकी अवस्था होनेमे निमित्त होगा ? आत्मा ज्ञाताशक्तिवाला तत्त्व है वह परमार्थ-दृष्टिसे–यथार्थ दृष्टिसे–निश्चयदृष्टिसे जडकर्मोको नही करता ।

आठ कर्मोकी अवस्था होनेमे जड कारण है,—चैतन्य कारण नही है । तेरह गुणस्थानोको यहाँपर जड कहा है और वे तेरह गुण-स्थान जडके कर्ता हैं—ऐसा कहा है । यथार्थदृष्टिकी–द्रव्यदृष्टिकी यह वात है । एक ओर चैतन्यदल और दूसरी ओर जड़ दल–इसप्रकार दो भाग कर दिये हैं । एकरूप त्रैकालिक चैतन्य स्वभाव आत्मा है उसमे संसार–आस्रवको उत्पन्न करनेकी योग्यता नही है अतः एक ओर राम (चैतन्यमात्र जीवतत्त्व) दूसरी ओर सारा ग्राम (आस्रवतत्त्व) ।

वास्तवमे पुद्गलद्रव्य ही एक पुद्गलकर्मका कर्ता है, उसके विशेष–मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, बधके सामान्य हेतु होनेसे चार कर्ता है, उन्हीको भेदरूप किये जानेसे (अर्थात् उन्हीके भेद किये जानेसे), मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली तकके तेरह कर्ता है । अब, जो पुद्गलकर्मके विपाकके प्रकार होनेसे अत्यन्त अचेतन है—ऐसे यह

तेरह कर्ता ही मात्र व्याप्यव्यापक भावसे पुद्गलकर्मको यदि कुछ करें तो भले करे; उसमे जीवको क्या आया ? (कुछ भी नही ।)

भ्रांति, आसक्ति, कषाय और योग—वे नवीन बंधके सामान्य अर्थात् सक्षेपसे हेतु है—कारण हैं। जड़का कारण जड़ होता है। यहाँ विकारी परिणामोंको भी जड कह दिया है। हेतु अर्थात् निमित्त, नवीन आठकर्म बाँधनेके सक्षेपसे चार निमित्त कारण है और विशेप-प्रकारसे तेरह कारण हैं, तेरहो गुणस्थान चैतन्यका कर्तव्य नही है, जड़का कर्तव्य है,—ऐसा यहाँ कह दिया है। कारण कि जीवका स्वरूप-लक्षण चेतना है आस्रवका लक्षण मिथ्यात्वादि है अत· दोनों भिन्न स्वरूप होनेसे कर्ताकर्मपना नही है, अज्ञानवश अपनेको आस्रव तत्त्व मानता है वह कर्ता मानता है।

गुणस्थानकी व्याख्यामे चौदहों गुणस्थान आ जाते है, परन्तु चौदहवे गुणस्थानमे कर्म नही बंधते इससे यहाॅ तेरह गुणस्थान लिये हैं। उन तेरह गुणस्थानोमें अनुक्रमसे मिथ्यात्व–अव्रत–कपाय और योगकी अपेक्षा है। जिस गुणकी पर्याय प्रगट हो वह तो चैतन्यका अपना स्वतत्त्व है, परन्तु उस क्षणिक पर्याय जितना सम्पूर्ण चैतन्यका स्वरूप नही है। उस पर्याय पर लक्ष डालनेसे राग आता है, भेद पडते है, और शुद्धनयके विपयभूत निज अखण्ड चैतन्य पर दृष्टि डालनेसे वीतरागपर्याय प्रगट होती है, इसलिये यहाँ द्रव्यदृष्टि–अभेददृष्टि करानेकी वात है।

अपूर्ण पर्यायके साथ राग जुडा होता है, उस अपेक्षासे गुण-स्थानको भी जड़ कह दिया है परन्तु वास्तवमे कही गुणस्थानकी पर्याय जड नही है। तेरहवें सयोगीकेवली गुणस्थानमे भी अपूर्ण पर्याय है—अकम्पपना प्रकट नही हुआ है, योगका कम्पन हो रहा है इससे उप-चारसे सयोगीकेवली गुणस्थानको जड कह दिया है, परन्तु वह कही वास्तव मे जड नही है, वह तो आत्माकी वहुत गुणोकी निर्मल पर्याय है परन्तु जो योगका कम्पन है वह विकार है; जड़ निमित्तके संपर्कसे होनेवाला भाव भी जड़ है, विकार जड़ है इसलिये गुणस्थान भी जड़

है–वैसा आचार्यदेवने कह दिया है, तेरह गुणस्थानोंके भग कर्मके निमित्तसे पडते हैं, कर्म जड हैं इसलिये उस अपेक्षासे गुणस्थानको जड कहा है । अपूर्ण–पूर्ण पर्यायके भग शुद्ध द्रव्यदृष्टिमे नही हैं, शुद्ध अखण्ड निरपेक्ष वस्तुमे अपूर्णत्व और पूर्णत्वकी अपेक्षा लागू नही होती, वह सव अपेक्षाएँ पर्यायदृष्टिसे हैं । अपूर्ण पर्याय पर लक्ष डालनेसे राग आता है, निम्नदशामे अपूर्ण पर्यायके साथ राग होता है, इससे ऐसा कहा है कि–गुणस्थान कर्मको करते हैं, परन्तु वास्तवमे गुणस्थान कर्मको नही करते, किन्तु जो राग शेष रहा है वह कर्मवधमे जडकर्म निमित्त होता है । राग चैतन्यकी विकारी अवस्था है, वह अपने पुरुपार्थकी मन्दतासे होता है, परन्तु वह चैतन्यका असली स्वभाव नही है, विपरीत स्वभाववाला–परोन्मुखताका भाव है । मिथ्यात्व–रागादि आस्रवतत्त्व है, वह अपना चैतन्य भाव नही है इसलिए रागादिको जड कह दिया है, और गुणस्थानके विकल्पको भी इसप्रकार जड कहा है । तेरहो गुणस्थानके भग कर्मकी अपेक्षा पडते हैं इसलिये उन सबको जड कह दिया है । आत्मा सदा ज्ञातास्वरूप है, रागादि आस्रव स्वरूप नही है, आठ कर्मोंके वाँधनेमे सम्यग्दृष्टि जीव निमित्त नही है, मिथ्यादृष्टि अपनेको निमित्त कर्त्ता मानता है ।

शिष्य मिथ्यात्व गुणस्थानमे स्थित है, तथापि आचार्यदेव कहते हैं कि मिथ्यात्वसे लेकर तेरहो गुणस्थान जड हैं जीव नही है । शिष्य मिथ्यात्व गुणस्थानमे स्थित है तथापि 'वह अवस्था जड है, तेरा ध्रुवरूप चैतन्य द्रव्य उससे पृथक् है—ऐसा भान कर'–ऐसा आचार्यदेव कहते हैं । जो जागृत हुआ है उसकी यह बात नही है, परन्तु जो अभी जागृत नही हुआ है परन्तु मात्र सत्की जिज्ञासा हुई है कि आत्मा क्या है ? उसे समझाते हैं कि तेरा आत्मा पर–जडका निमित्तरूपसे भी कर्ता नही है किन्तु तेरह गुणस्थान कर्म के कर्ता हैं ।

जिसे जडसे पृथक् होनेकी जिज्ञासा है उसे समझाते हैं कि मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय और योग तेरे स्वभावमे नही है, वे एक क्षण-पर्यंत हैं, वे अल्पकाल तक भले हो परन्तु यदि तू आत्माका निःशक

भान करके उसमे स्थिर हो जा तो क्षणभरमे दूर हो जायेंगे।

यह तेरहो कर्ता व्याप्यव्यापकभावसे पुद्गलकर्मको कुछ भी करे तो भले करे उसमे जीवको क्या आया ? यहाँ गुणस्थानके साथ शेष रहे जो कषाय और योगकी पर्याय है वह चैतन्यकी अवस्थामे होती है परन्तु वह चैतन्यका स्वभाव नही है; वह जड़की ओरका भाव है इससे उसे जड़ कह दिया है, इससे तेरह कर्ता व्याप्य–व्यापक भावसे पुद्गल-कर्मको करते हैं—वैसा कहा है, और वे अत्यन्त अचेतन हैं—ऐसा आचार्यदेवने कहा है। कषाय और योगके परिणाम होनेमे पुराने कर्मों-का निमित्त है इससे पुराना कर्म फैलाकर नवीन कर्मको बाँधता है, इस-प्रकार पुराने और नवीन कर्मोका व्याप्य–व्यापकपना है। कषाय और योगके निमित्तसे नवीन कर्म वंधते हैं और कषाय तथा योगके परिणाम होनेमे पुराने कर्मोका निमित्त है, इसप्रकार पुराने और नवीन कर्मोंमे व्याप्य–व्यापकता है; पुराने कर्मकी अवस्था किंचित् वढकर नवीन कर्म वँधता है। पुराने कर्मकी अवस्था किंचित् वढकर नवीन कर्म वँधे तो भले वँधे, परन्तु उसमे जीवको क्या आया ? कुछ भी नही जीव तो अकर्ता है।

शिष्यने ज्ञानीके निकट सुना कि आत्मा परसे निराला है, वह कर्मका कर्ता नही है, तो फिर शिष्य पूछता है कि–यह नवीन कर्म वंध होता है इसका कारण क्या है ? श्रीगुरु उससे कहते हैं कि पुराना कर्म किंचित् वढ़कर नवीन कर्म वंधता है।

शिष्यको अन्तरगमे जिज्ञासा हुई है कि—नवीन कर्म वधनेमे आत्माका हाथ नही है, नवीन कर्मकी अवस्था होनेमें आत्मा युक्त नही होता,—ऐसा आप कहते हो तो फिर नवीन कर्म तो वंधता है उसका क्या किया जाये ? शिष्यको समझनेकी जिज्ञासा हुई है, अभी भ्रांति दूर नही हुई है, तथापि समझनेका इच्छुक है, उससे श्रीगुरु कहते हैं कि जो नवीन कर्म वंधते हैं वे पुराने कर्मोकी जाति वढनेसे वंधते हैं, उनके वंधनेमें कर्मका कारण है—तेरा द्रव्यस्वभाव कारण नही। यह वात जिसे अन्तरमे जमती है उसे यथार्थ समझमें आता है।

अज्ञानी मानता है कि मैं नवीन कर्म होनेमे निमित्त हूँ, परन्तु

ज्ञानीकी दृष्टि पलट जाती है, परके ऊपर लक्ष्य न करे–विकार पर लक्ष्य न करे—खण्ड पर लक्ष्य न करे परन्तु अखण्ड पर लक्ष्य करे तो तेरहो गुणस्थान अचेतन हैं। वे कर्मोंको करे तो भले करें परन्तु उसमे तेरा किंचित् हाथ नही है, पुरुषार्थकी मन्दता–अपूर्णपर्याय भी तेरे अखण्ड पूर्ण स्वभावकी अपेक्षासे परमें जाते हैं, वह हैं तो चैतन्यकी पर्याये परन्तु उनमें कर्मकी अपेक्षा आती है इसलिये उन्हे पर कहा है, मात्र सम्पूर्ण–परिपूर्ण निर्मल चैतन्यदल आचार्यदेवने कहा है, अपूर्ण–विकारी पर्यायको गौण करके जड़ कह दिया है, यह वस्तु दृष्टिकी वात है। इस गाथामे पर्यायदृष्टिको गौण करके द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतासे वात है। निमित्त नैमित्तिकका व्यवहार पर्यायमे है उसे सामने रखनेसे अर्थात् उस पर्याय भेदके सन्मुख दृष्टि रखनेसे असली वस्तु स्वभावकी महिमा और श्रद्धान नही होगी, जैसे आँखकी आडमे तृण रखनेसे सामनेवाली वस्तु ठीक नही दिखती।

शुद्ध नयके विषयभूत चैतन्यमे विकार नही है इसलिये विकार जड़के घरका है, तू तो नित्य अखण्ड पूर्ण ज्ञायक है—वैसी दृष्टि कर! पश्चात् अल्पकाल तक कर्म वधें तो भले वधे, परन्तु उसमे तेरी दृष्टिको अडचन नही है, चैतन्यकी अखण्ड दृष्टिमे ऐसा वल है कि अल्पकालमे राग–द्वेषकी पर्याय हटाकर स्थिरतामे वृद्धि करके क्रमश. मुक्ति–पर्याय प्रगट होगी।

आठ नवीन कर्मोंको, पुराने कर्म करे तो भले करे—ऐसा आचार्यदेवने कहा है, उसका अर्थ ऐसा नही लेना कि पुराने कर्म नवीन कर्मोंको ऐसेके ऐसे करते ही रहते हैं, सतान प्रवाहकी सधि चलती ही रहती है और भी नही छूटती–ऐसी वात नही है, यहाँ तो इस अपेक्षासे वात है कि दो द्रव्य पृथक् हैं—ऐसी दृष्टि कर। स्वसन्मुख होकर दो द्रव्योके पृथक्त्वकी दृष्टि करे तो क्रमश· स्थिरता वढ़कर कर्म छूट ही जायेंगे।

शिष्यने पूछा कि प्रभो! यह आठ कर्म वंधते हैं उन्हे कौन वाँधता है? आत्मा तो कर्म वाँधता नही है, ऐसा आप कहते हैं, परन्तु

आठकर्म बँधते तो हैं ? श्रीगुरु कहते है कि देख भाई ! तेरह गुणस्थान अत्यत अचेतन–जड है, उन गुणस्थानोमे जो कषाय और योग विद्यमान है वह विकारी पर्याय है उसमे पुराने कर्मोका निमित्त है इसलिये वह पुराने कर्म नवीन कर्मोको करते हैं। गुणस्थानके भग पडनेमें कर्मकी अपेक्षा है, उतना मात्र आत्माका परिपूर्ण अखण्ड स्वरूप नहीं है, वह गुणस्थानकी पर्याय खण्डवाली है, उसपर लक्ष्य डालनेसे राग आता है। उसके खण्ड होनेमे कर्मके सद्भाव और अभावकी अपेक्षा है। कर्म जड हैं इसलिये उनके निमित्तसे पड़नेवाले गुणस्थान भंग भी जड़ हैं। उन तेरह गुणस्थानोंके साथ विद्यमान जो कषाय और योग हैं वे कर्मोको बाँधते है—इसप्रकार वे तेरह गुणस्थान कर्मोके कर्ता है, कषाय और योगमे पुराने कर्मोका निमित्त है इसलिये पुराने कर्म वढकर नवीन कर्म वँधते हैं।

हे शिष्य ! तू अपने ज्ञानस्वभाव पर लक्ष्य रख, वह तेरे हाथकी बात है; तेरा स्वभाव कर्मके सयोगसे, भ्रातिसे, अव्रतसे, कषायसे, योगसे पर है—ऐसे अपने द्रव्यस्वभाव पर दृष्टि डाल तो तेरह गुणस्थानोका विकार-भेद जड है, अपने अखण्ड स्वभावको लक्ष्यमे ले तो निमित्तरूपसे भी तू कर्ता नही है—ऐसा सिद्ध हुआ।

जड़की अवस्था आत्मा नही करता और आत्माकी अवस्था जड़ नही करता, वास्तवमे वे तेरह भेद जड़ है उन विकार भेदोका कर्तृत्व छुड़ानेके लिये ऐसी वात की है। ऐसा नही कहा है कि वे तेरह विकार तुझमे होते रहे और तेरी पर्यायमे कुछ भी हानि नही है—यह तात्पर्य नही है। यहाँ द्रव्यदृष्टि कराना है, तथापि अवस्थामे जो विकार होता है, अवस्था अपूर्ण है वह लक्ष्यमे रखना; यदि वह लक्ष्य न हो तो द्रव्यदृष्टि भी मिथ्या है। दृष्टिके साथ अपूर्ण–विकारी पर्यायका ज्ञान भी होता है; यदि प्रमाण ज्ञान हो तभी दृष्टि सच्ची है।

अव यहाँ तर्क है कि "पुद्गलमय मिथ्यात्वादिका वेदन करता हुआ (भोगता हुआ) जीव स्वत. ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गलकर्मको करता है।"

शिष्य पूछता है कि भगवन् ! यदि आत्मा मिथ्यात्वादि तेरह गुणस्थानोको नही करता है तो फिर यह मिथ्यात्वादि, हर्ष-शोक इत्यादि भावोका भोक्तृत्व दिखाई देता है—उसका क्या ? समाधानमे कहा है कि वास्तवमे यह प्रश्न अविवेक है कारण कि मिथ्यात्वादि आस्रवको वेदे उसे हम जीव नही कहते एक ओर चेतन द्रव्यदृष्टि और दूसरी ओर पुद्गल द्रव्यदृष्टि है आस्रवका निमित्त नैमित्तिक भेद पुद्गलमे है ।

शिष्य जिज्ञासु होकर पूछता है, समझनेका इच्छुक होकर पूछता है कि यदि उन भावोका कर्ता आत्मा नही है तो उसके वेदनमे शान्ति आना चाहिये न ? कर्तृत्वका भाव छूट गया तो भोक्तृत्वके वेदनमे शान्ति होना चाहिये न ? पहला प्रश्न शिष्यका कर्तृत्वका था, अर्थात् परका अकर्ता होनेका था, स्वभावका कर्ता होनेका था। अब यह दूसरा प्रश्न भोक्तृत्वका है अर्थात् परभावोका भोक्तृत्व छूटकर स्वभावका वेदन करनेकी ओरका है, इससे पूछता है कि आठ-कर्मोके वन्धनमे आत्माकी निमित्तरूपसे उपस्थिति भी नही है तो तो आत्माको शान्तिका वेदन होना चाहिये । यह अज्ञानीका तर्क है परन्तु सत्की ओर ढलनेके लिये है ।

शिष्य कहता है कि प्रभो ! उन मिथ्यात्वादि भावोको जड कहा है, परन्तु उनका वेदन तो आत्माको होता है । यदि वे जड हो तो आत्माको उनका वेदन कैसे हो ? यदि मैं विकाररूप, मिथ्यात्वरूप, राग-द्वेषकी अवस्थारूप होनेवाला न होऊँ तो यह जो विकारका वेदन मेरी अवस्थामे होता है यह क्या है ? भोक्ताके भावको कौन करता है ?

श्रीगुरु कहते हैं कि हे भाई ! तेरा यह तर्क वास्तवमे अविवेक है, क्योकि आस्रवोंके साथ जीवके व्याप्यव्यापक भावका अभाव होनेसे आत्मा निश्चयसे पुद्गल द्रव्यमय मिथ्यात्वादिका भोक्ता भी नही है, तो फिर पुद्गल कर्मोका कर्ता तो होगा ही कहाँसे ? हे भाई ! तुझे पृथक् करना नही आता है इसलिये तुझे ऐसा लगता है कि मिथ्यात्वादि भावोका वेदन मैं करता हूँ—वह तेरा अविवेक है, आत्मा वास्तवमे

कर्ता भी नहीं है और भोक्ता भी नही है। हर्ष–शोकके भावोंका वेदन आत्माके स्वभावमें नही है क्योकि भाव्य जो विकार है। वह आस्रव तत्त्व है उसका ध्रुव स्वभावमे अभाव है, विकारी भावोका वेदन स्वभावमें नही है तो फिर भोक्तृत्व कहाँसे होगा? यहाँ ध्रुव वस्तुदृष्टिकी वात है; अवस्थादृष्टिसे अज्ञानरूपसे करे और भोगे उसे अनात्मा कहते हैं उसकी वात इस गाथामेंसे निकाल दी है। परोन्मुखता वाला भ्रांतिका भाव और राग-द्वेषका भाव वह सब भाव आत्मामें नही हैं; द्रव्यदृष्टिसे आत्मा उनका कर्ता–भोक्ता नही है, परन्तु अज्ञान अवस्थासे कर्तृत्व–भोक्तृत्व माना है कि परको मैं करता हूँ और मैं भोगता हूँ, हर्ष-शोकको मैं करता हूँ और मैं भोगता हूँ, परन्तु एकरूप ज्ञायक स्वभावकी दृष्टि और ज्ञानअवस्था होनेसे विकारी भावोंका कर्तृत्व और भोक्तृत्व छूट जाता है।

शिष्यने पूछा था कि यह जो हर्ष–शोकका वेदन होता है उसका क्या समझना? उसका श्री गुरुने उत्तर दिया है कि भोक्तृत्व अज्ञानसे भासित होता है, परन्तु वास्तवमे आत्मा भोक्ता नही है तव फिर कर्ता तो होगा ही कहाँसे? भाव्य–भावक भावका अभाव होनेसे द्रव्यस्वभाव परका भोक्ता नही है। अज्ञान अवस्था होनेसे परके भोक्तृत्वकी वुद्धि छूट जाती है, पश्चात् अल्प अस्थिरता शेप रहती है वह गौण है उसे यहाँ नही लिया है।

पुद्गलद्रव्यमय चार सामान्यप्रत्ययोंके भेदरूप तेरह विशेष प्रत्यय जो कि 'गुणस्थान' शब्दसे कहे जाते हैं (अर्थात् जिनका नाम गुणस्थान है) वे ही केवल कर्मोंको करते हैं, इससे जीव पुद्गल कर्मोंका अकर्ता है; 'गुणस्थान' ही उनका कर्ता है; और वह 'गुणस्थान' तो पुद्गलद्रव्य ही है, इससे ऐसा सिद्ध हुआ कि पुद्गल कर्मोंका कर्ता पुद्गलद्रव्य ही है।

मोह और योगके कारण गुणस्थानके चौदह प्रकार होते है, वह आत्माका अखण्ड स्वरूप नही है; मोह और योग विकारी पर्यायें हैं—आत्माका स्वभाव नही है। अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे

परोन्मुखताका भाव है इसलिये वह परका है, जडका है इससे जड उसका कर्ता है। मोह और योगसे कर्म बँधते हैं तथा वे मोह और योग जडके निमित्तसे होते हैं इसलिये उन्हे जड कहा है। इसप्रकार जडकर्मका कर्ता जड है। पुराना कर्म कुछ वढकर नवीन कर्म वँधता है, पुरुषार्थकी मन्दता इत्यादि पर्यायें कर्मकी अपेक्षा रखती हैं इसलिये वह आत्माका अखण्ड स्वरूप नही है, हैं तो चैतन्यकी पर्यायें परन्तु कर्मकी अपेक्षा रखती हैं इसलिये उन्हे पर कह दिया है। अेक ओर पूर्णशुद्ध चैतन्यदल और दूसरी ओर सम्पूर्ण पुद्गलका दल—इसप्रकार दो भाग कर दिये हैं।

गुणस्थानके प्रकार, भग-भेद-वे सब अखण्ड चैतन्य स्वरूपमे नही है, पर अपेक्षित दृष्टिसे—पर्याय दृष्टिसे–भगदृष्टिसे गुणस्थानके प्रकार चैतन्यको पर्यायमे हैं अवश्य, परन्तु अखण्ड परिपूर्ण वस्तुदृष्टि उन्हे स्वीकार नही करती। अखण्ड परिपूर्ण वस्तुमे यदि वास्तवमे अपूर्णत्व हो तो वस्तुका परिपूर्ण वस्तुत्व सिद्ध नही होता। पर्यायदृष्टिसे अपूर्णत्वके और पूर्णत्वके भग हैं अवश्य, परन्तु निरपेक्षदृष्टि उन्हे स्वीकार नही करती। एकमे तेरह प्रकार पर्यायदृष्टिसे है, अभंगदृष्टिमे भगदृष्टि गौण है। एक समयमे परिपूर्ण स्वभावरूप अपना असली स्वरूपका स्वामित्व और उसमे ही एकत्वका अनुभव करनेसे–"मैं विकारी भावोका कर्ता–भोक्ता नही हूँ"—यह वात जिसे जम गई है उसके भव और भवका कारण नही रहते, पश्चात् अल्प अस्थिरता रहती है परन्तु वह खिर जाती है, क्रमश स्थिरताकी वृद्धि करके अल्पभवोमे मुक्ति प्राप्त करेगा। जिसे यह वात रुची–जमी है उसके कर्मका कर्तृत्व भोक्तृत्व छूट जाता है और उससे कर्मवधपना भी दूर हो जाता है, और स्वतः श्रद्धा–ज्ञान–चारित्रकी वृद्धि करके मुक्ति पर्याय प्रगट करता है। जिसे यह वात नही जमती उसके पर्याय बुद्धिकी आडमे असली स्वरूप नही सूझता और कर्मका कर्तृत्व नही छूटता और उससे कर्म वन्धन भी उसको वना रहता है।

शास्त्रमे प्रत्ययोको वन्धका कर्ता कहा गया है। गुणस्थान भी

विशेष प्रत्यय ही है, इससे यह गुणस्थान बन्धके कर्ता है अर्थात् पुद्गल-कर्मके कर्ता हैं। पुनश्च, मिथ्यात्वादि सामान्य प्रत्यय अथवा गुणस्थान-रूप विशेष प्रत्यय अचेतन पुद्गलद्रव्यमय ही हैं, इससे ऐसा सिद्ध हुआ कि पुद्गलद्रव्य ही पुद्गलकर्मका कर्ता है—जीव कर्ता नही है। जीवको पुद्गलकर्मका कर्ता मानना अज्ञान है।

यहाँ शुद्धदृष्टिको लक्ष्यमे लेकर बात की है। पराश्रयकी दृष्टि हटानेके लिये आस्रव और आत्माका भेदज्ञान करके असली तत्त्वमे दृष्टि कराना है, और परमे—विकारमे कर्ताकर्मका तीव्र मोह कैसे मिटे वह समझाया है। कर्मके निमित्तसे जितने भग-भेद पडते हैं वे आत्माके नही हैं—ऐसी अन्तर अभेददृष्टिसे यहाँ बात ली है; ऐसी अभेददृष्टिका ज्ञान करके, श्रद्धा करके स्थिरता करना सो मुक्तिका उपाय है। पर्याय-दृष्टिसे गुणस्थान आत्माकी पर्यायमे होते हैं, परन्तु द्रव्यदृष्टिसे कर्मके निमित्तसे होनेवाले भग कर्मोके हैं—ऐसा कहा है। १०९–११२।

पुनश्च, जीवका और प्रत्ययोका एकत्व नही है—ऐसा अब कहते हैं:—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाऽजीवो।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ॥११३॥
एवमिहयस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्ताथाऽजीवः।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम् ॥११४॥

अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत् ॥११५॥

उपयोग ज्योंहि अनन्य जीवका, क्रोध त्योंही जीवका ।
तो दोष आवे जीव त्योंहि अजीवके एकत्वका ॥११३॥

यों जगतमें जो जीव वे हि अजीव भी निश्चय हुवे ।
नो कर्म प्रत्यय, कर्मके एकत्वमें भी दोष ये ॥११४॥

जो क्रोध यों है अन्य, जीव उपयोगआत्मक अन्य है ।
तो क्रोधवत् नोकर्म, प्रत्यय, कर्म भी सब अन्य हैं ॥११५॥

अर्थः—जिसप्रकार जीवको उपयोग अनन्य अर्थात् एकरूप है उसीप्रकार यदि क्रोध भी अनन्य हो तो इसप्रकार जीव और अजीवमे अनन्यपना आ गया। ऐसा होनेसे, इस जगतमे जो जीव है वही नियमसे उसीप्रकार अजीव सिद्ध हुआ, (दोनोका अनन्यपना होनेमे यह दोप आया) प्रत्यय, नोकर्म और कर्मके एकत्वमे अर्थात् अनन्यत्वमे भी यही दोष आता है। अव यदि (इस दोषके भयसे) तेरे मतमे क्रोध अन्य है और उपयोग स्वरूप आत्मा अन्य है तो जैसा क्रोध वैसे प्रत्यय, कर्म और नोकर्म भी आत्मासे अन्य ही हैं।

जिसप्रकार जीवका उपयोग जीवके साथ अनन्य अर्थात् एकरूप है, जीव और उसका ज्ञानस्वभाव तन्मयरूपसे एक स्वभावसे एकाकार हैं उसीप्रकार क्रोध–मान–माया–हर्ष–शोकादि विकारीभाव भी यदि जीवके साथ अनन्य अर्थात् एकरूप हो तो आत्मा और जड पुद्गल–दोनो एक हो गये। जिसप्रकार ज्ञानस्वभाव आत्माका है उसी-प्रकार क्रोधादि भाव भी हो तो जिसप्रकार ज्ञानस्वभाव आत्मासे पृथक् नही होता उसीप्रकार क्रोधादिभाव भी न छूटे। उसीप्रकार प्रत्यय अर्थात् आस्रव और नोकर्म अर्थात् शरीरादिक और आठ प्रकारके द्रव्यकर्म, वे सभी यदि ज्ञानस्वभाव जैसे अनन्य अर्थात् एकरूप हो तो वे भी कभी आत्मासे पृथक् न हो, इसलिये जिसप्रकार क्रोधादि भाव

आत्मासे भिन्न हैं, वैसे ही कर्म-नोकर्म-प्रत्यय आदि भी आत्मासे भिन्न हैं—ऐसा जानना।

जिसप्रकार जीवकी उपयोगमयताके कारण जीवसे उपयोग अनन्य है, उसीप्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य है—ऐसी यदि प्रतिपत्ति की जाये (माना जाये) तो चिद्रूप और जड़की अनन्यताके कारण जीवको उपयोगमयताकी भाँति जड़–क्रोधमयता भी आ जाये। ऐसा होनेसे तो जो जीव वही अजीव सिद्ध हो—इसप्रकार अन्य द्रव्योंका लोप हो।

आत्मा ज्ञाता–दृष्टा स्वरूपसे अनन्य है, उसीप्रकार यदि क्रोध भी आत्मासे अनन्य हो तो जीवको जड़ता सिद्ध हुई। क्रोधादि विकार होते तो चैतन्यके परिणाममे ही हैं, किन्तु वे जडके निमित्तसे होते हैं इसलिये जड़ हैं—ऐसा यहाँ कहा है। क्रोधकी यदि आत्माके साथ अनन्यता माने तो विकारीभाव और अविकारी भाव–दोनों एक हो जाये; क्रोध क्षणिक एकसमयपर्यंतका है और आत्मा त्रिकाली है; इसलिये वह एकसमय जितने विकारी भावरूप नही होता। यदि क्रोधके समय क्रोधरूप ही हो जाये, मानके समय मानरूप ही हो जाये, शुभभावके समय शुभभावरूप और अशुभभावोंके समय अशुभभावरूप ही हो जाये तो आत्मा जड़ हो जाये।

विकारी भाव चैतन्यकी पर्याय है परन्तु वह आत्माका स्वभावभाव नही है, जड़के निमित्तसे होनेवाला भाव है इसलिये जड़ है। यदि आत्मा विकारीभावोंरूप हो जाये तो आत्मा भी जड़ हो जाये, परन्तु वैसा नही होता। अज्ञानीको क्रोधके समय जागृति नहीं रहती उस अपेक्षासे वह जड़ है; क्रोधादि आस्रवोंमे कर्ताबुद्धि–एकता बुद्धिवाले आत्माकी जागृतिका नाश होता है और आस्रवोंमें ज्ञान नहीं है उस अपेक्षासे अज्ञानीको जड कहा है, परन्तु वास्तवमें अज्ञानी जड़ नही हो जाता। स्व-परको जाने सो चेतन, स्व-परको न जाने वह अचेतन अतः क्रोधादि आस्रव अचेतन जड़ हैं चेतनसे भिन्न है।

आत्मा तो विशाल जागृतिस्वरूप है, जागती ज्योति है। क्रोध उस जागृतिको रोकता है। यदि क्रोध जितना ही आत्मा हो जाये

तो जागृति और अजागृति दोनो एक हो जाये, जो एक हो जाये वह पृथक् किसप्रकार होगा ? क्रोध, मान, माया, लोभ आत्माकी जागृतिको रोकनेवाले हैं और चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा तो अपनी जागृतिका विकास करनेवाला है।

लोग कहते हैं कि यह तो आप ऊँची-ऊँची पूर्णिमा जैसी बाते करते हैं। अरे भाई ! तुझे वस्तुस्थितिकी खबर नही है, तूने सत्का श्रवण नही किया है, और आग्रहमे फँस गया है इससे तुझे उच्च पूर्णिमा जैसी बाते लगती हैं, किन्तु यह तो दोयजकी बाते हैं पूर्णिमाकी नही। पूर्णताकी बात हो तो उसमे तो जानकर-मानकर स्थिर होना आता है, जानने, माननेकी बात दोयजकी है और चारित्रमे स्थिर होनेकी बात पूर्णिमाकी बात है।

शुद्धनयके विषयभूत आत्मामे पुण्य-पापके भाव नही, वास्तवमे आत्मा तो निर्विकारी परिपूर्ण शुद्धस्वरूप है—ऐसी जो अखण्डदृष्टि सो निश्चयनय और अवस्थामे पुण्य-पापके भाव होते हैं—ऐसा जो ज्ञान सो व्यवहारनय।

जीवोने अनादिसे विपरीत मान्यता पकड रखी है, इससे वे कहते हैं कि व्यवहारसे-पराश्रयसे-निश्चय प्रगट होता है, परन्तु वह बात बिल्कुल मिथ्या ही है। शुभभाव तो पराश्रय है—व्यवहार है और शुभभावोका अर्थ है आस्रवरूप मलिन भाव, विकारी भाव,—उनसे अविकारी आत्मा प्रगट होगा ? कभी प्रगट नही होगा, असली स्वभावका आलम्बनसे ही व्यवहारका नाश और निश्चय स्वभाव प्रगट होता है। व्यवहार अर्थात् विकारी भाव, उन विकारी भावोका नाश अखण्ड स्वभावकी दृष्टि ज्ञान और स्वरूपमे एकाग्रता द्वारा होता है इसप्रकार अविकारी भाव प्रगट होता है, विकारीभाव व्यवहार हैं और उन्हे जानना व्यवहारनय है। व्यवहारनयके अनेक भग है।

आत्माके यथार्थ स्वरूपकी बात सुननेसे (सत्स्वरूपकी बात सुननेसे) अरुचि हो तो वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है, यह बात सुनकर

ऐसा लगे कि अरे ! ऐसी बात, ऐसी रूखी बाते,—ऐसी अरुचि हो वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। आत्मा परसे निराला है, वह बात अज्ञानीको रूखी लगती है, परन्तु भाई ! वह रूखी बात नही है, अत्यन्त रसमय है, आत्माके जिज्ञासुओको, हितके वाछकोको यह वात रसमय प्रतीत होती है, उन्हे तो अलौकिक स्वरूपकी बातकी ही उत्कण्ठा रहती है, उसीमे उन्हे रुचि और उमंग होती है।

परसे निराली, निरपेक्ष वस्तु स्वतः अपनेमे है, वाह्य मे कही भी नही है, शरीरमे नही, विकारमे नही है। व्यवहारमे निश्चय नही है; लोग व्यवहार–व्यवहार कह रहे हैं, परन्तु चैतन्यका व्यवहार चैतन्यमें होगा या जडमे ? चैतन्यमे ही होगा। व्यवहारनय तो उसे कहा जाता है कि अखण्ड द्रव्यस्वभावको स्वीकार करनेके पश्चात्, प्रतीतिमे लेनेके पश्चात् अल्पविकारी अवस्था रहती है उसे जान लेना वह व्यवहारनय है।

आत्माकी निर्मल आनन्दरूप पर्याय आत्मद्रव्यमेसे ही प्रगट होती है, आत्मा और उसकी पर्याय–दोनों अभेद है, इसलिये निर्मल पर्याय प्रकट होनेका आधार द्रव्य स्वतः है, परन्तु परवस्तु कही उसका आधार नही है।

जो ऐसा मानते हैं कि हम वाह्यसे कुछ करे तो धर्म प्रकट हो, इसका अर्थ तो यह हुआ कि मैं तो एक शक्तिहीन निर्वल वस्तु हूँ, मुझमे कुछ भी सामर्थ्य नही है, परवस्तु हो तो मेरी पर्याय प्रगट हो–ऐसा माननेवालोको आत्माके प्रति अरुचि है वह अनन्तानुवंधी क्रोध है, अनन्तससारमे परिभ्रमण करनेका भाव अभी उसके विद्यमान है।

आत्मा तो चिद्रूप है, जानने–देखनेके, स्वभाववाला है, उसे क्रोधके साथ अनन्यपना है—ऐसा माननेसे चिद्रूपको क्रोधपना आजायेगा, विकारीपन आजायेगा, इसलिये क्रोधरूप विकारीभाव और चिद्रूपता–दोनो पृथक्–पृथक् हैं।

आत्मामे क्रोध नही है, मान नही है, विकार नही है—ऐसा मनन करता रहे और कहता रहे तो लाभ होगा ? नही होगा। परन्तु चिद्रूप आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा जाने, प्रतीति करे और अनुभव करे तो लाभ

हो, निम्न भूमिकामे शुभपरिणाम आते हैं, देव-गुरु-शास्त्रकी ओर बहुमान आता है, पूजा–भक्ति–स्वाध्याय करता है परन्तु वह समझता है कि–इन समस्त निमित्तोंसे रहित मेरा स्वरूप है, वैसा ज्ञान हो तो देव–गुरु–शास्त्रको निमित्तरूप कहा जाता है। ऐसे निराले आत्माका ज्ञान हो तो देव–गुरु–शास्त्रको निमित्तरूप कहा जाता है। स्वतः अपने पुरुषार्थसे समझे तब देव–गुरु–शास्त्रको निमित्त कहा जाता है। देव–गुरु–शास्त्रसे ही मुझे लाभ होगा, धर्म होगा–ऐसा माने तो उसे देव–गुरु–शास्त्र निमित्तरूप भी नही हैं, निमित्तको निमित्तरूपसे स्वीकार करे तो निमित्त हुआ कहा जाये परन्तु निमित्तको सचमुच कर्ताके रूपसे स्वीकार करे तो निमित्त स्वतः ही उपादान हो गया, निमित्त कहाँ रहा ?

देव–गुरु–शास्त्रकी ओर उन्मुखताका भाव शुभभाव है, उस शुभभावसे सम्यग्ज्ञान नही होता परन्तु शुभभावोका अस्वीकार करनेसे सम्यग्ज्ञान होता है।

यहाँ सच्ची दृष्टिका वर्णन किया है, सच्ची दृष्टि होनेके पश्चात् देव–गुरु–शास्त्रकी भक्तिमे युक्त हुए विना जीव नही रहता, अशुभ रागको दूर करनेके लिये जीव शुभरागमे युक्त होता है, दया, पूजा, भक्ति इत्यादिके शुभपरिणाम आये बिना नही रहेगे। उन शुभपरिणामोंसे धर्म होगा वैसा नही मानना चाहिये, यदि वैसा माने तो विपरीतदृष्टि और सीधी दृष्टिमे क्या अन्तर हुआ ? इसलिये तत्त्व दृष्टिके पश्चात् शुभभाव आयें परन्तु उनसे लाभ नही मानना चाहिये। महाव्रतादिके शुभभाव भी आते हैं परन्तु उनसे मोक्षमार्गरूप धर्म नही मानना, स्वावलबनके बलसे सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रकी निर्मल पर्याय जितने–जितने अशमे प्रकट हो उसीको धर्म मानना, शुभभाव तो विकारी भाव हैं उनसे तो पुण्यबध होता है परन्तु धर्म नही मानना, व्रत और महाव्रतादिके शुभपरिणामोको व्यवहारसे आदरणीय माने परन्तु निश्चय से नही।

अनादिकालसे स्वभावकी अरुचि होनेसे यह बात सुननेपर अज्ञानीको ऐसा लगता है कि अरे रे ! हमारा सभी कुछ उडाये देते है, परन्तु भाई ! इसमे तो सम्पूर्ण चैतन्य स्वभावका आश्रय करना कहा जाता है, अनन्त पुरुषार्थ करना कहा जाता है। चैतन्यस्वभावकी पहिचान करने पर अनन्त पुरुषार्थ करना शेष रहता है। क्या धर्म कही बाहर कूदनेसे प्रगट होता होगा या अन्तरदृष्टि करने से ? परन्तु अज्ञानीको तो ऐसा ही हो गया है कि मैं अनन्त गुणोका पिण्ड आत्मा ही नही हूँ। और मेरा आधार जैसे कोई अन्य पदार्थ है !—ऐसा हो गया है। ज्ञानी तो समझता है कि मेरा आधार मैं स्वत. ही हूँ, अपने आधारके विना अन्य किसीसे मुझे धर्म होता ही नही। सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टिके अंतरगमे अनन्तगुना अन्तर होता है, बाह्यक्रिया कदाचित् समान दिखाई दे किन्तु अन्तरगमे अन्तर रहता है।

आत्माका अनन्त स्वावलम्बी स्वरूप है, उसे सुननेसे ही ऐसा लगे कि यह तो निश्चयाभास है ऐसी तत्त्वज्ञानके प्रति अरुचि हो तो वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। आत्माने यदि स्वतः अपने स्वभावका खून किया है तो इसी एक भावसे ! निश्चय अर्थात् यथार्थ,—ऐसे यथार्थ स्वभावकी अरुचि हुई इससे "केवली भगवानके आगे भी कोरा रह गया"।

निश्चयाभासका स्वरूप शुष्कतामे जाता है, परन्तु जो विपरीत अभिप्राय रहित होकर यथार्थ स्वावलम्बी निश्चयस्वरूपको समझा है स्वसन्मुख हुआ है उसकी निर्मल पर्याय बढ़ती जाती है। कुछ मन्द प्रयत्न हो तो अशुभपरिणामोसे बचनेके लिये शुभपरिणामोमे युक्त होता है, परिपूर्ण स्वावलम्बी तत्त्व पर दृष्टि रखकर स्वसन्मुखताका पुरुषार्थ करता हुआ शुद्ध निर्मल पर्यायको बढाता जाता है, बीचमें शुभराग आये विना नही रहता। निश्चय अर्थात् यथार्थ, ऐसे यथार्थ स्वभावको जिसने स्वसन्मुखता द्वारा जाना उसका अन्तरपरिणमन पलट जाता है। निश्चयाभासी शुद्ध स्वरूपकी बातें करता रहता है परन्तु उसे शुद्ध स्वरूप पर दृष्टि नही है, भाव भासन नही है, निर्मल पर्यायको बढ़ानेका पुरुषार्थ वे कैसे करेगे ?

जो क्रोध है सो आत्मा है—ऐसा हो जानेसे आत्मा पृथक् नही रहता, क्रोध स्वतः ही आत्मा हो गया, इससे वैसी मान्यतामे तो आत्मा जड है यह हुआ। जिसप्रकार क्रोध जड है वैसे ही प्रत्यय (आस्रव) कर्म और नोकर्म–शरीरादि, वे सभी जड़ हैं।

मुझमे विकार नही है–ऐसा कहनेका तात्पर्य यह नही है विकार भले ही होते रहे, परन्तु 'मैं निरपेक्ष वस्तु अनादि अनन्त हूँ, स्वाधीन हूँ, शुद्ध हूँ, पूर्ण ज्ञान स्वभाव हूँ'–ऐसी प्रतीति हुई कि वहाँ विकारका आदर नही रहेगा, जहाँ विकार भावोका आदर नही है, वहाँ राग–द्वेपरूप विकार भाव वढेंगे या घटेंगे ? घटेंगे ही। अपने ध्रुव अविकारी स्वभावका आदर हुआ उसकी स्वभावपर्याय वढेगी, जिस ओरका आदर हुआ; रुचि हुई उस ओरको पुरुपार्थ ढलेगा और पर्याय वढेगी ही। जिसने अपनेको परसे पृथक् माना और जाना उसके विकार–(अशुद्धता) टालनेका ही वल आता है परन्तु जिसने विकार भावोको (शुभाशुभ रागको) अपना माना है, विकार और निर्मल आत्माका पृथक् भेद नही जाना है उसके विकार भावोको दूर करनेका और स्वभाव पर्यायको वढानेका वल आयेगा कहाँसे ? कहाँ स्थिर रहकर विकार भावोको दूर करेगा ? जैसे अधेरा हटाना नही पडेगा–किन्तु उसके स्थानमे प्रकाश करते ही अधेरा उत्पन्न ही नही होगा इसप्रकार स्वभावकी अस्तिमें रहकर विकार भावोकी नास्ति की जा सकती है, परन्तु विकारमें स्थित रहकर विकारको किसप्रकार टाला जा सकता है ?

क्रोध भी अन्य है, यदि ऐसा है तो राग–द्वेष, हर्ष–शोक, रति–अरति भाव भी चैतन्य भावसे अन्य हैं—आत्माके नही है और आस्रवो, कर्म, नोकर्म भी सव अन्य हैं, आत्मामे नहीं हैं, क्योकि उनके जड़त्वमे अन्तर नही है, जिन भावोसे तीर्थंकर नाम कर्मका वध होता है वे भाव भी आत्मासे अन्य हैं।

सत्यको मिथ्या कौन कहता है ? असत्य (असत् दृष्टि-वाला), परन्तु सत्यको सत्यदृष्टिवाला तो मिथ्या कहता नही है; केवलज्ञानी भी सत्यको मिथ्या नही कहते, सत्यको सत्य सच्चा ही कहता है परन्तु जिससे हृदयमे असत्य है वह सत्यको मिथ्या कहता है। सत्य

बात नही जमती इसलिये खलबलाहट हो जाती है। किसीको ऐसा लगे कि इसमे अकेला निश्चय ही आता है परन्तु अकेला निश्चय कहाँ आया ? क्या, यह सब व्यवहार नही है ? भेद करके समझे वह व्यवहार नही है ? गुणस्थान अनुसार—आंशिक भेद विकल्प हो, राग-द्वेष हो, उन सबका ज्ञान करना वह सब व्यवहार ही है, निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धको जानना, हेय-उपादेयका स्वरूप जानना, साध्य-साधकभावको जानना, वह सब व्यवहार ही है।

निश्चय अर्थात् यथार्थ, व्यवहार अर्थात् आरोप। जो आरोप है वह अनारोप नही हो सकता। राग-द्वेषके भाव जड है—ऐसा कहनेसे लोग थरथरा उठते है परन्तु चैतन्यके स्वभावमें राग-द्वेष नही हैं, वे अजाग्रत भाव हैं चैतन्यकी जागृतिको रोकनेवाले हैं उस अपेक्षा-से उन्हे जड कहा जाता है। परन्तु रागद्वेषके भाव कही जडकर्म नही करा देते, स्वतः जब विपरीत पुरुषार्थमे युक्त होता है तब, राग-द्वेष होते हैं, अपनी पर्यायमे होते है उस अपेक्षासे व्यवहारसे चैतन्यके भी कहलाते हैं। राग-द्वेष मेरे हैं, मैं करता हूँ,—ऐसी दृष्टि तो जीवोकी अनादिसे है ही, इसलिये उस बुद्धिको छुडानेके लिये और द्रव्यस्वभावकी ओर दृष्टि करानेके लिये यहाँ दृष्टि की प्रधानतासे बात की है। असली स्वभावको ग्रहण करनेवाली द्रव्यदृष्टि हुए विना धर्मका प्रारम्भ और भवका अभाव होना असम्भव है। द्रव्यस्वभावमे राग-द्वेष नही हैं इसलिये वे आत्माके नही है, इसलिये जैसा वस्तुका असली स्वभाव है वैसा स्वरूप सुनकर जिसे झल्लाहट होती है निश्चयका विरोध करते हैं वह आत्माकी बात सुनने योग्य नही है।

निश्चय (—यथार्थ), रागको बंधका कारण मानना यथार्थ ही है। जिन भावोंसे तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है वे भाव भी विकारी भाव है—बंधभाव हैं, जड़भाव हैं,—ऐसी बात सुननेसे लोगोमे थरथराहट होती है, परन्तु भाई ! जरा ठहर तो सही ! सुन तो ले ! क्या गुणों द्वारा बंध होता है ? यदि गुणोसे बंध होता हो तो वह कब

छूटेगा ? इसलिये जिन भावोसे तीर्थंकर नामकर्मका बंध होता है वे भाव भी विकारी भाव हैं। दृष्टिका विषय जो सम्पूर्ण चैतन्यदल है उसे एकवार दृष्टिमे ला तो सही ! उस सम्पूर्ण चैतन्यदलको लक्ष्यमे लिये विना अन्तरगसे तू क्या प्रकट करेगा ? कहाँ जायेगा ?

तीर्थंकर नामकर्मका बध किसे होता है ? रागका एक अश भी आदरणीय नही है—ऐसी मान्यता होनेके पश्चात् ज्ञानी अभी पूर्ण वीतराग नही हुआ है इससे पुरुषार्थकी कमजोरीसे प्रशस्त राग आ जाता है, परन्तु रागका अशमात्र भी आदरणीय नही माना है, तथापि कोई ज्ञानीको उस जातिका प्रशस्त राग आजानेसे तीर्थङ्कर नामकर्मका वध होता है, अज्ञानीको तीर्थङ्कर नामकर्मका का वध हो–ऐसा प्रशस्त राग नही आता, क्योकि उसने परसे भिन्न स्वतत्र आत्माको नही जाना है और रागको आदरणीय माना है इससे उसे तीर्थङ्कर नामकर्मका वध नही होता। परन्तु ज्ञानीको ही तीर्थङ्कर नामकर्म वँधता है।

जिस भावद्वारा तीर्थङ्कर नामकर्म बँधते हैं उस जातिका उच्च प्रशस्त भाव भी जडभाव है। कोई कहेगा कि अरे ! ऐसे उच्चभावको जडभाव कहा जाता है ? परन्तु जिस भावसे चैतन्यकी जागृति रुकती है उसे जड न कहे तो क्या कहा जाये ? जो चैतन्यकी जागृतिको रोकता है वह मुक्तिसाधक–स्वभावभाव नही होता परन्तु विरुद्ध प्रकारका (–वंधसाधक) विकारी भाव ही होता है और वह भाव द्रव्यदृष्टिसे जड ही है।

कोई कहे कि ऐसी बातमे तो भगवानकी भक्ति भी उड जायेगी। अरे भाई ! देव–गुरु–शास्त्रकी भक्ति, पूजा, प्रभावनादिके शुभभाव जैसे ज्ञानीके होते हैं वैसे अज्ञानियोके होते ही नही।

तीर्थङ्कर पद, चक्रवर्तीपद, वल्देवपद,—वे सभी पद सम्यग्दृष्टि जीवोको ही वँधते हैं, क्योकि ज्ञानीको ऐसा भान है कि मेरा निर्मल आत्मस्वभाव ही आदरणीय है, उसके अतिरिक्त रागका एक अश या पुद्गलका एक रजकण भी आदरणीय नही है। ऐसी प्रतीति होनेसे, अभी

सम्पूर्ण वीतराग नहीं हुआ है इससे रागका भाग आता है उसमे उच्च-प्रकारका राग आने से तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि पदवियाँ बँधती है। धर्म भी ज्ञानीको होता है और उच्चपुण्य भी ज्ञानीको होता है, अज्ञानीको आत्माके स्वभावकी खवर नही है, इससे उसे धर्म भी नही है और उच्चपुण्य भी नही है। ऐसी स्वाश्रय तत्त्वकी वात सुनकर यदि अतर स्वानुभवसे वीतराग ज्ञानस्वभावी अपने ज्ञायक तत्त्वका विश्वास करे तो सिद्धगति है, नही तो निगोद गति है। तत्त्वके आदरमे सिद्धगति है और अनादरमे निगोदगति है, सिद्धगतिमे जाते हुए बीचमे एक–दो भव हो उनकी यहाँ गिनती नही है और निगोदमे जाते हुए बीचमे अमुक भव हो उन्हे भी नही गिना है, क्योकि त्रस पर्यायमे ठहरनेका काल थोडा है और निगोदका काल अनन्तगुना है। तत्वके अनादरका फल निगोद और आदरका फल सिद्धगति है।

प्रथम सच्चे हितके लिये, ज्ञानीके पास श्रवण करना चाहिये और सत् स्वरूपका अपूर्व आदर होना चाहिये। असली–निश्चय तत्त्वका आदर होनेसे रुचि वढती है और रुचिमे वृद्धि होनेसे अन्तरोन्मुखताका पुरुषार्थ होता है, परन्तु यदि सत् श्रवण करते समय आदर न हो तो उसकी रुचि भी कहाँसे बढेगी और विना रुचिके पुरुषार्थ कहाँसे होगा ?

ज्ञानीके पुण्य परिणाम और अज्ञानीके पुण्यपरिणामोमे भी अन्तर है। अज्ञानीकी दृष्टि और ज्ञानीकी दृष्टिका किसीप्रकार मेल नही बैठता, अज्ञानीकी सम्पूर्ण दृष्टि भेद–पराश्रयमे–परमे है और ज्ञानीकी सम्पूर्णदृष्टि स्वमे है। दोनोकी दृष्टिमे उदय–अस्त जितना अन्तर है; अज्ञानीके जो भाव होते हैं वे सब अज्ञानमय–जड़मय है और ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानमय हैं, जागृतिस्वरूप हैं। आत्माके भान विना चौरासी लाखके अवतार धारण करे वह कही आत्मा कहलाता है ? अरे शुभरागकी क्रियारूप आस्रवतत्त्वको धारण करे वह भी आत्मा नही है आत्मा तो अनन्तगुणमूर्ति, आनन्दका पिंड अवन्ध ज्ञान स्वभावी है, उसमे ही दृष्टि लगाकर उसका स्वाद ले और उसमे लीन हो उसे आत्मा कहा जाता है। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य अन्तरात्मा है।

शुभरागको हितकर माने वह रागादिको करने योग्य अर्थात् भला मानता है, अपना मानता है, राग-द्वेषको अपना माना तो वे दूर कहाँसे होगे ? दोषका काल एकसमय है और गुणोका काल त्रिकाल है; विकारका एकसमय गया और दूसरा आया वह भी चला गया परन्तु वस्तु तो सम्पूर्ण रही, इसलिये वस्तुमे विकार नही होता परन्तु पर्यायमे होता है। यदि चैतन्यवस्तुमे रागादि विकार होता हो तो आत्मा जड हो जाये, भिन्न द्रव्यका लोप हो, वह महान दोष आता है। भेदज्ञान द्वारा अवगुणका नाश होकर गुणकी पर्याय प्रगट होती है वह आत्माके स्वभावमेसे प्रगट होती है।

एक जीव अनन्तकाल पूर्व सिद्ध परमात्मा हुआ और दूसरा अनन्तकाल पश्चात्,—उसमे पश्चात् सिद्ध होनेवालेकी शक्ति क्या कम हो जाती है ? नही होती। पश्चात् सिद्ध परमात्मदशा प्रकट करने वालेकी ध्रुव शक्ति यदि घट जाती हो तो वह आयेगी कहाँसे ? अर्थात् प्रत्येक आत्माकी द्रव्य-गुणरूप ध्रुव शक्ति अनन्तकालतक एक समान और एक ही प्रकारकी है उसमे अन्तर नही पडता। अनन्तकाल पूर्व सिद्ध होनेवाले और अनन्तकाल पश्चात् सिद्ध होनेवाले—दोनो आत्माओकी शक्ति समान ही है। प्रत्येक आत्मा वस्तुरूप अनादि अनन्त-अखण्डरूपसे जैसे की वैसी है।

जहाँसे विपरीत मानता है उसी जगह खोज कर तो वही सीधा मानना भी है। सीधी मान्यता करके विपरीतमान्यताको छोड ! अखण्ड चैतन्यतत्वकी रिद्धि-समृद्धिकी खबर नही है इससे बाह्यदृष्टिसे मानता है कि मैं इतना हूँ वर्तमान सयोग विकार और अल्पज्ञान जितना हूँ, परन्तु आत्मा उतना नही है। आत्मा शरीरादिसे, शुभाशुभपरिणामोसे रहित ज्ञानादि अनन्त शक्तिसे परिपूर्ण तत्व है।

सयोग दृष्टिसे देखनेवाला अपने असली स्वरूपको देख सकता नही। जो घीका घडा है वह घीमय नही है परन्तु मिट्टीमय है, वैसे ही वर्णादिवाला जीव है वह ज्ञानमय है किन्तु वर्णादिवाला नही है।

विकारी पर्याय और शरीर हैं अवश्य परन्तु वह आत्माका असली स्वभाव नही है। निमित्तको और रागादि भेदको जानना सो व्यवहार, और वह स्वतःमे नही है—वैसा निषेध करना सो निश्चय। आत्मा स्वतः अनन्तगुणोका पिण्ड अखण्डद्रव्य है—वैसी प्रतीति करना और स्वत. परस्वरूप नही है पराश्रय और भेदरूप नही है इसप्रकार निषेध करना सो निश्चय है। ११३–११५।

अब सांख्यमतके अनुयायी शिष्यके प्रति पुद्गलद्रव्यका परिणाम-स्वभावपना सिद्ध करते है (अर्थात् साख्यमती प्रकृति–पुरुषको अपरिणामी मानता है, उसे समझाते हैं)

अब कोई एकान्त ले जाये तो उसे समझाते हैं। कोई कहता है कि राग–द्वेष–क्रोधादि जड़के है, मेरे आत्मामे वे नही हैं, मेरा आत्मा तो शुद्ध है इसलिये अब मैं चाहे जैसे राग–द्वेष करूँ तो भी डर नही है क्योकि वे तो जड़के हैं। उससे आचार्यदेव कहते है कि भाई ! हम तुझसे वस्तुदृष्टिकी बात करते है, उसमे तूने यह अड़ंगा क्या लगाया ! वस्तुदृष्टिसे आत्मा पवित्र निर्मल है, परन्तु यदि अवस्थामें भी मलिनता न होती हो तो कौन निषेध करेगा ? अपनी भूलके कारण अपनी अवस्थामे मलिनता होती है, इससे उसका निषेध किया जाता है। साख्यमतका अनुयायी शिष्य और प्रकृतिको अपरिणामी मानता है उसे समझाते हैं:—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा॥११८॥

अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११६॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चिय होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

जिवमें स्वयं नहिं बद्ध, अरु नहिं कर्मभावों परिणमे ।
तो वो हि पुद्गलद्रव्य भी, परिणमनहीन बने अरे ! ॥११६॥
जो वर्गणा कार्माणकी, नहिं कर्मभावों परिणमे ।
संसारका हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ! ॥११७॥
जो कर्मभावों परिणमावे जीव पुद्गल द्रव्यको ।
क्यों जीव उसको परिणमावे, स्वयं नहिं परिणमत जो ? ॥११८॥
स्वयमेव पुद्गलद्रव्य अरु, जो कर्मभावों परिणमे ।
जीव परिणमावे कर्मको, कर्मत्वमें—मिथ्या बने ॥११९॥
पुद्गलदरव जो कर्मपरिणत, नियमसे कर्म हि बने ।
ज्ञानावरणइत्यादिपरिणत वोहि तुम जानो उसे ॥१२०॥

अर्थः—यह पुद्गलद्रव्य जीवमे स्वय नही बधा है और कर्मभावरूप स्वय परिणमित नही होता—ऐसा यदि माना जाये तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है, और कर्मवर्गणाएँ कर्मभावरूप परिणमित न होनेसे ससारका अभाव सिद्ध होता है अथवा साख्यमतका प्रसग आता है ।

पुनश्च, यदि ऐसा माना जाये कि जीव पुद्गलद्रव्योको कर्मभावरूप परिणमित करता है तो यह प्रश्न उठता है कि जो वर्गणाऐ स्वत. परिणमित नही होती उन्हे चैतन्यआत्मा कैसे परिणमित कर सकता है ? अथवा, यदि ऐसा माना जाये कि पुद्गलद्रव्य

अपने आप ही कर्मभावरूप परिणमित होता है, तो ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होता है कि—जीव कर्मको अर्थात् पुद्‌गलद्रव्यको कर्मरूप परिणमित करता है।

इसलिये जिसप्रकार नियमसे कर्मरूप* परिणमित हुआ पुद्‌गलद्रव्य कर्म ही है उसीप्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणमित हुआ पुद्‌गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही जानो।

आत्माके साथ रहनेवाली आठ कर्मोकी मिट्टी अर्थात् जडकर्मोकी जो अवस्था होती है वह न मानी जाये और पुद्‌गल कर्मरूप परिणमित ही नही हुआ ऐसा माने तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है तथा ससारका अभाव सिद्ध होता है और उससे सांख्यमतका प्रसंग आता है। जो कर्मकी अवस्थाको नही मानते उनके मतमे ऐसा आया कि काँटा और विष—ऐसी पुद्‌गलकी कोई अवस्था ही नही है, इसप्रकार पुद्‌गल अपरिणामी है, परन्तु वैसा कहनेवालेकी वात बिल्कुल मिथ्या है। काँटा और विष कोई मूलद्रव्य नही हैं परन्तु परमाणुकी पर्यायें हैं, परमाणुमे कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्ति है। यदि परमाणु कर्मरूप परिणमित न होते हो तो संसारका अभाव सिद्ध हो और आत्माका मोक्ष सिद्ध हो, इसप्रकार आत्मामे विकार नही हैं और विकार नही है तो संसार भी नहीं है। यदि परमाणुकी अवस्था कर्मरूप होती ही न हो तो आत्मामे संसारका निमित्त कारण कौन है? ससारका उपादान कारण तो आत्माका अशुद्ध भाव है परन्तु उस अशुद्धभावके होनेमे जड़कर्म निमित्त है। और विकार न हो तो उसका अभाव करके मोक्ष किसका किया जाये? इसप्रकारसे तो संसार और मोक्ष दोनोका अभाव सिद्ध हो। कर्मकी उपस्थितिका निमित्त विकारमें है परन्तु स्वभावमे उसके अस्तित्वका निमित्त नही है। यदि विकारमें भी निमित्त न हो तो विकार ही न हो, इसलिये भाई! यदि परमाणु कर्मरूप न होते हों तो ससारका अभाव हो जाये।

---

*कर्म = कर्ताका कार्य, जैसे कि—मिट्टीका कार्य घड़ा है।

कोई यह कहे कि पुद्गलद्रव्य अपने आप परिणमित नही होता किन्तु जीव उसे कर्मरूप परिणमित करता है। परन्तु भाई! जिस वस्तुमे स्वत मे ही कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्ति नही है, अथवा स्वत अपनेसे कर्मरूप परिणमित नही होती उसे दूसरा कैसे परिणमित कर सकता है? इसलिये सिद्ध होता है कि पुद्गलद्रव्य अपने आप ही कर्मभावरूप परिणमित होता है। जीव कर्मको अथवा पुद्गलद्रव्यको कर्मरूप परिणमित करता है—ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होता है। चैतन्यके विकारी परिणाम कर्म नही कराता किन्तु स्वतः परिणमित होता है तब होते हैं। जड आत्मामें नही है, और आत्मा जडमे नही है, जो जिसमे नही है वह उसे कैसे बदलेगा–परिणमित करेगा? इसलिये पुद्गलद्रव्य ही स्वतः कर्मरूप परिणमित होता है। इसप्रकार नियमसे कर्मरूप परिणमित हुआ पुद्गलद्रव्य कर्म ही है, उसीप्रकार ज्ञानावरणादिरूप परिणमित हुआ पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि ही है।

पुद्गलकी कर्मरूप अवस्था आत्मा नही करता, भिन्न वस्तु भिन्नवस्तुकी अवस्था नही करती। मिश्रीको खबर नही होती कि मैं जीभ पर जाऊँ तो गलू, और पत्थर पर गिरूँ तो नही गलू, परन्तु उसमे बदलनेकी शक्ति है इससे स्वत. परिवर्तित होती है, उसीप्रकार पुद्गलद्रव्यमे कर्मरूप परिणमित होनेका स्वय सामर्थ्य है, स्वत कर्मरूप परिणमित होता है—आत्मा उसे परिणमित नही करता।

आचार्यदेवने पहले कहा था कि—क्रोध, मान, माया, लोभ तेरे आत्माका स्वभाव नही है, यह विकारी वृत्तियाँ आत्माके अन्तरघरकी नही है। वे होती तो आत्माकी पर्यायमे हैं, परन्तु क्षणिक है, संयोगी भाव हैं इससे उन्हे जडका कहा था। इससे कोई ऐसा समझ जाये कि क्रोध, मान, माया, लोभादि सब जडके हैं—ऐसा आपने कहा है, तो वे भले रहे, हमे उन्हे टालना नही है। अब हम चाहे जैसे वर्ते विषय सेवें, लपटता करे तो कोई हानि नही है? अरे मूर्ख! मर जायेगा! चला जायेगा नरक–निगोदमे! ऐसी उत्तम स्वभावकी बात

स्वच्छन्दी होनेके लिये नही कही है, पुण्यभावोको छोड़कर पाप भावों जानेके लिये नही कही है, परन्तु वे विकारी भाव तेरा स्वभाव नही हैं—वैसी श्रद्धा करनेको कहा है। ऐसे के ऐसे विषय-विकार और गृद्धिभाव करता रहे—उसके लिये आचार्यदेवने यह वात नही कही है; परन्तु उन भावोंको दूर करनेके लिये वात की है। नित्य-स्वभाव विरुद्ध मिथ्यात्व रागादि विकारीभाव है वे आस्रव तत्त्व हैं वे तुझमे नही हैं, इसलिये तू ध्रुव स्वभावदृष्टिका पुरुषार्थ करके उन विकारी भावोंका नाश कर, उसप्रकार उन विकारी भावोको नष्ट करनेके लिये स्वभाव-दृष्टि वतलाई है; परन्तु उन्हे रखने और स्वच्छन्दी होनेके लिये नही कहा है। यदि अज्ञानभावसे स्वतः तू रागद्वेपके भाव न करता हो तो संसार किसका ? और यदि संसार अवस्था न हो तो मुक्तिका उपाय कहाँ रहा ? वह कुछ भी नही रहता; इसलिये तेरे ध्रुवस्वभावमे रागद्वेप आदि भाव नही हैं—ऐसी दृष्टि कर ! यह कहनेका तात्पर्य है। संसार और मोक्ष दोनो पर्याये आत्माकी अवस्थामें होती है; वे दोनो पर्याये भी एक साथ नही होती—जव संसार पर्याय होती है तव मोक्षपर्याय नही होती और जव मोक्षपर्याय हो तव ससारपर्याय नही होती। आत्मामे अनादिकी संसार पर्याय है, इसलिये आत्माके स्वभावको पहिचान कर स्वभावदृष्टि करके उसमें स्थिर हो तो मोक्षपर्याय प्रगट हो और संसार पर्यायका अभाव हो जाये। संसारपर्यायका अभाव करनेके लिये स्वभावदृष्टिकी वात की है।

यदि पुद्गलद्रव्य जीवमे स्वयं न वंधकर कर्मवन्धरूप स्वयं परिणमित न हो तो वह अपरिणामी ही सिद्ध हो। ऐसा होनेसे संसारका अभाव हो। क्योंकि पुद्गलद्रव्य कर्मरूप परिणमित न हो तो जीव कर्मरहित सिद्ध हो; फिर ससार किसका ?

आठकर्म यदि स्वयं परिणमित न हों तो वह अपरिणामी सिद्ध हों। उनमें परिवर्तित होना सिद्ध न हो तो उससे वे कूटस्थ सिद्ध होंगे, और इससे ससार भी सिद्ध नही होगा।

परमाणुमें परिणमित होनेकी शक्ति न हो तो वह परिवर्तित न हो, अर्थात् एक ही रूप रहे, इससे आत्मामे विकारका निमित्त न हो। विकार होनेमे निमित्त न हो तो विकार भी न हो और विकार न हो तो संसार भी न हो, संसार न हो तो स्वभाव हो ~~और मोक्ष हो~~।

पुद्गलद्रव्यकी स्थूल अवस्था दृष्टिगोचर होती है। अफीमके परमाणु स्वतत्रतया परिणमित होते है। लकडी पानीमे नही डूवती वह पुद्गलद्रव्यका परिणमन है। लोहेका छोटा सा टुकड़ा पानीमे डाला जाये तो वह डूव जाता है वह भी पुद्गलद्रव्यका परिणमन है। परमाणु जव लकडीकी अवस्थारूप हुए तव नही डूवते परन्तु लोहेकी अवस्थारूप हुए तव डूवते हैं। अनेक परमाणु एकत्रित हुए इसलिये डूवते हैं और कम परमाणु इकट्ठे हो तो नही डूवते—ऐसा नही है। लोहेके टुकडेमे कम परमाणु हैं तथापि वह डूव जाता है और लकडीमे वहुत परमाणु हैं तव भी तैरती है। वह सव परमाणुओकी अवस्था है। परमाणुका अर्थ है अन्तिम से अन्तिम सूक्ष्म रजकण, उसमे कभी तरनेकी अवस्था होती है और कभी डूवनेकी। उसीप्रकार परमाणुमे कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्ति भी है, इससे वह स्वयं कर्मरूप परिणमित होते हैं।

कर्म अपने आप परिणमित होते हैं उन्हे अन्य कोई परिणमित नही करता। यहाँ जो ऐसा तर्क किया जाये कि—"जीव पुद्गलद्रव्यको कर्मभावरूप परिणमित करता है इससे ससारका अभाव नही होता," तो उसका निराकरण दो पक्षोंसे किया जाता है—क्या जीव स्वयं अपरिणमित पुद्गलद्रव्यको कर्मभावरूप परिणमित करता है या स्वय परिणमित होनेवालेको? प्रथम तो, स्वयं अपरिणमित पुद्गल-द्रव्यको परके द्वारा परिणमित नही किया जा सकता, क्योंकि (वस्तुमें) जो शक्ति स्वत (अपनेसे ही) न हो उसे अन्य कोई कर नही सकता, (इसलिये प्रथम पक्ष असत्य है।) और स्वयं परिणमित होनेवालेको तो पर (अन्य) परिणमित करनेवालेकी अपेक्षा नही होती, क्योंकि

वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नहीं रखती, (इसलिए दूसरा पक्ष भी असत्य है ।) इससे पुद्गलद्रव्य स्वयमेव परिणमन स्वभाववाला है ।

आत्मा, स्वय जिस द्रव्यमे परिवर्तित होनेकी शक्ति हो उसे परिवर्तित करेगा या जिसमे परिवर्तनशक्ति न हो उसे ? परमाणु यदि स्वयमेव परिवर्तित न होते हो तो आत्मामे शक्ति नही कि उन्हे पलट सके ? जिस वस्तुमे परिवर्तन शक्ति न हो उसे दूसरा द्रव्य परिणमन नही दे सकता अर्थात् उसे पलट नही सकता । और यदि पुद्गलद्रव्य अपनेआप ही परिवर्तित होता है, उसमे स्वतः ही परिवर्तनशक्ति है, तो फिर उसमे आत्माने क्या किया ? क्योकि जो स्वत. ही परिणमित होता है उसे दूसरेने परिणमित किया, वह कहना मिथ्या सिद्ध होता है । वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नही रखती ।

आत्मामे राग-द्वेषका जो विकारी दोष होता है वह परमाणु नही है परन्तु आत्माका अरूपी भाव है, चैतन्यका अरूपी चिदाभास है । क्रोध आत्मा करता है, कर्म नही कराता; विपरीत पुरुषार्थसे जीव स्वतः करता है और सम्यग्पुरुषार्थसे स्वतः टाल सकता है । लाखों तीर्थंकर या केवलियोके निकट बैठा हो, परन्तु यदि स्वयं न बदले तो कोई उसे बदल नही सकता । इस गाथामे कर्म अपने आप परिणमित होते हैं—वैसी बात है, और इसके पश्चात् आत्माके ओरकी गाथा आयेगी वहाँ कहेगे कि विकार आत्मा करता है, कर्म विकार नही कराते । पहले ऐसा कहा था कि आत्मामे संसार नही है, वह द्रव्यदृष्टिकी मुख्यतासे–पर्यायको गौण करके कहा था, परन्तु अवस्थादृष्टिसे ससार तुझमे है, तेरी पर्यायमे है । तेरी पर्यायमे ससार न हो तो उसे दूर करना नही रहता—ऐसा आगेकी गाथाओमे कहेगे ।

पुद्गलकर्म अपनेआप स्वय परिणमित होता है, परद्रव्य उसे परिणमित नही करता, वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नही रखती । लोहेमेसे लकड़ी क्रमशः परमाणुकी अवस्था बदलकर होती है—वह परमाणुकी अपनी शक्ति है । परमाणु स्वतन्त्रतया बदलकर लोहेमेसे

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते है :—

उपजाति

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य
स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं,
यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥

अर्थः—इसप्रकार पुद्गलद्रव्यकी स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई। यह सिद्ध होनेसे, पुद्गलद्रव्य अपने जिस भावको करता है उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

पुद्गलद्रव्यमे स्वभावरूपसे परिणमित होनेकी अर्थात् स्वभावरूप परिवर्तित होनेकी शक्ति निर्विघ्नतया सिद्ध हुई। पुद्गल-द्रव्यमे परिणमित होनेकी अर्थात् अवस्थासे अवस्थान्तर होनेकी शक्ति स्वतत्र है, उसे परिणमित होनेमे कोई बीचमे विघ्न नही कर सकता। जो ऐसा कहते हैं कि हम हो तो जड़का कार्य हो, वैसा कहनेवालेसे कहते हैं कि निःशकतया पुद्गलद्रव्यकी शक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई, परमाणुमात्र अपनी एक पर्यायसे दूसरी पर्यायको स्वय बदलता है, परमाणु स्वतः ही एक अवस्थासे परिणमित होकर दूसरीमे उत्पन्न होता है, उसकी अवस्था होनेमे उसीका कारण है, किसी परका कारण नही है—ऐसा निश्चित् होनेसे पुद्गलद्रव्य अपने भावोको करता है, उन भावोको वह स्वतः ही कर्ता है।

अब जीवका परिणामीपना सिद्ध करते हैं:—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥१२१॥
अपरिणमंतह्मि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहि ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥

पुग्गलकम्म कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

नहिं बद्धकर्म, स्वयं नहीं जो क्रोधभावों परिणमे ।
तो जीव यह तुझ मतविषैं, परिणमनहीन बने अरे ॥१२१॥
क्रोधादिभावों जो स्वयं नहिं जीव आप हि परिणमे ।
संसारका हि अभाव अथवा सांख्यमत निश्चित हुवे ॥१२२॥
जो क्रोध–पुद्गलकर्म–जीवको, परिणमावे क्रोधमें ।
क्यों क्रोध उसको परिणमावे जो स्वयं नहिं परिणमे ॥१२३॥
अथवा स्वयं जीव क्रोधभावों परिणमे–तुझ बुद्धिसे ।
तो क्रोध जीवको परिणमावे क्रोधमें–मिथ्या बने ॥१२४॥
क्रोधोपयोगी क्रोध, जीव, मानोपयोगी मान है ।
मायोपयुत माया अवरु लोभोपयुत लोभ हि बने ॥१२५॥

अर्थः—साख्यमतके अनुयायी शिष्यके प्रति आचार्य कहते हैं कि हे भाई ! यह जीव स्वय कर्ममें नही बंधा है, और स्वय क्रोधादिभावरूप परिणमित नही होता—ऐसा यदि तेरा मत हो तो वह (जीव) अपरिणामी सिद्ध होता है । और जीव स्वत क्रोधादिभावरूप परिणमित न होनेसे ससारका अभाव सिद्ध होता है अथवा साख्यमतका प्रसग आता है ।

पुनश्च, पुद्गलकर्म जो क्रोध है वह जीवको क्रोधरूप परिणमित करता है—ऐसा तू मानता है तो यह प्रश्न होता है कि जो स्वत.

परिणमित नही होता ऐसे जीवको क्रोध कैसे परिणमित कर सकता है ? अथवा यदि आत्मा अपने आप क्रोधभावरूप परिणमित होता है—ऐसी तेरी बुद्धि हो तो क्रोध जीवको क्रोधरूप परिणमित करता है—ऐसा कहना मिथ्या सिद्ध होता है ।

इसलिये यह सिद्धान्त है कि क्रोधमे उपयुक्त (अर्थात् जिसका उपयोग क्रोधाकाररूपे परिणमित हुआ है ऐसा) आत्मा क्रोध ही है, मानमे उपयुक्त आत्मा मान ही है, मायामें उपयुक्त आत्मा माया है और लोभमे उपयुक्त आत्मा लोभ है ।

यदि आत्मा स्वतः ही राग-द्वेषमे विकार भावसे स्वयं परिणमित होकर न होता हो, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेषरूप आत्मा स्वतः परिणमित होकर न होता हो तो जीव अपरिणामी सिद्ध होता है और आत्माकी अवस्थामे विकार हुए विना संसार किसका ? संसार आत्माकी विकारी अवस्था है यदि वह आत्मामे न होती हो तो ससार ही न हो और ससार न हो तो मोक्ष भी न हो ।

कोई कहे कि क्या किया जाये भाई ! कर्मका ऐसा तीव्र उदय हो धंधेमे सच्चा-झूठा भी करना पडता है । परन्तु वैसा कहनेवालेकी बात विल्कुल मिथ्या है । यदि तू क्रोधादिमे परिणमित न हो तो क्या जड़ तुझे बलात् क्रोधादिमे लगाता है? यदि जड़ तुझे क्रोधादिमे परिणमित करे तो जड चैतन्यके परिणामका कर्ता हुआ इससे दो द्रव्य एक हो गये । परन्तु ऐसा वस्तुका स्वभाव है ही नही; आत्मा स्वतः ही क्रोधादि विकाररूप परिणमित होता है उससमय जड़कर्म निमित्तरूप होते हैं ।

साख्यमत आत्माको बिल्कुल शुद्ध मानता हैं, अवस्थाको मानता ही नही । पूर्वकी कितनी ही गाथाओमे ऐसी बात आई थी कि आत्मा शुद्ध है और क्रोधादि जड़ हैं, परन्तु इस गाथामे अवस्थाकी बात की है, क्योकि कोई शुष्क ऐसी बात न ले जाये कि अपनेको तो ऐसे के ऐसे विषयकषाय करना चाहिये, क्योकि आत्मा तो शुद्ध है, इसलिये

चाहे जैसे विषयादिमे वर्तन करें तो भी कोई हानि नही है। वैसी शुष्कता न होनेके लिये आचार्यदेव समझाते हैं कि क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि विकारी भाव तेरे आत्माकी अवस्थामे होते हैं। एकबार कहा कि क्रोधादि तेरे नही हैं और फिर कहते है कि क्रोधादि तेरी अवस्थामे होते है। क्रोधादि भाव तेरे स्वरूपमे नही है—ऐसा कहा वह ध्रुव शक्तिरूप वस्तु सम्यग्श्रद्धाका विषय है। सम्यग्श्रद्धा परिपूर्ण अखण्ड द्रव्यको स्वीकार करती है, वह अपूर्ण, पूर्ण या विकारी पर्याय-को स्वीकार नही करती, परन्तु श्रद्धाके साथ रहता हुआ ज्ञान परि-पूर्ण अखण्ड द्रव्यको जानता है और अपूर्ण, पूर्ण एवं विकारी पर्यायको भी जानता है, तथा वह जानता है कि मलिनता मेरे पुरुशार्थकी अशक्तिसे होती है। इसप्रकार अवस्थाको बतलानेके लिये यहाँ अवस्था-दृष्टिसे कहा है, अवस्थामे मलिनता है अवश्य, नही हो—ऐसा नही है। यदि अवस्थाको मलिन न माने तो ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है, पुरुषार्थ की अशक्तिसे स्वत यदि विकारी अवस्थारूप परिणमित न हो तो मलिनता न हो, जडकर्म मलिनता नही करा देते। यदि जडकर्म मलिनता कराये तो ससारी जीवोके साथ कर्म स्थायी ही हैं वे तो मलिनता कराते ही रहेगे और तुझे शुद्ध होनेका प्रसग ही नही आयेगा, परन्तु कर्म आत्माको क्रोधादिभावरूप परिणमित नही करते, स्वतः विकारी अवस्थारूप परिणमित हो तो क्रोधादि कषाय होते हैं। इस-प्रकार क्रोध, मान, विषय, कषाय इत्यादि अपने ही कारणसे हैं, इससे यह बात मिथ्या सिद्ध होती है कि जडकर्म जीवको क्रोधादि भाव कराते है। इसलिये त्रिकाली नियम है कि जिसका उपयोग क्रोधाकारमे परिणमित हुआ है ऐसा आत्मा क्रोध ही है, मानमे युक्त आत्मा मान ही है, मायामे लगा हुआ आत्मा माया ही है और लोभमे लीन आत्मा लोभ ही है।'

आत्माका असली स्वरूप तो शुद्ध है, पवित्र है, परन्तु पुरुषार्थ-की अशक्तिसे, अपने स्वरूपसे च्युत होकर—स्वरूपमे स्थिर न रह-कर अरुचि, पश्चाताप, क्रोध, मानादिमे युक्त हो जानेसे अपनी अवस्थामे

वे मलिन भाव होते हैं। वह विकारी पर्याय आत्मासे पृथक् नहीं है—ऐसी अभेद अपेक्षासे कह दिया है कि आत्मा क्रोध ही है।

कर्म क्रोध कराते हैं वैसा भी नही है और आत्मामे क्रोध प्रविष्ट हो जाता है वह भी ठीक नही है। जब स्वत. क्रोधरूप अवस्थामे परिणमित होता है तब अवस्थामे क्रोध होता है, परन्तु सम्पूर्ण आत्मा क्रोधरूप नही हो जाता। यदि सम्पूर्ण आत्मा क्रोधरूप हो जाये तो क्रोध दूर कैसे हो?

संसारी जीव ऐसा मानते हैं कि मैं क्रोध करूँ तो संसारकी व्यवस्था चले, घरके आदमी, लड़के और नौकर–चाकरोंको धमकी दिखाऊँ तो वे सुधरे। देखो! यह विपरीत अभिप्राय! धमकी तू दिखाये, क्रोध तू करे, और सामनेवाला सुधर जाये यह कैसे हो सकता है? यदि तेरी सच्ची सलाहसे सामनेवाला सुधरता हो तो तेरे क्रोधादि भावोंसे उसे बिगड़ना चाहिये, क्योंकि सिद्धान्त तो एक ही होता है। परन्तु तेरी वह बात मिथ्या है, तेरे शुभाशुभ भावोंसे लाभ–हानि तुझको ही है, सामनेवालेका सुधरना बिगड़ना उसके हाथकी बात है; उसकी अवस्थाकी व्यवस्था उसके कारणसे होती है। तू मानता है कि नौकर–चाकरो पर दबाव रखूँ तो काम हो—वह बात बिल्कुल मिथ्या है; तुझसे सामनेवाला नही दबता किन्तु तू स्वतः अपने क्रोधसे दबा है, सामनेवालेका सुधरना–बिगड़ना उसके कारणसे है। सब द्रव्य स्वतंत्र हैं, कोई किसीको सुधार नही सकता, स्वत. जब अपने द्वारा सुधरे तब सामनेवालेको निमित्त कहा जाता है। परन्तु अज्ञानी जीव मानता बैठता है कि मुझसे सुधरा और मुझसे बिगड़ा; किन्तु वास्तवमे अपनेसे ही बिगडा या सुधरा है। समस्त द्रव्य स्वतंत्र हैं, जो जिसको अनुकूल हो वह करता है, कोई किसीका किंचित् भी नही कर सकता।

यह जीव स्वयं कर्ममे न बँधकर क्रोधादिभावरूप स्वयमेव परिणमित न हो वह वास्तवमे अपरिणामी ही सिद्ध हो। ऐसा होनेसे संसारका अभाव होगा।

यदि जीव स्वय कर्ममे न बँधा हो अर्थात् भावबन्धनमे न बधा हो, जीवमे बँधनेका विकारभाव न हो अर्थात् स्वत. राग–द्वेषके विकारभावरूप न होता हो तो वास्तवमे आत्मा अपरिणामी सिद्ध हो अर्थात् कर्म विकारभावमे आत्माको परिणमित करें परन्तु आत्मा स्वत विकारभावरूप न परिणमे तो आत्मा अपरिणामी सिद्ध हो।

आत्मा विकाररूप होता है और विकारका नाश भी करता है और स्वभावभावरूप भी प्रगट होता है, उसमे आत्मा स्वय–अपने आप परिवर्तित होता है। राग–द्वेष और शुभाशुभ वृत्तिओकी अवस्था-रूप यदि आत्मा स्वत· परिणमित न हो तो ससारका अभाव हो, विकारमे आत्मा बिल्कुल ही न हो तो आत्माका मोक्ष हो जाये।

यदि यहाँ ऐसा तर्क किया जाये कि "पुद्गलकर्म जो क्रोधा-दिक हैं वे जीवको क्रोधादिभावरूप परिणमित करते हैं इससे संसारका अभाव नही होता" तो उसका निराकरण दो पक्षोसे किया जाता है—पुद्गल कर्म जो क्रोधादिक हैं वे स्वय अपरिणमित जीवको क्रोधादि-भावरूप परिणमित करते हैं या स्वय परिणमित होनेवालेको ? प्रथम स्वय अपरिणमित को पर द्वारा परिणमित नही किया जा सकता, क्योकि (वस्तुमे) जो शक्ति स्वत न हो उसे कोई अन्य प्रगट नही कर सकता। और स्वय परिणमित होनेवालेको तो पर (अन्य) परिणमित करनेवालेकी अपेक्षा नही होती, क्योकि वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नही रखती। (इसप्रकार दोनो पक्ष असत्य है।) इससे जीव स्वयमेव परिणमन स्वभाववाला होता है।

जडक्रोध, जडकर्म, आत्मा विकाररूपसे न होता हो उसे विकाररूप करते हैं अथवा आत्मा विकाररूप होता हो उसे विकाररूप करते है ? उन दोनोमे किसप्रकार से वात है ?

यदि आत्मा विषय–कषाय, राग–द्वेषादि विकारी भावरूप परिणमित न हो तो अन्य कोई उसे वदल नही सकता–परिणमित नही कर सकता। जो स्वत अपने आप वदलता ही नही उसे दूसरा कौन

वदल सकता है ? जो अपने आप विकाररूप परिणमित नही होता उसे जड़कर्म किसप्रकार विकाररूप परिणमित कर सकते हैं ? और स्वयं अपनेआप ही वदलता है, स्वयं ही विकाररूप परिणमित होता हो तो उसे परकी अपेक्षा लागू नहीं होती। पहले कहा कि जिसमें स्वतः परिणमन-शक्ति नहीं है उसे दूसरा कैसे परिणमित कर सकता है ? और दूसरीवार कहा कि यदि स्वयं परिणमित होता हो फिर दूसरेकी अपेक्षाकी आवश्यकता नही है। वस्तुकी शक्तियाँ परकी अपेक्षा नही रखती, स्वयं-अपने आप ही विकाररूप परिणमित होती हैं उसमें पर-का हाथ नही है। यह पहली द्रव्य-गुण-पर्यायकी स्वतंत्रता माननेकी व्यवहार शुद्धि वतलाते हैं। कर्म तुझे वलात् राग-द्वेप-कराते हैं—ऐसी मान्यतासे स्वभावकी शुद्धि नही होगी, परन्तु यदि ऐसा माने कि कर्म मुझे रागद्वेप नहीं कराते, मैं अपने पुरुषार्थकी अशक्तिसे अपनी भूलसे राग-द्वेपमें परिणमित होता हूँ इससे विकार होता है, तो यह अभी व्यवहार शुद्धि है। अतरंगमें शुभाशुभ परिणामोंसे भी आत्माका स्वरूप पृथक् है—ऐसी द्रव्य दृष्टिकी वात तो अभी वाकी रहती है। यह दोनों तो द्रव्यकी स्वतंत्रताकी वातें हुईं।

जड़ और चैतन्य दोनों स्वतंत्र-पृथक् पदार्थ हैं, कोई किसीको वदल नही सकता। कितने ही लोग कहते हैं कि—जैसे कर्म उदयमे आये वैसे ही पुण्य या पापके परिणाम होते हैं, परन्तु वैसा नही है। यदि तेरे भावोंमे मन्दकषाय हो तो पूजा-भक्तिके शुभपरिणाम हों और तीव्र कपाय हो तो विपय-कपाय होते हैं, वह सव तेरे ही कारणसे होता है,—कर्मके कारण नही। तेरा वीर्य अधिक विपरीत होगा तो तीव्र राग-द्वेप होंगे और यदि अल्प विपरीत होगा तो मन्द राग-द्वेप होंगे; जिसप्रकारका तेरा वीर्य होगा वैसे ही राग-द्वेप होंगे। कर्मका मन्द उदय हो तो मंद राग-द्वेप होते है और तीव्र उदय हो तो तीव्र राग-द्वेप होते हैं—ऐसा वस्तुस्वरूप है ही नही। स्वतः तीव्र या मंद राग-द्वेप करना वह आत्माके हाथकी वात है; कर्म तो निमित्त मात्र हैं। स्वतः जिसप्रकारसे युक्त होता है उसप्रकार रागद्वेप होते हैं।

चैतन्य स्वय विकाररूप परिणमित होता है, तथापि जड परिणमित करता है यह कहना मिथ्या है। चैतन्य स्वत परिणमित नही होता परन्तु जड परिणमित करता है वैसा कहना भी मिथ्या है, क्योकि जो स्वतः–अपनेआप परिणमित नही होता उसे अन्य कौन परिणमित कर सकता है ? इसलिये दोनो पक्ष मिथ्या सिद्ध होते हैं। आत्मा विकार करनेमे स्वतंत्र है तो फिर अविकारी आत्मधर्म प्रगट करनेमे तो स्वतंत्र होगा ही, उसमे नवीनता क्या है ? आत्मा विकारपरिणाम या अविकार परिणाम करनेमे स्वतत्र है—ऐसा सिद्ध हुआ।

इसप्रकार जीव स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है। ऐसा होने से, जिसप्रकार गरुडके ध्यानरूप परिणमित हुआ मत्रसाधक स्वतः गरुड है उसीप्रकार, जिसका उपयोग क्रोधादिरूप परिणमित हुआ है ऐसा अज्ञानस्वभाववाला जीव ही स्वत' क्रोधादिक है। इसप्रकार जीवका परिणामस्वभावपना सिद्ध हुआ।

आचार्यदेवने गरुडका उदाहरण दिया है कि जिसप्रकार गरुडका मत्रसाधक स्वत· गरुडका ध्यान करनेसे मैं स्वतः गरुड हूँ—ऐसा अज्ञानतासे मानता बैठता है, वैसे ही जिसका उपयोग क्रोधादिरूप परिणमित हुआ है, ऐसा अज्ञानी जीव स्वत ही क्रोधादि है। अज्ञानीने क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादिको अपना माना है, इससे उसका उपयोग उनमे अटक गया है अर्थात् एकाकार हुआ है, इससे अज्ञानी जीवको क्रोधमय और मानमय कहा है। राग–द्वेष और शुभाशुभ परिणामोका कर्ता अज्ञानी है किन्तु ज्ञानी नही है, ज्ञानी तो राग–द्वेषके परिणामोका नाशक है—उत्पादक नही है। अज्ञानी राग–द्वेषके परिणामोका उत्पादक है इससे उसे उसमय कहा है।

आचार्यदेव एक ओर कहते है कि चौदह गुणस्थान जड है और दूसरी ओर कहते हैं कि क्रोध–मान–मायाका विकार आत्माकी पर्यायमे है। जिसके उपयोगकी एकाग्रता विकारमे है वह आत्मा क्रोधरूप है, वह अवस्थादृष्टिसे कहा है।

आचार्यदेवने गरुड़का उदाहरण देकर कहा है कि—गरुड़का ध्यान करनेसे गरुड़रूप हो गया वैसे ही व्यापार-धंधावाला व्यापार-मय हो जाता है। वकील वकालातमें एकाग्र होजाता है। एक मनुष्य रुईका व्यापारी था, उसमें वह इतना तल्लीन होगया कि पानी पीने गया तो वहाँ भी कहने लगा 'रुई' 'पानी' रूईमें इतना एकाग्र हो गया कि पानीके बदले रूई-रूई रटने लगा। उसीप्रकार जिसे क्रोध—मान—माया—लोभादि मैं ही हूँ—ऐसा होगया है, शुद्ध उपयोग मैं नही हूँ किन्तु विकारी उपयोग ही हूँ ऐसा भासित हुआ है वैसे जीवको अवस्था-दृष्टिकी अपेक्षासे भगवानने उसीमय—विकारमय ही कह दिया है। आत्मा स्वतः ही अवगुणरूप परिणमित होता है। जड़ अवगुण कराये ऐसा कभी नही बनता।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(उपजाति)

स्थितेति जीवस्य निरंतराया
स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं
यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६५॥

अर्थः—इसप्रकार जीवकी स्वभावभूत परिणमनशक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई; ऐसा सिद्ध होनेसे, जीव अपने जिन भावोंको करता है उनका वह कर्ता होता है।

आत्मामें स्वतःसे ही अपना स्वभाव बदलनेकी शक्ति स्वयसिद्ध है—वह सिद्ध हुआ। अपने परिणमनमे किसीका हाथ नही है। सभी अपने अपने भावोको करते हैं; चैतन्य चैतन्यके भावोको करता है, परमाणु परमाणुके भावोंको करता है, ज्ञानी ज्ञानभावोको करता है, अज्ञानी राग-द्वेप करता है, ज्ञानी राग-द्वेपका कर्ता नही है, अज्ञानी जडका कर्ता नही है, जड़ है वह राग-द्वेप भावोंका कर्ता नही है—

इसप्रकार तीनों अपने अपने भावोको करते हैं। वस्तु स्वभावको समझनेसे ही सिद्धि है, अन्य कोई उपाय नही है।

आत्मा कर्ता है और उसका कार्य क्या है वह बात यहाँ चलती है। अज्ञानी अज्ञानभावसे रागद्वेषका कर्ता होता है, ज्ञानी ज्ञानभावसे ज्ञानका कर्ता (होनेवाला) होता है, जड परमाणुओका कर्ता ज्ञानी या अज्ञानी कोई नही है, जड परमाणु स्वत अपने सामर्थ्यसे परिणमित होकर कार्य करते हैं।

पाँच गाथाओमे भिन्न-भिन्न स्वतत्र कार्य बतलाये है। अब, कोई ऐसा समझ जाये कि विकारीभाव आत्मा करता है तो ज्ञानी भी विकारी भाव करता है या नही ? उसे समझाते हैं। अज्ञानीका उपयोग अर्थात् व्यापार स्वभावके अभानरूप है, आत्माके ज्ञानमय उसका व्यापार नही है। वर्तमान विकार पर दृष्टि–वह अज्ञानका कार्य है, विकारमे एकाग्र होना वह अज्ञानका कार्य है, त्रिकाल स्वभाव पर दृष्टि ज्ञानका कार्य है, ज्ञानमे एकाग्र होना वह ज्ञानका कार्य है।

हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, दया, दान, पूजा, भक्ति—इन अशुभ और शुभ भावोको आत्मा करता है–तो ज्ञानी भी इन्ही भावोको करता है या अन्य भावोको ?—ऐसा प्रश्न यदि किसीको हो, उसे आगेकी गाथामे समझाते हैं। १२१–१२५।

ज्ञानी ज्ञानमय भावोका और अज्ञानी अज्ञानमय भावोका कर्ता है :—

ज कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

जिस भावको आत्मा करे, कर्ता बने उस कर्मका।
वो ज्ञानमय है ज्ञानिका, अज्ञानमय अज्ञानिका ॥१२६॥

अर्थः—आत्मा जिन भावोको करता है उन भावोरूप कर्मोंका वह कर्ता होता है, ज्ञानीको तो वे भाव ज्ञानमय हैं और अज्ञानीको अज्ञानमय।

आत्मा और उसके गुण नित्य एकरूप रहते है, और अवस्था प्रतिक्षण बदलती है, उसमे स्वभाव अवस्थाका कर्ता आत्मा है, परन्तु विकार अवस्थाका कर्ता आत्मा नही है। अज्ञानी विकारी अवस्थाका कर्ता होता है। करनेवाला जिस भावमे कर्ता होकर रुकता है उस भावका वह कर्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है।

ज्ञानीके तो सच्ची श्रद्धा, सच्चा ज्ञान और सच्ची एकाग्रतारूप अवस्था होती है, वह ज्ञानीका कार्य है। क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी अवस्थाएँ अज्ञानीका कार्य है।

इसप्रकार यह आत्मा स्वयमेव परिणामस्वभाववाला है, तथापि अपने जिस भावको करता है उसी भावका (–कर्मपनेको प्राप्त हुए भावका) कर्ता होता है। (अर्थात् वह भाव आत्माका कर्म है और आत्मा उसका कर्ता है)।

भगवान आत्मा स्वतःसे परिवर्तित होनेके सामर्थ्यवाला है, आत्मा नित्यस्थायी रहकर परिवर्तित होनेके स्वभाववाला है, वह परिवर्तनरूप स्वभाव अर्थात् परिणमनस्वभाव किसी संयोगसे नही हुआ है, परसे नही हुआ है, विकारसे नही हुआ है परन्तु स्वयमेव स्वतः अपनेसे ही अनादि–अनन्त स्वयसिद्ध है।

परिवर्तनस्वभाववाला है, तथापि जिस भावको—जिस कर्तव्यको प्राप्त है उसीका कर्ता होता है। पहले था वही दूसरे क्षण है–नाश नही हुआ है। नाश नही होता परन्तु स्थित रहकर परिवर्तित होता है, अवस्थान्तरपनेको प्राप्त होता है।

एक मनुष्य स्वतः क्रोधका भाव बदलकर क्षमाका भाव प्रगट करता है, उसमे मनुष्य तो वही का वही है, परन्तु पर्याय बदली है। पर्यायकी अपेक्षासे ऐसा कहा जाता है कि दूसरा मनुष्य हुआ, परन्तु द्रव्यकी अपेक्षासे तो क्रोध और क्षमा—दोनों अवस्थाओमें मनुष्य तो वही का वही है।

उसीप्रकार आत्मा वस्तु स्वतः स्थायी रहकर परिवर्तन होता

है। उसमे दो प्रकार हैं—ज्ञानी और अज्ञानी, परकी आशा–आश्रय रखकर हो वह अज्ञानी है, मैं दूसरोका अच्छा-बुरा करूँ और दूसरे मेरा अच्छा–बुरा करें—ऐसा जो भाव है वह सब पराश्रितता है, पराधीनता है, स्वाधीनताका विनाश है, स्वभावकी हत्या है। अपने स्वाधीन–स्वतन्त्रस्वभावको भूलकर अच्छे–बुरे मानकर इन भावोमे रुककर उनका कर्ता हो वह अज्ञानी है।

मैं दूसरेके लिये रुकूँ, दूसरा मेरी सहायता करे, ऐसी पराश्रिततामें नही रुका, पराधीनतामे स्थिर नही हुआ, राग-द्वेषमे नही रँगा है, ऐसे ज्ञानीको पराधीनताके कार्य रुककर स्वसन्मुखता सहित जाननेका कार्य रहा। इससे ज्ञानी पवित्र कार्य करता है, निर्मल पर्याय प्रगट करता है और मलिनताको हटाता है—ऐसे उत्तम ज्ञायकभावका कार्य ज्ञानीको करना होता है।

वह भाव ज्ञानीको ज्ञानमय ही है, क्योंकि उसे सम्यक्प्रकारसे स्व-परके विवेक द्वारा (सर्व परद्रव्य-भावोंसे भिन्न) आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदयको प्राप्त हुई है।

वस्तु बदलती है तथापि उसमे यह खूबी है कि जो जहाँ रुकता है उसका वह कर्ता होता है और वह उसका कर्म (कार्य) होता है। ज्ञानी समझता है कि ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, (ज्ञानमे दूसरे अनन्त गुण ले लेना,) मैं ज्ञानका पिण्ड आत्मा हूँ, ज्ञान और आनन्दकी मूर्ति हूँ, स्वरूपका ज्ञान, स्वरूपकी प्रतीति और स्वरूपमे स्थिरता ही मेरा कर्तव्य है, जो शुभाशुभ विकारी भाव हैं वह मैं नही हूँ, वह मेरा कर्तव्य नही है। ज्ञानीको ऐसा स्व-पर विवेक, आत्माकी ख्याति अर्थात् आत्माकी प्रसिद्धि अन्तरमे उदयको प्राप्त हुई है। लोग बाह्यमे प्रसिद्धि मानते हैं, ख्याति प्राप्त करना चाहते हैं किन्तु वह प्रसिद्धि तो—"आँखोके अन्धे और नाम नयनसुख" जैसी है। मैं शुद्ध, निर्मल, शांत और पवित्र हूँ—ऐसे स्वभावकी ख्याति ज्ञानीके स्पष्टतया प्रगटदशामे प्राप्त हुई है। इससमय भले ही केवलज्ञान प्रगट नही है

परन्तु पुण्य-पापके एक भी अंशको अपनेरूप स्वीकार नही करता—ऐसी ख्याति अत्यन्त प्रगट हुई है।

प्रश्नः—ऐसी अन्तरकी प्रसिद्धि जिनके प्रगट हुई है—ऐसे ज्ञानी खाते पीते तो हैं या नही ?

उत्तरः—ज्ञानी अमुक भूमिका तक खाते-पीते दिखाई अवश्य देते हैं परन्तु वास्तवमे ज्ञानी खाते भी नही हैं, पीते भी नही हैं अस्वस्थ भी नही होते और स्वस्थ भी नही होते। उसीप्रकार अज्ञानी भी खाता-पीता नही है और स्वस्थ अस्वस्थ नही होता, परन्तु वह मानता है कि मैं खाता-पीता हूँ स्वस्थ-अस्वस्थ हूँ—वह उसका अज्ञान है।

परसे पृथक्त्वको विवेकरूपसे जानना उन भावोका ज्ञानी कर्ता है, विवेकपूर्वक परसे निवृत्तरूपसे स्वरूपमे स्थिर होनेरूप अविकारी भावोका ज्ञानी कर्ता है, वह भाव ज्ञानीका कर्म (कार्य) है।

अज्ञानी अपनी विवेक शक्ति आत्महितके लिये प्रगट नही करता, छुपाता है इसलिये स्वतः अपने स्वरूपको नही समझता इससे वह ठग है। आजकलके कितने ही मनुष्य तो यह कहते हैं कि हमारी कैसी चतुराई है ! हम दूसरोको ठगकर काम निकालते हैं ! परन्तु भाई ! वास्तवमे कोई किसीको ठग नही सकता, अपने भावोको स्वतः ही ठगता है; वेइमानी तूने की इसलिये तू ही ठगा गया है; जड़पदार्थ तेरे कभी नही होते, तथापि उन्हे तू मेरा-मेरा कहता है इसलिये तू स्वतः ही ठगा गया है। परको अपना मानना वह हानि स्वतःसे ही अपनेको हुई है। परवस्तुका वदलनेका स्वभाव है इससे वह एकरूप न रहकर पलट जाती है—परिवर्तित हो जाती है। उसके वदलनेसे अज्ञानीको ऐसा होता है कि हाय ! हाय ! मेरी वस्तु चली गई, वैसा माननेवाला ठग है। जिसने परवस्तुको अपना माना है उसने अपनी वस्तुको अपना नही माना है। आत्मामे भी वदलनेका स्वभाव है—आत्मा परिवर्तनस्वभाववाला है, इससे विपरीत मान्यतासे सीधी मान्यता कर सकता है। अज्ञानी पुण्य-पापके भावोंको और परद्रव्य-

परक्षेत्र शरीरादिको अपना मानता है, मैं परसे किसप्रकार भिन्न हूँ—उसका भान नही है इसलिये अज्ञानरूप ही उसका कार्य होता है। अज्ञानीके भेदज्ञानकी ज्योति अत्यन्त अस्त हो गई है। जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्म बँधे या सर्वार्थसिद्धिके देवका भव मिले वह भाव भी मेरा नही है तो फिर स्त्री-बच्चे तो मेरे कैसे होगे ? किन्तु अज्ञानीको ऐसा भान न होनेसे वह सबको अपना मानता है, क्योकि उसके भेदज्ञानज्योति अत्यन्त अस्त हो गई है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि फलाने भाईने अमुक कार्यमे बुद्धिसे काम किया तो उससे लाखो रुपयेका लाभ हुआ, वैसा मानना वह सब व्यर्थ है। और फिर कहता है कि अमुक प्रसंगमे सब रुपये जानेवाले थे परन्तु व्यापार बन्द कर दिया इससे टोटा होनेसे बच गया। यह सब मानना अज्ञानता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि वस्तुको मैं हिला-डुला सकता हूँ। वस्तु स्वय फिरती है ऐसा दिखाई देता है तथापि वह मानता है कि मैं बदलता हूँ, परन्तु भाई ! तूने क्या बदला ? तूने अपने विकल्पको बदला है परन्तु परवस्तुको बदलना आत्माके हाथकी बात नही है। एक परमाणुको एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमे ले जानेकी शक्ति तीनकालमे किसीकी नही है। अरे भगवान ! तू तो जडसे पृथक् और रागद्वेषका नाशक है, उसके बदले ऐसा मानता है कि राग-द्वेषका उत्पादक-परका सग्राहक और परका कर्ता—वह तेरा अज्ञान ही है।

ज्ञानीको स्व-परका भेदज्ञान हुआ है, स्व अर्थात् स्वत अविकारी चैतन्यमय वस्तु, पर अर्थात् विकारी भाव और जड पदार्थ-उनका स्पष्ट भेदज्ञान हुआ है, स्वस्वरूपकी पहिचान करके उसमे लीन हो और परभावोंसे निवृत्त हो। बस, यही मार्ग है, इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नही है। ज्ञानी ज्ञानका कर्ता है, अज्ञानीके भेदज्ञान प्रगट न होनेसे वह अज्ञानका कर्ता है। १२६।

ज्ञानमय भावसे क्या होता है और अज्ञानमय भावसे क्या होता है वह अब कहते है—

अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तह्मा दु कम्माणि ।१२७।

अज्ञानमय अज्ञानिका, जिससे करे वो कर्मको ।
पर ज्ञानमय है ज्ञानीका, जिससे करे नहिं कर्म वो ॥१२७॥

अर्थः—अज्ञानीके अज्ञानमय भाव है इससे अज्ञानी कर्मोको करता है और ज्ञानीके ज्ञानमय (भाव) हैं इससे वह कर्मोको नहीं करता ।

आत्माके निर्मल–पवित्र स्वभावका अजान–अज्ञानी रागद्वेष और अज्ञान अवस्थाका कर्ता होता है और वही रुक जाता है; ज्ञानीको अपने स्वभावकी पहिचान होनेसे स्वमे लीन होता हुआ वहाँ रुकता है, उसका कर्ता होता है ।

अज्ञानीको, सम्यक्प्रकारसे स्वरूपका विवेक न होनेके कारण भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई है, इससे अज्ञानमयभाव ही होते हैं ।

सम्यक्प्रकारसे कहकर "सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्गः" यह सब लिया है । उन तीनोंसे अज्ञानी भ्रष्ट हुआ है । आत्मा अनन्त गुणमूर्ति पवित्र निर्दोष है, इसकी प्रसिद्धि जिसके अस्त हो गई है—ऐसे भेदज्ञानकी ज्योति छिप गई है, वैसा अज्ञानी परके कार्य मेरे है–यह मानकर वहाँ रुक गया है । राग–द्वेष, शरीर वाणी–मन वे सभी मेरे हैं और मैं उनमय हूँ, इसप्रकार दोनोके एकत्वकी मान्यतामें लीन होकर, अपना जो ज्ञानदर्शनमय अनाकुल स्वरूप है उससे भ्रष्ट हुआ है, पर जो रागद्वेष हैं उनके साथ एक होकर उसे अहङ्कार वर्त रहा है । ज्ञानीके दृढ़ता है तव अज्ञानीको अहङ्कार हो गया है । वास्तवमे, राग है सो आस्रव और बन्ध तत्त्व है, जो राग है सो मैं नही हूँ वैसे अपने चैतन्य स्वभावकी खवर नही है इसलिये जो राग है सो मैं हूँ, द्वेष है वह मैं हूँ, प्रतिकूलता आये तो मुझे अरुचि होती है और

अनुकूलता आये तो राग ही होता है—ऐसा अज्ञानी अपनेको विकारी भावो जितना ही मानता है। राग-द्वेष मेरे स्वभावमेसे आते हैं, राग-द्वेष मेरा कर्तव्य है, मेरा कार्य है, यदि मैं राग-द्वेष न करूँ तो कौन करेगा ? इसप्रकार रागी, द्वेषी, क्रोधी, मानी, कपटी, लोभी अपने वीतराग स्वभावसे च्युत होकर अज्ञानी स्वभावका अजान, बेभान, पुण्य-पापके कार्यको अपना कर्तव्य मानकर उन भावोका कर्ता होता है। स्थायी वस्तु निर्मल है उसके गुण भी निर्मल हैं। अनन्त जिसका सामर्थ्य है ऐसे स्वभावसे भ्रष्ट हुआ परभावोका कर्ता बननेसे, अपने स्वभावका ज्ञान, श्रद्धा और उसमे स्थिर होना छोड देता है।

अज्ञानी ऐसा मानता है कि हम यहाँ उपस्थित थे इसलिये यह कार्य अच्छा हो गया, समाप्त हो गया, हमारी दो दिनकी भी अनुपस्थिति हो तो सारा काम विगड जाये। अरे भाई ! वह तो बनना विगडना होगा तो वो बनेगा या विगडेगा ही उसमे किसीका कुछ भी न चलेगा, मात्र अहङ्कार करके तूने अपने भावोमे हानि पहुँचाई। परकी कोई भी अवस्था उसके कारणसे बनती है, उसे आत्मा नही करता, अवस्था हो द्रव्यकी निज शक्तिसे और कर्ता कोई दूसरा हो—वह बिल्कुल असत्य है, उसे कैसे सत्य माना जाये ? कोई कहे कि मैंने यह सब एकत्रित किया तब यह प्रसग निर्विघ्न निपट गया। परन्तु भाई ! जो सयोग एकत्रित होना हो उन्हे कोई आत्मा इकट्ठा कर देता है या प्राप्त करा देता है—वह कहना बिल्कुल असत्य ही है। कोई कहे कि मेरा हाथ हलका है इसलिये यह वस्तु अच्छी बनी है वैसा मानना वह सब गपगोले हैं, एक परमाणु जैसे अनन्त परमाणुओका दल—उसके कपडे, मकान, कागज, कलम—सभी वस्तुएँ अपनेआप परिणमित होकर होती है। अज्ञानी मानता है कि मैं उन्हे करता हूँ उस भावका वह कर्ता होता है।

ज्ञानीको तो सम्यक्प्रकारसे स्व-परके विवेक द्वारा भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदित हुई है, इससे ज्ञानमय भाव ही होते हैं।

ज्ञानीको तो, मैं परद्रव्य और परभावसे बिल्कुल पृथक् आत्मा हूँ, मेरा स्वरूप चेतनामय है अर्थात् ज्ञाताद्दष्टारूपसे स्थिर हो जाना मेरा स्वरूप है, हाँ और–नहीका किंचित् भी उत्थान होनेरूप भाव मेरा स्वरूप नही है, इसप्रकार ज्ञानीके भिन्न आत्माकी प्रसिद्धि अत्यन्त उदयको प्राप्त हुई है—प्रगट हुई है। इसप्रकार धर्मी जीव मोक्षमार्गमे पड़ा हुआ, स्वतंत्रताके पथ पर खड़ा हुआ, ज्ञान, ज्ञानकी प्रतीति, ज्ञानकी स्थिरता—उनका कर्ता है; मैं ज्ञाता ही हूँ, द्दष्टा ही हूँ, साक्षीरूपसे रहनेवाला ही हूँ—वैसा जिन्हे भान है उनको ऐसा भाव तीनकाल तीनलोकमें कर्तावुद्धिसे नही होता कि मैंने यह किया और मैंने वह किया, मैं दूसरेको समझा सकता हूँ या दूसरा मुझसे समझ जाता है—ऐसी मान्यता ज्ञानीको तीनकाल और तीनलोकमे नहीं होती। वह जानता है कि सामनेवालेकी समझनेकी योग्यता स्वत.से ही है। और सामनेवालोके समझनेकी योग्यतारूप अवस्था उससे ही हुई है।

ज्ञानीको सम्यक्प्रकारसे स्व-परके विवेक द्वारा भिन्न आत्माकी ख्याति अत्यन्त उदयको प्राप्त हुई है, इससे ज्ञानमय भाव ही होते हैं। और उनके होनेसे स्वपरके भिन्नत्वके विज्ञानके कारण ज्ञानमात्र ऐसे स्वतःमे सुनिविष्ट (सम्यक्प्रकारसे स्थित) हुआ, पर ऐसे रागद्वेषसे पृथग्भूतपनेके (भिन्नत्वके) कारण निजरससे हो जिसके अहङ्कार निवृत्त हुआ है—ऐसा स्वतः, वास्तवमें मात्र जानता ही है; रागी और द्वेषी नही होता (अर्थात् राग-द्वेष नही करता); इससे ज्ञानमय भावके कारण ज्ञानी अपनेको पर जो राग-द्वेष है उसरूप न करता हुआ कर्मोको नही करता।

ज्ञानीको स्व-परके विवेकी ज्ञान द्वारा भेदज्ञानकी ज्योति प्रगट हुई है इससे स्वपरके भिन्नत्वके विज्ञानके कारण ज्ञानमात्र ऐसे अपने स्वरूपमे स्थित होता है। ज्ञानी जानता है कि पर और मैं त्रिकाल भिन्न हैं, परका और मेरा किसी कालमे मेल नही है, इसप्रकार ज्ञानीको स्व-परकी बिल्कुल भिन्नता प्रतिभासित हुई है। अज्ञानमें "स्व-परके

एकत्वपनेके कारण" ऐसा आचार्यदेवने कहा था और यहाँ ज्ञानीको "भिन्नत्वके बोधके कारण" ऐसा कहा है। अज्ञानी स्वभावसे भ्रष्ट हुआ है इससे पुण्य और पापके कार्य मेरे हैं—ऐसा मानकर वहाँ रुक रहा है और ज्ञानी अपने स्वभावमें सुनिविष्ट अर्थात् सम्यक्प्रकारसे स्थिर हुआ है और पर ऐसे राग-द्वेष अर्थात् पुण्य-पापके परिणामोसे पृथग्भूतपनेके कारण मैं पृथक् हूँ, मेरा स्वरूप जाननेके अतिरिक्त अन्य कुछ नही है—ऐसा विवेक ज्ञानीके वर्तता है। जाननेमे दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि अनन्तगुण साथ ही आजाते है। अज्ञानी परको अपना मानकर अहंकाररूप प्रवर्तता है और ज्ञानीको स्वभावमे स्थित होनेसे निजरस प्रगट हुआ है और उस निजरसके प्रगट होनेसे अहंकारका सहज ही त्याग होगया है। हाँ और ना के जो-जो विकल्प उठते हैं वे कोई भी मेरे नही हैं, वे परिणाम पुरुषार्थकी अशक्तिसे आते हैं परन्तु वह मेरा स्वरूप नही है, ज्ञानी को स्वभावका ज्ञान, स्वभावकी प्रतीति और स्वभावका आचरण प्रगट हुए होनेसे, जो पर है सो मैं हूँ—ऐसी अहंबुद्धि सहज निवृत्त होगई है।

ज्ञानीको अपने स्वभावसे सुख है, अज्ञानी ऐसा मानकर सुख मानता है कि दूसरे मुझे अच्छा कहे, बडा कहे। बाह्यकार्योंमे कोई पूछने न आये तो भी अपने आप सलाह देता रहता है और दूसरा न माने तो उसे दु:ख होता है। ज्ञानीको तो यदि सामनेवाला पूछने आये और न माने तो भी उसका सुख नही जाता। नासमझ अज्ञानीको तो ऐसा लगता है कि पहले मेरे पिताजी थे तब बडप्पन था अब आदर कम होगया है, पहले तो सब हमारी बात मानते थे अब कोई नही सुनता। अरे भाई! वे माने तो उनके कारणसे और न माने तो उनके कारणसे, तेरा मानना तुझमे है और सामनेवालेका मानना उसमे है। ज्ञानी समझते हैं कि मेरा किसीने नही माना है और मैंने किसीका नही माना है, मैंने न तो किसीको सलाह दी है और न किसीकी सलाह ली है, मेरा बडप्पन न तो किसीने पहले रखा है और न वह किसी दिन दूर ही हुआ है। ज्ञानीको शात-

रसका अनुभव होनेसे परका अहंकार निवृत्त हुआ है। जो बात स्वत:को बैठती है, अनुकूल पड़ती है उसीको सब मानरहा है अर्थात् स्वत: अपनेको ही मान रहा है, परका माना—वह कहना उपचार है।

प्रत्येक आत्मा स्वयं स्वतन्त्ररूपसे अपने स्वभावका कर्ता और उसमे स्थिरता करनेवाला है; परका कुछ भी नही कर सकता। त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव जो अनन्त वीर्यकी मूर्ति है वे भी परका कुछ नही कर सके तो फिर पामरकी क्या शक्ति है। व्यर्थका मिथ्याभिमान अज्ञानी करता है। अज्ञानी कहता है कि दूसरोको ऐसी नेक सलाह दूँ कि वे माने विना न रहे! परन्तु भाई! निश्चयसे या व्यवहारसे किसी भी प्रकार एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी नही कर सकता। सामनेवाला दूसरेका कहा मानता है वह स्वय स्वतन्त्ररूपसे मानता है, जो बात रुचे वही मानता है। कोई बलात् उसे नही मनवा देता, मात्र अज्ञानीको ऐसी भ्राँति है कि मैं परको मनवा देता हूँ। चैतन्यके ज्ञान—श्रद्धानसे जो भ्रष्ट होगया है उसे अहंकार हुए विना नही रहता।

ज्ञानीको स्व—परका विवेक होनेसे—परसे पृथक्त्वकी श्रद्धा और ज्ञान होनेसे, श्रद्धा—ज्ञान और निजरसका अनुभव होनेसे परके अहकारसे निवृत्त हुआ है—ऐसा स्वयं वास्तवमे जानता ही है, जानने—देखनेके अतिरिक्त आत्माका अन्य कर्तव्य नही है। ज्ञानी साक्षी रूपसे रहता हुआ रागी—द्वेषी नही होता अर्थात् राग—द्वेपका कर्ता नही होता। सभी द्रव्य विलकुल पृथक्—पृथक् स्वतंत्र हैं, सबके स्वभावपिण्ड स्वतंत्र—भिन्न है। ज्ञानी केवल जानता ही है, अल्प रागद्वेप होता है उसे भी जानता है। ज्ञानीके अनन्तानुवधी कषाय दूर होगया है और जो अल्प राग—द्वेष होते हैं उनका वह कर्ता नही होता इससे ज्ञानी रागी—द्वेषी नही होता। चारित्र दोषसे जो अल्प राग—द्वेष होता है वह गौण है। अनुकूलताके रागमे और प्रतिकूलताके द्वेषमे ज्ञानी नही अटकता, इससे अपनेसे पर ऐसे विकारी भावोको न करता हुआ कर्मोको भी नही करता। आचार्यदेवने ऐसी स्पष्ट—सरल और सुगम टीका की है कि बालक भी यदि ध्यान रखे तो उसे भी समझमे आने जैसी बात

है। आचार्यदेवके कथन की शैली इतनी सरल है कि वस्तुस्वरूपका रहस्य स्पष्ट समझमे आजाये। प्रत्येक गाथामे ऐसी ही सरल रीति है।

क्रोधादिक मोहनीयकर्मकी प्रकृतिका उदयमे जुडनेसे–चैतन्यके उपयोगमे राग–द्वेषकी कलुषिताका स्वाद आनेसे, वही मैं हूँ—इसप्रकार राग–द्वेषमे अहबुद्धि करता हुआ, स्व–परका भेदज्ञान न होने से अज्ञानी अपनेको रागी–द्वेषी करता है, अपने स्वभावमे नही–ऐसे निमित्ताधीन भावोको अपना बनाकर उन्हीका कर्ता होता है और उसप्रकार अज्ञान-भावसे कर्मबन्ध होता है।

ज्ञानीको स्व–परका भेदज्ञान होनेसे वह ऐसा जानता है कि जो, मात्रशुद्ध, परकी उपाधिसे रहित ज्ञानमात्र शुद्धोपयोग है वही मैं हूँ, वही मेरा स्वरूप है, जो राग–द्वेष है वह मेरा स्वरूप नही है आस्रव तत्त्व है—उसप्रकार रागद्वेषमे अहबुद्धि न करता हुआ ज्ञानी अपनेको रागी–द्वेषी नही बनाता, (राग करने योग्य है हितकर है ऐसा कभी नही मानता)–मात्र ज्ञाता ही रहता है इससे वह कर्मोंको नही करता। इसप्रकार स्वभावका भान होनेसे शुभाशुभरागका स्वामी नही होनेसे विकारभाव नही होते–और नवीन कर्मबन्ध भी नही होता। चारित्र दोपसे, अपनी कमजोरीसे अल्प रागादि होते हैं वह ज्ञानके ज्ञेय हैं उसे हेयरूप जानता है।

जडके परिणाम जडसे होते हैं और आत्माके परिणाम आत्मासे। ज्ञानभावसे ज्ञान अवस्था होती है और अज्ञानभावोसे अज्ञान अवस्था होती है। अज्ञानी राग–द्वेष की अवस्था करता है और ज्ञानी जानने की।

अब, आगेकी गाथाओके अर्थकी सूचनारूप काव्य कहते हैं—

(आर्या)

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः॥ ६६ ॥

अर्थः—यहाँ पर प्रश्न है कि ज्ञानीके ज्ञानमय ही भाव क्यो

होते हैं और अन्य (अज्ञानमय) नही होते ? और अज्ञानीके क्यों सर्वभाव अज्ञानमय ही होते हैं, अन्य (ज्ञानमय) नही होते ?

धर्मी जीवके समस्तभाव धर्ममय ही क्यों होते हैं, ऐसा शिष्यका प्रश्न है। ज्ञानी युद्धभूमिमें खड़ा हो, तथापि उसका कार्य आत्मभावमय ही है, जहाँ रुचि है वहाँ वर्तता है—युद्धका कार्य ज्ञानी-का नही है, धर्मी जीव युद्धमे या व्यापारादिमे कही भी स्थित नही है परन्तु आत्मामे स्थित है। अज्ञानीके सव भाव अधर्ममय क्यो होते हैं और ज्ञानीके सव भाव धर्ममय क्यों होते हैं ? ऐसा शिष्यका प्रश्न है। १२७।

इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप गाथा कहते हैं:—

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायए भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो ।
जह्मा तह्मा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥

ज्यों ज्ञानमयको भावमेंसे ज्ञानभाव हि उपजते ।
यों नियत ज्ञानीजीवके सब भाव ज्ञानमयी बनें ॥१२८॥
अज्ञानमयको भावसे, अज्ञानभाव हि ऊपजे ।
इस हेतुसे अज्ञानिके, अज्ञानमय भाव हि बने ॥१२९॥

अर्थः—कारण कि ज्ञानमय भावोमेसे ज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होते हैं इससे ज्ञानीके सर्व भाव वास्तवमे ज्ञानमय ही होते हैं। और, कारण कि—अज्ञानमय भावोमेसे अज्ञानमयभाव ही उत्पन्न होते हैं इससे अज्ञानीके भाव अज्ञानमय ही होते हैं।

शिष्यने प्रश्न किया है कि धर्मीको तो प्रतिक्षण धर्म ही होता रहा है, और अधर्मीको प्रतिक्षण अधर्म ही होता रहता है वह किस प्रकार ?

ज्ञानीको 'मैं निर्मल चैतन्यस्वरूप हूँ' वैसा भान है, उसकी दृष्टि सभी प्रवर्तनोमे स्वभाव पर ही है इससे ज्ञानी चाहे जैसे सयोगोमे खडा हो तथापि उसके सभी भाव ज्ञानमय ही होते हैं। ज्ञानी व्यापारादिमे बाह्यसे लगा हुआ दिखाई दे परन्तु वास्तवमे वह उनमे लगा हुआ नही है, परन्तु स्वभावमे स्थित है, क्योकि उसकी दृष्टि स्वभावोन्मुख ही है। राग-द्वेषके विकारसे पृथक् आत्मस्वभाव उसके ज्ञानमे वर्त रहा है और उसमे अशतः स्थिर भी हुआ है, तथा स्थिरताका प्रयत्न भो चल रहा है। जो शुभाशुभ परिणाम आते है उन्हे स्वभावकी दिशामे स्थित रहकर साक्षीरूपसे जानता ही रहता है इससे ज्ञानीके समस्त-भाव ज्ञानमय ही है।

अज्ञानी धर्म श्रवण करने बैठा हो परन्तु उसकी दृष्टि विपरीत है "परसे भला बुरा हो सकता है—पर है सो मैं हूँ" ऐसी परके साथ एकत्वबुद्धि विद्यमान है, इससे अज्ञानी चाहे जिस सयोगमे स्थित हो तथापि उसके समस्तभाव अज्ञानमय है, धर्म श्रवण करके अपने अपूर्व स्वभावका निर्णय करे वह बात अलग रह जाती है। धर्मी-अधर्मीका माप बाह्य प्रवर्तन से नही है।

ज्ञानी चाहे जैसे बाह्य प्रसंगोमे स्थित हो तथापि प्रतिक्षण स्वभावकी वृद्धि ही करता है, बाह्यके अनुकूल-प्रतिकूल सयोगोमे ज्ञानीको उदासीन भाव रहता है, ज्ञानमयभाव, पवित्रतामयभाव, स्व-भावमयभाव, चाहे जिस कालमे, चाहे जिस सयोगमे, चाहे जिस क्षेत्रमे भी धर्मीके पवित्रतामय ही होते है, वह भाव नही छूटता, उसका विरह नही होता, स्थायी रहता है। चाहे जिसकालमे और सयोगमे उसे दृष्टिका विरह नही होता, किसी भी स्थानपर—जैसे, मदिरमे बैठा हो तभी धर्म होता ऐसा नही है, परन्तु दुकानमे या घरमे कही भी धर्म होता रहता है। किन्तु ऐसा सुनकर कोई ऐसा मानले कि हम घरमे या भोग विलासमे रहे तो क्या बाधा है हमारा भाव शुद्ध है तो वह स्वच्छन्दी—पापमे रुचिवाला ही है।

अज्ञानीके अज्ञानमयदृष्टि है इससे गोच्छग या रजोहरण या

मोरपिछसे यत्नाचाररूपसे वर्त रहा हो तो भी अधर्म होता है और ज्ञानीके ज्ञानमय दृष्टि होनेसे वह व्यापारमे हो युद्धमे हो तथापि उसे धर्म होता है। व्यापारसे ज्ञानीको धर्म नही होता परन्तु उसकी दृष्टि स्वभावमे स्थित है उसके द्वारा धर्म होता है।

कही मेला भरा हो, उसमे अछूत–भंगी आदि एकत्रित हुए हों और इधर–उधर घूम रहे हों, और कभी एक आसन पर ब्राह्मण भंगीके साथ बैठ गया हो तो उनमे उनका संयोग मिल जाने मात्रसे ही कही ब्राह्मण भंगी हो जायेगा ? उसे शंका भी नही होती कि मेरी जाति ब्राह्मणकी है उससे हटकर मैं भंगी होगया या होऊँगा ? उसे तो नि.शंकता ही है कि मैं तो ब्राह्मण ही हूँ। मेला देखने आया इससे इनमे मिल गया हूँ भंगी हो गया हूँ ऐसा नही है, परन्तु मेरी जाति तो ब्राह्मण ही है। ज्ञानीको नरकका आयुष्य पहले बंध गया हो, तो अपनी उस प्रकारकी योग्यतासे तो नरकमे भी जाता है तथापि वह अपनी जातिको नही भूलता, उसके अपने स्वावलम्बी दृष्टि और सुखकी तृप्ति वर्तती है इससे परमे कही भी सुख दु.खकी बुद्धि नहीं होती, उसका ज्ञानमय भाव बढ़ता ही जाता है। देखो भाई ! यह स्वच्छन्दकी बात नही है; चाहे जैसे विषय कषाय सेवन करे किन्तु हानि नही है—ऐसा नही कहा है। ज्ञानीको अल्पराग है इससे गृहस्थाश्रममे स्थित है, परन्तु जो दृष्टि है उससे तो धर्म ही होता है। जो राग है वह अपना अपराध है उसे पुरुषार्थ द्वारा दूर करके मुनित्व लेकर स्थिरतामे वृद्धि करके क्रमशः केवलज्ञान प्राप्त करना है।

ज्ञानीको अल्प अस्थिरता होती है परन्तु अज्ञानीकी अपेक्षा उसके अंतरगमे भारी अन्तर हो गया है, चौरासी लाखके परिभ्रमणमे से जिसकी वृत्ति उठ गई है, परपदार्थोमेसे अपनेपनकी बुद्धि हट गई है, परमेसे सुखबुद्धि चली गई है, अल्पअस्थिरताके कारण कुछ रागकी वृत्ति रही है; शरीर, मन, वाणीके विकल्पोसे रहित चैतन्यपिण्ड हूँ, त्रिकाल ज्ञाता–दृष्टा स्वरूप हूँ—ऐसा ज्ञान और प्रतीति ज्ञानीके वर्तते ही रहते हैं, ऐसी दशामे ज्ञानीके अपनी भूमिकाके योग्य जो बाह्यकार्य

होता हो तथापि ज्ञानभाव वढता ही जाता है। ज्ञानीके जो चाहे वाह्य-कार्य होता हो इसका तात्पर्य यह नही है कि वह अयोग्य अनीतिके आचरणमे वर्तता हो। ज्ञानीके विपय–कपायके अयोग्य अनीतिके आच-रण होते ही नही। चाहे जो वाह्यकार्य होता हो उसका अर्थ यह है कि ज्ञानी अपनी यथायोग्य पदवीके अनुसार राज्य, युद्ध, स्त्री, कुटुम्बादि गृहस्थाश्रमके कार्योमे स्थित हो तो भी परसे भिन्नत्वकी प्रतीति और ज्ञान वर्तते ही रहते हैं इससे ज्ञानमयभाव वढता ही जाता है।

जो चौदह ब्रह्माण्डके भावोका और परमाणुओका स्वामी होता है वह अज्ञानी है। ऐसे अज्ञानीके व्रत, तप, पूजा, भक्ति इत्यादि सभी अज्ञानमय हैं, वह चाहे जहाँ स्थित हो वहाँ विकार भावोको अपना मानता हुआ निर्विकारी स्वभावको भूलकर मात्र अज्ञानमय-भावोकी ही उत्पत्ति करता है, विकार और उसके फल–स्त्री, कुटुम्बादि समस्त वाह्यसंयोगोका कर्ता वनकर खडा है क्योकि उसकी दृष्टि परके ऊपर है, इससे उसके समस्त भाव अज्ञानमय हैं, वस्तुस्थिति क्या है, उसके दर्शन वोधनसे अजान है इससे अज्ञानताका उलघन न करता हुआ विकार भावोको करता ही रहता है। असंग, निर्मल स्वभाव पर जिसकी दृष्टि नही है उसकी दृष्टि मलिनता और संयोग पर है इससे मलिनताकी ही उत्पत्ति करता है, चाहे जैसे सग–प्रसगमे आये वहाँ भी वही ग्रहण करता है जिससे अज्ञानकी पुष्टि हो, ज्ञानी सीधी–सच्ची वात कहे तो उसे भी उल्टा मान लेता है, मैं परसे पृथक् तत्त्व हूँ—वैसा परिणमन नहीं है इससे हर प्रसंग पर अज्ञानकी मिठासका ही वेदन करता है, चाहे भगवानकी पूजा–भक्तिमे ही क्यो न वैठा हो।

ज्ञानी चाहे जैसे प्रसगमे खडा हो, तथापि उसके सभी भाव ज्ञानमय हैं—धर्ममय हैं। दया, पूजा, भक्ति इत्यादि सव कुछ उसके लिये ज्ञानमय है। आत्माकी निर्मल दृष्टिमे जो भाव होते हैं वे सव निर्मल ही होते हैं। ज्ञानी समझता है कि मेरा स्वभाव आनन्दमय है, इससे ज्ञान दर्शन और अन्तररमणताका उल्लघन न करनेसे ज्ञानी धर्ममय है, स्वभावके स्वामित्वके अतिरिक्त एक विकल्पका भी

स्वामित्व ज्ञानीके नही है इससे वहाँ स्वभावकी और पवित्रताकी ही वृद्धि होती है।

वास्तवमे अज्ञानमय भावमेसे जो भी भाव होते हैं वे सब अज्ञानमयताका उलंघन न करनेसे अज्ञानमय ही होते हैं, इससे अज्ञानीके समस्त भाव अज्ञानमय ही होते हैं। और ज्ञानमय भावमेसे जो भी भाव होते हैं वे सभी ज्ञानमयताका उलंघन न करनेसे ज्ञानमय ही होते हैं इससे ज्ञानीके समस्तभाव ज्ञानमय ही होते हैं।

जिन भावोंसे सर्वार्थसिद्धिका भव मिले उनकी भी ज्ञानीके मिठास नही है। सर्वार्थसिद्धिका भव मिले वैसे शुभभाव ज्ञानीको आते अवश्य हैं परन्तु उन भावोका वह ज्ञाता रहता है, उन भावोकी ज्ञानीको मिठास नही है परन्तु समस्त भावोंका वह ज्ञान ही करता है इससे उसके सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही हैं। जिसे सर्वार्थसिद्धके भावोमे मिठास नही है उसे कौनसे भावमे मिठास होगी ? ज्ञानीके किंचित् आर्तध्यान भी होजाये, किन्तु उसका भी वह ज्ञाता है, आर्तध्यानका नाश करके स्वभावकी ही वृद्धि करता है। ज्ञानी समस्त भावोमे ज्ञानमयभावका उल्लघन न करनेसे उसके सभी भाव ज्ञानमय ही हैं। ज्ञानीका अन्तर परिणमन अज्ञानीसे भिन्न प्रकारका ही होता है।

अज्ञानीके समस्त भाव अज्ञानताका उल्लंघन न करनेसे अज्ञानमय हैं, अज्ञानी परिणमन स्वभावका भान न होनेसे अज्ञानमय है। अज्ञानीके क्रोध, मान, माया, लोभादि सभी अज्ञानमय हैं, उन सभी भावोमे मिठासको न छोडनेसे उसके समस्त भाव अज्ञानमय हैं। आत्माका शुद्ध, पवित्र, निर्मल भाव है उसका अज्ञानी कर्ता–भोक्ता नही होता परन्तु पुण्य–पापके भावोका कर्ता–भोक्ता होता है, वे अज्ञानमय हैं, जो चौरासीलाखका मूल हैं और उसकी पुष्टि करनेवाले हैं।

स्वभावके मार्गसे सत्य आता है और अज्ञानके मार्गसे असत्य आता है, सत्के मार्गसे त्रिकाल सत् आता है और असत् मार्गसे त्रिकाल असत्य आता है। अज्ञानी चाहे जहाँ जाये अथवा चाहे जहाँ स्थित-

हो परन्तु मैं जानता हूँ, मैं समझता हूँ, इसकी अपेक्षा मैं अधिक बुद्धि-मान हूँ इत्यादि भाव उसे आये बिना नही रहते। अज्ञानीमे कर्त्ताबुद्धि साक्षीरूपसे रहनेकी शक्ति नही है।

ज्ञानीके चाहे जिस भावमे, चाहे जिस प्रसगमें साक्षीरूपसे रहनेकी शक्ति है, समस्त भावोंके बीच स्वतः साक्षीरूपसे रह सकता है। अज्ञानीको, चाहे वह कही भी हो परके कर्तृत्वके भाव आये विना नही रहते। ज्ञानी सबसे अलिप्त है और अज्ञानी सबमे लिप्त है।

वस्तु जैसी है वैसी ही रहेगी, अज्ञानीकी कल्पनासे वस्तु परिवर्तित होनेवाली नही है। वस्तु जैसी है उसे वैसा ही रहने दो, कल्पनासे खीचातानी मत करो, कोई वस्तु किसीका कुछ नही कर सकती। धर्मका मूल सम्यग्ज्ञान है और अधर्मका मूल अज्ञान है।

ज्ञानीके सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही होते हैं, ज्ञानीके अन्तरगकी पवित्रता देखे विना बाह्यसे कल्पना मत करना, उससे ऐसा नही समझना है कि ज्ञानी अन्धाधुन्ध अन्याय और अनीतिके आचरण करे। ज्ञानीके वे आचरण होते ही नही।

ज्ञानी हीरे–जवाहिरातका व्यापार करता हो, तथापि उसकी दृष्टि आत्मा पर ही है। अज्ञानी अनन्तवार त्यागी होकर नवग्रैवेयक तक गया परन्तु भेदविज्ञान सहित अन्तर्दृष्टि प्रगट किये विना उसके यथार्थ त्याग नही हुआ।

यह मनुष्य उच्चजातिका है इसलिये ऊँचा है और यह नीची जातिका है इसलिये नीचा है,—वह परीक्षाकी दृष्टि नहीं है। उच्च–नीच स्थान पर न देखकर उसकी दृष्टि विकार पर है या अविकारी आत्मा पर—उससे माप होता है। दृष्टि सम्यक् हो तथापि अपनी–अपनी भूमिकानुसार ज्ञानीके शुभाशुभ भाव आते अवश्य हैं परन्तु वह स्वच्छन्दी नही होता। वह समझता है कि मेरे पुरुषार्थकी मन्दता है इससे यह भाव आते हैं, यदि इसी क्षण वीतराग हुआ जा सकता हो

तो मुझे यह कुछ नही चाहिये। प्रतिक्षरा ज्ञानीका पुरुषार्थ तो चालू है तथापि पुरुषार्थ मन्द रहता है तबतक वीतराग नही हुआ जा सकता। ज्ञानीको आर्तध्यान भी हो जाता है परन्तु वह सब दूर होकर उसके निर्जराकी ही वृद्धि होती है—ज्ञानकी ही वृद्धि होती है। अज्ञानी हजारो रानियो और महान् राज्यको त्यागकर त्यागी हुआ हो, पश्चात् बाह्यसे भी इतना अधिक सहन करे कि कोई जला दे तो भी मनसे क्रोध न करे, ऐसा शुभभाव करे कि स्वत. भी सन्तुष्ट हो और दूसरे देखनेवाले भी, परन्तु शुभभावोंसे अन्तरका माप नही है। बाह्यसे दया पालन करता हो, पूजा करता हो, तथापि अज्ञानताके भावका उल्लघन नही करता। जहाँतक समस्त शुभाशुभ परिणामोसे पृथक् आत्मस्व-भावका भान नही है तबतक वह अज्ञानताका उल्लघन नही करता।

अब कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(अनुष्टुप्)

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवंत्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥

अर्थः—ज्ञानीके सर्व भाव ज्ञानसे उत्पन्न हुए (रचित) होते हैं और अज्ञानीके सर्व भाव अज्ञानसे उत्पन्न हुए (रचित) होते है।

ज्ञानीका परिणमन बदल गया है, दृष्टि बदल गई है, दिशा बदल गई है इससे ज्ञानीके सर्व भाव ज्ञानसे रचित होते हैं, धर्मीके सर्व भाव आत्माकी दृष्टिसे उत्पन्न होते हैं। अज्ञानीके सर्व भाव चौरासीके चक्करमे भ्रमण करनेके होते हैं। यहाँ, धर्मीको जो अल्प राग-द्वेष होता है उसकी बात गौण रखी है, वे भाव टालनेके लिये हैं, ज्ञानी उन भावोका स्वामी नही होता, इसलिये ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानरचित ही होते हैं।

किसी मनुष्यको ऐसी प्रतिकूलता आये कि जिससे कोई उसे माँ–बहिन या लडकीकी गालियाँ दे, तो उन्हे वह अच्छा मानेगा ? नही मानेगा। हजारोके बीचमे बैठा हो, सामनेवाला माँ और बहिनकी

गालियाँ देता हो, सब कहे कि देख ! यह तुझे कैसी गालियाँ दे रहा है और तू क्यो बैठा है ? तब वह कहे कि क्या करूँ ? अन्तरमे तो नही रुचता है परन्तु प्रतिकूलताका संयोग आ गया है, क्या किया जाये ? वह मुझे गालियाँ दे ऐसी भावना तो मैं नही भाता हूँ। इसीप्रकार सम्यग्ज्ञानी पुण्य-पापके भाव और सयोगको गालियोकी भाँति मानते है। जिसप्रकार उस मनुष्यको गालियोकी रुचि नही है वैसे ही सम्यग्दृष्टिको पुण्य-पापके भावोकी रुचि नही है, जैसे वह मनुष्य गालियोकी भावना नही भाता उसीप्रकार यह पुण्य–पापके भावोकी भावना नही करता, परन्तु पुरुषार्थकी अशक्तिसे राग-द्वेष होता है। उदयका सयोग भी बनता है, परन्तु उसे अपना स्वरूप नही मानता, उसमे रुचि या एकत्वबुद्धि नही है।

अज्ञानीको तो परका अभिमान है कि मैंने यह छोडा, और मैने यह ग्रहण किया। स्वभावके सत्तास्थलको नही जानता और ग्रहण-त्यागके अभिमानसे भरा हुआ है इससे वह त्यागी होने पर भी अत्यागी है। अन्तरसे आसक्ति दूर नही हुई है, अन्तरमे आत्माके भान द्वारा स्वरूपमे रमणता करके आसक्तिको दूर नही किया है, अन्तरमे अभी अभी आसक्ति है इससे वह त्यागी होने पर भी अत्यागी है।

पुण्य–पापके भाव मेरे स्वभावको—मेरे गुणोको गाली जैसे हैं वैसा ज्ञानी मानता है, इससे उनका आदर कैसे होगा ? गुणी, धर्मात्मा, ज्ञानी पुण्य–पापकी वृत्तिओको गालीके समान और सयोगोको उपसर्ग जैसा समझते हैं।

जैसे कोई मनुष्य बहुतसे मनुष्योंके बीच बैठा हो और उसे कोई माँ–बहिनकी गालियाँ देता हो तब, कोई कहे कि भाई ! ऐसी गालियाँ तू क्यो सुनता है ? कान बन्द करले न ? तब वह कहता है कि भाई ! मुझे जो गाली दे रहा है वह मुझे उपसर्ग आ पडा है—ऐसा जानकर शान्ति रखता हूँ, वैसे ही ज्ञानीको अनुकूल–प्रतिकूल सयोग आनेसे उन्हे वह उपसर्ग न मानकर ज्ञेय मानता है, इससे ज्ञानीको चाहे जैसे प्रसगोमे ज्ञानभावकी ही वृद्धि होती है, अज्ञानीको अज्ञानभावके

कारण चाहे जिस संयोगमे अज्ञानभावकी ही वृद्धि होती है ।१२८-१२९।

अब इस अर्थको दृष्टान्तसे दृढ करते हैं :—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा ।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते ।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥

ज्यों कनकमयको भावमेंसे, कुण्डलादिक ऊपजे ।
पर लोहमयको भावसे, कटकादि भावो नीपजे ॥१३०॥
त्यों भाव बहुविध ऊपजे, अज्ञानमय अज्ञानिके ।
पर ज्ञानिके तो सर्व भावहि, ज्ञानमय निश्चय बने ॥१३१॥

अर्थः—जिसप्रकार सुवर्णमय भावमेसे सुवर्णमय कुण्डलादि भाव होते है, और लोहमय भावमेसे लोहमय कडा आदि भाव होते है, उसीप्रकार अज्ञानीको (अज्ञानमय भावोमेसे) अनेक प्रकारके अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानीको (ज्ञानमय भावोमेसे) सर्व ज्ञानमय भाव होते है ।

आचार्यदेवने दृष्टान्त दिया है कि सुवर्णमय धातुमेसे सुवर्णके ही कुण्डल–कडे इत्यादि गहने होते हैं और लोहेमेसे कडाही, तावडी आदि बनते हैं । स्वर्णमेसे लोहमय गहने नही बनते और लोहेसे स्वर्णमय गहना नही होता । लोहा तपे तो अग्निकी चिन्गारियाँ उड़ती है और स्वर्ण तपे तो चिकना चमकदार होता है । उसीप्रकार अज्ञानी लोहेके समान है, अज्ञान और राग-द्वेषकी चिन्गारियाँ उडती हैं, इससे चार गतियोमे उड–उडकर फिरता है और ज्ञानी सोनेके समान है; परीषह और उपसर्ग आने पर भी ज्ञातापनका धैर्य नही छोड़ता, किन्तु अपने अनन्तगुणके पिण्डस्वरूप आत्मामे विशेष सावधान होकर

ज्ञान–दर्शन–चारित्रकी एकतामे एकरूप होकर—स्थिरता करके मुक्ति प्राप्त करता है।

अज्ञानीको शुद्ध चैतन्यधातुकी खबर नही है इससे पुण्य-पापके परिणामोके काट–मैलका स्वामी बनता है, वह मेरे हैं और मैं उनका कर्ता हूँ—उसप्रकार सर्व भावोको अपना मानता है। जिसप्रकार लोहेमे से कडाही, तावडी इत्यादि होते है उसीप्रकार अज्ञानमेसे सर्व अज्ञान-मय भाव ही होते हैं।

अग्निसे सुवर्ण तप्त हो जाये तथापि वह स्वर्णत्वको नही छोडता, वैसे ही धर्मीको प्रतिकूलताके सयोग आये तथापि वह धर्मको नही छोडता।

अज्ञानीको जहाँ प्रतिकूल सयोग आये कि वहाँ वह भय और त्राससे आकुल–व्याकुल हो जाता है परन्तु ज्ञानी धर्मको नही छोडता, स्वभावकी शाति–समाधिको नही छोडता। देखो! यह सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शनका माहात्म्य है, अज्ञानमे विवेक नही, किन्तु ज्ञानमे विवेक है।

जिसप्रकार परमाणु स्वय—अपने आप परिणामस्वभाववाला होनेसे, कारण जैसे ही कार्य होते होनेसे स्वर्णमेसे स्वर्णके ही गहने होते हैं और लोहेमेसे लोहेकी ही वस्तुएँ बनती हैं, स्वर्णमेसे लोहेकी वस्तु नही होती और लोहेमेसे स्वर्णकी वस्तु नही बनती। जैसा कारण हो वैसा ही कार्य होता है। चाहे जैसे सयोगमे स्वर्णत्वका उल्लंघन न करनेवाले—ऐसे स्वर्णमेसे स्वर्णका ही गहना होता है, जैसा कारण हो वैसा ही कार्य होता है, कारण-कार्य सजातीय होते है। लोहा पाँच या दस सेर हो, उसमेसे स्वर्णमय आभूषण नही होते और सुवर्ण पाँच या दस सेर हो उसमेसे लोहेकी वस्तु नही बनती, स्वर्णके आभूषणोमें स्वर्णकी ही जाति है और लोहेकी कडाही आदिमे लोहेकी ही जाति है सोने पर जङ्ग नही चढती परन्तु लोहे पर जङ्ग चढ जाती है, चाहे जैसे सयोगोमे भी लौहत्वका उल्लघन न करनेवाले लोहेमेसे कडाही आदि लोहेकी ही वस्तु होती है परन्तु स्वर्णमय वस्तु

नहीं होती। आचार्यदेवने कहा है कि–पुद्गल स्वयं परिणामस्वभाववाला है, अर्थात् स्वयं परिवर्तित होता है तथापि स्वर्णमेंसे लोहा नही होता, और लोहेमेंसे स्वर्ण नही बनता, दोनों पुद्गलद्रव्य हैं तथापि वैसा नही होता।

उसीप्रकार जीव स्वयं परिणामस्वभाववाला होने पर भी कारण जैसा ही कार्य होता होनेसे, अज्ञानीको–जो कि स्वतः अज्ञानमय भाव है भले ही हजारो शास्त्र जानता हो, महाव्रतादिका पालन करता हो किन्तु उसे—अज्ञानमय भावमेंसे, अज्ञानजातिका उल्लघन न करनेवाले अनेक प्रकारके अज्ञानमयभाव ही होते हैं परन्तु ज्ञानमय भाव नही होते। और ज्ञानीको—जो कि स्वतः ज्ञानमय भाव है—उसे ज्ञानमय भावोमेंसे, ज्ञानकी जातिका उल्लंघन न करनेवाले सर्व ज्ञानमय भाव ही होते हैं, परन्तु अज्ञानमय भाव नही होते।

जीव परिणामस्वभाववाला होनेसे जैसे कारण वैसे ही कार्य होते हैं। अज्ञानीको अज्ञान कारण है, इसलिये कार्य भी अज्ञानका ही आता है। उसकी दृष्टि पराश्रय अर्थात् रागादि शरीर, मन, वाणीरूपी काट–मैल पर पड़ी है परन्तु अपने ध्रुव वस्तुस्वभाव पर नही है। जीव परिणमनस्वभाववाला होनेसे चाहे जैसा परिणमित होता रहे—वैसा नही है, परन्तु जैसी दृष्टि हो वैसा कार्य आता है। अज्ञानीकी दृष्टि परके ऊपर–पराश्रय ऊपर पड़ी है इससेविभाव–परभावमय ही कार्य होते हैं; जितने परिभ्रमण होने योग्य भाव हैं इससे परिभ्रमणके ही कार्य होते हैं। जिसे राग-द्वेप और परके कर्तृत्वकी मिठास है उसके, अज्ञानजातिका उल्लंघन न करनेवाले अज्ञानमय भाव ही होते हैं परन्तु ज्ञानमयभाव नही होते। देखो! इससे यह तात्पर्य निकलता है कि अज्ञानमयभावमेंसे चाहे जैसे भाव करे व्रत तप करे–शास्त्र पढे तथापि ज्ञानभाव नही हो सकते।

लोग कहते हैं कि हमे निमित्त चाहिये–व्यवहार–पराश्रय चाहिये, पुण्य–पापके भाव करना चाहिये; ऐसा करते–करते धर्म होगा,

परन्तु ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि स्वरूपके आलम्बनके बलसे दृष्टिको बदले बिना स्वभावकी निर्मलपर्याय प्रगट नही हो सकती। जो विपरीतदृष्टिको न बदले उसे चाहे जैसे शुभराग हो, उच्च संयोग मिलें, साक्षात् चैतन्यमूर्ति तीर्थंकर भगवानका योग प्राप्त हो तथापि वह विपरीत ग्रहण करेगा, धर्मकी बात होती हो तो उसे सुनकर कहेगा कि अकेली आत्माकी ही बात ले बैठे हो किन्तु कुछ रुपये–पैसेकी बात भी करोगे ? इसप्रकार उल्टा ग्रहण करता है। ज्ञानी कहते हैं कि तुम संसारकी बाह्यक्रिया क्या कर सकते हो ? मात्र मैं परमे कुछ ग्रहण-त्याग करता हूँ ऐसी मिथ्या मान्यताके भाव ही करते हो। परद्रव्यका कोई कुछ कर ही नहीं सकता। ज्ञानी भी मात्र अपना भाव ही करते हैं। क्या अज्ञानी रुपये–पैसेका संग्रह कर सकता है ? नही, कर ही नही सकता। मात्र अपनेमे भाव ही करता है। परद्रव्योका संग्रह आदि करनेसे नही होते और रखनेसे रहते नही हैं। अज्ञानी अज्ञानभावोंका ही मंथन करता रहता है, निरन्तर वे ही भाव उसके होते हैं।

ज्ञानी समझता है कि मैं ही अपने स्वरूपसे शरणरूप हूँ, परसे अशरणरूप हूँ, इसलिये परकी ओर रुचि करना मेरा कर्तव्य नहीं है। जिसप्रकार नट अपनी डोरी परसे दृष्टि नही चूकता, हजारो मनुष्य देखनेके लिए खड़े हों उनपर उसकी दृष्टि नही होती परन्तु सिर नीचे पैर ऊपर हैं, सिर थालीमे रखा है, थाली डोरी पर रखी है इसलिये वह थाली और डोर परसे दृष्टिको नही चूकता। पहले खेल प्रारम्भ करते समय पैसेका हेतु होता है परन्तु खेल दिखाते समय उसपर दृष्टि नहीं होती कि मेरा खेल देखकर कौन संतुष्ट होता है और कौन नहीं। उसे तो डोरी पर थालीमें सिर रखकर थाली डोरीसे इधर–उधर न हटे उसपर दृष्टि होती है। उसीप्रकार ज्ञानीको संयोग और संयोगोंकी ओरके पुण्य–पापके भावोमे–कही भी ढलनेकी रुचि नहीं है; एकमात्र अखण्डस्वभाव पर दृष्टि है इससे वह बँधता नही है। "त्रैकालिक ज्ञान, दर्शनादि अनन्तगुण और अनन्त पर्यायें ही मेरा

स्वरूप है, उन्हीके साथ मुझे सम्बन्ध है, इसके अतिरिक्त परका और मेरा किसी कालमे कोई सम्बन्ध नही है।" ऐसा परसे पृथकता, स्वभावकी सामर्थ्यता, विभावकी विपरीतता और द्रव्यकी स्वतंत्रताका ज्ञान वस्तुस्वभावके स्पर्शसहित ज्ञानीको होता है, इससे उसके सम्पूर्ण भाव पवित्र ही होते हैं।

जिसप्रकार कोई स्त्री पानी भरने गई हो, बच्चेको घर पर सुलाया हो, और घर तथा पड़ौसमे भी कोई न हो तो उसे ऐसा लगता है कि कदाचित् लड़का रोयेगा, इससे जल्दी गागर भरकर घर पहुँचूं। वहाँ मार्गमें कोई सहेली मिल गई और वह बात करनेके लिये खड़ी होगई तो वहाँ वह आधा उत्तर दे-न दे और कहेगी कि बहिन! फिर मिलूंगी; लड़का अकेला घरमे सो रहा है,—इसप्रकार लड़के परसे दृष्टि नही हटती। थोडा आगे चली कि दूसरा कोई पीहरके समाचार देने लगा, तो उसे भी कहती है कि भाई! तुम घर पर आना, अभी रुक नहीं सकती, क्योंकि लड़का अकेला सूने घरमे सो रहा है ताला लगाकर आई हूँ। इसप्रकार पीहरके समाचार मिलनेमें भी पुत्रका ध्यान नही चूकती। इसीप्रकार धर्मी जीव-ज्ञानी जीव राज्य करता हो, व्यापार करता हो, युद्ध करता हो तथापि अपने स्वभावके ध्येयसे च्युत नही होता। धर्मी जीव कोई भी सासारिक कार्यका राग भाव कर रहा हो परन्तु उन सबमे उसे ऐसा रहता है कि यह मेरा नही, यह मेरा नही है, मेरा तो नित्य ज्ञाता स्वभाव है ज्ञाता स्वभाव ही मेरा धन है—स्व है। इसप्रकार अपने ध्रुव स्वभावपर दृष्टि जमी की जमी ही है। जिसप्रकार उस स्त्रीको बाहर कार्य करते हुए भी लड़के परसे ध्यान नही हटता उसीप्रकार स्वभाव दृष्टिवंत ज्ञानीको बाह्यकार्य करनेका रागभावके समय भी ज्ञायक स्वभाव परसे दृष्टि नही हटती, बाह्यसे अल्प आसक्ति-लीनता दिखाई देती है किन्तु अन्तरसे तो उदासीन! उदासीन है।

लोग ऐसा मानते हैं कि देखो तो! स्त्री पानी भरने गई और बच्चेको तालेमे जेलमे बन्द कर गई, अरे भाई! तू जेल कहता है

तो जेल सही, परन्तु तू यह नही जानता कि लडका मेरा जीवन है ? माताका लड़केके प्रति प्रेम तो उसके कार्य परसे दिखाई देता है, क्योंकि उसे एक ही लक्ष है और एक ही डोर है । परन्तु नासमझ विपरीत-दृष्टिसे देखता है और बुद्धिमान सीधी—यथार्थ दृष्टिसे, उसीप्रकार ज्ञानीके बाह्य कार्य देखकर लोग ऐसा कहे कि ज्ञानी होकर लडाई कर रहा है, गृहस्थ है व्यापार करता है । अरे भाई ! तू 'लडाई कर रहा है' कहता है तो वही सही, और 'स्त्रियोमे विद्यमान कहे' तो वैसा ही मान ले, परन्तु हमारे अन्तरमे उनके प्रति कितनी अरुचि, कितनी उदासीनता तथा स्वभावकी कितनी रुचि और कितनी लीनता है उसे तू कैसे समझ सकता है ? उसे तो हमारा ही हृदय जानता है । अज्ञानीको अज्ञान भावसे खतौनी नही छूटती और ज्ञानीको ज्ञान भावसे । ज्ञानमे-से ज्ञानका ही कार्य आता है और अज्ञानमेसे अज्ञानका ही । जैसा कारण वैसा ही कार्य होता है । जैसे प्रकाश अधेरेका काम नही करता वैसे निजआत्माके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाला सम्यग्ज्ञान ज्ञानका ही काम करता है अज्ञानका काम नही करता ।

अज्ञानी कहता है कि वृद्धावस्थामे पैसा गया, लडका मर गया इत्यादि प्रतिकूलताये आईं इससे सहन करना मुश्किल दिखाई देता है, परन्तु यदि जवानीमे गया होता तो सहन कर लेता, इसप्रकार सर्वत्र अज्ञानीकी संयोगो पर ही दृष्टि पडी है । ज्ञानी चाहे जैसे सयोगमे हो तथापि उसके सच्चा समाधान और असंयोगी दृष्टि वनी रहती है— निरपेक्ष ज्ञाता—साक्षी स्वभाव पर दृष्टि बनी रहती है । ज्ञानी युद्धमे-व्यापारमे या स्त्री—बच्चोमे दिखाई दे तथापि उसकी दृष्टि अपने ज्ञाना-नंदमय स्वभाव पर ही है, अतः परमे कही भी एकत्वबुद्धि नही होती, अन्तरसे पृथक् ही है तथापि वर्तमान पुरुषार्थकी कमजोरीसे अल्प राग—द्वेष होता है, यदि अल्प राग—द्वेष न हो तो बंध न हो, मुनि हो जाये—वीतराग हो जाये, परन्तु वह दशा नही है इसलिये अल्प विकार है, पुरुषार्थ लचक खाता है परन्तु दृष्टि तो ध्रुव विज्ञानघन स्वभाव पर ही है । इसप्रकार ज्ञानीको ज्ञान भाव होते हैं और अज्ञानीको अज्ञानभाव ।

अज्ञानीको शुभाशुभ भावोंमें आत्मबुद्धि होनेसे, उसके सर्व भाव अज्ञानमय ही हैं। राग द्वेष होता है वह पर पदार्थकी ओरका भाव है उसमे अज्ञानीको आत्मबुद्धि होनेसे उसके व्रत–तप–पूजादि सब अज्ञानकी भूमिकामेसे उत्पन्न होते हैं इसलिये अज्ञानमय ही हैं, विषकी भूमिकामेसे विष ही उत्पन्न होता है, विषके वृक्षमेसे विषकी ही उत्पत्ति होती है अमृत उत्पन्न नही होता। ज्ञानीके समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं, क्योकि उसे परोन्मुखताके भावोमे एकत्व बुद्धि नही है—इससे उसके सम्पूर्ण भाव ज्ञानमय ही हैं, अमृतके वृक्षसे अमृतकी ही उत्पत्ति होती है विष उत्पन्न नही होता।

अविरतसम्यग्दृष्टि (ज्ञानी) के यद्यपि चारित्रमोहके उदयमे जुड़नेसे क्रोधादिक भाव प्रवर्तमान हैं तथापि उसे उन भावोमे आत्म–बुद्धि नही है, वह उन्हे परके आलम्बनसे उत्पन्न हुई उपाधिरूप मानता है। क्रोधादिक कर्म उसके उदयमें आकर खिर जाते हैं—आगे ऐसा बंध नही करता कि जिससे संसार–परिभ्रमणमे वृद्धि हो, क्योंकि (ज्ञानी) स्वतः उद्यमी होकर क्रोधादिभावरूप परिणमित नही होता और यद्यपि कर्मोदयकी ओर झुकाव करनेसे कुछ अंशमे रागादि भाव कर्मरूप प्रवर्तता है तथापि ज्ञातृत्वसे च्युत होकर परिणमित नही होता। ज्ञानीका स्वामित्व निरंतर ज्ञानमे ही प्रवर्तमान रहता है इससे वह क्रोधादिक भावोका अन्य ज्ञेयोकी भाँति ज्ञाता ही है—कर्ता नहीं है। इसप्रकार ज्ञानीके सर्वभाव ज्ञानमय ही हैं।

ज्ञानी पूर्ण आसक्तिसे मुक्त नही हुआ है इससे चारित्र दोषसे कुछ उल्टे पुरुषार्थके कारण किंचित् क्रोध, मान, माया, लोभ होते हैं, उनमें वह बाह्यसे वर्तता दिखाई देता है किन्तु उसे निरन्तर पृथक् आत्माका विवेक प्रवर्तमान है इससे उनमे उसे आत्मबुद्धि नही है कि यह मेरे हैं और मैं इनका हूँ परन्तु उन्हें वह परको उपाधि मानता है जो विकारी भाव हैं वे तो आत्माके गुणोंको गाली समान हैं।' ज्ञानीको अल्प दोष आता है परन्तु वह खिर जाता है।

नीचेकी भूमिकामें ज्ञानीको अन्तरमेसे पूर्णतया राग–द्वेषकी

निवृत्ति नही हुई है परन्तु "जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि" इस न्यायसे उसे अवगुणोका व्यय और गुणोकी पर्यायकी उत्पत्ति तथा वर्तमान एक-समयमे मैं अनन्तगुणोका पिण्ड हूँ—ऐसी ध्रुवकी दृष्टि होनेसे वस्तुदृष्टिमे-से गुणोकी निर्मल अवस्था ही उत्पन्न होती है, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि रचती है। पुरुषार्थमे किंचित् मचक आजाती है परन्तु वास्तवमे अव-गुणोका व्यय होता जाता है और निर्मलपर्यायकी उत्पत्ति होती है एव अखण्ड वस्तुकी दृष्टि बनी हुई है।

ज्ञानीके ज्ञानदृष्टि प्रगट हुई, आत्माका भान हुआ, इससे अखण्डवस्तुकी दृष्टिमे उसकी सृष्टि कैसी होगी ? दृष्टि पवित्रताकी है तो सृष्टि भी पवित्रताकी होती है, विकारका व्यय होता जाता है और निर्विकारी पर्यायका ही उत्पाद होता है, कुछ अवगुण रह गये हैं वे दूर होने के लिये ही हैं रहनेके लिये नही।

चतुर्थ गुणस्थानवाला सम्यग्दृष्टि युद्धमे खडा हो, तथापि "मैं ज्ञायक हूँ, पवित्र हूँ"—ऐसी दृष्टि हुई होनेसे साक्षीरूपसे खडा है अर्थात् उसे पवित्रताकी ही उत्पत्ति होती है और अवगुणोकी पर्यायका व्यय होता जाता है। एकसमयमे एक ही अवस्थाकी उत्पत्ति होती है परन्तु अवगुण और गुणोकी पर्यायकी मिश्रता नही है, दो मिलकर एकपर्याय नही है, दृष्टि शुद्ध पर है इससे एकमात्र शुद्धका ही उत्पाद है, अल्प अवगुण खिरनेके लिये है, धर्मी जीव उद्यमी होकर, करने योग्य मानकर उनमे युक्त नही होता। मैं परिपूर्ण हूँ, निर्मल हूँ वैसे भानमे अवगुणोका पुरुषार्थ नही है, गुणोकी पर्यायका उत्पाद करनेका ही पुरुषार्थ है, मात्र दृष्टिके अनुसार ही अवस्था करनेका पुरुषार्थ है।

त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्करदेव शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरह-नाथ भगवान चक्रवर्ति पद पर थे तब वे युद्धमे खडे हो तथापि गुणोकी अवस्थाका उत्पाद होता जाता है, अवगुणोकी पर्यायका ह्रास होता जाता है। युद्ध सम्बन्धी भावोमे युक्त होनेसे वीर्य किंचित् मलीन तो होता है, किंचित् अवगुण भी होते हैं, गुणोकी हानि भी कुछ होती है, परन्तु वहाँ उसकी भावना नही है। जहाँ जिसकी भावना वहाँ उसकी

वृद्धि; जहाँ जिसकी भावना नही है वहाँ उसका व्यय है—वृद्धि नहीं है। ज्ञानीको गुणोंकी भावना होती है या अवगुणोकी ? गुणोकी ही होती है। बस जहाँ जिसकी भावना वहाँ उसकी वृद्धि। ज्ञानीको अल्प राग है उसे वे उपाधिरूप मानते हैं, उसका स्वामित्व स्वीकार नही करते उसे करनेकी भावना और रखनेकी दृष्टि नही है तथा उत्पन्न करनेका भाव नही है। ज्ञानी कर्मकी जवर्दस्तीसे विकारमे युक्त नही होते, कर्म बलात् उन्हे विकारमे प्रवर्तित नही करता परन्तु अपना पुरुषार्थ किंचित् मचक खाता है इससे राग–द्वेष होता है, तथापि ज्ञातृत्वसे च्युत होकर राग–द्वेषमे युक्त नही होते, उसका स्वामित्व स्वीकार नही करते। जिस–प्रकार आकाश–पाताल, पत्थर–लकड़ी आदि ज्ञेय ज्ञात होते हैं उसी-प्रकार क्रोधादि भाव ज्ञानीको जाननेमे आते है। जिसप्रकार भंगी वणिककी जातिका नही उसीप्रकार काम, क्रोधादि आत्माकी जातिके नही हैं—वैसा ज्ञानीको देखनेमे आता है। भगीका लडका वणिकका उत्तराधिकार नही लेता उसीप्रकार चैतन्यरूपी स्वजातिकी प्रतीति होनेसे, विजातीय काम, क्रोधादि मेरे स्वगुणोंका उत्तराधिकार रखने-वाले नही हैं ऐसा धर्मीके देखनेमे आता है। निष्कलंकी स्वभावमे यह कलकस्वरूप मेरा नही है, मैं इसका कर्ता नही हूँ, यह मेरा कार्य नहीं है, मेरा कार्य तो ज्ञानमय है—ऐसा ज्ञान ज्ञानीके वर्तता है, ज्ञानीका स्वामित्व निरतर ज्ञानमे ही प्रवर्तमान रहता है, पुरुषार्थकी अशक्तिसे अल्प विकार होता है परन्तु उसमे वे ज्ञातृत्वसे च्युत होकर परिणमित नही होते इससे ज्ञानीके सर्व भाव ज्ञानमय ही हैं।

अब, आगामी गाथाकी सूचनारूप श्लोक कहते हैं:—

(अनुष्टुप्)

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम्।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम्॥ ६८॥

अर्थ:—अज्ञानी (अपने) अज्ञानमय भावोकी भूमिकामें व्याप्त होकर (आगामी) द्रव्यकर्मके निमित्तसे जो (अज्ञानादि)

भाव हैं, उनके हेतुत्वको प्राप्त होता है (अर्थात् द्रव्यकर्मके निमित्तरूप भावोका हेतु बनता है)

आत्मा निर्विकारी, स्वसवेद्य, निर्दोष और पवित्र है। अज्ञानी उसे भूलकर अज्ञानमय भावोकी भूमिकामे व्याप्त होकर अर्थात् रहकर नवीन कर्म बाँधनेका अज्ञान और राग–द्वेषके भाव करता है, जड–कर्मका उदय आनेसे स्वत' अज्ञान और राग–द्वेषके भाव करता है वह नवीन कर्मोका हेतु होता है, पुराने कर्मोके उदयमे जुडनेसे उस समय वर्तमान विकारी भावरूप भावोका कर्ता होता है इससे वे भाव नवीन कर्मोका कारण वनते हैं ।१३१।

यही अर्थ पाँच गाथाओ द्वारा कहते हैं—

अण्णाणस्स स उदओ जा जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥
तं जाण जोगउदयं जो जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं ॥१३६॥

जो तत्त्वका अज्ञान जीवके, उदय वो अज्ञानका ।
अप्रतीत तत्त्वकी जीवके जो, उदय वो मिथ्यात्वका ॥१३२॥
जीवका जु अविरत भाव है, वो उदय अनसंयम हि का ।
जीवका कलुष उपयोग जो, वो उदय जान कषायका ॥१३३॥

शुभ अशुभ वर्तन या निवर्तनरूप जो चेष्टा हि का ।
उत्साह करते जीवके उदय वो ज्ञानो योगका ।। १३४ ।।
जब होय हेतूभूत ये तब स्कंध जो कार्माणके ।
वे अष्टविध ज्ञानावरण इत्यादिभावों परिणमें ।।१३५।।
कार्मणवरगणारूप वे जब, बंध पावें जीवमें ।
आत्मा हि जीव परिणाम, भावोंका तभी हेतू बने ।।१३६।।

अर्थः—जीवोको जो तत्त्वका अज्ञान (वस्तुस्वरूपका अयथार्थ-विपरीत ज्ञान) है वह अज्ञानका उदय है और जीवोंको जो (तत्त्वका) अश्रद्धान है वह मिथ्यात्वका उदय है। पुनश्च, जीवोको जो अविरमण अर्थात् अत्यागभाव है वह असंयमका उदय है और जीवोको जो मलिन (ज्ञातृत्वकी स्वच्छतासे रहित) उपयोग है वह कषायका उदय है। और जीवोंको जो शुभ या अशुभ प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप (मनवचनकाया-आश्रित) चेष्टाका उत्साह है वह योगका उदय जानो।

यह (उदय) हेतुभूत होनेसे जो कार्मणवर्गणागत (कार्मण-वर्गणारूप) पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावरूपमें आठप्रकारसे परिण-मित होता है वह, जब वास्तवमे जीवमें बंधता है तब, जीव (अपने अज्ञानमय) परिणामभावोंका हेतु होता है।

आत्माके स्वभावकी ओरका ज्ञान न करके परका ही ज्ञान करना सो अज्ञानभाव है, वह अज्ञानका उदय है।

मैं सुखरूप हूँ—ऐसी प्रतीति न होनेसे परमे सुखबुद्धि होना, परमें अपनेपनकी बुद्धि होना सो मिथ्यात्व है। ऐसी मान्यता होनेमें पूर्वके मिथ्यात्वकर्मके विपाकका निमित्त है। उस उदयकी ओर आत्मा उन्मुख हो तब, भ्रांति होती है, कर्म बलात् कराते हैं ऐसा नही है।

परकी आसक्तिसे मुक्त नही हुआ—वह अत्यागभाव है अर्थात् अविरतिभाव है, उस अविरतिभावमें कर्मोदयका निमित्त है। उपयोगमें निर्मलता—स्वच्छता नही रहती वह कषायभाव है; उस कषाय

भावमें कषायकर्म निमित्त है। शुभयोगमें या अशुभयोगमे वर्तना अथवा निवृत्य होना अर्थात् शुभमे प्रवर्तन करना और अशुभसे निवृत्य होना, अशुभमे वर्तन करना और शुभसे निवृत्य होना—वह योगका उदय है। आत्माके प्रदेशोका कम्पन है वह योग है, विकार है उसमे कर्मका निमित्त है।

पुराने कर्मोंके उदयके विपाकमे स्वय युक्त हो वह नवीन कर्मबन्धका कारण होता है। तत्त्वके अज्ञानरूपसे (वस्तुस्वरूपकी अन्यथा उपलब्धिरूपसे) ज्ञानमे स्वादरूप होता हुआ (स्वादमें आता हुआ) अज्ञानका उदय है। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगके उदय—जो कि (नवीन) नवीनकर्मके हेतु हैं वे, उसमय अर्थात् अज्ञानमय चार भाव हैं।

आत्मा तो शुद्ध पवित्र है परन्तु अवस्थामे विकाररूप परिणमित होते हैं इससे ज्ञान हीन होता है। अल्प ज्ञानका जो स्वाद आता है उसमे ज्ञानावरणीयकर्मके विपाकका फल है। विपरीत ज्ञानका जो स्वाद है वह अपवित्रताका स्वाद है—पवित्रताका नही। यहाँ इस गाथामे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग—उन चारों भावोको अज्ञानमय कहा है और सम्यग्दृष्टिके वे चारो भाव नही हैं—ऐसा कहा है। अज्ञानभावमे चारों स्थित हैं और ज्ञानभावमे चारो नष्ट हो गये है। चैतन्यके ज्ञानस्वभावमे स्थिर न हो तो ज्ञानहीन होता है वह अज्ञानभाव है, चैतन्यके असंग—असंयोगी स्वभावमे स्थिरता न करे और परमे आत्मबुद्धि करके वहाँ लीन हो तो मिथ्यात्व है, स्वरूपकी निवृत्तिमे स्थिर न हो और परकी आसक्तिमे स्थिरता करे वह परका अत्याग भाव अविरति है, स्वभावकी निर्मलतामे न रुके और मलिन उपयोगमे स्थिर हो वह कषाय है, अयोगमे न रुके और कम्पनमे युक्त हो वह योग है। जहाँ आत्माका सम्यग्भान हुआ वहाँ अज्ञान गया, मिथ्यात्व दूर हुआ, उसप्रकारकी अशतः स्थिरता हुई, उसप्रकारका अर्थात् मिथ्यात्वसम्बन्धी कषाय और योग दूर होगया, सम्यग्दर्शन हुआ वहाँ सवका अन्त होगया। चारोको अज्ञानमयभाव कहा है।

कोई कहेगा कि योग तो केवलीको भी होता है न ? केवलीके योग होता है परन्तु वह पर्यायदृष्टिसे बात है। यहाँ तो यह बात की है कि सम्यग्दृष्टिको वस्तुदृष्टि हुई वहाँ सब चला गया।

वस्तुमे अज्ञान नही है, भ्राति नही है, अविरति नही है, कषाय नही है, योग नही है। जिसप्रकार वे वस्तुमे नही हैं—उसीप्रकार जिन्हे वस्तुदृष्टि हुई है उनके भी वह नही हैं। वस्तुदृष्टिवंतके अज्ञान नही है, भ्राति नही है, अविरति नही हैं और योग भी नही है। अज्ञानका कर्ता और कार्यपना अज्ञानभावमे होता है, भ्रातिका कर्ता और कार्यपना अज्ञानभावमे होता है, कषायका कर्ता और कार्यपना अज्ञानभावमे होता है; कम्पनका कर्ता और कार्यपना भी अज्ञानभावमें होता है।

ज्ञानभावमे अज्ञानका कर्ता–कर्मपना नही है, भ्रांतिका कर्ता–कर्मपना नही है, अविरतिका कर्ता–कर्मपना नही है, कषायका कर्ता–कर्मपना नही है और योगका भी कर्ता–कर्मपना नही है। ज्ञान होनेपर वे समस्त अज्ञानमयभाव नही होते; ज्ञान होनेके पश्चात् अल्प विकारी भाव होते हैं परन्तु उनका वह कर्ता नही होता, स्वामी नही होता इसलिये नित्य स्वभावका आश्रय करनेवाला ज्ञान होनेसे वे समस्त अज्ञानमय भाव नही होते। स्वभावका भान होनेसे परका कर्ता–भोक्ता होता ही नही; यदि कर्ता भोक्ता हो तो उसे स्वभावकी खबर ही नही है। यह सम्पूर्ण वस्तुदृष्टिका विषय है; परिपूर्ण स्वभावसे भरपूर अनन्त गुणोके पिण्ड आत्मा वस्तु दृष्टिका विषय है। वस्तुदृष्टिमें सम्पूर्ण आता है परन्तु ज्ञान स्व–पर–प्रकाशक है इससे वह अपूर्णदशाको भी जानता है और पूर्ण अवस्थाको भी जानता है। वस्तुदृष्टिके साथ जिस ज्ञानकी पर्याय प्रगट होती है वह ज्ञान यथार्थ जानता है। ज्ञान पूर्ण विषयको भी जानता है और जो अल्प विकारी भाव रहा उसे भी जानता है, साधक भावरूप निर्मलपर्यायको भी जानता है और बाधक भावरूप समल पर्यायको भी जानता है, द्रव्यको भी जानता है और अपूर्ण–पूर्ण पर्यायोंको भी जानता है।

दृष्टि होनेके पश्चात् अल्प राग-द्वेष होता है उसे दृष्टि स्वीकार नही करती, ज्ञान उसे जानता है परन्तु दृष्टिके अभेदविषयमे भेद नही पडता, दृष्टिपूर्वकका ज्ञान सच्चाज्ञान है। ज्ञान, सम्यग्दर्शनके विषयकी परिपूर्णताको भी जानता है और अवस्थाके विभागको भी जानता है।

अज्ञान अर्थात् स्वभावसे च्युत होनेसे होनेवाला भाव। पहले अज्ञानकी सामान्य वात की पश्चात् चार भेद किये। आत्मा आनन्दमूर्ति है उसमे शाति और सुखका स्वाद न मानकर परमें आनन्द माननेसे ज्ञानमे जो आकुलता होती है वह भ्रमणा है, अपनेमे सुख है उसका लक्ष्य न करके, परमे सुख है वैसा लक्ष्य करनेसे परिणामोमे जो आकुलता होती है वह कलुषिता है, अज्ञान है, यहाँ मुख्यतया सभी बोलोमे अज्ञानभावको लिया है। आत्माके स्वभावका भान न हो तब विपरीत मान्यताका स्वाद होता है परन्तु स्वभावका स्वाद नही होता, तत्त्वश्रद्धाका परिणमन नही होता इससे परका आश्रय और पराधीनता दूर नही होती इसलिये वह आकुलतारूप है।

तत्त्वके अश्रद्धानरूपसे ज्ञानमे स्वादरूप होनेवाला मिथ्यात्वका उदय है। अविरमणरूपसे (अत्यागभावरूपसे) ज्ञानमे स्वादरूप होनेवाला असयमका उदय है। कलुप (मलिन) उपयोगरूपसे ज्ञानमे स्वादरूप होनेवाला कपायका उदय है। शुभाशुभ प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिके व्यापाररूपसे ज्ञानमे स्वादरूप होनेवाला योगका उदय है।

विपरीत मान्यताका भाव कलुपित है, भले ही ग्यारह अगका विकास हो तथापि वह विनाशीक है। वस्तुदृष्टिके लक्ष्यपूर्वक जो विकास हो वह अविनाशी है। ज्ञानीको वर्तमान पर्यायमे मूढत्व या अभान नही होता, वर्तमान पर्यायमे अस्थिर नही होता, अस्थिरतामे आत्मबुद्धि नही होती। अस्थिरता उत्पन्न करनेकी भावना नही होती और उसे रखनेकी दृष्टि नही होती। चारित्रके दोषके कारण अल्प अस्थिरता होती है उसे वह हेय और उपाधि मानता है। अल्प कपायभाव होता है— वह अवस्थादृष्टिमे जाती है द्रव्यदृष्टिमे तो वह गौण है। ज्ञानमे दोनो बातें हैं। आत्मा परसे निराला है, उसकी प्रतीतिके विना, विश्वासके

विना परका विश्वास होनेसे भ्रमणाका स्वाद आता है; ज्ञानमें जो भ्रमणाका स्वाद आता है उसमे मिथ्यात्वके उदयका निमित्त है ।

जितना विषयासक्तिका भाव है वह अत्यागभाव है; आसक्ति-रूपसे स्वादमें आनेवाला असंयम है, अज्ञान, मिथ्यात्व, आसक्ति इत्यादिका आकुलतारूप स्वाद है ।

लोग कहते हैं न ? कि हृदयमे दाह होती है, कलेजेमे जलन होती है, उसमे कही सुख नही होता । किसीके एक ही पुत्र हो और चार भाई हों, अपने पुत्रका लग्नप्रसंग हो, वड़े भाईके पास अपना कहा न चलता हो, चारो भाई इकट्ठे रहते हो, अपना एक ही पुत्र होनेसे खूव धूमधामसे व्याह रचाना हो, तव दूसरे भाई कहते हैं कि तेरा एक ही लड़का है इसलिये तू जैसा चाहे करले ! किन्तु हमारे तो चार-चार लड़के हैं, हम कैसे करेंगे ? इसप्रकार भाई न मानते हों, तव देख लो उसके हृदयकी दाह ! वह कषायकी दाह है, ऐसे कलुषित परिणाम हैं वह मलिन स्वाद है, आत्मस्वभावसे विपरीत स्वाद है । संसारका वाह्य व्यवहार भी अटपटा है । उसे सुलझाना न आता हो और जहाँ इच्छित कार्य न हो वहाँ एकदम आकुलित हो जाता है । वह सव कषायका स्वाद है । अनुकूलतामें वहुत हर्ष माना होगा तो प्रतिकूलतामें उससे अधिक शोक भी होगा । इसलिये दोनोकी वलि चढ़ा दे ! और आत्माकी ओर उन्मुख हो ! आत्माका स्वाद लिये विना कही भी सुख होनेवाला नही है ।

शुभपरिणामोंकी प्रवृत्ति और अशुभ परिणामोकी निवृत्ति भी कलुषित भाव है । यहाँ चारों वोलोमें अज्ञानीकी ही वात ली है । ज्ञानीके अल्प शुभाशुभपरिणाम होते हैं, उनकी यहाँ गिनती नही है; उनका वह स्वामी नहीं होता । मेरा यह कर्तव्य है ऐसा नही मानता । अज्ञानी शुभाशुभपरिणामोंका स्वामी होता है, शुभाशुभपरिणामों जितना ही आत्माको मानता है । शुभभावोकी प्रवृत्तिमे ऐसा भाव आये कि "मैंने यह किया, मैंने वैसा कर दिया"—वह सव कलुषित भाव है ।

कोई कहे कि हमने धर्म कार्य बहुत किये, परन्तु यह भी खबर नही है कि धर्म किसे कहते हैं। शरीरकी क्रिया अथवा शुभ परिणामोमे धर्म माना है परन्तु शुभभाव तो विकारी भाव हैं, उनमेसे आत्माकी शान्ति कैसे आयेगी ? कोई कहे कि रुपये खर्च करें तो शाति आयेगी या नही ? अरे ! लाखो रुपये खर्च करे, तो भी उससे शाति नही मिलेगी, क्योकि रुपये परवस्तु हैं, परवस्तुसे आत्मामे शान्ति नही आती, शान्ति तो अपने स्वभावमेसे प्रगट होती है, उसकी श्रद्धा और ज्ञान करनेसे शान्ति मिल जायेगी। पुण्यपरिणामोसे अनुकूल सयोग मिलते हैं परन्तु आन्तरिक शान्ति नही मिलती। विकारभावोमेसे स्वाभाविक शाति कहाँसे आयेगी ?

जिसप्रकार ताडका वृक्ष बहुत लम्बा होता है और पत्ते ऊपर–ऊपर थोडेसे होते हैं। वह अपने तल स्थलको भी छाया नही देता, इतनी भी छाया नही देता कि उसका स्थल सूखनेसे बच जाये, ताडके स्थल पर चैत्र–वैशाखका प्रचण्ड ताप पड रहा हो स्थल सूख रहा हो किन्तु उसके पत्ते उसे छाया नही देते और दूसरोको भी छाया नही देते। उसीप्रकार चैतन्यस्वभावके भान विना शुभपरिणामोंके पत्ते फूटे, परन्तु वे चैतन्यकी मूलको छाया (शान्ति) नही देते। शान्ति तो, यदि चैतन्यस्वभावका भान करके उसमे स्थिर हो तो मिले, परन्तु शुभपरिणाम तो ज्ञानी या अज्ञानी–किसीको भी शान्ति नही देते क्योकि वह विकारभाव है, विकारभाव तीनकालमे किसीको शान्ति नही देते।

मिथ्यात्व, असयमादिके परिणाम आकुलतारूप हैं, वे सुखरूप नही हैं, उनसे वन्ध होता है। यह पौद्गलिक मिथ्यात्वादिके उदय हेतुभूत होनेसे, जो कार्मणवर्गणागत पुद्गलद्रव्य ज्ञानावरणादि भावरूप आठ प्रकारसे परिणमित होता है वह पुद्गलद्रव्य जब जीवमे निबद्ध होता है तब जीव स्वयमेव अज्ञानसे स्वपरके एकत्वके अध्यासके कारण तत्त्व-अश्रद्धानादि अपने अज्ञानमय परिणामभावोका कर्ता होता है।

एक ही साथ तीन बातें ली है—कर्मका उदय, उसमें युक्त

होना, और नवीन कर्मवन्ध। जो नवीन कर्म बँधते हैं वे पुराने कर्मोसे वंधते हैं अर्थात् कर्मका उदय आनेसे जीव अज्ञानभावसे उस ओर युक्त होता है इससे नवीन कर्म वंधते हैं। जो विकारी भाव हैं वे परोन्मुखताके भाव हैं इसलिये वे अज्ञान हैं, अजाग्रत हैं, जड़ हैं; इसप्रकार पुराने कर्म नवीन कर्मोंको वांधते हैं। पुराने कर्मोका फलित होना, नवीन कर्मोका वंधना और जीवका अतत्त्वश्रद्धानादिरूपमें परिणमित होना—यह तीनों एक ही समय होते हैं। जीव स्वतः ही अपने परिणामोंका हेतु होता है, स्वयं ही विपरीत पुरुषार्थ द्वारा निमित्तकी ओर युक्त होता है, पुराने कर्म राग-द्वेष नहीं कराते, वे नवीन कर्मोसे नही कहते तू कर्मरूपसे वँध जा ? अथवा तू स्वतः उस ओर युक्त हो जा। ज्ञानी पुराने कर्मोकी ओर युक्त नही होता इससे उसके नवीन कर्म नही वँधते। यहाँ चारो अज्ञानके वोल लिये हैं। अज्ञानपूर्वक मिथ्यात्व है—ऐसा नही; किन्तु वास्तवमे मिथ्यात्वपूर्वक अज्ञान है। कर्मके उदय निमित्तभूत होनेसे, कार्मणवर्गणारूप नवीन पुद्गल स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूपमें परिणमित होते हैं और जीवके साथ वंधते हैं, और उससमय जीव भी स्वयमेव अपने अज्ञान-भावसे ही अतत्त्वश्रद्धानादि भावोरूप परिणमित होता है। इसप्रकार अपने अज्ञानमय भावोका कारण स्वतः ही होता है। मिथ्यात्वादिका उदय होना, नवीन पुद्गलोंका कर्मरूप परिणमित होना तथा वँधना और जीवका अपने अतत्त्वश्रद्धानादि भावोरूप परिणमित होना—वे तीनों एक ही समयमें होते हैं। कोई किसीका कर्ता नहीं है, सव स्वतंत्रतया—अपनेआप ही परिणमित होते है, कोई किसीको परिणमित नहीं करता।

यहाँ मिथ्यात्व, अविरति, कपाय और योग—चारों वोलोंको अज्ञानमय लिया है; सम्यग्दृष्टिको वे चारो वोल नही है। आत्माका सम्यग्ज्ञान हुआ वहाँ अज्ञान गया, मिथ्यात्व दूर हुआ, उसप्रकारकी अंगत. स्थिरता हुई, कपाय गया, मिथ्यात्व सम्वन्धी योग गया, इसप्रकार सव चला गया। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् अल्पकषायादि रह

जायें वह बात यहाँ गौण है क्योंकि वह अवस्थादृष्टिकी बात है। यह बात वस्तुदृष्टिकी है।

सम्यग्दृष्टिकी दृष्टि अखण्ड वस्तु पर है, द्रव्यदृष्टिका विषय सम्पूर्ण–परिपूर्ण द्रव्य है।

द्रव्यदृष्टि–अखण्डदृष्टि, वस्तुकी अपूर्ण, पूर्ण या विकारी पर्यायको स्वीकार नही करती। अरे! निर्मल पर्यायको भी स्वीकार नही करती, निर्मल पर्याय जितना भी आत्माको नही मानती। द्रव्यदृष्टिका विषय तो अखण्ड परिपूर्ण द्रव्य है।

द्रव्यदृष्टिके विषयमे अपूर्ण या पूर्ण पर्यायके भङ्ग नही आते, साध्य–साधकके भङ्ग नही आते। द्रव्यदृष्टि अखण्ड परिपूर्ण निरपेक्ष द्रव्यको स्वीकार करती है। अपूर्ण, पूर्ण, विकारी पर्याये हैं अवश्य, उनकी कही बिल्कुल नास्ति नही है, परन्तु द्रव्यदृष्टिका वह विषय नही है—द्रव्यदृष्टि उसे स्वीकार नही करती। अपूर्ण, पूर्ण या विकारी पर्यायको ज्ञान जानता है, शुभाशुभ परिणाम एक क्षणपर्यन्त आत्माकी पर्यायमे होते हैं उन्हे सम्यग्ज्ञान जानता है, वह असद्भूत व्यवहारनय है। अपूर्ण निर्मल पर्याय और पूर्ण निर्मल पर्यायको जाननेवाले ज्ञानको सद्भूत व्यवहारनय कहते हैं।

द्रव्य और पर्याय दोनोको एक साथ जाननेवाला ज्ञान प्रमाण-ज्ञान है, द्रव्यदृष्टिके बलपूर्वक निर्मल पर्याय बढानेसे ज्ञान सामान्यके साथ एकमेक होता है अर्थात् सामान्य और विशेष दोनो एक होते है वह प्रमाणज्ञान है। सामान्यरूप पूर्ण द्रव्य है, निर्मलपर्याय प्रगट होकर सामान्यके साथ एकता होती है वह सामान्य और विशेष दोनोको एक साथ जानना वह प्रमाण ज्ञान है। प्रमाणज्ञान द्रव्यदृष्टिको और अपूर्ण, पूर्ण, विकारी पर्यायको यथार्थतया जानता है।

ज्ञानीके यथार्थद्रव्यदृष्टि प्रगट हुई है, उसके बलमे स्थिरताकी वृद्धि करता हुआ केवलज्ञानको प्राप्त करता है परन्तु जहाँतक अपूर्ण है, पुरुषार्थकी मन्दता है, स्थिरता अपूर्ण है, शुद्ध स्वरूपमे पूर्णतया स्थिर

नही हो सकता—वहाँतक अशुभपरिणामोंसे वचनेके लिये शुभपरिणामोमे युक्त होता है परन्तु उन्हे आदरणीय नही मानता। स्वभावमे उनकी नास्ति है इससे दृष्टि उनका निषेध करती है परन्तु अस्थिरताके कारण अशुभपरिणामोंसे वचनेके लिये वे भाव आते हैं; किन्तु ज्ञानीको प्रतिक्षण ऐसी भावना होती है कि यदि इसी क्षण वीतराग हुआ जा सकता हो तो यह शुभपरिणाम भी नही चाहिये, तथापि अपूर्णताके कारण वे भाव आये विना नही रहते।

ज्ञानी अशुभ परिणामोंसे वचनेके लिये पुरुपार्थ द्वारा शुभपरिणामोमे युक्त होता है, किन्तु उन्हे अपना स्वरूप नही मानता। उनका स्वामी नही होता, करने योग्य है ऐसा नही मानता। द्रव्यदृष्टि उनका निषेध ही करती है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है, द्रव्य और पर्यायको बरावर जानता है, द्रव्यदृष्टिके विषयको और अपूर्ण, विकारी पर्यायको ज्ञान सहजतासे वरावर जानता है। (१) श्रद्धामे पूर्ण स्वरूपकी ही स्वीकृति है इस अपेक्षा अशुभभाव भी निर्जरामे निमित्त है (२) ज्ञान तो प्रमाण होनेसे सवको जैसाका तैसा जानता ही है—(३) चारित्रमे शुभभावको भी विषकुम्भ जहर माना है।

शुभपरिणाम भी धर्मीको आपत्ति एवं वोझरूप प्रतीत होते हैं, उनसे भी वह छूटना ही चाहता है किन्तु वे आये विना नही रहते; वे भाव आये तो भी वह स्वरूपस्थिरता करनेवाला ही है। कभी-कभी बुद्धिपूर्वकसे समस्त विकल्प छूट जाते हैं और स्वरूपमे सहज स्थिरता हो जाती है, उससमय सिद्ध भगवान जैसा अंशतः अनुभव करता है; परन्तु सर्वथा स्थिर नही हो सकता इससे शुभपरिणामोमे युक्त होता है।

चतुर्थ भूमिकामे ज्ञानीको व्रतके परिणाम नही होते परन्तु सम्यग्दर्शनके आठ अंग होते हैं। निःशंक, निकांक्ष, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। उन आठ अंगोंका सम्यग्दर्शनके साथ सम्वन्ध होता है परन्तु व्रतका सम्वन्ध चतुर्थ भूमिकामे नही है। प्रथम सम्यग्दर्शन होता है और पश्चात् क्रमशः

चारित्रमे स्थिरता हुये बाद केवलज्ञान होता है—ऐसा मोक्षमार्गका क्रम है, इससे ऐसा नही समझना कि जबतक उच्चदशा न हो तबतक रागको कम नही करना। सम्यग्दर्शन न हो तबतक रागको मन्द न करना—वैसा कहनेका तात्पर्य नही है। राग मन्द करनेके लिये ब्रह्मचर्य ले, तीव्र हिंसादिके परिणाम न करे, परस्त्री आदिके रागका त्याग कर सकता है, परन्तु ज्ञान बराबर करना कि वे सहजदशापूर्वकके व्रत नही हैं। अन्तरंगमें आत्माके भानपूर्वक स्वरूपरमणताकी वृद्धि होनेसे व्रतके शुभपरिणाम आते हैं—वहाँ सच्चा श्रावकत्व और सच्चा मुनित्व है।

पाँचवी भूमिकामें स्थिरताकी वृद्धि होनेसे निमित्तरूपसे अणुव्रतादिकके शुभपरिणाम आते है और छठवी भूमिका होने पर महाव्रतके शुभपरिणाम आते हैं, वहाँ छठवी भूमिकामें क्षणमे तो स्वरूपमें स्थिर हो जाता है और क्षणमे उपयोगसे बाहर शुभपरिणामोमे आता है, क्षणमे निर्विकल्प शुद्धोपयोग, क्षणमे सविकल्प इसप्रकार हजारो बार स्वरूपमे और बाहर आना-जाना करते हैं—ऐसी मुनिओकी सहजदशा होती है। ऐसी स्थिरताके साथ पचमहाव्रतके शुभपरिणाम होते हैं, मुनित्व आनेसे शरीरके वस्त्र भी छूट जाते हैं। मुनित्व केवलज्ञान प्रगट करनेका साक्षात् कारण है, अपने गृहस्थ पदके रागके साथ वस्त्रका निमित्त सम्बन्ध है वस्त्रादिका परिग्रह जहाँतक न छूटे तबतक मुनिपद नही होता और केवलज्ञान नही होता, वीतरागता नही होती—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जहाँतक राग रहे वहाँतक वीतरागता नही होती, वस्त्रका राग छूटनेसे वस्त्र भी छूट जाते हैं, राग छूटनेसे रागके निमित्त भी छूट जाते हैं—ऐसा सम्बन्ध है। राग छूट जाये और वस्त्र रह जाये—ऐसा कभी नही हो सकता। रागका जड-मूलसे क्षय न हो वहाँतक केवलज्ञान नही होता, केवलज्ञान होते समय नग्न दिगम्बर मुनित्वका बाह्यलिंग होता है और अन्तरगमे बारम्बार स्वरूपमें झूलते रहते हैं, केवलज्ञानके निकट प्रवर्तन करते हैं।

पाँचवी भूमिका हो वहाँतक वस्त्र होते हैं और छठवी भूमिका आनेके पूर्व गृहस्थाश्रम और वस्त्र सब कुछ छूट जाता है। गृहस्थाश्रममे

सम्यग्दर्शन होनेसे, दृष्टिसे तो कृतकृत्य मोक्ष है परन्तु चारित्रदशाकी कमीके कारण स्थिरता अपेक्षा मोक्ष नही है, स्थिरतासे मोक्ष तो मुनित्व आनेके पश्चात् जब केवलज्ञान हो तब होता है।

छठवी भूमिकामे मुनि जब स्वरूपमें स्थिर हो जाते हैं तब अप्रमत्तनामकी सातवी भूमिका होती है। पुनश्च, जब उपयोग बाह्यमें आये तब किसी किसी समय शास्त्रस्वाध्यायके, उपदेशके, द्रव्य-गुण-पर्यायके विचारके, शिष्योकी शिक्षा-दीक्षाके, प्रायश्चितादिके शुभपरिणाम आते हैं, कभी-कभी जिनप्रतिमाके दर्शनोंके स्तुतिके, शास्त्र लिखने इत्यादिके शुभभाव आते हैं, कभी आहार-विहारके परिणाम आते हैं; इसप्रकार अन्तर्मुहूर्त तो, बाहर शुभ उपयोगमें और अन्तर्मुहूर्त स्वरूपमे स्थिर हो जाते हैं इसप्रकार हजारोबार क्षणमें बाहर और क्षणमे अन्तरमें उपयोग सहित स्वरूपमे झूलते रहते हैं—ऐसी मुनिओकी दशा होती है।

चतुर्थ भूमिकामे अनन्तानुबन्धी चार कषायके अभाव पूर्वक स्वरूपाचरण चारित्र और सम्यग्दर्शनके आठ अंग होते हैं, पाँचवी भूमिकामे दो कषाय चौकड़ीके अभावरूप चारित्र सहित, सम्यग्दर्शनके आठ अङ्गों सहित अणुव्रत होते हैं और छठवी भूमिकामे तीन जातिके कषायके अभावरूप चारित्र और सम्यग्दर्शनके आठ अङ्गो सहित महाव्रतके परिणाम होते हैं—ऐसा नियम है। चतुर्थ भूमिकामे प्रवर्तमान समस्त साधक जीवोके और पाँचवी भूमिकामे वर्तनेवाले समस्त साधक जीवोके तथा छठवी भूमिकामें प्रवर्तित सभी साधक जीवोके उदयके परिणाम एक समान नही होते, रागके परिणामोमे अन्तर होता है और इससे उस रागके अनुकूल बाह्यनिमित्तोमे भी अन्तर होता है। जैसे—शास्त्र-स्वाध्यायके परिणामोंमे शास्त्रका निमित्त होता है और भगवानके दर्शनोंके शुभपरिणामोमें भगवानका निमित्त होता है। परिणामोंके अनुसार निमित्तका मिलना अथवा न मिलना वह पुण्याधीन होता है और यदि निमित्त मिले तो भगवानके दर्शनोंके परिणामके समय भगवानका निमित्त होता है।

चौथी भूमिकामे सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् जो अस्थिरता रहती है वह अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे रहती है, यदि स्वत पुरुषार्थ द्वारा स्थिरता प्रगट करे तो अस्थिरता दूर हो जाती है, राग-द्वेष दूर हो जाते हैं। अन्तरग घातिकर्मोका नाश पुरुषार्थके आधारसे होता है। केवलज्ञान प्रगट होने पर घातिकर्म स्वय दूर हो जाते हैं। केवलज्ञान प्रगट होनेसे चार घातिकर्मोकानाश हो जाता है, तथापि चार अघाति कर्म शेष रहते हैं। स्वाश्रयका वल बढानेसे गृहस्थाश्रमका राग और उसका सयोग भी छूट जाता है—ऐसा सम्बन्ध है। अमुक सीमाका राग छूटनेसे जिस भूमिकामे जो न हो वैसे घातिकर्मके उदयका संयोग छूट ही जाता है ऐसा सम्वन्ध है, जैसे कि मुनित्व होने पर व्यापार–धन्धा, स्त्री, कुटुम्ब, वस्त्रादि छूट जाते हैं—ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्वन्ध है, परन्तु केवलज्ञान होनेसे सर्वप्रकारसे अघाति कर्म दूर हो जाते हैं—ऐसा सम्वन्ध नही है, केवलज्ञान हो तथापि अघातिकर्म रह जाते हैं।

गुणपूजा यथार्थ विवेक है—मार्ग है, परन्तु व्यक्तिपूजा मार्ग नही है, यथार्थ विवेक नही है। जहाँ यथार्थ गुण दिखाई दे वहाँ आदर करना योग्य है, किन्तु जहाँ गुण दिखाई न दें वहाँ आदर करना योग्य नही है। अमुक व्यक्तिको ही मानना वह पक्षपात है, ऐसा जैनदर्शनमे है ही नही, जैनदर्शनमे गुणपूजा है व्यक्तिपूजा नही है।

कोई कहेगा कि यह सब तो उच्चप्रकार की वातें हुईं, परन्तु हमे प्रारम्भमे क्या करना चाहिये ? वह समझाइये।

प्रथम प्रारम्भमे यथार्थ सत् समझनेकी जिज्ञासा, रुचि करना चाहिये, समझनेमे यदि समय लगे तो धैर्य रखना चाहिये बारम्बार प्रयत्न करते रहना। सत् समझनेके लिये सत्‌देव, सत्‌गुरु और सत् शास्त्रका वहुमान पूर्वक–भक्तिपूर्वक समागम करना चाहिये—परिचय करना चाहिये। सत्‌की जिज्ञासा पूर्वक सत्‌का स्वाध्याय, सत् विचार, सत्‌श्रवण, देव गुरु शास्त्रका वहुमान करना चाहिये—वह सब यथार्थ वस्तु स्थिति समझनेके लिये साधन है, उनकी ओर लक्ष्य करनेसे

शुभराग आता अवश्य है परन्तु उस शुभरागके साथ जो सत्को समझनेकी ओरका जो यथार्थ बल है—झुकाव है वह स्वतः सत् समझनेका कारण बनता है और शुभरागको हेय माना इसलिये वह दूर हो जाता है। सत् समझनेकी ओर यथार्थ उन्मुखता होनेसे सत्-श्रवण आदिका राग आये बिना नही रहता। जिसे आत्माके ओरकी रुचि जागृत हुई है उसे विषय कषायोके ओरकी रुचि सहज छूट ही जाती है और विषय कषायोकी रुचि छूटनेसे अमुक प्रकारसे तीव्र हिंसा छूट जाती है, तीव्र असत्य छूट जाता है, तीव्र चोरी छूट जाती है, परस्त्री सेवनकी लंपटता छूट जाती है। जिसे आत्माकी जिज्ञासा जागृत हुई है वह लंपटता करता हो—ऐसा नही हो सकता। जिसके आत्माकी जिज्ञासा जागृत हुई है उसके तीव्र कषाय छूट जाते हैं परन्तु वह आत्माकी यथार्थ पहिचान और स्थिरता पूर्वकके सच्चे व्रत नही हैं। सच्चे व्रत तो पाँचवी और छठवी भूमिकामें आते हैं, चतुर्थ भूमिकामे तो सम्यग्दर्शनके आठ अङ्ग होते हैं, व्रत तो पाँचवें गुणस्थानमे स्थिरता प्रगट होने पर होते हैं—ऐसा मार्गका क्रम है।

प्रथम सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये, आत्माकी यथार्थ पहिचान करनेके लिये सत्श्रवण, देवगुरुशास्त्रका बहुमान, सत् विचार इत्यादि होते हैं—वे सत् समझनेके साधन हैं, उन सभी शुभरागोंके साथ यथार्थ सत् समझनेके ओरकी उन्मुखता हो तो पुरुषार्थ द्वारा अवश्य ही सत् समझमे आता है। जिज्ञासाकी भूमिकामे तीव्र विषय-कषायके परिणाम नही होते, व्रतके शुभपरिणाम आते हैं परन्तु वे सच्चे व्रत नही हैं।

चतुर्थ भूमिकामें सम्यग्दर्शन होता है, तबसे शुभाशुभ परिणामोंसे पृथक् निराले आत्माका भान होता है, शुभाशुभपरि-णामोका स्वामित्व छूट जाता है, परका—शुभाशुभपरिणामोंका कर्तृत्व छूटकर उनका ज्ञाता होता है। कभी—कभी उपयोग बाह्यसे हटकर अन्तरमे लीन होता है तब शुभाशुभ विकल्प भी छूट जाते हैं, अंशतः सिद्ध जैसा अनुभव करता है, बुद्धिपूर्वकके विकल्प छूट जाते हैं और

उपयोग स्वरूपमे लीन होता है, अबुद्धिपूर्वकके विकल्प होते हैं परन्तु उन्हे सर्वज्ञ जान सकते है छद्मस्थ नही जान सकते। केवलज्ञान होनेसे बुद्धिपूर्वकके विकल्प भी छूट जाते हैं।

पुद्गलका परिणमन जीवसे पृथक् है—ऐसा अब प्रतिपादन करते हैं —

कर्मकी और आत्माकी–दोनोकी अवस्था एक साथ होने पर भी आठकर्मोंकी अवस्था अपने कारण और आत्माकी अवस्था उसके अपने कारणसे पृथक्-पृथक् होती हैं। आत्माके राग-द्वेषका निमित्त पाकर जो परमाणु कर्मरूप परिणमित होते हैं उनका कर्ता आत्मा नही है, ऐसे सूक्ष्मकर्मस्कन्धोका जब आत्मा कर्ता नही है तब स्थूल स्कन्धोका कर्ता तो होगा कहाँसे ?

प्रश्नः—यह आत्मा लकडीको पकड सकता है या नही ?

उत्तरः—आत्मा परवस्तुको नही पकड सकता। दोनोकी अवस्था एक साथ होने पर भी हाथ हाथमे है और लकड़ी लकड़ीमे है। उसीप्रकार आत्माकी अवस्था आत्मामे है और कर्मकी अवस्था कर्ममे है। दोनोकी अवस्था एक साथ होने पर भी आत्माकी अवस्था प्रतिक्षण आत्मामे और कर्मकी अवस्था प्रतिक्षण कर्ममे होती है, दोनोकी अवस्था पृथक्-पृथक् होती है।

शरीरके हिलनेकी अवस्था, हाथके हिलनेकी अवस्था आत्मा नही कर सकता, आत्मा रागको कर सकता है परन्तु हाथकी अवस्था नही कर सकता। और लकड़ीकी अवस्थाको हाथ भी नही पकड़ सकता, लकड़ी अपने आधारसे है और हाथ अपने आधारसे है, हाथकी अवस्था हाथमे और लकडीकी अवस्था लकड़ीमे है। दोनोकी अवस्था भिन्न–भिन्न है। कोई कहेगा कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको नही कर सकता किन्तु पर्याय तो कर सकती है न ? नही, वह बात मिथ्या है। एक द्रव्य तो दूसरे द्रव्यको नही कर सकता परन्तु एक पर्याय भी परद्रव्यकी पर्यायको नही कर सकती, क्योंकि सर्वद्रव्य द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे स्वतत्र हैं।

जो जीव ऐसा नहीं मानते कि आत्माकी अवस्था आत्माके आधारसे होती है वे जीव ऐसा भी नही मानते कि समस्त पदार्थोंका आधार वह-वह पदार्थ स्वतः ही हैं। उसको यह बात नही जमती कि लकड़ी, हाथ, शरीरादि समस्त पदार्थोंका आधार मैं नही हूँ।

प्रत्येक वस्तु अनादिअनन्त पृथक् है उसमें प्रतिक्षण जो अवस्था होती है उसका आधार वह वस्तु है। आत्माके गुणकी अवस्था आत्माके आधारसे होती है—ऐसी बात जिन्हे नही बैठती उन्हे यह भी नही जमता कि अन्य पदार्थोंकी अवस्थाका आधार वे वे पृथक्-पृथक् पदार्थ स्वतः ही है, जिसे वस्तुकी प्रतीति नही है उसे पर्यायकी प्रतीति भी नही जमती। वस्तु स्वतः अन्य वस्तुसे स्वतंत्र भिन्न है—ऐसी जिसे प्रतीति नही है वह ऐसा मानता है कि अपनी पर्यायका आधार अन्य वस्तु है। वस्तु स्वतः त्रिकाल है—ऐसी बात जमे तो यह प्रतीति भी हो जाये कि उसमे प्रतिक्षण जो अवस्था होती है वह उसीमेसे होती है, किन्तु परसे नही होती।

पुस्तक पुस्तकमें है और हाथ हाथमे है। शरीर शरीरमें है और आत्मा आत्मामे है। व्यवहारसे पानीका घड़ा कहलाता है; पानी और घडा एक क्षेत्रमे स्थित होनेसे पानीका घड़ा कहलाता है परन्तु घड़ा पानीका नही वह तो मिट्टीका है।

कोई द्रव्य किसी द्रव्यमें प्रविष्ट नही होता; सर्व द्रव्य पृथक् पृथक् हैं। आत्मामें जब विकारी भाव होते हैं उससमय कर्मकी जो भी अवस्था होती है वह कर्म स्वतः परिणमित होकर होती है, आत्मा उसे परिणमित नही कर देता। १३२–१३६।

जीवसे पृथक् ही पुद्गलद्रव्यका परिणाम है—ऐसा अब प्रतिपादन करते हैं:—

जइ जीवेण सह च्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो।
एवं पुग्गल जीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा ॥१३७॥

एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहि विणा कम्मस्स परिणामो ॥१३८॥

जो कर्मरूप परिणाम, जीवके साथ पुद्गलका बने ।
तो जीव अरु पुद्गल उभय ही, कर्मपन पावें अरे ॥१३७॥
पर कर्मभावों परिणमन है, एक पुद्गलद्रव्यके ।
जीवभावहेतुसे अलग, तब, कर्मके परिणाम हैं ॥१३८॥

अर्थः—यदि पुद्गलद्रव्यको जीवके साथ ही कर्मरूप परिणाम होते हैं (अर्थात् दोनो एकत्रित होकर ही कर्मरूप परिणमित होते हैं) ऐसा माना जाये तो इसप्रकार पुद्गल और जीव दोनों वास्तवमे कर्मपनेको प्राप्त हो। परन्तु कर्मभावरूप परिणाम तो मात्र पुद्गल-द्रव्यको ही होते हैं इससे जीवभावरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् पृथक् ही कर्मका परिणाम है।

देखो भाई! यह वस्तु प्रथम समझने योग्य है कि प्रत्येक वस्तुकी अवस्था स्वतन्त्र होती है। एक ओर आत्मा राग-द्वेष करे और साथ ही कर्मकी अवस्था भी करे—इसप्रकार दो का कर्तापन कभी नही हो सकता। यदि कर्मकी अवस्था आत्मा करता है तो उससमय आत्माकी अवस्था क्या हुई? आत्माकी अवस्था भिन्न नही रही अर्थात् उसकी अवस्था जडमे गई। शरीरके हिलने-चलनेकी अवस्था होती है उससमय आत्माकी अवस्था होती है या नही? यदि शरीरके हिलने-डुलनेकी अवस्था आत्मा करे तो आत्माकी अवस्था क्या रही? शरीरके हिलने-डुलनेकी अवस्था आत्मा करे और रागकी अवस्था भी आत्मा करे—ऐसा नही हो सकता, जडकी और विकारी परिणामोकी दो क्रियाएँ आत्मा नही करता। जड और आत्मा दोनो साथ होने पर भी दोनोकी अवस्थाएँ पृथक् हैं, चलनेकी अवस्था जडकी है और रागकी अवस्था चेतनकी है। हिलना-चलना जडकी क्रियावती शक्तिकी अवस्था है, किसी समय तीव्र गति करे, कभी मन्दगति करे ऐसी क्रियाशक्तिका कार्य स्वतन्त्र है।

जड़की अवस्था आत्मामें नहीं होती और आत्माकी अवस्था जड़मे नही होती। यदि आत्माकी अवस्था जडमे मिल जाये तो आत्मा ही नहीं रहा; आत्मा यदि जड़की अवस्थामे कर्ता है तो उससमय आत्माकी अवस्था क्या है? जड़की हिलने–चलनेकी अवस्था होती है उससमय छद्मस्थको राग होता है तथापि राग और जड़की क्रियाएँ एकरूप नही हो जाती, क्योंकि यदि दोनों एकरूप हो जायें तो आत्माकी अवस्था नही रही किन्तु मात्र जडकी अवस्था रही।

कर्म और आत्मा दोनों एकत्रित होकर कर्मकी अवस्थारूप हो तो जीव और पुद्गल–दोनों कर्मपनेको प्राप्त हो, परन्तु कर्मकी अवस्था तो पुद्गलमे होती है और आत्माकी अवस्था आत्मामें होती है। कर्म और आत्मा दोनों साथ-साथ हैं तथापि दोनोंकी अवस्था पृथक्-पृथक् ही है। जड़की क्रिया–अवस्था जड़से और आत्माकी अवस्था आत्मासे है।

कागज़ पर लिखनेकी क्रिया और रागकी क्रिया–उन दो क्रियाओंको एक द्रव्य नही करता। लिखनेकी अवस्था भी आत्मा करे और रागकी अवस्था भी आत्मा करे—इसप्रकार जड और चैतन्यकी दो अवस्थाएँ आत्मा नही कर सकता, अधिक तो आत्मा रागकी क्रिया करेगा, किन्तु लिखनेकी क्रिया तो पुद्गलद्रव्यकी है। लिखनेकी क्रियाका कर्ता पुद्गल ही है इच्छा आदि तो निमित्तमात्र है। किन्तु वहाँ अज्ञानीको भ्रम हो जाता है कि इच्छा हुई और लिखा जा रहा है इसलिये मैं लिख सकता हूँ, परन्तु भाई! लिखनेकी क्रिया तो पुद्गल द्रव्यकी है, आत्मा तो ज्ञानस्वरूप है। क्या ज्ञानस्वरूप आत्मा लिख सकता है? क्या स्याही आत्मामेंसे आती है जो आत्मा लिख सके? इसलिये लिखनेकी क्रिया पुद्गलद्रव्यकी ही है; लिखनेकी और रागकी दोनों क्रियाओंको एकद्रव्य नही करता। उसीप्रकार कर्मकी अवस्था भी आत्मा करे और रागकी अवस्था भी आत्मा करे—ऐसा होता है? नही होता। वे तो दोनो अवस्थाएँ एक साथ होती हैं इससे संयोग

दृष्टिसे अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो गया है कि आत्मा कर्मकी अवस्थाको करता है ।

जब सूर्यविकासी कमल खिले तब सूर्योदय होता ही है, परन्तु दोनो अवस्थाएँ एक ही साथ होती हैं, इससे अज्ञानिओको ऐसा भ्रम हो जाता है कि सूर्यने सूर्यविकासी कमलको विकसित किया। इसीप्रकार नये कर्मकी अवस्था हो तब आत्माकी रागादि अवस्था होती है और जब आत्मामे रागादि अवस्था हो तब कर्मरूप अवस्थाको निमित्त माना जाता है, इसप्रकार एक ही साथ दोनो होनेसे अज्ञानीको ऐसा भ्रम हो जाता है कि आत्माके रागकी अवस्था जड़कर्मने की है और जड़कर्मकी अवस्था आत्माने की है ।

यदि पुद्गलद्रव्यको, कर्मपरिणामके निमित्तभूत ऐसे रागादि-अज्ञानरूप परिणमित हुए जीवके साथ ही (अर्थात् दोनों एकत्रित होकर ही) कर्मरूप परिणाम होता है—ऐसा वितर्क किया जाये तो, जिसप्रकार एकमेक हुए हल्दी और फिटकरी–दोनोको लालरङ्गरूप परिणाम होता है उसीप्रकार, पुद्गलद्रव्य और जीव दोनोको कर्मरूप परिणाम आ जायेगा ।

अज्ञानभावरूप परिणमित हुआ जीव नवीन कर्मोंके बन्धनमे निमित्त होता है, उसे खबर नही है कि "मैं पृथक् हूँ" इससे वह कर्मके बन्धनमे निमित्त होता है। ज्ञानीको अखण्ड वस्तुदृष्टि प्रगट होनेसे वह नवीन कर्मोका निमित्तभूत नही होता। अल्प अस्थिरताका निमित्त प्राप्त करके नवीन कर्म बधते हैं परन्तु वस्तुदृष्टिसे ज्ञानी निमित्तपना स्वीकार नही करता। अज्ञानभावरूप परिणमित हुए जीवकी पर्याय कर्मको निमित्तभूत होती है परन्तु जीवकी पर्याय जीवमे और जडकी पर्याय जड़मे होती है, किन्तु जड–चैतन्य दोनों एकत्रित होकर कर्मकी अवस्था नही करते ।

हल्दीका पीला रङ्ग और फिटकरीका सफेद रङ्ग–दोनो रङ्ग एकत्रित हो तब एक लाल रङ्ग रहता है, सफेद और पीला रङ्ग नही रहता किन्तु तीसरा लाल रङ्ग हो जाता है, उसीप्रकार आत्माकी

रागकी अवस्था और कर्मकी अवस्था—दो अवस्थाएँ एक हो तो तीसरी मिश्र अवस्था होना चाहिये, दो अवस्थाएँ एकत्रित हों तो एक तीसरी अवस्था हो जाती है। आत्मा अज्ञान भावोको करे और जडकर्मको करे तो दोनों एकत्रित होकर एक तीसरी अवस्था आना चाहिये, जिसप्रकार हल्दी और फिटकरी एकत्रित होनेसे तीसरा रङ्ग होता है उसीप्रकार। परन्तु वैसा तो नही होता। सर्ववस्तुओ के द्रव्य, गुण और पर्याय अपने अपनेमे स्वतंत्र हैं; यदि एककी अवस्था दूसरीमे आये तो वस्तुका नाश हो जाये। फिटकरी और हल्दी एकत्रित होनेसे तीसरा रङ्ग होता है तथापि सर्व परमाणुओकी अवस्था अपने अपनेमें स्वतंत्र है, किसीकी अवस्था किसीमे प्रविष्ट नही हो जाती। यदि पुद्गलद्रव्य और जीव दोनोकी अवस्था एक हो तो पुद्गलद्रव्य और जीव दोनोको कर्मरूप परिणाम आ जायेगा, परन्तु मात्र पुद्गलद्रव्यके ही कर्मपनेरूप परिणाम होते हैं इससे जीवके रागादि अज्ञानपरिणाम जो कि कर्मके निमित्त हैं—उनसे पृथक् ही पुद्गलकर्मका परिणाम है।

अज्ञानीने ऐसा मान लिया है कि शरीरकी अवस्था मैं करता हूँ और मेरी अवस्था भी मैं करता हूँ, कर्मकी अवस्था मैं करता हूँ और मेरी अवस्था भी मैं करता हूँ—ऐसा अज्ञानीने मात्र अज्ञानसे मान लिया है, परन्तु किसी अन्य द्रव्यकी अवस्था कोई द्रव्य कर ही नही सकता, सभी द्रव्योंकी पर्याये अपने अपनेमे स्वतन्त्र होती हैं।

लिखनेकी क्रिया पुद्गल करता है उसमे ज्ञान तो मात्र जानता है। ज्ञान तो दूर रहते हुए भी जानता है और निकट रहने पर भी जानता है। दूर रहनेवाला ही ज्ञान कर सकता है और निकट रहनेवाला ज्ञान नही कर सकता—ऐसा कुछ भी नही है। लिखनेकी क्रियाको केवली ही जानते है और निकट रहनेवाला नही जानता—ऐसा नही है, लिखनेकी क्रियाको निकट रहनेवाला भी जानता है कि यह लिखा जा रहा है। लिखनेका जो राग होता है उसे ज्ञानी ज्ञाता-भावसे जानता है और लिखनेकी क्रियाको भी ज्ञाताभावसे जानता है; परन्तु अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैं हूँ इसलिये यह लिखा जा रहा

है—ऐसी विपरीत मान्यता करता है, परन्तु अज्ञानी भी जड़की क्रिया नही कर सकता। और एक जीव दूसरे किसी भी जीव अजीवका कार्य कुछ भी नही कर सकता।

यदि पुद्गलद्रव्य और जीव एकत्रित होकर कर्मरूप परिणमित होते हैं—ऐसा माना जाये तो दोनोको कर्मरूप परिणाम सिद्ध हो। परन्तु जीव तो कभी जड़कर्मरूप परिणमित नही हो सकता, इससे जीवका अज्ञानपरिणाम जो कि कर्मको निमित्त है—उससे भिन्न ही पुद्गलद्रव्यका कर्मपरिणाम है।

यदि पुद्गल और जीव दोनों एकत्रित होकर परिणमित हो तो जीव भी जडकी अवस्थाको धारण करे, परन्तु जीव तो कभी जडकर्मरूप परिणमित हो ही नही सकता। बोलनेकी अवस्थाके समय यदि आत्मा और जड़ दोनोकी अवस्था एकमेक हो जाती हो तो आत्माकी क्या अवस्था रहेगी? कोई कहे कि वाणीमे तो निमित्त होता है न? हाँ, मैं निमित्त कर्ता हूँ वैसा अज्ञानी मानता है, ज्ञानी समझते हैं कि मैं ज्ञाता हूँ, दृष्टिकी अपेक्षासे शरीरादिकी अवस्थामे ज्ञानी निमित्त भी नही है। ज्ञानीकी दृष्टि स्वके ऊपर होती है परके ऊपर नही होती, इसलिये वे निमित्त नही हैं, इसकी अवस्था इसमे और मेरा ज्ञान मुझमे ऐसा ज्ञानी समझते हैं। इच्छाके कारण वाणी नही है, वाणी उत्पन्न हो जाय तो इच्छाको निमित्त कहा जाता है परन्तु अज्ञानीको ऐसा भ्रम होता है कि इच्छा होती है और वाणी निकलती है इसलिये मैं वाणी बोल सकता हूँ, मैं वाणी बोलनेका निमित्त कर्ता हूँ। ज्ञानी समझते हैं कि वाणी अपनेआप स्वतत्र परिणमित होती है, मैं इसका कर्ता नही हूँ, इच्छा इच्छामे, वाणी वाणीमे, ज्ञान ज्ञानमे स्वतंत्रतया परिणमित होते है।

अज्ञानीकी दृष्टि परके ऊपर है इसलिये वह निमित्तरूपसे कर्ता है, हाथमे स्वतत्र लिखा जाता है वैसा केवलज्ञानी भी जानते हैं और ज्ञानी भी जानते हैं। अज्ञानीको ऐसा लगता है कि मैं हूँ इससे लिखा जा रहा है—इसप्रकार उसने निमित्त कर्तापन स्वीकार किया है।

आचार्यदेवने कर्ताकर्म अधिकारकी ७६ गाथाओंमें अत्यन्त विस्तार किया है, क्योंकि 'मैं परका कर सकता हूँ' वैसे गूढ़ संस्कार अज्ञानीको पड़ गये हैं। १३७–१३८।

पुद्गलद्रव्यसे पृथक् ही जीवका परिणाम है—ऐसा अब प्रतिपादन करते हैं:—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥१३९॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१४०॥

जिवके करमके साथ ही जो भाव रागादिक बने।
तो कर्म अरु जिव उभयही रागादिपन पावें अरे! ॥१३९॥
पर परिणमन रागादिरूप तो होत है जिव एकके।
इससे हि कर्मोदय निमितसे अलग जिव परिणाम है ॥१४०॥

अर्थ:—यदि जीवको कर्मके साथ ही रागादि परिणाम होते हैं (अर्थात् दोनो एकत्रित होकर रागादिरूप परिणमित होते हैं) ऐसा माना जाये तो इसप्रकार जीव और कर्म दोनों रागादिपनेको प्राप्त हों; परन्तु रागादिभावरूप परिणाम तो अकेले जीवके ही होते हैं इससे कर्मोदयरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् पृथक् ही जीवका परिणाम है।

जीव और कर्म दोनों एकमेक होकर रागकी अवस्था करें तो कर्म भी राग हुआ वह जड़रूप नहीं रहा। चलनेकी अवस्था, बोलनेकी अवस्था और रागकी अवस्था–वे दोनों जड और चैतन्यकी अवस्थाएँ एकत्रित हो जाती हों तो चलने और बोलनेकी अवस्था ही न रहे, सभी अवस्थाएँ रागरूप ही हो जाएँ। परन्तु रागादिभावरूप परिणाम तो मात्र जीवके ही होते हैं इससे कर्मोदयरूप निमित्तसे रहित ही अर्थात् भिन्न ही जीवका परिणाम है।

यदि जीवको, रागादि–अज्ञानपरिणामके निमित्तभूत जो उदयमे आया हुआ पुद्गलकर्म है उसीके साथ (अर्थात् दोनो एकत्रित होकर ही) रागादि–अज्ञानपरिणाम होते हैं—ऐसा वितर्क किया जाये तो जिसप्रकार एकत्रित हुए हल्दी और फिटकरी दोनोको लालरङ्गरूप परिणाम होता है उसीप्रकार जीव और पुद्गलकर्म दोनोको रागादि अज्ञानपरिणाम आ जाये। परन्तु अकेले जीवको ही अज्ञानपरिणाम होते हैं।

रागादि–अज्ञानपरिणामोको निमित्तभूत पुराने कर्म उदयमे आनेसे जीवको रागादिपरिणाम होते है अर्थात् दोनो एकत्रित होकर रागादि–अज्ञानपरिणाम होते हैं ऐसा माना जाये तो जडको भी रागद्वेष हुआ, जडकी अवस्था चेतनके रागरूप हो तो फिर जडकी अवस्था उससमय क्या रही ? इसलिये जडकी अवस्था उससमय जडमे ही होती है किन्तु अज्ञानभावसे रागद्वेष तुझमें हुआ। यदि ऐसा माने कि कर्मके उदयसे मुझे रागद्वेष होता है तो कर्म ही ने तुझे रागद्वेष कराया इससे तू पराधीन हुआ, इसलिये तू छूटेगा कहाँसे ? परन्तु वस्तुस्वभाव वैसा नही है। तेरा पुरुषार्थ तेरे हाथमें है, विकाररूप परिणमित होना भी तेरे हाथकी बात है और स्वभावमे परिणमित होना भी तेरे हाथमे है। जडकर्म तुझे राग-द्वेष नही कराते, परन्तु तू स्वतः अज्ञानभावसे राग-द्वेष करता है तब कर्मका निमित्त उपस्थित होता है।

जीव और पुद्गल दोनो एकत्रित होकर राग-द्वेष करें तो जड है वह जीव हो जाये, परन्तु जो जड है वह कभी जीव होता ही नही। कोई किसीको रागद्वेष नही कराता, स्वतः विपरीत वीर्यसे विकारमे युक्त हो तो विकार होता है। कितने ही लोग कहते हैं कि कर्मका उदय हमे रागद्वेप कराता है—ऐसा मानकर जो स्वच्छन्द प्रवर्तन करते हैं और विषयकपाय सेवन करते हैं उनसे कहते हैं कि अरे भाई ! कर्मका उदय तुम्हे राग-द्वेष नही कराता परन्तु तुम स्वतः ही उसरूप परिणमित होते हो, कर्मका उदय तुम्हे विषय–कषाय नही करा देता परन्तु तुम्हारी स्वाधीनतासे तुम विपरीत वीर्यसे उसरूप

परिणमित हो रहे हो, इसलिये जैसा है उसीप्रकार आत्माको पहिचानो और समझो !

ज्ञानी स्वच्छन्दताका सेवन नहीं करते, ज्ञानीको पुरुषार्थकी मन्दताके कारण अल्प अस्थिरता होती है परन्तु उसमें उन्हे रुचि नहीं है, अन्तरङ्गसे उदास हैं। रागका एक कण भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं तो उन समस्त भावोंसे निराला शुद्ध चैतन्यद्रव्य हूँ। यदि इसीक्षण वीतराग हुआ जा सकता हो तो मुझे कुछ भी नहीं चाहिये, परन्तु क्या किया जाये ? पुरुषार्थकी मन्दताके कारण पडा हुआ हूँ।

अज्ञानी कहता है कि ज्ञानीके बंध नही है, ज्ञानी विषय कषायोंका सेवन करता हो तथापि बंध नही है इससे हमको भी आत्माका भान हुआ है परन्तु उदयके कारण विषय-कषायोका सेवन करते हैं इसलिये हमारे भी बंध नही है क्योंकि शास्त्र इन्कार करते हैं। अरे भाई ! शास्त्र इन्कार करते हैं कि तेरा भाव इन्कार करता है ? शास्त्रकी बात शास्त्रमें रही परन्तु तेरा हृदय क्या कहता है ? अन्तरमें तो तन्मयता हो जाती है; अन्तरसे लोलुपता है, अन्तरसे उदासीनता नही है, निराले आत्माका भान नही रहता, साक्षीपना नही रहता और स्वच्छन्दतासे व्यर्थका बचाव करता है।

ज्ञानीके दृष्टिका बल है, आत्मामे आनन्द और समाधिका वेदन करता है; जो अल्पराग होता है वह ध्यानमे है परन्तु पुरुषार्थकी मन्दताके कारण वह राग होता है—वैसा समझते हैं, पुरुषार्थ जरा डगमग हो जाता है परन्तु उसे आदरणीय नही मानते, अन्तरङ्गसे उदास हैं। ज्ञानीके तो हृदयसे निकलता है कि यह राग और रागके संयोग वे सब विष्टा हैं, विष हैं, अल्प राग-द्वेष होते हैं उन्हे स्वभाव दृष्टिमे विष्टा ही समझते हैं इससे उनका आदर नही है।

अज्ञानी तो स्वच्छन्दतासे विषय-कषायोमे मग्न रहते हैं और कहते हैं कि हमें बन्ध नहीं है। परन्तु भाई ! वैसा मुफ्तका माल मोक्षमार्गमे नही है। यदि स्वच्छन्दतासे वर्तन करेगा तो चला जायेगा चौरासीके चक्करमे, अनन्तकाल तक निकलना कठिन हो जायेगा। ऐसे

के ऐसे परिणामोका सेवन करना और कहना कि हमे चारित्रमोहका उदय है ! अरे ! उदय है या स्वच्छन्द है ? देख तो !

ज्ञानीके काम–क्रोधका अल्प राग होता है, परन्तु उसे वह स्वभावदृष्टिसे विष्टा जैसा ही देखता है, उसका आदर नही है, इसलिये वह नवीन कर्मोंको निमित्तरूप भी नही कहलाता। अल्प अस्थिरताके कारण अल्प बन्ध होता है परन्तु वह अस्थिरताको अपना स्वरूप नहीं मानता, रखने योग्य नही मानता, परिपूर्ण स्वभावदृष्टि प्रगट हुई है इसलिये स्वभावदृष्टिसे ज्ञानी नवीन कर्मोको निमित्तरूप भी नही है।

अज्ञानीको सयोगसे भला बुरा मानता है इसलिये यह मुझे इष्ट है या अनिष्ट है ऐसा मान लेता है कि कर्मने मुझे राग-द्वेष कराया है। परन्तु जब कर्मने तुझे राग-द्वेष कराया तब तू कहाँ था ? था या नही ? क्या मर गया था ? तेरी अवस्था कहाँ गई थी ? तेरी अवस्था अज्ञान भावसे तेरे अधिकारमे थी या नही ? यदि तू कर्माधीन हो गया हो तो तू पराधीन हुआ, तेरी स्वतन्त्रता कहाँ रही ? प्रत्येक द्रव्य पर्यायमे भी त्रिकाल स्वतत्र है, कोई किसीके आधीन नही है। प्रत्येक गाथा अपूर्व है, यदि रुचि पूर्वक मनन करे तो छुटकारा हो जाये, नही तो पार होना कठिन है।

जीव स्वय अपनेको भूलता है स्वतन्त्रतया कर्मोंमें युक्त होता है और कहता है कि कर्मोंने मुझे राग-द्वेष कराया है, तेरी वह बात सर्वथा मिथ्या है। यदि पुद्गलद्रव्य अपनी अवस्थाको करे और जीवकी अवस्थाको करे तो दो अवस्थाएँ एक हो जायें और दोनो द्रव्य एक हो जायें, परन्तु दो द्रव्य त्रिकाल त्रिलोकमे एकरूप नही होते। कर्मका फलकर्ममे आता है और जो विषय–वासना तुझे होती है वह तेरी अवस्थामे होती है, जड़ तो जानता भी नही है, विकारी अवस्थामे रुकना तेरे हाथमे है।

अज्ञानभाव तुझमे होते हैं, कर्म तुझे नही कराते। अज्ञानी निमित्तके आश्रयसे ही चला जाता है, पराश्रयसे जो भाव होते हैं उन्हे अपना मान लेता है, ज्ञानी परवश नही होता और परभावोको अपना

नही मानता। कर्मके फलके आश्रयसे जो भाव होता है उसमें अज्ञानी अर्पित हो जाता है, इससे वह ऐसा मान लेता है कि कर्म मुझे राग-द्वेष कराते हैं। ज्ञानी शुद्ध निश्चयसे रागको अपना नही मानता इसलिये वह ऐसा भी नही मानता कि कर्म मुझे राग-द्वेष कराते हैं। परकी अवस्था होती है उसमें ज्ञानी अपना निमित्त नही मानते, इससे कर्म भी नही बधते।

जीव और कर्म दो एकत्रित होकर रागादिरूप परिणमित होते हैं वैसा नही है। जिसप्रकार हल्दी और फिटकरी दोनो एकत्रित होकर तीसरा रङ्ग होता है, उसीप्रकार आत्मा और कर्म दोनों मिलकर तीसरी अवस्था होती है—वैसा नही है। हल्दी और फिटकरीमें तो सभी परमाणु स्वतंत्र हैं, सबकी अवस्था पृथक्-पृथक् है; मात्र स्थूलरूपसे दो द्रव्योकी एक तीसरी लाल अवस्था दिखाई देती है परन्तु वास्तवमे वैसा नही है। यदि जीव और कर्म एकत्रित होकर रागादि होते हो तो जीव और पुद्गलकर्म दोनोको रागादि परिणाम आ जायें, परन्तु अकेले जीवके ही रागादि अज्ञान परिणाम तो होते हैं, इससे पुद्गलकर्मका उदय जो कि जीवके रागादि अज्ञान परिणामोका निमित्त है उससे भिन्न ही जीवका परिणाम है; पुद्गलकर्म तो कभी जीवके रागादिरूप परिणमित नही हो सकता इससे जीवकी विकारी अवस्था भिन्न है और पुद्गलकर्मकी अवस्था भिन्न है दोनोकी अवस्था पृथक्-पृथक् है। १३९–१४०।

अब अन्तरके परिणाममें नयविभागसे बात करते हैं, मनके आलम्बनसे दो प्रकारके रागके विकल्प होते हैं वह भी पक्ष है—ऐसा अब कहेगे। मैं बद्ध हूँ और मैं अबद्ध हूँ—ऐसा विकल्प भी पक्ष है, राग है—वैसी सूक्ष्म बात अब कहेगे।

समस्त वस्तुएँ स्वतत्र हैं, सबका कर्ता-कर्मपना स्वतत्र है। परन्तु जबतक जीव ऐसा मानता है कि परकी अवस्था मैं करता हूँ तबतक वह मिथ्यादृष्टि है। १०० वी गाथामे कहा था कि घटपटका कर्ता अज्ञानी भी नही है परन्तु अपनी विभावपर्याय जो योग–उपयोग

है उसका कर्ता अज्ञानी होता है इसलिये निमित्तरूपसे वह घटपटका कर्ता होता है। मैं निमित्तरूपसे घटपटका कर्ता हूँ—ऐसा मिथ्यादृष्टि कुम्भार मानता है, यदि कुम्हार सम्यग्दृष्टि हो तो उसके योग और उपयोग घड़ा होनेमे निमित्तरूप होते अवश्य हैं परन्तु योग और उपयोगका वह कर्ता नही है इसलिये वह घड़ा होनेमे निमित्त भी नही है। पहले कहा था कि घटपट होनेमे और नवीन कर्म बाँधनेमे ज्ञानी निमित्त नही है, अब कहना है कि मनके विषयमे नयके दो पक्ष होते हैं वह भी तेरा स्वरूप नही है।

"आत्मामे कर्म बद्धस्पृष्ट हैं या अबद्धस्पृष्ट हैं"—वह नय-विभागसे कहते हैं—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

है कर्म जीवमें बद्धस्पृष्ट, जु कथन यह व्यवहारका।
पर बद्धस्पृष्ट न कर्म जिवमें, कथन है नय शुद्धका ॥१४१॥

अर्थः— जीवमे कर्म (उसके प्रदेशोंके साथ) बंधा हुआ है तथा स्पर्शित है—ऐसा व्यवहारनयका कथन है और जीवमे कर्म बंधा हुआ नही है, अस्पर्शित है—ऐसा शुद्धनयका कथन है।

आत्मामे कर्म बद्ध है और कर्म बद्ध नही है—इन दो पक्षोका विचार रागमिश्रित है, मात्र निर्विकल्प स्वभावमे—एकाकार स्वभावमे यह दो पक्ष—"ऐसा है" और "ऐसा नही है"—ऐसा विकल्प नही है, ऐसे विकल्पका मैं कर्ता हूँ और यह मेरा कार्य है—ऐसा कर्ताकर्मपना स्वभावदृष्टिमे नही है। आत्मा बद्धस्पृष्ट नही है ऐसा विचार भी रागमिश्रित है।

स्वभावधर्मसे वस्तु अखण्ड है उसमे मनके निमित्तके विना ज्ञानके दो पक्ष नही होते। मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ और बद्धस्पृष्ट हूँ—ऐसे रागमिश्रित ज्ञानके दो पक्ष, दो भङ्ग मनके अवलम्बनसे होते हैं, वे

नय पक्षके राग—(विकल्परूप दो पक्ष)—स्वभावकी एकाग्रताका कारण नही है क्योकि रागमिश्रित विचार स्वभावकी एकाग्रताका कारण कहाँसे होगे ? स्वभावका अश स्वभावकी एकाग्रताका कारण है, विभावका अंश स्वभावकी एकाग्रताका कारण नही है। खण्डपना, विकल्पपना, वृत्तिपना स्वभावमें नही हैं तो फिर वे स्वभावपर्याय प्रगट होनेके कारण भी कहाँसे होगे ? साधक जीव वस्तुको और पर्यायको—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों नयोके द्वारा जानता है, प्रमाणज्ञानमें दोनो साथ ही ज्ञात होते हैं परन्तु परकी ओर उन्मुखता हो तब एक समय एक ही उपयोग साधक जीवको होता है—या तो अवद्धकी ओर या वद्धकी ओर; उसके साथ दो प्रकारके रागके विकल्प होते हैं वह आत्माका स्वभाव नही है। घटपटका कर्ता तो मैं नही हूँ परन्तु स्वभावोन्मुख होने पर विचारोंके दो पक्ष होते है वह भी राग है। सब ओरसे अपनेको उठाकर अभेद स्वभावमे रखा है, किन्तु आत्मामें ऐसे विकल्प नही हैं कि कर्म वद्ध हैं और कर्म वद्ध नहो है। आचार्यदेवने ऐसा कहकर कि "आठकर्मोका कर्ता नही है और वाह्य परद्रव्योका कर्ता नही है"—सब जगहसे उठाया वहाँ आत्मामे कर्म वद्ध हैं और कर्म वद्ध नही हैं—ऐसे कर्ताकर्मपनेमें रुका परन्तु वह उसका स्वभाव नही है। कहीं सूक्ष्म पक्षमें स्थित रहे उसे भी कर्ताकर्मपना है। स्वभावका भान न करे और ऐसे पक्षमे स्थित रहे तो वह भी पकड़ है।

जीवके और पुद्गलकर्मके एकवंधपर्यायपनेसे देखने पर उनके अत्यन्त भिन्नताका अभाव होनेसे जीवमें कर्म वद्धस्पृष्ट है—ऐसा व्यवहारनयका पक्ष है। जीवके और पुद्गलकर्मके अनेकद्रव्यपनेसे देखने पर उनके अत्यन्त भिन्नता होनेसे जीवमे कर्म अवद्ध स्पृष्ट है—ऐसा निश्चयनयका पक्ष है।

आत्मामें कर्म निमित्तरूपसे, संयोगरूपसे वंधे हुए हैं ऐसा निमित्तके ओर की अपेक्षासे कहा जाता है वह व्यवहार है। आत्मामें एकक्षेत्रावगाहरूपसे कर्म वंधे हुए हैं। जिसप्रकार घीका घड़ा कहा

जाता है परन्तु घडा घीका नही है–मिट्टीका है। इसीप्रकार कर्म आत्मामे बधे हुए हैं उस ओरका पक्ष लक्ष्यमे लेना सो एकनय है, परन्तु वास्तवमे आत्मामे कर्म बधे हुए नही हैं किन्तु निमित्तकी ओरके नयसे कहा जाता है कि कर्म आत्मामे बधे हुए हैं। आत्मा परसे अबद्धस्पृष्ट है ऐसा दूसरा नय है।

आत्माके शुद्ध स्वभावका–सामान्यस्वभावका–अबद्धस्पृष्टपनेका विषय करनेवाला जो नय है वह निश्चयनय है वह भी रागमिश्रित है, क्योकि उसने वस्तुके एक ओरका पक्ष लिया है, वह रागमिश्रित विचारोमे रुका है—शुभभावोमे रुका है–मनके योगमे वह रुका है। मैं अबद्धस्पृष्ट हूँ और मैं बद्धस्पृष्ट हूँ—ऐसे दो भङ्ग मनके अवलम्बनसे होते हैं; वे दो विकल्प हैं—राग हैं।

बद्धस्पृष्टके ओरकी दृष्टिसे देखने पर बद्धस्पृष्ट है परन्तु परमार्थसे बध नही है, व्यवहारसे बंध है। यदि बिल्कुल भिन्न हो तो परमार्थका असगपनेका प्रगट वेदन हो परन्तु वह नही है इसलिये वर्तमान पर्यायमे बद्ध है। विकार है इसलिये निमित्त भी है। यदि पर्यायमे दोप न हो तो निमित्तका सयोग भी न हो; इसलिये जो बद्धस्पृष्ट है वह व्यवहारका पक्ष है, उसमे भी राग है, उस पक्षमे रुकनेसे भी रागमे रुकना होता है।

पर्यायकी–अवस्थाकी दृष्टिसे आत्मा बधा हुआ है और भिन्न तत्त्वसे देखने पर आत्मा और कर्ममे अत्यन्त भिन्नता होनेसे जीवमे कर्म अबद्धस्पृष्ट है। पर्यायदृष्टिसे आत्मा बंधा हुआ है—ऐसा विकल्प सो रागकी पकड़ है और वस्तुदृष्टिसे देखने पर आत्मा परसे भिन्न है—ऐसा विकल्प भी पकड़ है।

प्रश्नः—अनादिका शुभाशुभ विकार है इसलिये कैसे टले ?

उत्तरः—अनादि तो सन्तान प्रवाहरूपसे है, पलटता हुआ भाव प्रवाहरूपसे अनादि है, पर्याय है, स्थायी वस्तु नही इसलिये परिवर्तित होता है, वर्तमान एक एक समयकी अवस्था जितना है, क्षण

क्षणकी अपेक्षा प्रवाहसे अनादि है, स्थायी वस्तु नही है, जो पर्याय है वह बदलती है इसलिये निर्विकार पर्यायको प्रगट करके विकारका नाश हो सकता है।

यह जान लिया कि पराश्रयरूप व्यवहारसे बंध है और स्वाश्रयरूप निश्चयसे बंध नही है, परन्तु भाई ! निश्चयसे बंध नही है वैसा नय पक्षका विचार भी रागमिश्रित है। यहाँ तो सब प्रकारके रागका कर्ताकर्मपना छुड़ाते हैं।

शुद्धनयको निर्विकल्प भी कहा जाता है परन्तु यहाँ विकल्प युक्त नयकी बात है, शुद्धनय निर्विकल्प भी है और विकल्प सहित भी है। अपूर्ण, पूर्ण और विकारी पर्यायको जाननेवाला और सामान्य स्वभावका ज्ञाता निर्विकल्प प्रमाणज्ञान है। आत्मा सामान्यरूप और विशेष पर्यायरूप भी है, उस सामान्य और विशेषका विकल्पसहित लक्ष्य करनेवाले ज्ञानको विकल्पवाला प्रमाणज्ञान कहा जाता है।

दो नयोंके पक्षके विचारमें रुकना सो राग है, पक्ष है। कोई जीव नयके पक्षमे न फँस जाये इससे आचार्यदेव समझाते हैं। परद्रव्यका कर्ता नही है, कर्मका कर्ता नही है इसप्रकार बाह्यसे उठाकर अन्तरङ्ग तक ले गये है। कही पक्षमे लगा रहे और वस्तुस्वभाव जैसा है वैसा ध्यानमे न आये तो वह नयका पक्ष ज्ञानका फल नही है परन्तु विवादका फल है किसी भी पक्षमे स्थित रहे तो उस ज्ञानका फल विवाद हुआ किन्तु स्वभाव नही हुआ। मैं भङ्गका कर्ता हूँ और भंग मेरा कार्य है; मैं विकल्पका कर्ता हूँ और वह मेरा कार्य है—वैसे भावोमे स्थित रहे तो वह पक्षमे खडा है, बाह्यमे खडा है, परन्तु जो रागमिश्रित पक्षको उलंघ गया वह स्वभावमे स्थित है।

ध्रुव स्वभाव तो एकाकार है, उसमें दो पक्ष डालना सो नय पक्ष है। निर्विकल्प स्वभावमे मैं बद्ध हूँ और मैं अबद्ध हूँ ऐसे दो पक्षका विकल्प करना सो नय पक्ष है। उस पक्षको छोड़कर जो उसका उल्लंघन कर गया है वही समयसार है।

जो आत्मा उन दोनों नय पक्षोको उलंघ गया है वही समयसार है—ऐसा अब गाथामे कहते हैंः—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं ।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

हैं कर्म जिवमें बद्ध वा अनबद्ध ये नयपक्ष है ।
पर पक्षसे अतिक्रान्त भाषित, वो समयका सार है ॥१४२॥

अर्थः—जीवमे कर्मबद्ध है अथवा अबद्ध है—इसप्रकार तो नय पक्ष जानो । परन्तु जो पक्षातिक्रान्त (अर्थात् पक्षको उलघ गया) कहलाता है वह समयसार (अर्थात् निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व) है ।

रागमिश्रित पक्षमे रुक जाना सो नय पक्ष है । यहाँ निश्चयनयको रागवाला लिया है । चौदहवी–पद्रहवी गाथामे और अनेक जगह राग रहित–निर्विकल्प शुद्ध नय लिया है । सामान्य स्वभाव पर दृष्टि रहे वहाँ पर्याय गौण हो जाती है उसे शुद्धनय कहा है । अपने अखण्ड स्वभावकी ओर उन्मुखताका भाव उसे शुद्धनय कहा है, परन्तु यहाँ राग युक्त शुद्ध कहा है, भिन्न भिन्न अपेक्षासे कहा है ।

जीवमे कर्मबद्ध है अथवा अबद्ध है वह दोनो विकल्प हैं–राग है । वस्तु तो जैसी है वैसी ही है जहाँ आत्माकी स्वभावदृष्टि हुई वहाँ अनन्त पुरुषार्थ हुआ । सम्यक्दृष्टि जानता है कि जो सर्वज्ञ भगवानने देखा है वह तीन कालमे नही बदल सकता । उन सर्वज्ञ भगवानका ज्ञान और निर्णय करनेमे अनन्त पुरुषार्थ है ।

द्रव्यमे एक समयके पश्चात् दूसरे समयकी क्रमबद्ध पर्याय होती है, उसका यथार्थ जैसा है वैसा ज्ञान करनेसे समभाव हो गया वही अनन्त पुरुषार्थ है । अन्य अनन्तपदार्थोंमे और मेरे पदार्थमे क्रमबद्ध पर्याय होती है—वैसा माना उसमे समभाव आया, अनन्तपुरुषार्थ आया । जो सर्वज्ञने देखा है वह तीनकालमे नही बदल सकता, सर्वज्ञका अर्थ है पूर्ण ज्ञान, उस पूर्ण ज्ञानका निर्णय करनेमे अनन्त पुरुषार्थ है,

निर्णय करनेवालेमें अनन्त पुरुषार्थ है, जिसे सर्वज्ञका निर्णय हुआ है उसके अपने आत्माके स्वभावका निर्णय होता ही है। सर्वज्ञ भगवानने पुरुषार्थ द्वारा मोक्ष देखा है, जिसने अपनेमे सर्वज्ञ स्वभावको जाना है उसने सर्वज्ञको जाना ही है। जिस भावसे सर्वज्ञके पूर्ण स्वभावका निर्णय किया और अपने स्वभावका निर्णय किया है उस भावमे (भवका भाव होता ही नही) अनन्त संसारका नाश हुआ। परका ऐसा करता हूँ, परका यह करता हूँ उसे छोड़कर ऐसा ज्ञान किया कि पर्याय क्रमबद्ध होती है वहाँ समता हो गई, परके ग्रहण त्यागसे रहित ज्ञान और वीर्य स्वभावोन्मुख हुए। सब द्रव्यकी पर्याय अपनी योग्यतासे होती है ऐसे निर्णय होते ही परका अकर्त्ता अर्थात् स्वसन्मुख ज्ञातापन जागृत हुआ, मोक्षपर्याय होने तक पुरुषार्थ पूर्वक क्रमबद्ध पर्यायका सर्वज्ञ भगवानने जाना है। जिसने सर्वज्ञका यथार्थ स्वरूप जाना उसने क्रमबद्ध पर्यायको यथार्थ जाना है।

मैं इसप्रकार किसीका भला या बुरा करदूँ, अमुक व्यक्तिको आगे बढ़ा दूँ—वैसी मान्यताका हाथ परमेसे अब उठा लिया। जिसप्रकार मैं पराश्रित नही किन्तु स्वतंत्र हूँ उसीप्रकार सामनेवाला पदार्थ और सभी पदार्थ स्वतंत्र हैं—ऐसा निश्चित् हुआ वहाँ वीर्य जो परके ग्रहण-त्यागमे अटकता था वह रुक गया और यह जाना कि मैं तो जो हूँ वही हूँ, मुझे परके साथ सम्बन्ध नही है। सर्वज्ञस्वभावके सन्मुख दृष्टि और निश्चय हुए बिना क्रमबद्ध पर्यायकी स्वतंत्रता समझमे नही आ सकती।

यहाँ दो पक्षोंका अस्वीकार करके निरपेक्ष तत्त्वको बतलाना है। आत्मा कर्मसे बंधा हुआ है और आत्मा कर्मसे बंधा हुआ नही है—वह दो पक्षोका विचार रागमिश्रित है, रागमिश्रित विचारके अवलम्बनसे स्वभावका भान हो जाये—ऐसा कभी भी नही होता। जो पक्षको उलंघ गया है वह पक्षातिक्रान्त है। आत्माके स्वभावको पहले नयसे या निक्षेपसे निश्चित् किया है, पश्चात् अनुभवके समय उस नय-निक्षेपका काम नही पड़ता। जिसप्रकार खानेकी एक वस्तु ली उससमय उसे

तराजूसे तौलते हैं परन्तु खाते समय वह तराजू आदि काममे नही आते, उसीप्रकार नय-निक्षेपसे पहले वस्तुका स्वभाव निश्चित् किया है पश्चात् अनुभवके समय वह नय-निक्षेप काम नही आता। नय-निक्षेपमे विकल्प रहता है, पक्षातिक्रातमे विकल्पका अभाव है।

पक्षातिक्रात कहनेका तात्पर्य यह नही है कि अपनेको समस्त धर्म समान मानना चाहिये, किसी धर्ममे भेद नही पाड़ना चाहिये, सभी मार्ग समान हैं—ऐसा यदि कोई इसका अर्थ ले तो ऐसा अर्थ नही लेना है। वस्तुका सत्स्वरूप क्या है उसका निर्णय बरावर करना चाहिये, परन्तु यहाँ तो समस्त वस्तुको परसे निरपेक्ष वतलाना है। रागमिश्रित पक्षको छुडानेकी यह वात है।

यहाँ पक्ष छोडनेको कहा है इससे ऐसा नही समझना चाहिये कि निर्णय छोड़नेको कहा है क्योकि राग छोडनेको कहा है कही तत्त्व विचार और निर्णय छोड़नेको नही कहा है। आत्माको इस अपेक्षासे वंध है और इस अपेक्षासे वध नही है, इस अपेक्षासे निमित्त है और इस अपेक्षासे नही है, इस अपेक्षासे राग है और इस अपेक्षासे राग नही है, द्रव्यदृष्टिसे आत्मा परसे निराला परिपूर्ण शुद्धस्वरूप है और पर्यायदृष्टिसे अवस्थामे मलिनता होती है इत्यादि वस्तुस्वभाव जैसा है वैसी ही प्रतीति करके रागसे अतिक्रान्त होकर प्रथम श्रद्धामे मिथ्यापन छोड़ना चाहिये किन्तु ज्ञान और प्रतीति छोडनेको नही कहा है। मैं वधा हुआ हूँ और निर्वन्ध हूँ—ऐसे विचारोमे रुकनेसे राग होता है, इससे राग छोड़कर स्वभावमे स्थिर होनेको कहा है, 'बंधा हुआ हूँ' और 'वंधा हुआ नही हूँ' वैसे पक्षसे अतिक्रांत होना कहा है, जो दो भेदोमे रुक जाता है उसे छुडाते हैं।

प्रश्नः—गौतमस्वामीको भगवानके ऊपर राग था इससे रुके थे न ?

उत्तरः—यदि निमित्तके ओरकी अपेक्षासे कहे तो कहा जायेगा कि गौतम स्वामीको भगवान पर राग था परन्तु वास्तवमे

पुरुषार्थकी मन्दतासे राग था। परवस्तुके कारण राग नही है, निमित्तसे राग नही है, द्रव्यमे राग नही है, परमार्थ पर दृष्टि है और राग पर दृष्टि नही है, पर्यायमे राग होता है उसपर दृष्टि नही है। अब, अपनी पर्यायमे पुरुपार्थकी मन्दताके कारण राग है; भगवान पर गौतम स्वामीको राग था—ऐसा निमित्तकी ओरसे कहा जाता है परन्तु वास्तवमे पुरुषार्थकी मन्दताके कारण राग था, भगवानके कारण राग नही था। गौतम स्वामी तो अनेक ऋद्धिके धारक, चार ज्ञानके स्वामी, महा समर्थ गणधर थे, वे रागादि तीनो कपायोका अभाव करके स्वरूपमें अत्यन्त लीन थे परन्तु उनके पूर्ण वीतरागदशा प्रगट नही हुई थी इससे अल्प राग था, वह राग भगवानके कारण नही किन्तु अपने कारणसे था।

छट्ठी भूमिकामे अल्प राग होता है और उस रागके निमित्त देव गुरु शास्त्र इत्यादि ही होते हैं; प्रशस्त रागके निमित्तके देव गुरु शास्त्र इत्यादि हैं परन्तु उनके कारण राग नही है; अपनी वीतराग दशा नही हुई है, अपूर्ण भूमिका है इससे राग आये विना नहीं रहता। राग प्रशस्त नही है किन्तु उसके विषय सच्चे देव शास्त्र गुरु हैं वे प्रशस्त हैं।

चौथी भूमिकामे ज्ञानी गृहस्थाश्रममे स्थित होता है इससे उसके शुभाशुभ परिणाम आये विना नही रहते, अपनी भूमिका अपूर्ण है इससे गृहस्थाश्रममे है और वह राग परके कारण नही, किन्तु अपने पुरुषार्थकी मन्दताके कारण है। राग आता है, किन्तु रागकी रुचि नही है, भावना नही है, स्वामित्व नही है, रागमे अपना कर्तव्य नही माना है—अखण्ड परिपूर्ण द्रव्य पर दृष्टि है। दृष्टिके साथ जो ज्ञान है वह ज्ञाता स्वभावी स्वद्रव्यको जानता है और भूमिकाके योग्य निर्मल-पर्याय और रागकी पर्यायको भी जानता है और रागके निमित्तको भी जानता है। जो ज्ञान स्व-परको स्वतंत्र नही जानता, जो ज्ञान स्वभावके सामर्थ्यको राग रागादि विभावकी विपरीतताको और रागके निमित्तको नही जानता वह ज्ञान मिथ्या है, सम्यक् नही है।

भक्ति, भक्तिके लिए नही है, दूसरोके लिये नही है, किन्तु

स्वतःके लिये है। वास्तवमे अपनी ही भक्ति करता है, परकी भक्ति कोई कर ही नही सकता। स्वत.को अपने गुणोका बहुमान आता है उसका परके ऊपर आरोप करता है, इसका अर्थ ऐसा होता है कि अपने गुणो पर रुचि है अर्थात् वह गुण स्वतः प्रगट करना चाहता है, इसलिये स्वय अपनी ही भक्ति करता है, अन्यकी भक्ति की—ऐसा उपचारसे कहा जाता है।

समयसारकी स्तुतिमे आता है कि:—

"तु छे निश्चयग्रन्थ भङ्ग सघला व्यवहारना भेदवा" इस-प्रकार स्तुति की जाती है वह उपचारसे है। वास्तवमे उसे वस्तुस्वरूपकी रुचि है इससे भक्ति करता है। वह राग परके कारण नही आता परन्तु अपने कारण आता है।

कोई यह कहे कि—चौथे गुणस्थानमे आत्माका भान होनेसे बिल्कुल राग ही नही होता और रागके निमित्त ही नही होते, तो वह ज्ञान मिथ्या है। चतुर्थ भूमिकामे अशुभ राग होता है और उसके निमित्त स्त्री, पुत्रादि होते हैं, और शुभराग होता है उसके निमित्त देव गुरु शास्त्र इत्यादि होते है। परन्तु चौथी भूमिकामे बिल्कुल राग ही नही होता अथवा बिल्कुल वीतराग जैसी भूमिका माने तो वह ज्ञान मिथ्या है। चौथी भूमिकामे ज्ञानीके राग आता है परन्तु उसे वह करनेयोग्य नही मानता, परके कारण होता है ऐसा नही मानता और अपना स्वभाव नही मानता, अखण्ड परिपूर्ण द्रव्य पर उसकी दृष्टि है। यदि रागको अपना स्वभाव माने तो दृष्टि मिथ्या और यदि ऐसा माने कि राग बिल्कुल आता ही नही तो ज्ञान मिथ्या है। इस गाथामे तो उसे समझाते हैं जो रागमिश्रित परिणाममे ही रुका हुआ है और ऐसा मानता है कि वही मेरा पुरुषार्थ है। साधक अवस्थामे वीर्यकी मन्दतासे चिदानन्दस्वभावमे स्थिर न रह सकनेके कारण बाह्य लक्ष्य आता है, वहाँ मैं बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ,—ऐसे पक्षो रूप विकल्पमे रुकता है उसे भी समझाते हैं। आचार्यदेव ऐसी सूक्ष्मतासे समझाते हैं कि सभी प्रकारके पक्ष छूट जावे किसी भी प्रकारका पक्ष नही रह जावे।

आत्मा अज्ञानभावसे क्या कर सकता है और ज्ञानभावसे क्या कर सकता है ? अज्ञानभावमें राग-द्वेषका कर्ता होता है और ज्ञानभावमें ज्ञानका कर्ता होता है।

'जीवमें कर्म बद्ध है'—ऐसा जो विकल्प है, तथा 'जीवमें कर्म अबद्ध है'—ऐसा विकल्प है, वह दोनों नयपक्ष हैं। जो उस नयपक्षका अतिक्रम करता है (उलंघ जाता है, छोड़ता है) वही समस्त विकल्पोका अतिक्रम करता हुआ स्वतः निर्विकल्प, एक विज्ञानघन-स्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार होता है।

पर्याय अपेक्षा आत्मामें कर्म एकक्षेत्रमें सबंधरूपसे व्याप्त होकर रह रहे हैं—ऐसा शुभविकल्प नयपक्ष है, और द्रव्य अपेक्षा आत्मामें कर्म बंधे नही हैं—ऐसा शुभविकल्प भी नयपक्ष है। दोनों नयपक्षमें ज्ञानकी अवस्था रागमें पकड़ जाती है। यह दो नयपक्षके पक्ष होते हैं वह स्वभावका कर्तव्य नही है। अज्ञानभाव उसका कर्ता होता है और राग उसका कर्तव्य है।

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, वह परिणमित हुए विना नहीं रहता अर्थात् अवस्थान्तर हुए विना नही रहता। जो वस्तु है वह विल्कुल कूटस्थ नहीं रहती, वस्तु वस्तुरूपसे और गुणरूपसे स्थित रहकर परिवर्तित होती है—ऐसा वस्तुका स्वभाव है।

रागको वदलकर द्वेष होता है, उसमें होनेवाला कर्ता मैं हूँ ऐसा अज्ञानी मानता है। प्रतिक्षण विकारी पर्यायका परिवर्तन तो होता है, परन्तु उसकी श्रद्धामें स्वाश्रयका जोर है या पराश्रयके ऊपर जोर है—उसके ऊपरसे कर्ता कर्मका नाप होता है। अविकारी स्वभावको भूलकर रागादिमे कर्तापनेका भाव होता है वह उसका अज्ञानभाव है और रागद्वेष उसका कर्तव्य है।

आत्मा ज्ञानभावसे तो निर्मल अवस्थाका कर्ता है किन्तु चारित्रमे अपने पुरुषार्थकी अशक्तिसे मात्र स्वमें नही रहा जा सकता इससे आत्मामे कर्म बद्ध हैं और कर्म बद्ध नही हैं—ऐसे विकल्पोंमें रुकता है वह नयपक्ष है, उसे भी समझाते हैं।

स्त्री, कुटुम्ब, व्यापारादिके अशुभपरिणाम तो निकाल दिये, जडकी ओरका स्थूल कर्तृत्व छुडाकर यहाँ तो मनके शुभपरिणामो तक ले गये हैं। मात्र मनके शुभविकल्पोकी बात ली है। कर्म बद्ध हैं और कर्म बद्ध नही हैं वे दोनो शुभविकल्प हैं। यद्यपि आत्मा अबद्ध है, शुद्ध है, निरपेक्ष है, परसे निराला है वह पक्ष तो सत्य है परन्तु उस पक्षमे रुकना भी शुभविकल्प है इसलिये रागका पक्ष है। आत्मा बद्ध है वह बात पर्यायदृष्टिसे यथार्थ है परन्तु द्रव्यदृष्टिसे अभूतार्थ है, असत्य है और उस ओरका पक्ष सो राग है। ज्ञानका स्वभाव तो एकरूप ज्ञाता रहनेका है परन्तु ज्ञान पराश्रयसे संक्रमित होता है, निमित्त और रागके आश्रयके बिना ज्ञानमे विकल्पका खण्ड नही पडता। स्वभावमे परिणति होना—पलटना तो अपना स्वभाव है, परन्तु जब विकारमे परिवर्तित हो तब ज्ञान अस्थिर होता है—रागका आश्रय आता है।

'ऐसा है' और 'वैसा है'—ऐसा नयपक्षके विकल्प करनेका काम एकाकार स्वभावमें नही है, ज्ञानका स्वभाव तो सहज एकरूप है, वह जैसा है वैसा ही सहज ज्ञान न मानकर 'ऐसा है' और 'ऐसा नही है' वैसी वृत्ति वह कृत्रिम उत्पत्ति है—अपना स्वभाव नही है। ज्ञान तो सहज, समवस्थित, यथावत्, एकाकार है; परन्तु आत्मामे कर्म बद्ध है और कर्म बद्ध नही है—ऐसी वृत्ति सो कृत्रिम है।

अपने स्वभावके आँगनमे आकर नयोंके विकल्प-रागमे रुकता है उसकी यह बात है, बाह्यके कर्तृत्वकी बात नही है। शरीरका मैंने कर दिया है, परका मैंने कर दिया है, मैं उपस्थित था इसलिए यह यह कार्य हो गया, मैं जडका कर्ता और वह मेरा कार्य—इत्यादि जडके कर्तृत्वकी बात तो कही रह गई, परन्तु स्वभावके आँगनमे आकर 'मैं ऐसा हूँ' और 'मैं ऐसा नही हूँ'—ऐसे विकल्पमे रुका इससे एकरूप ज्ञान नही रहा—वीतरागभाव नही रहा। अबद्ध हूँ वह बात भूतार्थ है—सत्यार्थ है, परन्तु बद्ध हू वह बात अभूतार्थ है—असत्यार्थ है परन्तु दो नय दो पक्षका कार्य करते हैं। पर्यायदृष्टिसे उपचारसे

आत्मा कर्मसे बंधा हुआ है वह बात सत्य है परन्तु द्रव्यदृष्टिसे वह बात मिथ्या है।

वस्तुकी बात सूक्ष्म है परन्तु वस्तुका स्वभाव तो जैसेका वैसा है, अनभ्यासके कारण मँहगी मालूम हो किन्तु सहजस्वभावसे मँहगी नहीं है। इसलिये उसे सुननेसे अरुचि नही आना चाहिये, अनादर नहीं होना चाहिये।

प्रशस्त रागका पक्ष छूटकर समस्त विकल्पोंको अतिक्रम होता हुआ साक्षात् समयसार होता है।

'आत्मा बद्ध है' और 'आत्मा अबद्ध है'—ऐसे दोनों विकल्पोंसे छूटकर विज्ञानघन होता हुआ साक्षात् समयसार होता है। जिसप्रकार जमे हुए घी में अँगुली नहीं धँसती उसीप्रकार रागका पक्ष छूटकर ज्ञान निर्भेद्य होजाता है; मैं शुद्ध स्वरूप हूँ वैसी भेदरूप वृत्ति भी नहीं होती, ऐसा हूँ और ऐसा नहीं हूँ—इसप्रकारका कोई भी विकल्प नहीं रहता, वस्तुस्वरूपसे जैसा हूँ वैसा ही हूँ। इसप्रकार बद्ध अबद्धके पक्षसे छूटकर ज्ञान ज्ञानरूपसे दृढ़ होता हुआ, ज्ञान ज्ञानमें जमकर, विज्ञानघन होता हुआ साक्षात् समयसार होता है। साक्षात् अर्थात् जो स्वभाव-शक्तिमें था वह पर्यायमें प्रगट हुआ—अनुभवमें आया। अज्ञानभावसे विकल्पका—रागादिका आत्मा कर्ताकर्मरूप होता था, वह छूटकर अब ज्ञानका कर्ताकर्मरूपसे हुआ।

जो "जीवमें कर्मबद्ध है" ऐसा विकल्प करता है वह "जीवमें कर्म अबद्ध है' ऐसे एक पक्षका अतिक्रम करता है, तथापि विकल्पका अतिक्रम नहीं करता, और जो "जीवमें कर्म अबद्ध है" ऐसा विकल्प करता है वह भी "जीवमें कर्म बद्ध है"—ऐसे एक पक्षका अतिक्रम करता है तथापि विकल्पका अतिक्रम नहीं करता। पुनश्च, जो "जीव-में कर्म बद्ध है और अबद्ध भी है" ऐसा विकल्प करता है वह दोनोंका अतिक्रम न करता हुआ विकल्पका अतिक्रम नहीं करता। इससे जो समस्त नयपक्षका अतिक्रमण करता है वही समस्त विकल्पोंका अतिक्रमण करता है, वही समयसारको प्राप्त करता है—अनुभव करता है।

जो "जीवमे कर्म बद्ध है" ऐसा विकल्प करता है वह "जीवमे कर्म अबद्ध है" ऐसे एकपक्षका उलघन कर जाता है तथापि रागका उल्लंघन नही करता और स्वभावमे स्थित नही होता। "जीवमे कर्म अबद्ध है" इसप्रकार जो एकपक्षके रागमे रुक जाता है वह पक्षके विकल्पका उलघन करता है तथापि रागका उलघन न करनेसे स्वभावमे स्थिर नही होता। शुभ विकल्प ऐसे आते है कि आत्मा कर्मसे बधा हुआ है और कर्मसे बंधा हुआ नही है, जो ऐसे दो पक्षोका उल्लघन-नही करता वह शुभरागके पक्षको नही छोडता इससे वह समस्त नय-पक्षको नही उलघता, अतिक्रम नही करता और इससे समयसारका अनुभवन नही करता—आत्माका अनुभवन नही करता, परन्तु जो समस्त विकल्पोका अतिक्रमण करता है—उल्लघता है वही निर्विकल्प विज्ञानघन समयसारका अनुभवन करता है, विकल्प रहित मात्र आत्म स्वभावका अनुभवन करता है, परकी अपेक्षासे रहित निरपेक्ष, सहज, शात, निर्विकल्प स्वरूपका अनुभवन करता है, अनुभव अर्थात् वेदन करता है। सहज आनन्द इत्यादि गुणोका वेदन करता है, निजरसका स्वाद लेता है, निजस्वादमे लीन हो जाता है उसे समयसारका अनुभव अर्थात् आत्माका अनुभव हुआ कहलाता है। पर निमित्तकी ओरके राग-द्वेषके भगसे उल्लघन की गई दशाको बिल्कुल निर्विकल्प कहा जाता है वह निर्विकल्पस्वरूप होकर आत्मस्वभावका अनुभव करती है वह शुद्धतारूपी स्वभाव कर्म है—कार्य है—पर्याय है।

कर्म तीन प्रकारके हैं—जड़कर्म, अज्ञानकर्म और स्वभाव-कर्म। जडकी अवस्था जड़मे होती है वह जडकर्म है, अज्ञान भावसे विकारी भावोका—शुभाशुभ भावोका कर्म (कार्य) करता है इसलिये वह अज्ञानकर्म, अज्ञानभावोसे कर्म करता है इसलिये ज्ञान भावसे भी कर्म करता है, अज्ञान भावसे कर्म नही हो तो ज्ञानभावसे भी कर्म नही हो, परन्तु अज्ञानभावसे कर्म है इसलिये ज्ञानभावसे कर्म है। कर्ममे फल देनेकी जो शक्ति है वह जडका कर्म है। स्वभावकर्म तो सिद्धमे भी है, वहाँ भी परिणमन है, प्रतिसमय परिणमन होता ही रहता है,

स्वभावकार्य होता ही रहता है, सहजरूप निर्मल दशाका कार्य होता ही रहता है इसलिये वहाँ भी कर्म है। अर्थात् निज शुद्धदशारूप कार्य पर्याय निरन्तर नई नई होती ही रहती है उसे शुद्धभाव कर्म कहा है।

आचार्य देव सूक्ष्म विकल्पको निकलवा कर स्वभावकार्य प्रगट करनेके लिये कहते हैं। मैं बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ—ऐसे शुभ विकल्पका पक्ष भी अपनेको रागमे रोकता है तब फिर अन्य कौनसा पक्ष नही रोकेगा ? कौन सा पक्ष सहायता करेगा ? बाह्यकी बात तो दूर ही कही रह जाती है। अतः सबप्रकारके विकल्प रागभाव हैं बाधक ही हैं ऐसा निर्णय किये बिना भेदका व्यवहारका आश्रय छोड़कर स्वाश्रयका अनुभव नही कर सकता।

प्रत्येक आत्मा परिपूर्ण है ऐसे पक्षमे रुका वह भी रागका पक्ष है, उसे छोडकर स्वरूपमे स्थित हुआ वह समयसार—शुद्धात्मा है।

प्रत्येक आत्मा गुण और पर्यायसे पूर्ण है—ऐसा एक नय ने ग्रहण किया उसे भी यहाँ पक्ष कहते हैं, तब फिर बाह्यकी स्थूल बात तो कही दूर ही रह जाती है।

कोई कहे कि आत्माका कोई कर्ता है, ईश्वर इसका कर्ता है, ईश्वर इसका अधिष्ठाता है, ऐसा जो मानता है वह तो बहुत ही स्थूल अज्ञान-भावका कार्य है, गृहीत मिथ्यात्व है, निश्चयपूर्वकका व्यवहार—मिथ्यात्व है। सत्‌देव, सत्‌गुरु और सत्‌शास्त्र पर जिसे श्रद्धा है उसके गृहीत मिथ्यात्व छूट गया है, परन्तु देव—गुरु—शास्त्र पर ही लक्ष्य रहा करे तो वह राग है, देव—गुरु—शास्त्र द्वारा कहे गये नयपक्ष पर ही लक्ष्य रहा करे तो वह मिथ्यात्व है। यह बात सूक्ष्म अगृहीतमिथ्यात्वकी है।

अनादि अनन्त निगोदमे गृहीत मिथ्यात्व नही था। शुभाशुभ-परिणाम सो मैं हूँ, और वह मेरे हैं वैसी भ्रान्ति थी [उपादानकी अशुद्धताकी भ्रांति थी] उसमे निमित्तके ओरकी नई भ्रातिको ग्रहण किया अर्थात् असत् देव—गुरु—शास्त्रको सत् माना वैसी भ्राति हो गई इससे गृहीत मिथ्यात्व हुआ।

अब आँगनमे आया। देव गुरु शास्त्रने कहा कि रागके दो पक्ष होते हैं वह तेरा स्वभाव नही है। ज्ञान अपूर्ण है—क्षयोपशम ज्ञान है इससे मुख्यगौणमे ढले बिना नही रहता। ज्ञान अल्प जाने अर्थात् नयकी ओर जाये वहाँ मुख्य-गौण हुए विना नही रहता।

जैसा है वैसा अखण्ड स्वभाव लक्ष्यमे न ले तो देव गुरु शास्त्रने वस्तुका जो स्वरूप कहा है वह लक्ष्यमे नही लिया, सच्चे निमित्त पर श्रद्धा है परन्तु वे जो वस्तु स्वरूप कहना चाहते हैं उस प्रकार ग्रहण नही किया और रागके पक्षमे रुका तो अगृहीत मिथ्यात्व है। यहाँ अगृहीत सूक्ष्म मिथ्यात्वके नाशका उपाय बतलाते हैं। रागके दो पक्षो मे भी नही अटकना वैसा कहते हैं।

जिसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा है, जिसे निमित्त सच्चे हैं उसके शुभ परिणाम भी उच्च होते हैं। पच महाव्रतधारी, नग्न दिगम्बर मुनि हुआ हो और यदि सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी यथार्थ श्रद्धा हो तो नवग्रैवेयकमें जाये ऐसे उच्च शुभपरिणाम होते हैं परन्तु भव-भ्रमणका अन्त नही आता। भवभ्रमण तो सम्यग्दर्शन द्वारा अगृहीत मिथ्यात्व दूर होने से आत्मभान हो तभी दूर होता है।

जिसे असत् देव-गुरु-शास्त्रकी श्रद्धा है, जिसके निमित्त ही खोटे हैं, उसके शुभभाव भी उच्च नही होते, नवग्रैवेयक जाये वैसे उच्चशुभभाव झूठे निमित्तको माननेवालेके नही होते, तब फिर भव-भ्रमण तो दूर होगा ही कैसे ?

यहाँ तो कहते है कि नयपक्षमे रुकना भी छोड ! एक नय कहता है कि आत्मामे कर्म बद्ध हैं, दूसरा नय कहता है कि आत्मामे कर्म अबद्ध हैं—यह दो पक्ष तो सत् देव, सत् गुरु और सत् शास्त्रके निकटसे समझा है। इस अपेक्षासे बद्ध है और इस अपेक्षासे अबद्ध है इत्यादि पक्षोको सत् निमित्तके निकटसे समझा है। जिनके पाससे नयके पक्षोको समझा है वह कहते हैं कि इन नयके पक्षोमे क्यो अटका है ! अब अपने स्वभावमे लीन हो जा ! विकल्प तोड़कर स्वभावमे स्थिर हो !

देव—गुरु शास्त्रकी ओरके विकल्पोका आश्रय भी तेरे स्वभावमे नही है तो फिर अन्य कौनसा आश्रय स्वभावमें होगा ? इसलिये निर्विकल्प विज्ञानघन स्वभावके आश्रय द्वारा विकल्पको तोड़ ! स्वभावमें स्थिर हो जा।

सत् देव—गुरुके निकटसे नयके पक्षोको सुना, उन्होने पक्षातिक्रान्त होनेके लिये समझाया तो फिर उनके कहे हुए नयके पक्षो स्थित रहना भी अच्छा नही लगेगा, क्योकि वे नयके विकल्प सहज स्वभाव नही है, कृत्रिम हैं, देव—गुरु—शास्त्रकी ओरके विकल्प भी कृत्रिम हैं, सहज स्वभाव नही हैं।

प्रथम श्रद्धा करे कि नयपक्षके विकल्पसे रहित मेरा सहज स्वरूप पूर्ण ज्ञानघन एकाकार है—इसप्रकार निःशंक हो, पश्चात् चारित्रके अल्प दोषरूप विकल्प हो तथापि वह विवेकसे आगे ही बढ़नेवाला है, विकल्पको तोड़ेगा और आगे स्वभावमें बढ़ेगा।

किसीने अबंध पक्षको पकड़ा उसने भी रागको ही ग्रहण किया; किसीने बंध पक्षको पकड़ा उसने भी रागको ही ग्रहण किया; दोनोने रागको ही ग्रहण किया है। द्रव्य दृष्टिसे अबद्ध है और पर्यायदृष्टिसे बद्ध है—ऐसा वस्तुका स्वरूप है, तथापि उसके रागमे रुक जाना वह अपना स्वभाव नही है ? जो पक्षोको तोड़कर स्वभाव स्थित होता है वह समयसारको प्राप्त करता है। नयपक्षको छोडनेसे वीतराग समयसार हुआ जाता है। यह बात सम्यग्दर्शनकी है, पूर्ण वीतरागताकी यह बात नही है। मेरा वीतराग स्वभाव है ऐसी प्रतीति होनेसे निर्विकल्प वीतराग स्वभावमे स्थित होना सो समयसार है। वही सम्यग्दर्शन है।

अब, यदि ऐसा है तो त्यागकी भावनाको वास्तवमे कौन नही नचायेगा ? नचायेगा अर्थात् कौन परिणमित नही करेगा ? ऐसा कहकर श्री अमृतचन्द्राचार्य देव नयपक्षके त्यागकी भावनाके २३ कलशरूप काव्य कहते हैं।

(उपेन्द्रवज्रा)

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं,
स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम् ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्ता-
स्त एव साक्षादमृतं पिबंति ।। ६९ ।।

अर्थः—जो नयपक्षपातको छोड़कर (अपने) स्वरूप सदैव गुप्त होकर रहते हैं वे ही, जिनका चित्त विकल्पजालसे रहित शांत हुआ हैं—ऐसे होते हुए साक्षात् अमृतका पान करते हैं ।

जो सहज आत्मस्वरूपमें गुप्त होकर रहते हैं, स्वसन्मुख होकर स्वरूपमे स्थित होते हैं वे वद्ध–अवद्धके पक्षके रागमे स्थित नही रहते, रागके जालको छोड़कर जिनका चित्त शात हुआ है वे आत्माके अमृत आनन्दस्वभावका स्वाद लेते हैं आकुलताका अभाव होकर निजरसका स्वाद लेते हैं, नयपक्षके त्यागकी भावनाको नचा करके परिणमित करके आत्माके अमृतको पीते हैं ।

वद्ध हूँ और अवद्ध हूँ—ऐसे पक्षमें जो रहते हैं उसके चित्तसे क्षोभ दूर नही होता—आकुलता नही मिटती, राग दूर नही होता । परन्तु वद्ध हूँ और अवद्ध हूँ—वैसे विकल्प भी जिसमे नही हैं ऐसे भूतार्थ स्वभावको ग्रहण करनेसे ही विकल्प छूटते हैं और तव वीतराग स्वभावमे प्रवृत्ति होती है, आत्माका अतीन्द्रिय आनन्द सुखस्वरूप अनुभवमे आता है, निर्विकल्प वीतरागभावका वेदन होता है । जो वद्ध–अवद्धके विकल्प रहित आत्माका स्वरूप जानते हैं वे निर्विकल्प स्वभाव-के वेदक होते हैं, अनन्त गुण पिण्ड स्वरूप आत्माका अनुभवन करने-वाले होते हैं । यह वात अपूर्व है अचिन्त्य और अलौकिक है, इसे समझे विना स्वभावकी महिमा नही आती और भवभ्रमणका अभाव नही होता । परन्तु जो इस स्वभावको समझे उसीको स्वरूपकी महिमा आती है, वही निजरसका स्वाद लेने वाला होता है, उसीको भव-भ्रमणका अभाव होता है ।

अबके २० कलशोंमें नयपक्षका विशेष वर्णन करते हैं और कहते है कि ऐसे समस्त नयपक्षको जो छोड़ता है वह तत्त्व वेदी (तत्त्वका ज्ञाता) स्वरूपको प्राप्त होता है:—

(उपजाति)

एकस्य बद्धो न तथा परस्य
चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ,
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपात-
स्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ।।७०।।

अर्थः—जीवकर्मसे बंधा हुआ है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव कर्मसे बंधा हुआ नही है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके विषयमे दो नयोके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी (वस्तु स्वरूपका ज्ञाता) पक्षपात रहित है उसके निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उसे चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभवमे आता है)

एक पक्षकी पकडवाला कहता है कि जीव बंधा हुआ है, दूसरे पक्षकी पकड़वाला कहता है कि जीव बंधा हुआ नही है। भगवान आत्मा तो चित्स्वरूप है उसमे ऐसे जो दो पक्ष होते हैं वे रागके पक्ष हैं, रागके भेद हैं। परन्तु जो तत्त्वका अनुभवी है वह इन रागके पक्षोसे रहित है। मैं ऐसा हूँ या वैसा हूँ उन भावोको छोड़कर विकल्पको तोड़कर स्वभावमे स्थित हुआ, निर्विकल्परूप हुआ वह चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है। बद्ध हूँ और अबद्ध हूँ ऐसे जो विकल्प हैं सो रागका आँगन है। भगवान आत्माका वह आँगन नही है। जो ऐसा जानता है वह तत्त्ववेदी है—स्वरूपका अनुभवी है—तत्त्वका वेदक है।

इस ग्रंथमे प्रथमसे ही व्यवहारनयको गौण करके और शुद्धनयको मुख्य करके कथन किया गया है। चैतन्यके परिणाम पर निमित्तके आश्रयसे अनेक होते हैं उन सबको आचार्यदेव पहलेसे ही गौण कहते आये हैं और जीवको शुद्ध चैतन्यमात्र कहा है। इसप्रकार जीव पदार्थको

शुद्ध, नित्य, अभेद चैतन्यमात्र स्थापित करके, अब कहते हैं कि—जो इस शुद्धनयका भी पक्षपात (विकल्प) करेगा वह भी उस शुद्धस्वरूपके स्वादको प्राप्त नही होगा। अशुद्ध नयकी तो बात ही क्या है ! किन्तु यदि कोई शुद्धनयका भी पक्षपात करेगा तो पक्षका राग नही मिटेगा और इससे वीतरागता नही होगी।

इस शास्त्रमे व्यवहार नयको गौण करके, शुद्ध नयको मुख्य करके कथन किया है। कर्मका, रागका, निमित्तका, भेदका विषय करनेवाला ऐसा जो ज्ञान है वह व्यवहारनय है। उस व्यवहार नयका भार इस शास्त्रमे गौण करके कथन किया है। आत्मा अनन्त गुणोसे शुद्ध है, विकार उसका स्वभाव नही है। स्वभावमे मन नही, वाणी नही, शरीर नही है, मात्र शुद्ध अनन्तगुणके पिण्ड स्वरूप आत्मा, इसका विषय करनेवाला ज्ञान सो शुद्ध नय है।

जो अनेक प्रकारसे विकारी भेद हो वह वस्तुका स्वभाव नही है, वह तुझमे नही है और तू ऐसा नही है। राग-द्वेषका क्षणिक विकार होता है वह तुझमे नही है, तू तो चिदानन्द मूर्ति है—ऐसा आचार्यदेव पहलेसे ही कहते आये हैं। आत्मा तो चैतन्यमात्रस्वरूप है उसमे विकारका अंश नही है, परका मेल नही है ऐसा शुद्धचैतन्यमात्र आत्मा है वह शुद्धनयका विषय है।

आत्मा शुद्ध है—ऐसी शुद्धताकी बात आचार्यदेवने अभीतक कही है, परन्तु यहाँ तो शुद्धनयका विकल्प भी दूर करना है। आत्मा शुद्ध है और आत्मा अशुद्ध है—ऐसे दो विकल्प भी पक्षपात हैं, वे विकल्प टूटे विना स्वरूपमे स्थिर नहीं हुआ जा सकता, इसलिये यहाँ विकल्पोको तोडनेकी बात की है।

शुद्ध कहकर अशुद्धताको गौण किया है नित्य कहकर पर्यायको गौण किया है, शुद्धनयको जिस विकल्पसे कहना चाहता है वह विकल्प भी तेरा स्वभाव नही है, अखण्ड स्वभावकी ओर उन्मुख होनेके लिये, भंगकी ओरसे उपयोगको उठानेके लिये तू रागकी ओर न देख ! शरीर-

की ओर न देख ! निमित्तकी ओर मत देख ! बंध–मोक्षके दो पक्ष होते हैं उन्हे भी गौण करके जो मात्र सहज स्वभाव है उसका आश्रय कर ! विकल्पोको तोड़नेके लिये अभेदस्वभावका आश्रय करनेको कहा है। जिसप्रकार नदीमे पानीका प्रवाह एकरूप चला आता हो और उसमें बीचमे यदि नाला आजाये तो एकरूप प्रवाहका भग पड जाता है, उसी प्रकार ज्ञान एकरूप प्रवाहसे स्वभावकी ओर ढलना चाहिये परन्तु बीचमे रागमे, शरीरमे और निमित्तमे रुकनेसे एकरूप प्रवाहका भंग पड़ता है, इसलिये कहा है कि मात्र ज्ञायक अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है इसका आश्रय करेगा तो निज स्वरूपमे अपूर्व आनन्दको प्राप्त होगा। परन्तु यदि शुद्धनयके विकल्पमे भी रुक जायेगा तो उस स्वादको नही पा सकेगा।

आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्धनयके विकल्पमे नही रुकना, अशुद्धनयकी तो बात ही क्या है ? क्योकि यदि शुद्धनयका भी पक्ष लेगा तो भी राग नही मिटेगा और वीतरागता नही होगी। पक्षपातको छोडकर चिन्मात्र स्वरूपमे लीन होनेसे ही समयसारकी प्राप्ति होती है, इसलिये शुद्धनयको जानकर उसका भी पक्षपात छोडकर शुद्धस्वरूपका अनुभव करके स्वरूपमे प्रवृत्तिरूप चारित्र प्राप्त करके, वीतराग दशा प्राप्त करना योग्य है।

आत्मा रागी है, द्वेषी है, बंधा हुआ है, शरीर युक्त है—ऐसी दृष्टि जिसके विद्यमान है उसकी बात तो दूर रही ! वह तो शुद्धस्वरूपके आँगनमे भी नही आया, वह तो शुद्धस्वरूपसे विमुख हो गया है, जरा भी स्वसन्मुख नही हुआ है, परन्तु जो आत्माकी शुद्धता और अशुद्धता-का यथार्थ ज्ञान करके शुद्धस्वरूपके पक्षके रागमे स्थित है वह भी शुद्धस्वरूपको प्राप्त नही हो सकता, आत्माका अनुभव नही कर सकता।

अशुद्धनयकी ओरका जो असद्‌भूत व्यवहार है उसके पक्षकी तो बात ही नही है, परन्तु जो गुण–गुणीका राग द्वारा भेद होता है वहाँ भी नहीं रुकना। शुद्धताके आँगनमे खड़े–खड़े "मै ऐसा हूँ–मैं

ऐसा हूँ" ऐसे विकल्प करता हुआ खड़ा रहेगा उसे भी निर्विकल्प स्वादका स्वादन नही होगा, वह वहीका वही रुक जायेगा, जैसा सहज आत्मस्वरूप है वैसा वीतराग नही होगा, इसलिये पक्षपातको छोडकर एक शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमे लीन होनेसे स्वरूपको प्राप्त किया जाता है। इसलिये शुद्धनयको जानकर, स्वरूपमे लीन होकर पक्षपातको छोडना।

आचार्यदेवने शुद्धनयको जानना कहा है, क्योकि जाने बिना छोडेगा क्या ? इसलिये आत्मा परसे निराला है–ऐसा बराबर जानकर, अशुद्ध पक्षको गौण करके, शुद्धस्वरूपको जान ! पश्चात् शुद्धके पक्षके रागको छोडकर स्वरूपमे लीन हो ! कषायका प्रवर्तन भी स्वरूपमे नही है—ऐसी यथार्थ श्रद्धा करके श्रद्धाका बल लाओ ! श्रद्धाके पश्चात् चारित्र–स्थिरता ला ! श्रद्धाका विषय सामान्य है, पश्चात् वर्तन ला अर्थात् विशेष ला ! "ऐसा हूँ और वैसा हूँ" वह विकल्प छोडकर स्वरूपमे प्रवर्तन–आचरण चारित्र ला ! यदि विकल्प नही छूटेगा तो वीतराग–स्वभाव नही होगा।

जैसा स्वरूप है वैसा प्राप्त करना योग्य है परन्तु पक्षमे स्थित रहना योग्य नही है, विकल्पमे स्थित रहना योग्य नही है इसलिये स्वभावके आनन्दके प्रवर्तनके लिये विकल्पके भगका त्याग करना चाहिये।

आत्मा पर वस्तुकी अवस्थाको करे और परवस्तु आत्माकी अवस्थाको करे—वह बात यथार्थ नही है। आत्मा रागद्वेषका कर्ता है वह कहना भी सच्चा नही है। यहाँ तो उससे भी सूक्ष्म बात है। वस्तुको देखनेके दो पक्ष है वह नय है। एक पर अपेक्षासे देखनेका पक्ष और एक स्व–अपेक्षासे देखनेका पक्ष। आत्माको कर्मके बधनकी अपेक्षासे देखना सो व्यवहारपक्ष और अबध अपेक्षासे देखना सो निश्चय-पक्ष। उन दोनो पक्षोके विकल्पमे रुकना सो नयपक्ष है, राग है। उन पक्षोमे स्थित रहनेसे वीतराग दशा प्राप्त नही होती इसलिये उन्हे छोड़-कर स्वरूपमे लीनता करना योग्य है।

(उपजाति)

एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥

अर्थः—जीव मूढ़ (मोही) है, ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव मूढ (मोही) नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है । इस-प्रकार चित्स्वरूप जीवके विषयमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं । जो तत्त्व-वेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है (अर्थात् उन्हें चित्स्वरूप जीव जैसा है वैसा ही निरन्तर अनुभवमें आता है)

जीव मूढ़ है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव मूढ़ नहीं है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है । नय अपेक्षाका एक ऐसा पक्ष है कि जीव मूढ़ है और दूसरा पक्ष है कि जीव मूढ़ नही है । अज्ञान भावसे कर्मकी ओर युक्त है, परमें उलझ गया है—ऐसी पर्यायकी अपेक्षासे देखें तो आत्मा मूढ़ है ।

दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि जीव मूढ़ नही है । परमार्थ-दृष्टिसे आत्मा मूढ नहीं है वह वात यथार्थ है, क्योंकि त्रिकाल ज्ञान-स्वभावी आत्मा कभी भी परमे नहीं उलझता, किन्तु उस ओरका विकल्प सो पक्ष है । परमार्थनयसे आत्मा मूढ़ नहीं है वह वात यथार्थ है परन्तु अज्ञान अपेक्षाकी दृष्टिसे मूढ़ है—वह वात मिथ्या नही है, किन्तु वे दोनों नयपक्ष हैं, दोनों नय पक्षोमें रुकना वह राग है ।

आत्माका वास्तविक हित कैसे हो—वह वात यहाँ की है । अन्य सव टालते—टालते नयपक्ष भी दूर कर देना वैसा आचार्य देवका उप-देश है ।

आत्मा ज्ञानादि अनन्त गुणोंका पिण्ड है; उसे वर्तमान पर्याय-दृष्टिसे देखें तो मूढ़ है परन्तु त्रिकाल दृष्टिसे देखें तो मूढ़ नहीं है किन्तु उसके ऊपर पक्ष करके रुकना राग है । जो तत्त्ववेदी है उसे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही अनुभवमे आता है । मात्र शुद्ध चैतन्य-

तत्त्व जब अनुभवमे लीन है तब चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है, उसमे ऐसा हूँ और वैसा हूँ ऐसे नयके दो विकल्प नही हैं। उसे तो चित्स्वरूप जैसा है वैसा ही अनुभवमे आता है।

आत्माकी क्षणिक अवस्थामे मूढता भासित होती है परन्तु वस्तु दृष्टिसे आत्मा मूढ नही है, कर्मसे उलझा हुआ नही है। वह दो नयोके दो पक्षपात हैं। मैं कर्मसे उलझा हुआ हूँ और मैं कर्मसे पृथक् आत्मा उसमे उलझा हुआ नही हूँ—ऐसे दोनो विकल्प वास्तवमें व्यवहार ही हैं परन्तु यहाँ एकको निश्चय कहा है। मैं चैतन्यज्योति कर्ममे न उलझूँ—ऐसा विकल्प वह पक्ष है। परमार्थ दृष्टिसे आत्मा नही उलझता वह बात यथार्थ है परन्तु ऐसा विकल्प वह राग है इसलिये व्यवहार है।

राजा बन जाये तो मैं राजा हुआ, राजा हुआ—ऐसा कहाँ तक गोखता रहता है ? पश्चात् मैं राजा हूँ ऐसा निर्णय ही हो गया। उसीप्रकार परसे भिन्न चैतन्य ज्योति आत्मा उलझा हुआ नही है—ऐसा भान होनेके पश्चात् विकल्पमे रुका रहे तो स्वानुभव नही होता। नमक खारा है, खारा है, ऐसा कहाँ तक गोखेगा ? गोखते रहनेसे नमक का स्वाद आयेगा ? नमक–नमक ऐसा सोचते रहनेसे नमक खाया जाता है ? नही खाया जाता। उसीप्रकार मैं अमूढ हूँ, मैं अमूढ हूँ वैसा गोखते रहनेसे, उस विकल्पमे रुकजानेसे स्वभावका स्वाद आजायेगा ? नही।

अनेक प्रकारके कूडा कचरारूप रागके पक्ष दूर करते करते मनके आँगनमे आकर खडा रहे और विचार करे कि मैं अमूढ हूँ, अमूढ हूँ वह भी पक्ष है। आत्मा तो जैसा है वैसा ही है, उसका वेदन करना सो वस्तु स्वभाव है। वस्तु स्वभाव दो पक्षपातसे रहित है। जो तत्त्वका वेदक है उसे चित्स्वरूप जीव निरन्तर चित्स्वरूप ही है—वैसा अनुभवमे आता है।

(उपजाति)

एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७२॥

अर्थः—जीव रागी है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव रागी नही है ऐसा दूसरे नयका पक्ष है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके विषयमे दो नयोके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एकनयका पक्ष ऐसा है कि जीवमे राग है और दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि जीवमे राग नही है। वर्तमान अवस्थामे राग है—इसप्रकार विकल्प करके रुक जाना एक नयका पक्ष है और दूसरा नय कहता है कि स्वभावमे राग नही है। राग नही है वह नय दृष्टिसे भी भंग पाडा है। एक चित्स्वरूपमे दो भंग नही हैं। आत्मा रागी नही है और अरागी नही है, रागी नही है अर्थात् वीतरागी है और अरागी नही है अर्थात् रागी है—ऐसे विकल्पके दो भग चित्स्वरूपमे नही हैं। चित्स्वरूप तो निरतर चित्स्वरूप ही है।

मिठाई लेनेके लिये जाता है तव पूछता है कि मिठाई कितने रुपये सेर है? परन्तु जव खानेके लिये वैठता है तव यह बोलता रहे कि मिठाई कितने रुपये सेर है तो वह मिठाई नही खा सकता और न उसका स्वाद ही आता है। सर्वज्ञका स्वरूप भगवानने जैसा कहा है वैसा ही पकड़ते-पकड़ते प्रथम राग तो आता है—विकल्प तो आता है, एक अपेक्षासे (अवस्थामे) राग है और दूसरी अपेक्षासे राग नही है—वैसे विकल्प भी आते अवश्य हैं, किन्तु उन विकल्पोमे ही रुक जाये तो चैतन्यके स्वादका अनुभव नही कर सकता। जिस प्रकार पहले मिठाई लेने जाये वहाँ मिठाईका भाव पूछे, अच्छे-बुरेकी परीक्षा करे परन्तु जब मिठाई खाने बैठे तव वह सब छोड़ दे तो मिठाई खा सकता है। उसीप्रकार आत्माको जाननेके लिये प्रथम सभी अपेक्षाओका ज्ञान करे, हित किसमें है और अहित किसमे है—इत्यादि सभी

परीक्षा करके यथार्थ निर्णय करे, परन्तु उस विकल्पमे रुक जाये तो चैतन्य स्वरूपका स्वाद नही ले सकता।

आत्मा तो जैसा है वैसा ही है। जिसप्रकार सूर्य तो जैसा है वैसा ही है, परन्तु ऊपरवाला कहे कि सूर्य इस ओर है और नीचे वाला कहे कि सूर्य इस ओर है और उसके पार्श्वमे खडा हुआ दूसरा कहे कि सूर्य मेरी ओर है, परन्तु सूर्य तो जैसा है वैसा ही है, जहाँ है वही है। उसीप्रकार चैतन्य सूर्य तो जैसा है वैसा ही है, परन्तु एक पक्षवाला कहे कि रागी है, दूसरे पक्षवाला कहे कि रागी नही है। पर्याय दृष्टिसे और द्रव्य दृष्टिसे दोनो बातें यथार्थ है परन्तु वैसे विकल्प चैतन्य सूर्यमे नही हैं, उन विकल्पोंसे रहित चैतन्य सूर्य तो जैसा है वैसा ही है, इससे दो पक्षोका राग छोडकर आत्मामे एकाग्र हो तो आत्माके स्वभावका आनन्द आये। जो तत्त्ववेदी है वह चित्स्वरूपका निरन्तर अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य दुष्टो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७३॥

अर्थः—जीव द्वेषी है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव द्वेषी नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके विषयमे दो नयोके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उनको निरतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नयका पक्ष है कि जीव द्वेषी है, दूसरे नयका पक्ष है कि जीव द्वेषी नही है। अनेकोका ऐसा अभिप्राय होता है कि अपनेको कोई प्रतिकूलता करे तब द्वेष हुए बिना नही रहता। जो अपनेको बाधक हो उसपर द्वेष होता ही है—ऐसा माननेवालेके अभिप्रायमे आत्मा द्वेषी ही है—ऐसा हुआ। वह भी एक पक्ष है, दूसरे पक्षवाला ऐसा कहता है कि आत्मामे द्वेष नही है। द्वेष वर्तमान समयकी पर्यायमे होता है, त्रिकालदृष्टिसे आत्मामे द्वेष–प्रतिकूलता–अरुचि आदि कुछ है

-ही नही; परन्तु ऐसे पक्षमे स्थित रहना सो राग है क्योंकि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप जैसेका वैसा है। वैसे पक्षरहित आत्माका अनुभव न करके आत्मा द्वेषी नही है वैसा पक्ष करना सो राग है।

परमार्थसे आत्मामे द्वेष नही है परन्तु व्यवहारसे आत्माकी अवस्थामे द्वेप है। जहाँ तक रागका अंश है वहाँ तक द्वेषका अंश भी है परन्तु आत्माके त्रिकाली मूल स्वभावमे द्वेप नही है, किन्तु उस पक्षके विकल्पमे रुकनेसे रागमे अटक जाता है, उसमे ज्ञान संक्रमित होता है, परिवर्तित होता है, इसलिये जो तत्त्वका वेदक है वह पक्षके रागमे न रुककर चित्स्वरूप जीवमे चित्स्वरूप जीवका ही अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७४॥

अर्थः—जीव कर्ता है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव कर्ता नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हे निरतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नयका ऐसा पक्ष है कि जीव कर्ता है और दूसरे नयका ऐसा पक्ष है कि जीव कर्ता नही है। अज्ञानभावसे जीव राग-द्वेषका कर्ता है—ऐसा एक नयका पक्ष है, दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि आत्मा रागद्वेषका कर्ता तो नही है। वास्तवमे निर्मल अवस्थाका कर्ता भी व्यवहारसे है। शुद्धात्मा तो जैसा है वैसा ही है; उसमे किसी प्रकारका भेद-विकल्प लागू नही होता इससे कर्ता है और कर्ता नही है—ऐसे विकल्प सो पक्ष है, वह रागमिश्रित विचार हैं। तत्त्वका ज्ञाता पक्षपात रहित है।

नमक खारा है, ऐसा निश्चित् हो जानेके पश्चात्, यह खारा है, यह खारा है-ऐसा विचार करना नही रहता; खारा है यह निश्चित् है फिर विचारना नही रहता, और यदि विचार करे तो नमकका स्वाद

नही लिया जा सकता, उसीप्रकार आत्माका स्वभाव जान लेनेके पश्चात् आत्मा कर्ता है और कर्ता नही है—ऐसा गोखता रहे तो स्वरूपका स्वाद नही लिया जा सकता। आत्मा कर्ता है और कर्ता नही है—ऐसी उत्थानवृत्ति सो राग है, वह राग आत्माका स्वभाव नही है; आत्माका स्वरूप तो रागरहित–वीतराग है।

धर्म आत्माका स्वभाव है। आत्माका भान और प्रतीति करके उसमे स्थिर होना वह धर्म है। मैं कर्ता हूँ और मैं कर्ता नही हूँ—ऐसे राग मिश्रित विचार आत्माके स्वभावका कर्तव्य नही है, वह तो मनके अवलम्बनका कर्तव्य है। मैं पुण्य परिणामोका कर्ता हूँ और मैं पुण्य परिणामोका कर्ता नही हूँ, मैं स्वभाव अवस्थाका कर्ता हूँ—निर्मल अवस्थाका कर्ता हूँ—ऐसे विकल्प वह राग है—अस्थिरता है। जिसप्रकार पानीको हिलाया जाये तो वह हिलता है, उसीप्रकार विकल्प हैं वह स्थिर स्वभाव नही परन्तु चंचल हैं। आत्मामे सहज स्वभाव जैसा है वैसा भरा हुआ है, उस एकरूप स्वभावमे विकल्पोका भेद करना वह चंचलता है। तत्त्ववेदी उन विकल्पोसे रहित है, चित्स्वरूप आत्माका अनुभवन करता है।

(उपजाति)

एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७५॥

अर्थः—जीव भोक्ता है ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव भोक्ता नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके विषयमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपातरहित हैं उन्हे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नयका पक्ष है कि आत्मा भोक्ता है और दूसरे नयका पक्ष है कि आत्मा भोक्ता नही है। शरीरमे बुखार आये तब अरुचि–अरति–ग्लानि करता है और निरोगताके समय राग करता है, उस राग-द्वेष और अज्ञानको ही भोगना होता है। रोग और निरोगताको

कोई नही भोगता, परन्तु उसमे राग, द्वेष और अज्ञानभाव ही भोगे जाते हैं। एक नय कहता है कि अज्ञानभावसे हर्ष–शोकका भोक्ता है और ज्ञानभावसे ज्ञानका भोक्ता है; दूसरा नय कहता है कि आत्माको भोक्ता कहना भी व्यवहार है, इसलिये आत्मा भोक्ता नही है, वह तो जैसा है वैसा ही है, परन्तु जैसा है वैसा ही है—ऐसा विकल्प भी राग है, जो तत्त्वका ज्ञाता है वह सर्व विकल्पसे रहित चैतन्यस्वरूप आत्माका ही अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥

अर्थः—जीव, जीव है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव, जीव नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

नित्य ज्ञानदर्शनरूप चैतन्य भावप्राणको धारण करना जिसका लक्षण है उस जीवत्व शक्ति द्वारा आत्माको जीव कहा जाता है। एक नयका ऐसा पक्ष है कि जीव जीव है, दूसरे नयका ऐसा पक्ष है कि जीव जीव नही है। आत्मा स्वतः है वह बात तो सच्ची है, परन्तु मैं जीव हूँ, मैं जीव हूँ—ऐसा विकल्प है वह रागका पक्ष है। जीव जीव नही है, अर्थात् जीव अपनेरूप है और पररूप नही है, है वह अपनी अपेक्षासे और नही है वह परकी अपेक्षासे–इसप्रकार दो नयोके दो पक्ष हैं। यहाँ अस्ति–नास्तिकी बात की है। वस्तुस्वभावसे तो आत्मा अपनेरूप है और पररूप नही है। वस्तुस्वभाव तो ऐसा ही है परन्तु मैं जीव अपनेरूप हूँ और पररूप नही हूँ—ऐसे रागके पक्षमे जो रुकता है उसे आत्माका अनुभव नही होता। मालको तोलकर रख देनेसे कही खानेका अनुभव नही होता, परन्तु जब माल खाये तभी खानेका अनुभव होता है। उसीप्रकार नय द्वारा आत्माको जानकर

गोखते रहनेसे कहीं आत्माके निजरसका वेदन नहीं होता परन्तु पक्ष छोड़कर आत्मामें लीन होनेसे आत्माके निजरसका वेदन होता है। ज्ञानस्वरूप आत्मामें रागस्वरूप वृत्तिका उत्थान नहीं है परन्तु आत्माकी विकारी पर्यायमें रागका उत्थान है। रागकी वृत्ति तो आकुलित और दुःखस्वरूप है इसलिए तत्त्वका वेदक ज्ञानी अनाकुल आनन्दमय चैतन्यस्वरूपमें लीन होकर रागकी वृत्ति तोड़कर आत्माके अपूर्व रसका अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥

अर्थः—जीव सूक्ष्म है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव सूक्ष्म नहीं है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके विषयमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्षवाला कहता है कि जीव सूक्ष्म है; सूक्ष्म है वह बात यथार्थ है परन्तु उसके विकल्पमें रुकना वह राग है। वह मन, वाणी या शुभाशुभ परिणामोंसे पकड़में नहीं आता इसलिये सूक्ष्म है। शरीर, मन, वाणी आत्मामें नहीं हैं; वर्ण, गंध, रस, स्पर्श भी आत्मामें नहीं हैं, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रूपी हैं और आत्मा अरूपी है इसलिए सूक्ष्म है। कोई कहे कि श्वास तो आत्माका है न? नहीं भाई! श्वास तो रूपी है और आत्मा अरूपी है, इसलिए श्वास स्थूल है और आत्मा सूक्ष्म है। शरीरकी आयु पूर्ण हो जाती है तब श्वास रुक जाती है और शरीर यहीं पड़ा रहता है। सूक्ष्म ज्ञानघन आत्मा देहसे मुक्त होकर दूसरी गतिमें जाता है। शरीर, मन, वाणी, श्वास, वर्ण, गंध, रस और स्पर्श स्थूल हैं और आत्मा सूक्ष्म है; परन्तु सूक्ष्म हूँ, सूक्ष्म हूँ—ऐसे विकल्पमें रुकना वह राग है, इसलिए जो विकल्पको तोड़कर स्वरूपमें स्थिर होता है वह आत्माका अनुभव करता है।

दूसरे पक्षवाला कहता है कि—आत्मा स्थूल है, उसके दो प्रकार हैं:—एक प्रकार तो ऐसा है कि, शरीर और इन्द्रियोके साथ सम्बन्धवाला है इसलिए स्थूल है। दूसरा प्रकार यह है कि—पहाड़ पर खड़ा हो और पच्चीस कोस दूरके पदार्थ ज्ञात होते है, इससे आत्मा पच्चीस कोस जितना नही हो जाता, परन्तु वह सब ज्ञान जानता है इसलिए आत्मा स्थूल है। केवलज्ञानमे लोकालोक ज्ञात होते हैं इसलिए आत्मा स्थूल है। सब कुछ ज्ञात होता है उस अपेक्षासे स्थूल है वह बात सच्ची है परन्तु उसके रागके पक्षमे रुकनेसे स्वसन्मुखता नही होगी। किसी भी नयके रागमे रुकनेसे स्वरूपका वेदन नही आता। गन्नेको खाना और खीरका स्वाद एक साथ नही आता, खीरका स्वाद लेना हो तो गन्नेको छोड़ देना पड़ता है, उसीप्रकार मैं इस अपेक्षासे स्थूल हूँ और इस अपेक्षासे सूक्ष्म हूँ—वैसे विचारके अवलम्बनसे स्थिर होने जाये तो स्थिर नही हो सकता; वह छुकला तो निकाल देने योग्य है। रागके विकल्पके छुकलेको निकाल दे तो वीतरागी खीरका स्वाद आये। स्वसन्मुख होनेसे ही विकल्प विलय होते—उसे छोडने नही पड़ते। यह तो मात्र तत्त्वदृष्टि—सम्यग्दृष्टि—निर्विकल्प श्रद्धा—वीतरागी श्रद्धा चौथे गुणस्थानमे होती है उसकी बात है। रागमिश्रित, विचारकी या विकल्पकी यह बात नही है। जैसे अधेराको हटानेका श्रम वृथा है अतः उसे हटाना नही पडता किन्तु प्रकाश करते ही वह उत्पन्न नही होगा, इसप्रकार त्रैकालिक ज्ञाता स्वभावकी दृष्टि और अनुभव किया कि रागादिमे कर्तृत्व ममत्वरूप महा क्लेश उत्पन्न नही होगा।

(उपजाति)

एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ७८ ॥

अर्थः—जीव हेतु (कारण) है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव हेतु (कारण) नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमे दो नयोके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपातरहित हैं उन्हे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्ष कहता है कि आत्मा कारण है और दूसरा पक्ष कहता है कि आत्मा कारण नही है। पर्यायदृष्टिसे आत्मा अज्ञानभावसे रागद्वेषका कारण कहलाता है परन्तु वस्तुदृष्टिसे सम्पूर्ण वस्तु रागद्वेषका कारण नही है, मात्र वस्तुकी अवस्थामे राग-द्वेष होता है। नवीन–नवीन अज्ञानभाव होते हैं वह राग-द्वेषका कारण है। यदि वस्तु राग-द्वेषका कारण हो तो वह कभी दूर नही हो सकता। पर्यायदृष्टिसे आत्मा राग-द्वेषका कारण है वह बात सत्य है, परन्तु उस विकल्पमे रुक जाना वह संसारका कारण है।

यदि आत्माका यथार्थ स्वरूप नही जाना और उसमे स्थिर न हुआ तो सिर पर चौरासीका अवतार खडा है, जहाँ कोई शरण नही है, कोई सगा–सम्बन्धी नही है, दुकान नही है, खेत नही है; नाम, ठाम, गाम आदि कुछ भी नही है—ऐसे कुत्ते, कौवे, गधे आदिके भवोमे चला जायेगा।

कोई कहेगा कि यह सब किससे कहा जा रहा है? प्रभु! तेरी प्रभुता, अन्तरङ्ग शक्ति कैसे प्रगट हो यह अपूर्व बात धर्मके जिज्ञासावान्‌को कहते हैं। एकवार श्रद्धासे तो प्रभु हो जा! फिर साक्षात् प्रभु होनेका समय किसी दिन आयेगा असली स्वभावसे तो सभी प्रभु है—वैसी एक बार श्रद्धा तो कर! पश्चात् वर्तमान पर्यायमे जो मलिनता है उसे पुरुषार्थ द्वारा टालकर निर्मल पर्याय प्रगट करके वीतरागता होगी।

यदि इससमय न चेता तो मरकर चला जायेगा चौरासीके चक्करमे! ढूँढने पर हाथ नही आयेगा! इस शरीरमे यदि तत्त्व न समझा तो चौरासीके चक्करमे ढूँढ़ने पर हाथ नही आयेगा! जिसप्रकार बिना डोरा पिरोयी हुई सूई कूड़ेमे खो जाती है, उसीप्रकार चौरासीके अवतारमे खोजायेगा। सम्यग्ज्ञान रूपी सच्चा डोरा पिरोया तो चौरासीके कूडेमे नही खोने पायेगा, किन्तु यदि सम्यग्ज्ञानरूपी डोरा नही पिरोया तो जिसप्रकार सुई खो जाती है उसीप्रकार खो जायेगा। आँधीमें

उड़कर कहाँ जायेगी वह ढूँढनेसे हाथ नही आती ! इसलिए यथार्थ ज्ञान कर, यथार्थ प्रतीति कर और स्वरूपमे स्थिर हो !

वास्तवमे, मरनेवाला मरकर कहाँ गया, उसे कोई नही देखता लेकिन सव अपने स्वार्थको रोते हैं। "हाय-हाय ! मेरा इकलौता वेटा हीरा चला गया"—इसप्रकार अपने स्वार्थको रोते हैं। परन्तु लड़केके आत्माका क्या हुआ ? वह कहाँ गया ? अच्छी गतिमे या दुर्गतिमे ? वह कोई नही देखता; परन्तु मात्र अपने स्वार्थको ही सव याद करते हैं। सगे, कुटुम्वी सभी मात्र स्वार्थके ही साथी हैं। उसके आत्माका क्या हुआ होगा उसकी किसीको नही पड़ी है, यदि उसके आत्माका और उसके भवका विचार करे तो अपना भी इस भवका राग उड़ जाये। भाई ! भव भ्रमणका अन्त करना हो तो आत्माकी पहिचान कर।

आत्मा कारण है और आत्मा कारण नही है—ऐसे दो विकल्पोंमे रुकना छोड़कर आत्मामे रुकना वह आत्ममार्ग है। कारण है और कारण नही है—वैसे विकल्प छोड़कर स्वरूप स्थित होना वह मार्ग है। प्रथम निश्चय श्रद्धान और वाद विशेष पुरुषार्थ द्वारा, चारित्र द्वारा स्वरूपमे स्थित हो सकते हैं।

लक्ष्य साधे विना यदि वाण मारा जाये तो वस्तुको नही वीध सकेगा; उसीप्रकार आत्माका यथार्थ स्वरूप दो पक्षोसे रहित जैसा है वैसी पहिचान न करे, निर्विकल्प प्रतीति न करे तो जड़-चैतन्यकी धाराको वीधकर भेदज्ञान किसप्रकार करेगा ? स्थिर किसप्रकार होगा ? इसलिए आत्माका जैसा है वैसा परसे निराला पवित्र स्वरूप जानकर, उसकी प्रतीति करके, राग-द्वेषको और आत्माके स्वभावको वीधकर पृथक् करके स्वरूपमे एकाग्र होनेसे आत्माकी शुद्ध पर्याय प्रगट होती है। आत्मा पर्यायसे राग-द्वेषका कारण है और वस्तुदृष्टिसे कारण नही है—ऐसे विकल्पमे तत्त्ववेदी नही रुकते, उन्हे चित्स्वरूप जीव निरन्तर चित्स्वरूप ही अनुभवमें आता है।

(उपजाति)

एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥

अर्थः—जीव कार्य है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव कार्य नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्ष कहता है कि जीवकी अवस्था कार्यरूप है, दूसरा पक्ष कहता है कि कार्यरूप नही है, वास्तवमे तो जीवका स्वभाव जैसा है वैसा ही है। विपरीत पुरुषार्थसे आत्मा अज्ञान और राग-द्वेषका कार्य करता है और सीधे पुरुषार्थसे स्वभावकी निर्मल पर्यायका कार्य करता है। इसप्रकार पर्यायदृष्टिसे जीव कार्यरूप है और द्रव्य दृष्टिसे वस्तु त्रिकाल एकरूप है, इसप्रकार पर्यायसे और द्रव्यसे वस्तुका स्वभाव जैसा है वैसा है। कार्यरूप है और कार्यरूप नही है—ऐसे विकल्पको छोड़कर अर्थात् स्वसन्मुख होकर तत्त्ववेदी शान्त आनन्द स्वरूप आत्माका अनुभव करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥

अर्थः—जीव भाव है (भावरूप है) ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव भावरूप नही है, ऐसा दूसरे नयका पक्ष है। इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नयका पक्ष है कि आत्मा भावरूप है, दूसरे नयका पक्ष है कि आत्मा वैसा नही है—भावरूप नही है। परकी अपेक्षासे अभावरूप है और अपने रूपसे भावरूप है। पररूपसे अभाव है अर्थात् इस शरीर-रूपसे आत्मा नही है, शरीररूपसे भी आत्मा भावरूप हो तो परभवमे

आत्मा जाता है उसके साथ शरीर भी जाना चाहिये; किन्तु वैसा नही होता, इसलिये शरीररूपसे भावरूप नही है, किन्तु शरीररूपसे आत्माका अभाव है। आत्माका आत्मारूपसे भाव है, इसप्रकार आत्मा भावरूप है और आत्मा परद्रव्य–क्षेत्र–काल और परभाव अपेक्षा अभावरूप है–ऐसे दो विकल्पोमे रुकना वह राग है। उन दो पक्षोको छोड़कर अभेद स्वरूपमें रहना वह वीतरागता है। वस्तु तो स्वभावमें जैसी है वैसी है, उसमे भाव–अभावके भंग–भेदके विकल्प नही हैं। जो तत्त्ववेदी हैं वे वस्तुस्वरूपका यथावत् वेदन करते हैं।

सूर्योदय हो तब एक कहे कि सूर्य पूर्वमें है और दूसरा कहता है कि पश्चिममे है। पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके खड़ा हुआ कहता है कि सूर्य पूर्वमें है, और पश्चिम दिशाकी ओर मुँह करके खड़ा हुआ कहता है कि सूर्य पश्चिममे है, परन्तु सूर्य तो जैसा है वैसा ही है। पूर्व और पश्चिम दिशाके पक्षपातसे जो रहित है वह तो कहता है कि सूर्य तो जैसा है वैसा है। उसीप्रकार चैतन्य तो है वह है, परन्तु चैतन्य है और चैतन्य नही है—ऐसे विकल्पमे रुकना वह राग है। चैतन्य नहीं है इससे वस्तु नही है—ऐसा नही, परन्तु इसके रागमें लीन होना छुड़ाते हैं। वस्तु तो है परन्तु वह पररूपसे नहीं है। सिद्ध सिद्धरूप है परन्तु पररूप नही है, इसीप्रकार चैतन्य चैतन्यरूप है परन्तु पररूप नही है। इसप्रकार वस्तु तो है—अस्ति तो है परन्तु विकल्प छुड़ाते हैं। यह वस्तु कितने पैसोकी है—ऐसा सोचता रहे तो उस वस्तुको नहीं खाया जा सकता, खानेके समय गोखता रहे तो खानेका स्वाद नही आ सकता। आत्मा ऐसा है, ऐसा है ऐसा गोखता रहे तो आत्माका अनुभव नहीं हो सकता। खानेके समय जीभ गोखनेका कार्य करती है या खानेका? गोखनेका ही काम करे तो गोखते समय खाया नही जा सकता। इसप्रकार विकल्पसे गोखता रहे कि मैं भावरूप हूँ, मैं भावरूप नही हूँ; मैं अपनेसे हूँ और परसे नही हूँ ऐसे विकल्पमे रुके तो स्वरूपका स्वाद नहीं ले सकता। जो तत्त्ववेदी हैं वे आत्माका स्वभाव जैसा है उसका वैसा ही अनुभव करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥

अर्थः—जीव एक है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव एक नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं । जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं–उन्हे निरतर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।

एक पक्षवाला कहता है कि जीव एक है, गुण और अवस्थासे अनेक होने पर भी वस्तुसे एक है, इसलिए उस अपेक्षासे उसकी वात सत्य है, गुणकी अपेक्षासे और पर्यायकी अपेक्षासे जीवको अनेक भी कहा जाता है, देहसे प्रत्येक आत्मा भिन्न हैं, समस्त आत्मा एकत्रित होकर एक है—ऐसा नही है । द्रव्य अपेक्षासे एक है—ऐसी वात कही है, लेकिन प्रत्येक आत्मा पृथक् है । वेदात कहता है कि सर्वत्र सर्व-व्यापक आत्मा एक ही है; वह बात बिल्कुल मिथ्या है । यहाँ तो ऐसा कहना है कि एक—अनेकके विकल्पमे रुकनेसे आत्माका स्वाद नही आता । खीर खाना और उसका वर्णन करना वह एक साथ नही हो सकता, वाणीका विषय और खाना एक साथ नही वन सकता, उसीप्रकार विकल्पका विषय करना और आत्मस्वभावका वेदन करना वह एक साथ नही वन सकता । वाणीमे उपयोग लगाता जाये और भोजनके स्वादमे उपयोग रहे वे दोनो एक साथ नही हो सकते, उसीप्रकार विकल्प करता जाये और आत्माके निजरसका स्वाद लेता जाये—वे दोनोएक साथ नही वन सकते ।

सोना पीला है, चिकना है,—वैसी भेद दृष्टिसे देखो तो अनेक कहलाये, परन्तु पीलेपन और चिकनेपनसे सोना पृथक् नही होता—ऐसी अभेद दृष्टिसे देखो तो एक है, इसीप्रकार गुण और पर्यायके भेदकी ओरसे देखो तो आत्मा अनेक है परन्तु ज्ञान–दर्शनादि गुण और प्रति-समयकी पर्यायसे आत्मा भिन्न नही होता—ऐसी अभेददृष्टिसे देखो तो

आत्मा अपने गुण पर्यायमे एक है। परन्तु उस एक–अनेकके रटनमें रुका रहे तो स्वरूपकी एकाग्रता नही होगी। परन्तु जो तत्त्ववेदी हैं अर्थात् तत्त्वके ज्ञाता हैं वे ऐसे एक–अनेकके विकल्पमे न रुककर आत्माके विज्ञानघन स्वभावमे एकाग्र होकर निजस्वभावका स्वाद लेते हैं। निरन्तर चैतन्यस्वरूप जीवको चैतन्यस्वरूप ही जानते है।

(उपजाति)

एकस्य सांतो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥

अर्थः—जीव सांत–(अन्तरहित) है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव सांत नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमे दो नयोके दो पक्षपात हैं; जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित है उन्हे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक अभिप्रायवालेका पक्ष है कि आत्मा सांत है, और दूसरा कहता है कि सांत नही है। एक समयकी अवस्था होती है वह दूसरे समय नही होती, दूसरे समय दूसरी अवस्था होती है—उस पर्यायकी अपेक्षासे आत्मा अन्त सहित है—वैसा कहा है। और आत्मा पर्याय जितना नही है, एक शरीरमे यदि आत्मा पचास वर्ष तक रहे तो वह पचास वर्ष जितना नही है। आत्मा तो अनादि अनन्त अखण्ड, एकरूप त्रिकाल है। परन्तु एक समयकी अवस्था जितना, दस वर्ष जितना या पचास वर्ष जितना नही है। आत्माका स्वरूप तो जैसा है वैसा है, परन्तु अन्त सहित हूँ या अन्त रहित हूँ—ऐसे विकल्पोमे रुकना वह धर्मका कारण नही है—धर्म नही है। बोलता जाये और खाता खाये वह एक साथ नही बनता, उसीप्रकार विकल्पोमें रुकना और आत्माका अनुभव करना–दोनो एक साथ नही होते। ऐसा हूँ और ऐसा नही हूँ—ऐसा विकल्प भी अन्तर्जल्प है, उस अन्तर्जल्पमे रुकनेसे आत्माका अनुभव नही होता, इसलिये जो तत्त्ववेदी—तत्त्वका ज्ञाता है वह ऐसे विकल्पोंको छोड़कर चित्स्वरूप आत्माका अनुभव करता है।

(उपजाति)

एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥

अर्थः—जीव नित्य है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव नित्य नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमे दो नयोंके दो पक्षपात है । जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है ।

एक पक्षवाला कहता है कि आत्मा नित्य है और दूसरे पक्षवाला कहता है कि आत्मा नित्य नही है । द्रव्यदृष्टिसे देखने पर आत्मा नित्य है—ध्रुव है, परन्तु ऐसे राग-विकल्पमे रुकजानेसे आत्माका वेदन नही होता । वस्तु स्वत स्थायी रहकर अवस्थासे परिवर्तित होती रहती है, इसलिये अवस्थासे आत्मा अनित्य है । जिसप्रकार सोना स्थायी रहकर अवस्था बदलता रहता है, क्षणमे कड़ा होता है, घडीमे कुण्डल होता है, घड़ीमे अँगूठी होता है, सोना एकरूप रहने पर भी अवस्थाएँ बदलती रहती है, उसीप्रकार आत्मा एकरूप रहने पर भी समय-समयकी अवस्थाएँ बदलता है ।

कोई कहे कि आप तो इसमें नित्य और अनित्य–सब निकाले देते हो । नही भाई ! निकालते नही हैं, परन्तु वस्तुका सच्चा स्वरूप जैसा है वैसा समझाते हैं, स्वरूपको नही निकालते हैं परन्तु उस-ओर के राग-विकल्पको निकाल देनेके लिये कहते हैं ।

जिसप्रकार माल लेते समय बाँट–तराजूसे तोलकर माल लेते हैं, परन्तु उसे खाते समय उस मालका स्वाद लिया जाता है–तराजू-बाँट साथमे नही लिये जाते, उसीप्रकार प्रथम वस्तुस्वरूपको जाननेके लिए इन सभी पक्षोसे वस्तुका निर्णय किया जाता है परन्तु अनुभव करते समय उन सभी पक्षोका राग रखे तो अनुभव न हो इसलिये जो तत्त्ववेदी है वे पक्षोका राग छोड़कर आत्माका स्वाद ले रहे हैं ।

(उपजाति)

एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥

अर्थः—जीव वाच्य (वचनसे कहे जाने योग्य) है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव वाच्य-(वचनगोचर) नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित है उन्हे चित्स्वरूप जीव निरन्तर चित्स्वरूप ही है।

एक कहता है कि जीव वाच्य है और दूसरा कहता है कि वाच्य नही है—वे दोनो पक्षपात हैं। एक अपेक्षासे जीव कथंचित्-वाणीसे कहा जा सके-ऐसा है, यदि किसी भी अपेक्षासे न कहा जा सके तो केवलज्ञानीकी वाणीमें पदार्थका स्वरूप नही आये, इसलिये कथंचित् वचनगोचर है। जैसे कि, घीका स्वाद वाणी द्वारा नही कहा जा सकता तथापि संकेत द्वारा कुछ वताया जाता है, इसलिये कथंचित् वचनगोचर है।

वाणी द्वारा आत्माका स्वरूप कहा जा सकता है; केवल-ज्ञानीकी वाणीमे समस्त पदार्थोका स्वरूप आता है। परमार्थ दृष्टिसे पदार्थोंका पूर्णस्वरूप वाणीमे नही आता। जैसे कि घीका स्वाद वाणी द्वारा कहे परन्तु सतोष नही होता। जब घी जैसे पदार्थका वर्णन वाणी द्वारा सतोषपूर्वक नही हो सकता, तो फिर आत्माका अनुभव-रसवाणी से कैसे कहा जा सकता है ? आत्माका अद्भुत रस वाणीमे कहनेसे संतोष नही होता, इसलिए आत्मा वचनसे अगोचर है। आत्मा वचन-अगोचर है और आत्मा वचनगोचर है—वैसा वृत्तिका उत्थान आत्माके स्वरूपमे नही है, वे दोनों पक्षपात हैं, जो तत्त्ववेदी हैं वे उन दोनों पक्षपातोको छोड़कर चित्स्वरूपका वेदन करते हैं।

एक ओर ऐसा कहा जाता है कि—"जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमाँ, कही शक्या नहि ते पण श्री भगवान जो," और ऐसा भी कहा

जाता है कि–भगवानके शब्द ब्रह्ममे सम्पूर्ण स्वरूप आता है। ऐसी बात आये वहाँ अज्ञानीको विरोध भासित होता है परन्तु अपेक्षासे यह दोनो बाते यथार्थ हैं। वस्तु स्वरूपकी बहुत महिमा आये तब ऐसा भी कहते है कि—अहो! वस्तुका स्वरूप वाणीसे अगोचर है, जैसे कि— "जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमाँ" इत्यादि। और ऐसा भी कहा जाता है कि—शब्दब्रह्म सर्वका प्रकाशक है। वे दोनो नयपक्ष हैं, वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा है इसलिये विकल्पमे नही रुकना चाहिए, परन्तु उसे यथावत् समझकर उसका अनुभव करना–वेदन करना। जो तत्त्ववेदी हैं वे निजस्वरूपका यथावत् अनुभव करते हैं।

आत्मा ज्ञानभावसे शुभाशुभ परिणामोका भी कर्ता नही है, दो नयके पक्ष होते हैं उनका कर्तृत्व भी आत्माके नही है। दो नयोंके पक्षमे रुकनेसे आत्माका स्वाद नही लिया जा सकता।

जिसप्रकार बोलनेवाला मनुष्य बोलते समय खा नही सकता, उसीप्रकार विकल्पके समय आत्माका स्वाद नही आता। जिसप्रकार गन्ना चूसते समय खीरका स्वाद नही लिया जा सकता, उसीप्रकार विकल्प करनेवाला विकल्प करे कि–मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ, उसीप्रकार अन्तर्जल्प करता जाये और साथ ही साथ आत्माका स्वाद भी लेता जाये—ऐसा नही हो सकता, इसलिये विकल्प छोडकर स्वरूपका स्वाद लेना।

(उपजाति)

एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥

अर्थः—जीव नानारूप है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव नानारूप नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमे दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नयका पक्ष है कि जीव नानारूप अर्थात् अनेकरूप है,

और दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि जीव अनेकरूप नहीं है। अनेक गुण-पर्यायकी दृष्टिसे आत्मा नानारूप है और वह आत्मा गुण-पर्यायके पिण्डरूप एक वस्तु है इसलिये वस्तु दृष्टिसे आत्मा एक है। श्रद्धा-ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि अनेक गुण हैं इसलिये आत्मा अनेकरूप है, और गुण-पर्यायके पिण्डरूप एक वस्तु है इसलिये एकरूप है।

मैं नानारूप हूँ और नानारूप नहीं हूँ अथवा मैं एकरूप हूँ और एकरूप नहीं हूँ—ऐसे शुभविकल्पमें रुकना वह सहज अवस्थाकी स्थितिको विघ्नरूप है; ऐसे शुभविकल्प भी विघ्नरूप हैं, तब फिर दूसरे विकल्पोंकी तो बात ही क्या ?

स्वतः एक है या अनेक है—इत्यादि विचार प्रारम्भमें आते हैं; मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, स्थिरतास्वरूप हूँ—इत्यादि गुणोंका विचार प्रारम्भमें आता है, परन्तु एकाग्र होते समय वह काम नही आता; वह विकल्प विघ्नरूप है। जो तत्त्ववेदी हैं वे दो पक्षपातसे रहित हैं; वे तो चैतन्यस्वरूपका वेदन करनेवाले हैं।

८१ वें कलशमें ऐसा कहा है कि—जीव एक है और एक नहीं है; यहाँ ८५ वें कलशमें जीव अनेक है और अनेक नही है—ऐसा कहा है। ८१ वें कलशमें एककी अस्तिकी ओर की बात ली है और यहाँ ८५ वें कलशमे अनेककी अस्तिकी ओर की बात ली है इतना अन्तर है। जो तत्त्ववेदी हैं वे दोनों पक्षपातोंसे रहित हैं और चित्स्वरूप आत्माका ही वेदन करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

अर्थः—जीव चेत्य (ज्ञात होने योग्य है) है—ऐसा एक नयका पक्ष है, और जीव चेत्य नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है; इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हें निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक नयका पक्ष ऐसा है कि जीव ज्ञात होने योग्य है और दूसरे नयका ऐसा पक्ष है कि जीव ज्ञात होने योग्य नही है। जीव ज्ञात होने योग्य है—वह बात सत्य है, परन्तु मैं ज्ञात होने योग्य हूँ, मै ज्ञात होने योग्य हूँ—वैसे विकल्पमे रुक जाये तो स्वभावका स्वाद नही आयेगा। मिश्री मीठी है, मीठी है—वैसा रटता रहे तो मिश्रीका स्वाद नही आयेगा, किन्तु मिश्री खाये तो उसका स्वाद आये। उसीप्रकार आत्माका स्वभाव रटता रहनेसे स्वभावका स्वाद नही आता, परन्तु स्वभावका वेदन करे तो स्वभावका स्वाद आये। दो पक्षोंके रागमे रुकेगा तो निर्विकल्प सदानन्दीका स्वाद नही आयेगा।

आत्मा अज्ञानसे दिखाई नही देता, इन्द्रियोसे मनसे दिखाई नही देता, इसलिए एक अभिप्राय ऐसा है कि आत्मा ज्ञात होने योग्य नही है, परन्तु आत्मा स्वभावसे ज्ञात होता है इसलिये ज्ञात होने योग्य है, यह बात सत्य है, परन्तु दोनो प्रकारके विकल्पोमे रुकनेसे निर्विकल्प स्वभावमे भग पडता है। जो तत्त्ववेदी हैं वे निरन्तर चित्स्वरूप जीवका चित्स्वरूप ही अनुभव करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥

अर्थः—जीव दृश्य है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव दृश्य नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवके विषयमे दो नयोके दो पक्षपात है। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

८६ वें कलशमें ज्ञात होने योग्य कहा और यहाँ अतरदृष्टिसे दृश्य होने योग्य कहा, ८६ मे विशेष चेतना कही और यहाँ ८७ मे सामान्य चेतना कही है।

परद्रव्यके आश्रयसे, इन्द्रियोंसे या शुभरागद्वारा आत्मा ज्ञात होने योग्य नही है, दृष्टिगोचर होने योग्य नही है—इसप्रकार विकल्प

करते रहना भी राग है। और आत्मा स्वभावसे ज्ञात होने योग्य–दृष्टि गोचर होने योग्य है—ऐसा विकल्प करते रहना भी राग है। दोनों अपेक्षाओसे आत्मा जैसा है वैसा जाननेके पश्चात् भी रागमे स्थित रहना कि—आत्मा ज्ञानमूर्ति दृष्टिगोचर होने होग्य है और दृष्टिगोचर होने योग्य नही है—यह भी आत्माके स्वभावको विघ्न करनेवाला है, स्वरूपके वेदनको रोकनेवाला है। जो तत्त्ववेदी हैं वे निरन्तर चैतन्य-स्वरूपका उपभोग करते हैं।

(उपजाति)

एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ ८८ ॥

अर्थः—जीव वेद्य (वेदन होने योग्य, ज्ञात होने योग्य) है—ऐसा एक नयका पक्ष है और जीव वेद्य नही है—ऐसा दूसरे नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमें दो नयोंके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित है उन्हे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है।

एक पक्ष कहता है कि आत्मा वेदन होने योग्य है, और दूसरा पक्ष कहता है कि वेदन होने योग्य नही है। स्वभाव द्वारा–स्व अपेक्षासे आत्मा वेदन होने योग्य है और पर अपेक्षासे–पर इन्द्रियों द्वारा आत्मा वेदन होने योग्य नही है। वेदन होने योग्य है और नही है—वे दोनों विकल्प हैं, वस्तुका स्वरूप जैसा है वैसा समझकर स्वरूपका वेदन करना ही हितकर है। जो तत्त्ववेदी हैं वे निरन्तर चैतन्यस्वरूपका वेदन कर रहे है—अनुभव कर रहे हैं—भोग रहे है।

(उपजाति)

एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥

अर्थः—जीव 'भात' (प्रकाशमान अर्थात् वर्तमान प्रत्यक्ष) है—ऐसा एक नयका पक्ष है, और जीव 'भात' नही है—ऐसा दूसरे

नयका पक्ष है, इसप्रकार चित्स्वरूप जीवमे दो नयोके दो पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी पक्षपात रहित हैं उन्हे निरन्तर चित्स्वरूप जीव चित्स्वरूप ही है, अर्थात् उन्हे चित्स्वरूप जैसा है वैसा ही अनुभवमे आता है।

एक नयका अभिप्राय ऐसा है कि जीव प्रत्यक्ष है वह बात सत्य है, क्योकि जीव कही स्वय अपनेसे परोक्ष होता है ? नही होता। जीव स्वत. ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है, इसलिये प्रत्यक्ष है। दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि जीव प्रत्यक्ष नही है, इन इन्द्रियोंसे आत्मा ज्ञात नही होता इसलियें प्रत्यक्ष नही है। आत्मा स्वय अपने द्वारा ज्ञात होता है परन्तु निम्नदशामे बीचमे मनका निमित्त आता है, जानते हुए मन और इन्द्रियोका निमित्त आता है इसलिये आत्मा परोक्ष है। परन्तु बीचमे निमित्त आने पर भी ज्ञान ज्ञान द्वारा ही जानता है, इसलिये आत्मा प्रत्यक्ष है।

कितने ही लोग कहते हैं कि आत्मा तो जब केवलज्ञान हो तब प्रत्यक्ष ज्ञात होता है परन्तु इसीसमय प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता। अरे भाई ! वह बात सम्पूर्णताकी अपेक्षासे सच है परन्तु निम्नदशामे भी अनुभवकी अपेक्षासे आत्मा प्रत्यक्ष है, दूसरे प्रकारसे द्रव्यदृष्टिकी अपेक्षासे स्वरूपप्रत्यक्ष भी है। केवलज्ञान हो तब सकलप्रत्यक्ष कहलाता है—वह सम्पूर्ण पर्याय प्रगट होनेकी अपेक्षासे है। आत्माको जानते हुए क्षयोपशम ज्ञानमे मनका निमित्त आता है इसलिए आत्मा परोक्ष है। इस अपेक्षासे आत्मा प्रत्यक्ष है और इस अपेक्षासे आत्मा प्रत्यक्ष नही है—ऐसे विकल्पमे रुकना वह खेद है।

प्रथम आत्माका अनुभव हो तब विकल्प टूट जाता है और स्वरूपमे स्थिर होते हैं, और फिर बाह्य लक्ष्य आये तब विकल्प आता है, परन्तु उससे स्वरूपका भान नही जाता। और फिर अपनी पदवीके अनुसार स्वरूपस्थित हो जाते हैं, और फिर बाह्य लक्ष्य आता है। इसप्रकार साधकदशामे वर्तते रहते हैं। परन्तु जो विकल्प है वह खेद है—दुःखका कारण है।

जिसे स्वरूपका स्वाद लेना हो वह आत्मा प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष नही है—ऐसा गोखता रहे तो स्वरूपका स्वाद नही आयेगा। नमक खारा है, खारा है—ऐसा खाते समय भी गोखता होगा ? नही गोखता। इसीप्रकार आत्मा शांत–आनन्दस्वरूप है, इसमे स्थिर होना हो तो विकल्प क्या ? विकल्प आये वह तो दु:खका कारण है। शरीरका नाम तो जो है वही है, उसमे रटना क्या ? उसीप्रकार आत्मस्वरूपका यथावत् निर्णय किया फिर स्थिर होते समय रटना क्या ? आत्मा प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष नहीं है—ऐसा विकल्प दुःखका कारण है, आत्माके निर्विकल्प आनन्दको विघ्नरूप है। एक सेर वेसनमे चार सेर घी डालकर मैसूरपाक अमुक भाईने वहुत अच्छे वनाये हैं—इसप्रकार मिठाई खाते समय भी मैसूर अच्छे है–अच्छे हैं—ऐसा गोखता रहे तो मैसूर खाये नही जा सकते। दूसरे लोग भी कहते है कि—छोड़ न भाई, अपनी वातको ! खाने दे ! इसप्रकार लड्डुओंको खाते समय गोखता रहे तो लड्डू नहीं खाये जा सकते। आत्मा परसे निराला पवित्र है, पवित्र है—ऐसा गोखना अनुभवके समय नहीं होता; यदि गोखता रहे तो विकल्प नही टूट सकता और निर्विकल्प आनन्दका अनुभव नही हो सकता।

आचार्यदेवने २० कलश कहे हैं—वद्ध–अवद्ध, मूढ़–अमूढ़, रागी–अरागी, द्वेषी–अद्वेषी, कर्ता–अकर्ता, भोक्ता–अभोक्ता, जीव–अजीव, सूक्ष्म–स्थूल, कारण–अकारण, कार्य–अकार्य, भाव–अभाव, एक–अनेक, सान्त–अनन्त, नित्य–अनित्य, वाच्य–अवाच्य, नाना–अनाना, चेत्य–अचेत्य, दृश्य–अदृश्य, वेद्य–अवेद्य, भात–अभात इत्यादि नयोंके पक्षपात हैं। जो पुरुष नयोंके कथनानुसार यथायोग्य विवक्षा पूर्वक तत्त्वका—वस्तुस्वरूपका निर्णय करके नयोंके पक्षपातको छोड़ते हैं उन पुरुषोंको चित्स्वरूप जीवका चित्स्वरूपसे अनुभव होता है।

आत्मा व्यवहारसे वंधा हुआ है और परमार्थसे वंधा हुआ नही है। आत्मा कर्मकी अपेक्षासे, विकारकी अपेक्षासे मूढ़ है परन्तु स्वभावकी अपेक्षासे अमूढ है। आत्मा पर्यायकी अपेक्षासे रागी है

परन्तु भूतार्थ वस्तु दृष्टिसे रागी नही है। आत्मा पर्यायकी अपेक्षासे द्वेषी है परन्तु वस्तुदृष्टिसे अद्वेषी है। आत्मा अज्ञान अवस्थासे विकारका कर्ता है परन्तु ज्ञान अवस्थासे विकारका कर्ता नहीं है। आत्मा अज्ञान अवस्थासे विकारका भोक्ता है परन्तु ज्ञान अवस्थासे विकारका भोक्ता नही है परन्तु स्वभावका भोक्ता है। जीव अपनी अपेक्षासे जीव है और परजीवकी अपेक्षासे जीव नही है अर्थात् परपदार्थकी जीवमे नास्ति है। जीव अपनी अपेक्षासे सूक्ष्म है, इन्द्रिय और विकल्पसे पकडा जा सके—ऐसा नही है, इसलिए सूक्ष्म है। शरीर और इन्द्रियोंके साथ सम्बन्धवाला है इसलिये स्थूल है। आत्मा पर्यायदृष्टिसे, अज्ञान अवस्थासे विकारका कारण कहलाता है परन्तु वस्तुदृष्टिसे पूर्णवस्तु विकारका कारण नही है। आत्मा अज्ञान अवस्थासे विकारका कार्य करता है और ज्ञान भावसे स्वभावका कार्य करता है, वस्तुदृष्टिसे सम्पूर्ण त्रिकाली वस्तु कार्यरूप नही होती। आत्मा अपने स्वभावकी अपेक्षासे भावरूप है और परमे आत्मा नही है इसलिए परकी अपेक्षासे आत्मा अभावरूप है। वस्तुदृष्टिसे आत्मा एकरूप है, गुण और पर्यायकी अपेक्षासे अनेक रूप है अर्थात् एकरूप नही है। पर्याय एक समय पर्यन्त की होती है इसलिए पर्यायकी अपेक्षासे आत्मा सांत है अर्थात् अन्त सहित है और त्रिकाली द्रव्यकी अपेक्षासे सात नही है। द्रव्यदृष्टिसे आत्मा नित्य है और पर्यायदृष्टिसे नित्य नही है। आत्मा कथंचित् वाणीसे कहा जा सकता है इसलिए वाच्य है परन्तु परमार्थ दृष्टिसे आत्मावाणी द्वारा नही कहा जा सकता इसलिए वाच्य नही है। आत्मा गुण-पर्यायकी अपेक्षासे अनेकरूप है परन्तु गुण-पर्यायके एक पिण्डरूप होनेसे वस्तुदृष्टिसे अनेकरूप नही है। आत्मा स्वभावसे ज्ञात होने योग्य है इसलिए चेत्य है, परन्तु मन और इन्द्रियोंसे ज्ञात होने योग्य नही है इसलिए चेत्य नहीं है। आत्मा स्वभाव द्वारा दृष्टिगोचर होने योग्य है इसलिये दृश्य है परन्तु मन-इन्द्रियसे दृष्टिगोचर होने योग्य नही है इसलिए दृश्य नहीं है। आत्मा स्वभावकी अपेक्षासे वेदन होने योग्य है परन्तु इन्द्रियोंसे वेदन होने योग्य नही है। आत्मा स्वतः अपने द्वारा

प्रत्यक्ष है परन्तु इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं है। यह सब नयोंके पक्षपात हैं; उनमे यदि रुका रहे तो स्वभावका अनुभव नही होगा परन्तु वस्तुका स्वभाव जैसा है उसे यथावत् जानकर निर्णय करना पड़ेगा। जाने विना भी स्वभावका अनुभवन नही कर सकेगा और जाननेके पश्चात् भी यदि विकल्पमे रुका रहेगा तो भी स्वभावका अनुभव नहीं हो सकेगा।

प्रथम वस्तु स्वभावका निर्णय वरावर करना पड़ेगा। लोग कहते हैं कि नमक खारा है, परन्तु यह नमक है या खारा—इसका निर्णय वरावर करना पड़ेगा। खिचड़ीमे नमक डाला जाता है परन्तु पापड़ी खार नही। समझे विना खिचड़ीमे नमक डालनेके वदले यदि खार डाल देगा तो खिचड़ीका स्वाद विगड़ जायेगा। यदि पापड़में पापड़ खार डालेगा तो वरावर होगा परन्तु यदि खिचड़ीमे डाला जाये तो खिचड़ी विगड़ जायेगी—इसलिये यह नमक है या खारा यह वरावर निर्णय करना पडेगा, निश्चित् किए विना यदि रसोई करेगा तो विगड़ जायेगी। उसीप्रकार प्रथम आत्माका स्वरूप जानना पड़ेगा। जगत अनेक प्रकारसे आत्माका स्वरूप कहता है उसमे सच्चा स्वरूप क्या है उसका अंतरंगसे निर्णय किये विना विकल्प नही छूटेगा, मूढ़ हो जायेगा, क्योकि वस्तुको समझे विना दृष्टिको रोकेगा कहाँ? विकल्प छोड़कर अस्तित्वपना कहाँ स्थिर रखेगा? क्योकि अस्तिपनेका तो भान नही है इसलिये मूढ हो जायेगा।

दुकान पर माल लेने जाये, वहाँ यदि विना तोला हुआ माल ले तो कम–अधिक आये परन्तु वहाँ ठगाता नही है; दुकानदार तोले विना कहे कि देख! सवा पाँच तोला हो गया तो ऐसे नही मानेगा और कहता है कि तू तो तोलकर दे, तोले विना माल नही लूँगा। अंतमें दुकानदारको माल तोलकर ही देना पड़ता है—वहाँ तो विना तोला हुआ माल-नही लेता और यहाँ आत्मामे परीक्षा किये विना मोक्षपर्याय प्रगट करने जाये तो वह कहाँसे प्रगट हो? मैं आत्मा कौन हूँ? किस अपेक्षासे शुद्ध हूँ और किस अपेक्षासे अशुद्ध हूँ? किस अपेक्षा से वद्ध

हूँ और किस अपेक्षासे अबद्ध हूँ ? यह शरीर, इन्द्रियाँ, मन मुझसे भिन्न किस प्रकार हैं ? उन सबकी ज्ञान द्वारा तोल किए बिना-परीक्षा किए विना, यथार्थ निर्णय किए विना विकल्प छोड़ने जायेगा तो मूढ हो जायेगा, क्योंकि आत्माको यथार्थ नही जाना है इसलिये ठहरेगा कहाँ जाकर ? मूढ़ हो जायेगा। इसलिये प्रथम आत्माका यथार्थ स्वरूप जानकर, यथार्थ निर्णय करके, परसे भिन्न निराले आत्माका भान करके, विकल्पको छोडकर स्वरूपमे स्थिर होगा तो आत्माके यथार्थ स्वरूपका अनुभव कर सकेगा; स्वरूपमे स्थित होगा वहाँ विकल्प छूट जायेगा और चिदानन्दस्वरूप आत्माका अनुभव करेगा।

जीवमे अनेक साधारण धर्म हैं, परन्तु चित्स्वभाव उसका प्रगट अनुभवगोचर असाधारण धर्म है इससे उसे मुख्य करके यहाँ जीवको चित्स्वरूप कहा है।

आत्मामें अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, अगुरु-लघुत्व इत्यादि साधारण धर्म हैं, और ज्ञानस्वभाव असाधारण धर्म है। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है। जो जिसका स्वभाव हो उसे उसमे उपाधि या भार मालूम नही होता। ज्ञानमे पच्चीस-पचास वर्षकी वात याद करता है वह क्या इन्द्रियमेंसे याद करता है ? मनमे से याद करता है ? नही, ऐसा नही है, परन्तु ज्ञानस्वभावमे से याद करता है। पच्चीस-पचास वर्षकी वात यदि जीभसे कहने लगे तो कहते हुए वहुत समय लगेगा और पूरी कह भी नही सकेगा; किन्तु यदि ज्ञानसे याद करे तो एक सेकेन्डमें याद कर सकता है। ज्ञानस्वभाव अपना स्वतः स्वभाव है इससे याद कर सकता है, और वह ज्ञानस्वभाव प्रगट अनु-भवमे आ सकता है। ज्ञानको ध्यानमे लेना हो तो तुरन्त लिया जा सकता है। यह जो याद करनेवाला है वह मैं हूँ, ज्ञाता मैं हूँ—इस-प्रकार तुरन्त ही ध्यानमे आये—ऐसा ज्ञानस्वभाव अनुभवगोचर है। ज्ञान स्वभाव असाधारण है अर्थात् किसी दूसरे द्रव्यमे वह ज्ञान स्वभाव वँटा हुआ नही है। एक जीव द्रव्यमे ही ज्ञानस्वभाव है और अस्तित्व आदि साधारण धर्म दूसरे द्रव्योंमे भी हैं। एक ज्ञानको गुण-गुणी

की अभेद दृष्टिसे देखो तो, सम्पूर्ण द्रव्यदृष्टिसे देखो तो, उसमें अनन्त गुण आ जाते है। एक ज्ञानगुणको लक्ष्यमे लेनेसे दूसरे द्रव्योंसे चैतन्य द्रव्य पृथक् होता है। दूसरे साधारण गुणोको लक्ष्यमे लेनेसे जड़-चैतन्य द्रव्य भिन्न नही होते; चैतन्य द्रव्यको जानना हो तो ज्ञान लक्षण द्वारा झटसे पहिचाना जा सकता है, इसलिये ज्ञानगुण असाधारण है।

उपरोक्त २० कलशोंके कथनको अब संक्षिप्त करते है:—

(वसंततिलका)

स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजाला-
मेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अंतर्बहिः समरसैकरसस्वभावं
स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥९०॥

अर्थ:—इसप्रकार जिसमे बहुतसे विकल्पोंके जाल अपने आप उठते हैं—ऐसी महान् नयपक्षकक्षाको (नयपक्षकी भूमिको उलंघकर (तत्त्ववेदी) अन्तर और बाह्यमे समतारसरूपी एक रस ही जिसका स्वभाव है—ऐसे अनुभूतिमात्र एक अपने भावको—(स्वरूपको) प्राप्त करता है।

प्रथम पदार्थका लक्षण जानकर—बराबर निर्णय करके पश्चात् नयपक्षकी भूमिको उल्लंघकर आत्माके आनन्द रसका वेदन करता है। पराश्रित अर्थात् व्यवहार, स्वाश्रित अर्थात् निश्चय दोनोंकी अलग २ खतौनी करना चाहिये, व्यवहारको परमार्थमे नही डालना है और न परमार्थको व्यवहारमें। परन्तु प्रथम वस्तुका बराबर निर्णय करता है, निर्णय करनेके पश्चात् ऐसी महान नयपक्षकी भूमिको उलंघ जाता है। यहाँ तो बीस नय कहे हैं परन्तु ऐसे तो अनन्तनय हैं प्रथम श्रद्धामे उन सभी नयोंका उलघन करके आत्माका समता रसरूपी एक ही रस जिसका स्वभाव है—ऐसे अपने स्वरूपको प्राप्त करता है।

व्यक्त अर्थात् बाहर है वह पर्याय और अव्यक्त शक्तिरूप अतरमे है वह वस्तु; द्रव्य तथा पर्यायसे सर्वप्रकारसे आत्मा समता रस-

से परिपूर्ण है। अन्तर और बाह्यमे एक समतारसरूप रस ही जिसका स्वभाव है वह प्रगट होता है। मैं ऐसा हूँ-और मैं वैसा हूँ वैसे विषम भाव आत्माका स्वभाव नही है। वैसे विषमभावोंके विकल्प टूटकर आत्माका आनन्द रस प्रगट होता है। आत्मा स्वत आनन्द रस है। मैं ऐसा हूँ और मैं वैसा हूँ—ऐसी महान नयपक्षकी भूमिका उलघन करके वह रस प्रगट होता है। आत्माके समस्त प्रदेशोमे आनन्द है, अतरमे और बाह्यमे अर्थात् आत्माकी पर्यायमे भी आनन्द है और वस्तुमे भी आनन्द है, सम्पूर्ण आत्मा आनन्दरससे परिपूर्ण है।

नमककी डलीमे अन्दर भी खारापन होता है और बाहर भी खारापन होता है, उसीप्रकार आत्माके अन्तर स्वभावमे त्रिकाली आनन्द रस है और वर्तमान व्यक्त पर्यायमे भी वह आनन्दरस छलकता है।

शरीर–वाणी–मन इत्यादि परमाणुमात्र मिट्टी है—धूल है, कर्म भी धूल है, उससे आत्माका वीतराग आनन्दरस भिन्न है, वह आनन्द रस वर्तमान पर्यायमे भी छलक उठता है।

जिसप्रकार बरसातके दिन हो, खूब पानी बरस रहा हो, उस समय बाहर तो पानी होता ही है परन्तु अन्दर भीतमे भी पानीके कण झलकने लगते हैं। गरमीके दिनोमे शामतक पत्थर तपते हैं, बाहर भी ताप होता है और पत्थरमे भी उष्णता ओतप्रोत हो जाती है। ठडके दिनोमे सभी वस्तुएँ ठडी हो जाती हैं, बाहर भी ठड और वस्तु मे भी ठड ओतप्रोत हो जाती हैं, इसीप्रकार स्वरूपमे लीनताके समय पर्यायमे भी शाति और वस्तुमे भी शाति, आत्माके आनन्द रसमे शाति, शाति और शाति। वस्तु और पर्यायमे ओतप्रोत शाति। रागमिश्रित विचार था वह खेद था; वह छूटकर पर्यायमे और वस्तुमे समता, समता और समता। वर्तमान पर्यायमे भी समता और त्रिकाली वस्तुमे भी समता। इसप्रकार आत्माका आनन्द रस बाह्यमे और अतरमे सर्व प्रकारसे शान्त रसमय छलक उठता है। इसप्रकार विकल्प जालका उलघन करके आनन्द रसरूप अपने स्वरूपको प्राप्त करता है।

अब नय पक्षकी भावनाका अन्तिम काव्य कहते हैं:—

(रथोद्धता)

इंद्रजालमिदमेवमुच्छलत्
पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं
कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

अर्थः—पुष्कल, भारी, चचल विकल्परूप तरंगो द्वारा उठने वाले इस समस्त इन्द्रजालको जिसका स्फुरणमात्र ही तत्क्षण भगा देता है वह चिन्मात्र तेजःपुंज मैं हूँ ।

नयोके विकल्प पुष्कल, महान इन्द्रजाल जैसे हैं । नियमसार मे पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि—हे प्रभु ! हे भगवान ! आपका नयोका मार्ग इन्द्रजाली जैसा है । किसी अपेक्षासे निमित्त है—ऐसा कहा जाता है और किसी अपेक्षासे निमित्त नही है—ऐसा कहा जाता है, किसी अपेक्षासे रागी है, किसी अपेक्षासे रागी नही है—ऐसा कहा जाता है । किसी अपेक्षासे कर्ता है, किसी अपेक्षासे कर्ता नही है—ऐसा कहा जाता है । किसी अपेक्षासे नित्य है—किसी अपेक्षासे नित्य नही है—ऐसा कहा जाता है । द्रव्य अपेक्षासे नित्य है और पर्याय अपेक्षासे अनित्य है । अज्ञान अपेक्षासे कर्ता है और ज्ञान अपेक्षासे कर्ता नहीं है—इत्यादि नय-भंगका मार्ग इन्द्रजाल जैसा लगता है । जो नही समझता वह आकुलित होता है और जो समझता है उसे अलौकिकता लगती है कि अ हा हा ! यह तो कोई अद्भुत मार्ग है; वस्तु स्वरूपको विरोध रहित यथावत् समझे उसे अलौकिकता लगे विना नही रहती ।

अज्ञानी कहते हैं कि दो बातें करते हो उसकी जगह एक ही बात करो न ? क्षणमे द्रव्य कहते हो और क्षणमे पर्याय कहते हो; उसमेसे एक बात कुछ भी करो । एक बातका निर्णय तो लाओ ! तब ज्ञानी कहते हैं कि भाई ! द्रव्य और पर्याय—दोनो तेरा स्वरूप है,

तेरी जो विभाव पर्याय होती है उसमे व्यवहारनयसे निमित्तकी अपेक्षा आती है और त्रिकाली स्वभाव अनादि अनन्त है उसमे किसी भी प्रकार निमित्तकी अपेक्षा नही आती। इसप्रकार यदि समझे तो सर्व-प्रकारसे निपटारा होसकता है—ऐसा है, और न समझे तो हर जगह आकुलित होगा। मन, वाणी और देहके पार भगवान आत्मा है। उसकी विभाव पर्यायमे विकल्पका इन्द्रजाल है। जिसप्रकार समुद्रमे पानी की भारी लहरें उठती हैं, उसीप्रकार विकल्पोकी भारी, चचल लहरें उठती है उसके स्वभावका स्फुरण होनेसे उन चचल तरगोका नाश करता है। स्वभावका स्फुरण अर्थात् स्वभाव ज्ञानरूप मनुष्यकी टकार—वह जहाँ हुई वहाँ इन्द्रजाल जैसे चचल विकल्प नष्ट हो जाते है। श्री कृष्ण वासुदेवने धनुषकी टकार की वहाँ पद्मनाभ राजाकी सेना भागी कि, इसके समक्ष अपनेसे नही ठहरा जा सकेगा इसलिये भाग चलो! ऐसा कहकर सभी भाग गये। उसी प्रकार चैतन्यमूर्ति ज्ञानानन्द श्रीकृष्ण भगवान आत्मा जागृत हुआ वहाँ अज्ञान और रागद्वेष नष्ट हो जाते हैं, इस जाज्वल्यमान चैतन्यके समक्ष हम नही टिक सकेंगे—ऐसा कहकर वे भाग जाते हैं। श्रीकृष्णरूपी आत्मा अज्ञान और राग-द्वेषका भक्षक है। अग्नि हो वहाँ दीमक खड़ी नही रहती, जहाँ अग्नि हो वहाँ दीमक सूख जाती है। इसीप्रकार चैतन्यस्वरूप जाज्वल्यमान ज्योति प्रगट हो, स्वरूपका भान हो—वहाँ विकल्प भस्म हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि विकल्पकी नाशक है—भस्म करनेवाली है, ज्ञानका स्फुरण मात्र ही विकल्पोको भगा देता है। अभी केवलज्ञान नही हुआ है, यह तो सम्यग्ज्ञानकी बात है। भगवान आत्माका अन्तर भान होनेसे, उसमे स्थिर होनेसे उन विकल्पोको तत्क्षण भगा देता है, उसी क्षण विकल्प खडे नही रहते—ऐसा तेजःपुंज आत्मा मैं हूँ—ऐसा चित्प्रकाश आत्मा मैं हूँ। १४२।

अब शिष्य पूछता है कि प्रभो! आत्मा किस अपेक्षासे नित्य है और किस अपेक्षासे अनित्य, किस अपेक्षासे बद्ध है और किससे अबद्ध,—इत्यादि नय पक्षोका बहुतसा स्वरूप आपने समझाया। अब,

इस नयपक्षका जो उल्लंघन कर गया है—उसका क्या स्वरूप है,—वह कृपा करके समझाइये ! इस प्रश्नका उत्तर गाथारूपसे कहते हैः—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ।१४३

नयद्वयकथन जाने हि केवल समयमें प्रतिबद्ध जो ।
नयपक्ष कुछ भी नहिं ग्रहे, नयपक्षसे परिहीन वो ।।१४३।।

अर्थः—नयपक्षसे रहित जीव, समयसे (आत्मासे) प्रतिबद्ध होता हुआ (चित्स्वरूप आत्माका अनुभवन करता हुआ) दोनों नयोंके कथनको केवल जानता ही है परन्तु नयपक्षको किंचित् भी ग्रहण नही करता ।

मैं ऐसा हूँ और ऐसा नही हूँ—यह नयपक्ष है । इस नयपक्षसे अतिक्रान्त आत्मा समयमे प्रतिबद्ध अर्थात् लीन हो जाता है । जहाँ स्वसमयमे प्रतिबद्ध होता है वहाँ, ऐसा हूँ और वैसा हूँ—वैसे विकल्प छूट जाते हैं । आत्माके स्वभावका जहाँ वेदन हुआ वहाँ रागके वेदनमें नही रुकता, परन्तु नयपक्षको केवल जानता ही है, नयपक्षको किंचित् भी ग्रहण नही करता ।

जिसप्रकार केवली भगवान, विश्वके साक्षीपनेके कारण, श्रुतज्ञानके अवयवभूत—ऐसे जो व्यवहार-निश्चयनयके पक्ष हैं उनके स्वरूपको ही केवल जानता है परन्तु निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञान द्वारा सदैव स्वतः ही विज्ञानघन हुआ होनेसे श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तपने द्वारा (–श्रुतज्ञानकी भूमिकाका उल्लंघन कर गया होनेसे) समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुआ होनेसे, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करता ।

यहाँ श्रुतज्ञानीको केवलज्ञानीकी उपमा देगे । विकल्प रहित, निर्विकल्प एकाग्रतामे, स्वसन्मुख उपयोगदशामे श्रुतज्ञानी केवली जैसा है—ऐसी उपमा देगे ।

सर्वज्ञ भगवान कैसे हैं ? विश्वके साक्षीभूत हुए हैं, स्व-परको जाननेकी शक्ति पूर्ण विकसित हो गई है, परम पूर्णानन्द परमानन्द दशा प्रगट हुई है, परमाणुकी समस्त अवस्थाएँ तथा अनन्त द्रव्योंकी समस्त अवस्थाएँ एक साथ जान रहे हैं। भगवानके श्रुतज्ञानकी अपूर्ण स्थिति नही है। भगवान् दूसरे पदार्थोंके गुणपर्यायोंको तथा अपने गुण-पर्यायोंको जान रहे हैं, उसीप्रकार भावश्रुतज्ञान उसके साथ होनेवाले विकल्पके भेदोंको भी केवल जानते हैं। भगवान स्वत. तो श्रुतज्ञानकी भूमिकाको उलंघ गये हैं परन्तु श्रुतज्ञानकी पर्यायको केवल जानते ही हैं।

श्रुतज्ञानकी भूमिकामे निर्विकल्प अनुभूतिरूप भाव श्रुत-ज्ञानका उपयोग न हो तव आत्मा मुक्त है और आत्मा मुक्त नही है—ऐसा विकल्प होता है। व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों समान कक्षाके नही हैं। यथार्थ निश्चयकी कक्षा ऊँची है परन्तु जहाँ रागके भेद पड़ते हैं वहाँ दोनों पक्षपात हैं। आत्माका भान होनेके पश्चात् भी स्थिर न रह सके तव विकल्प आये विना नही रहते। श्रुतज्ञान अपूर्ण स्थिति है इससे व्यक्त-अव्यक्त विकल्प आये विना नही रहते। पर्यायकी अपेक्षासे अशुद्ध हूँ और स्वभावकी अपेक्षासे शुद्ध हूँ—ऐसा विकल्प आता है परन्तु ज्ञानी उसकी पकड़मे नही रुकते।

केवलज्ञानी अपने अनन्त गुण-पर्यायोंको समरस एक प्रकारसे जानते हैं उसीप्रकार दूसरोंको जानते हैं और श्रुतज्ञानकी भूमिकाको उलंघ गये होनेसे नयपक्षको ग्रहण नही करते। सकल-पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हुआ है, विमल अर्थात् सर्व पर्यायें निर्मल हुई हैं, निरन्तर प्रकाशमान है, केवलज्ञान सूर्य पूर्ण उदित हो गया है। जिसप्रकार लाख पँखुड़ियोंवाला कमल विकसित होता है उससमय वह सम्पूर्ण-विस्तृत हो जाता है, उसीप्रकार आत्मामे पूर्ण पर्याय विकसित हो-केवलज्ञान पर्याय खिले तव सम्पूर्ण सर्वज्ञ स्वभावरूपी ज्ञान कमल खिल उठता है। राग या द्वेषकी एक भी वृत्ति नही होती क्योंकि रागद्वेषका क्षय हुआ है, विज्ञानका समूह—विज्ञानका पुंज प्रगट हो

गया है, जिसमें कि दो पक्ष होनेका अवकाश नही है, क्योंकि जिसमे दो पक्ष पड़नेका अवकाश है—ऐसी श्रुतज्ञानकी दशाको उलंघ गये हैं।

जिसप्रकार केवली भगवान विश्वके साक्षीपनेके कारण, केवलज्ञान प्रगट हुआ होनेसे और श्रुतज्ञानकी भूमिकाको उलंघ गये होनेसे किसी भी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, उसीप्रकार (श्रुतज्ञानी आत्मा) क्षयोपशमसे जिनकी उत्पत्ति होती है—ऐसे श्रुतज्ञानात्मक विकल्प होने पर भी परका ग्रहण करनेके प्रति उत्साह निवृत्त हुआ होनेसे श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहार-निश्चयनय पक्षोंके स्वरूपको ही केवल जानते हैं।

श्रुतज्ञानी अपूर्ण है, क्षयोपशम ज्ञान है इसलिए विकल्प उठेगा, परन्तु वहाँ भी उनके ग्रहण बुद्धि नही है। यहाँ श्रुतज्ञानीकी केवलज्ञानीके साथ तुलना करते हैं। केवलज्ञानी नयपक्षको ग्रहण नहीं करते, श्रुतज्ञानीके भी नयपक्षकी ग्रहण बुद्धि नहीं है। केवलज्ञानी समस्त जगतके साक्षी हैं, वे नयपक्षके स्वरूपको केवल जानते ही हैं, तो श्रुतज्ञानी भी नयपक्षके दो पक्षोंमे नही रुकते, परन्तु उनका साक्षी रहता है। केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानीमे इतना अन्तर है कि केवलज्ञानीके समस्त ज्ञान विकसित हो गया है और श्रुतज्ञानीके अपूर्ण ज्ञान है।

द्रव्य, गुण और पर्याय, भूत, भविष्यत और वर्तमान, अनन्तकाल व्यतीत हुआ और होगा तथा वर्तमान है उसे, केवलज्ञानी समरूपसे जानते हैं, तीनकाल और तीनलोकको एक साथ जानते हैं, श्रुतज्ञानकी अपूर्ण दशाको उलंघ गये हैं।

श्रुतज्ञानीके अपूर्ण ज्ञानके कारण ज्ञान सक्रमित होता है—बदलता है। ऐसा हूँ और वैसा हूँ—ऐसे विकल्प आते हैं, एक पक्षसे दूसरा पक्ष बदल जाता है। ध्यानमे है कि यह रागमिश्रित विचार आते हैं, ज्ञान होने पर भी विकल्प आये विना नही रहते। रागमिश्रित विचार हैं तथापि रागके साथ श्रुतज्ञानका तर्क है, इससे उन्हे श्रुतज्ञानात्मक विचार कहा है। विकल्प उठता है तथापि ज्ञानीके स्वरूपमे सावधानी है, विकल्पमे सावधानी नही है। मैं अबद्ध हूँ और मैं बद्ध हूँ—ऐसे

विकल्प उठते हैं तथापि उनके प्रति उत्साह नही है, परन्तु एकाग्र होनेके प्रति उत्साह है। मैं शुद्ध हूँ, एक हूँ, ऐसा हूँ और वैसा हूँ—ऐसे विकल्प उठते हैं, परन्तु उनमे वह लीन नही हो जाता, उन्हे रखना नही चाहता, उनमे उत्साह निवृत्त हुआ है इससे उन्हे पकडता नही है। जो विकल्प उठे उसे नाश करनेका भाव वर्त रहा है, स्वरूपका उत्साह वर्तता है, स्वरूपमे स्थिर होने—स्वरूपका अनुभव करने—स्वरूपका स्वाद लेनेके समयसे पूर्व वे विकल्प वर्तते अवश्य हैं, पक्ष भी होते हैं परन्तु उनमे उत्साह नही है वहाँ रुकना नही है, वहाँ अटक जाना पसन्द नही है।

स्वरूपमे स्थिर हुआ इससे साधक और सिद्ध दो एक हो गये, विकल्प छूटे इससे भगवान हो गया। विकल्प उठते हैं तब भी उन्हे जानता ही है।

मैं सर्व विकल्पोसे पृथक् चैतन्य जागृत स्वरूप हूँ—ऐसे चैतन्य स्वरूपके भानमे ज्ञानदृष्टिको तीक्ष्ण करता हुआ आगे बढता है। ऐसी तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टि द्वारा ग्रहण किए गये निर्मल, नित्य उदित, चिन्मय, समयसे प्रतिबद्धपने द्वारा (चैतन्यमय आत्माके अनुभवन द्वारा) उससमय (अनुभवके समय) स्वतः ही विज्ञानघन हुआ, श्रुत ज्ञानात्मक समस्त अन्तर्जल्परूप तथा बहिर्जल्परूप विकल्पोकी भूमिकाके अतिक्रान्तपने द्वारा समस्त नयपक्षके ग्रहणसे दूर हुआ होनेसे किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करता, वह (आत्मा) वास्तवमे समस्त विकल्पोसे पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप अनुभूति मात्र समयसार है।

अपूर्ण ज्ञान है इसलिये निर्मल, नित्य-उदित विशेषण आचार्यदेवने दिया है, केवलज्ञानी पूर्ण हो गये हैं इसलिये सकल विमल-निरन्तर प्रकाशमान विशेषण आचार्यदेवने दिया है।

तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिसे ग्रहण किए गये अपने निर्मल, नित्य-उदित चिन्मय आत्माके प्रतिबद्धपने द्वारा (प्रतिबद्धका अर्थ है आत्माकी

लीनतामे राग-द्वेषकी लीनता रहित) चैतन्यके अनुभवके समय स्वतः ही विज्ञानघन हुआ होनेसे किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करता। मैं रागी हूँ या रागी नही हूँ—ऐसे विकल्पोंकी भूमिकासे अतिक्रांतपने द्वारा किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करता। केवलज्ञानी श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तपने द्वारा किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करते और सम्यग्दृष्टि श्रुतज्ञानके समस्त विकल्पोंके नयपक्षके अतिक्रान्तपने द्वारा किसी भी पक्षको ग्रहण नही करते। इसप्रकार श्रुतज्ञानी भी अनुभवके समय केवलीके समान हैं—वैसा आचार्यदेवने कहा है। केवलज्ञानी एक समयमें सब जानते हैं और श्रुतज्ञानी उसप्रकार नहीं जान सकते—उतना अन्तर है। श्रुतज्ञानी समस्त विकल्पोंसे पर, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप आत्माका अनुभवन करते हैं। परमात्माका अर्थ है द्रव्यसे और ज्ञानात्माका अर्थ है गुणसे, प्रत्यग्ज्योति अर्थात् प्रथग्ज्योति ऐसे अनुभूति मात्र समयसाररूपका सम्यग्दृष्टि अनुभवन करते हैं—स्वसंवेदन करते हैं—स्वाद लेते हैं।

१४३ वीं गाथा पुनः लेते हैं

१४३ वी गाथामें नयपक्षकी बात आई है। आत्मा कर्मोंसे बद्ध है और कर्मबद्ध रहित है—उन दो अपेक्षाओंके भंगमे रुकना वह नयपक्ष है। आत्मा समल है या विमल है, एक है या अनेक है—इत्यादि भंगके पक्षोंमें रुकना वह पक्ष है। परके कर्ताकी ओर नही, शरीरकी ओर नही, वाणीकी ओर नहीं—उसमें तो कहीं रुकना ही नही, परन्तु तू रागवाला है और रागवाला नही है—वैसे भंगके पक्षोंमें रुकना—वह भी तू नही है; तू तो सहजारंभस्वरूप, अभेद, एकाकार ज्ञानघन वस्तु है—उसमें न रुककर, मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ, वस्तुसे एक हूँ और गुणोंसे अनेक हूँ—वैसे रागकी पकड़में ही रुक जाना वहाँ सहज स्वरूपका वेदन नहीं है परन्तु रागका पक्ष है। तब शिष्य पूछता है कि प्रभो! उस पक्षातिक्रांतका अर्थात् जो पक्षका उलंघन कर गया है उसका क्या स्वरूप है? शिष्य जिज्ञासासे पूछता है कि—प्रभो! उस

पक्षका उलघन करके जिसे आत्माका अनुभव हो उसका क्या स्वरूप है—वह मुझे समझाइये.' उसके उत्तर रूप १४३ वी गाथा है।

निर्विकल्प अनुभवके समयकी यह बात है, स्वरूपमे एकाग्र हो तब मैं ऐसा हूँ या वैसा हूँ वैसा विकल्प भी वहाँ नही होता। किसकी भाँति ? केवली भगवानकी भाँति। जिसप्रकार केवली भगवानको विश्वके साक्षीपनेके कारण 'मैं केवली हूँ, मैं दूसरोको उपदेश देता हूँ'—वैसा विकल्प नही होता, केवलज्ञानसे सब कुछ जानते अवश्य है परन्तु विकल्प नही होता। नारकीको नारकी रूपसे जानते हैं, देवको देवरूपसे जानते हैं, मनुष्य, तिर्यंच इत्यादि सम्पूर्ण विश्वको जैसा है वैसा प्रत्यक्षरूपसे जानते हैं। सम्पूर्ण विश्वमे कुछ भी शेष नही रहता, समस्त पदार्थोको केवली भगवान प्रत्यक्ष जानते हैं। समस्त पदार्थ, प्रत्येक पदार्थके सम्पूर्ण गुण, एक-एक गुणकी समस्त पर्यायें, उन सबको प्रत्यक्ष साक्षीभूतरूपसे एक साथ जानते हैं। श्रुतज्ञानके अवयवभूत अर्थात् अशभूत जो निश्चयव्यवहारनयोंके पक्ष हैं, उनके स्वरूपको केवलज्ञानी केवल जानते ही हैं, मुझे केवलज्ञान हुआ मैं सिद्ध हुआ, पहले मैं सिद्ध नही था, पहले शक्तिरूपसे शुद्ध था, और अब पर्याय भी शुद्ध हो गयी—वे सभी नयपक्षोंके विकल्प केवलज्ञानीके नही होते, केवलज्ञानके द्वारा उन नयपक्षोको जानते हैं। कोई कहे कि केवलज्ञानीके दया तो होती है न ? नही, बिल्कुल दया नही होती क्योकि दया राग है, राग दूर होने पर ही वीतरागता प्रगट होती है, राग दूर हो तभी वास्तविक तत्त्व कहलाता है, केवलज्ञानीके रागका अशमात्र भी नही होता।

इससमय महाविदेह क्षेत्रमे श्री सीमधर भगवान तेरहवें गुणस्थानमे केवलज्ञानी रूपसे विराजमान है, भग जाल रूप जो नयपक्ष हैं उनके स्वरूपको केवल जानते ही हैं, सर्व विश्वके साक्षीरूप, केवलज्ञानी रूपसे वर्तमानमें विराज रहे हैं। इससमय इस क्षेत्रमे सर्वज्ञ वीतरागका विरह है, इस भरतक्षेत्रमे जब भगवान महावीर विचर रहे थे तब वे भी तेरहवी भूमिकामे थे, इससमय वे सिद्ध भगवानके रूपमे

विराज रहे हैं। श्री सीमंधर भगवान इससमय महाविदेह क्षेत्रमे विराज रहे है, वे केवलज्ञानी भगवान निरन्तर प्रकाशमान एक धारावाही सहज स्वरूपसे हैं; अव कही प्रयत्न करके उन्हे उपयोग नहीं लगाना पड़ता, सहजपरिणमन दशा है, इसलिए केवलज्ञानीके उपयोग नही है—वैसा कहा जाता है। केवलज्ञान विमल है उसमे किसी भी प्रकारका मल नहीं है, सकल केवलज्ञान द्वारा सदैव स्वतः ही विज्ञानघन होता हुआ स्वरूपाकार ज्ञानविम्व हो गया है, इससे श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तपने द्वारा अर्थात् निम्नभूमिकामे मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ—वैसा अपूर्ण ज्ञानमे होता है वैसी अपूर्ण ज्ञानकी मर्यादाका उलंघन कर गये हैं, केवलज्ञानमे सव कुछ ज्ञात हो गया है इससे वहाँ रागका विकल्प नही होता। अपूर्ण ज्ञानमे ऐसा होता है कि मैं द्रव्यसे ऐसा हूँ और पर्यायसे ऐसा हूँ, परन्तु केवली भगवान उस अपूर्ण ज्ञानकी भूमिका उलघ गये हैं इससे नयपक्षसे दूर हैं, किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करते। रागका भी नाश हो गया है और अपूर्ण ज्ञानका भी नाश हो गया है वीतरागता और पूर्ण ज्ञान वर्त रहा है।

जिसप्रकार केवली भगवान अपूर्ण ज्ञानको उलंघ गये होनेसे नयपक्षको ग्रहण नही करते उसीप्रकार निम्नदशामे यथार्थ प्रतीति हो जानेके पश्चात् श्रुतज्ञानी आत्माको, क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले श्रुत ज्ञानात्मक विकल्प उत्पन्न होने पर भी परका ग्रहण करनेके प्रति उसका उत्साह निवृत्त हुआ है।

निर्विकल्प स्थिरताके समय भी सूक्ष्म वृत्ति पड़ी है; यदि सूक्ष्म वृत्ति भी टूट जाये और पूर्ण स्थिरता हो जाये तो वीतरागता प्रगट हो परन्तु यह तो अपूर्ण ज्ञान है इससे अनुभवके समय भी विकल्प उठते अवश्य हैं, किन्तु वे तो अबुद्धि पूर्वकके विकल्प हैं; वे विकल्प इतने सूक्ष्म हैं कि उन्हे केवलज्ञानी जान सकते हैं छद्मस्थ स्वय उन्हें नही जान सकता।

भगवान विश्वके साक्षीभूत होनेसे केवल जानते ही हैं, उनके सूक्ष्मतया भी विकल्प वृत्ति नही होती, और निम्न भूमिकामे अल्पज्ञान

होनेसे निर्विकल्प ध्यानके समय, स्वरूपके ध्यानके समय रागके कारण ज्ञान अबुद्धिपूर्वक संक्रमित अवश्य होता है, अबुद्धिपूर्वक विकल्प भी आते हैं परन्तु छद्मस्थसे वे पकडे नही जाते ।.विकल्प पकडमे नही आते उन्हे अबुद्धिपूर्वक कहा जाता है । निर्विकल्प ध्यानमेसे बाहर आये तब बुद्धिपूर्वकके विकल्प होते हैं अर्थात् बुद्धिसे पकडमे आयें—ऐसे विकल्प होते हैं, तथापि स्वानुभवके समय उन विकल्पोको ग्रहण करनेमे उत्साह निवृत्त हुआ है, साक्षीरूपसे वह विकल्पको जानता रहता है, पुरुषार्थकी मदताके कारण अस्थिरता है इससे विकल्प आते अवश्य है परन्तु उन विकल्पोको ग्रहण करनेका उत्साह नही होता ।

श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञानके अवयवभूत व्यवहारनिश्चयनय पक्षोंके स्वरूपको केवल जानते ही हैं, जिसप्रकार केवली भगवान जानते हैं उसीप्रकार यह भी विकल्पोका ज्ञाता ही है । ज्ञानका स्व-परको जाननेका स्वभाव होनेसे स्व-परको जानता है, परन्तु उन विकल्पोको ग्रहण करनेकी ओरका उत्साह निवृत्त हुआ है, ज्ञान ज्ञानका ही कार्य करता है, विकल्प उठते है, परन्तु उस ओर उत्साह नही है ।

प्रश्नः—अनुभवके समय अबुद्धिपूर्वकके विकल्पको जान सकता है ?

उत्तरः—अनुभवके समय अबुद्धिपूर्वकके विकल्पको नही जान सकता । यदि जाने, तब तो बुद्धिपूर्वकका विकल्प हो गया, फिर अबुद्धिपना कहाँ रहा ? इसलिए निर्विकल्प ध्यानी अबुद्धिपूर्वकके विकल्पको नही जान सकता । केवलज्ञानी जान सकता है कि इस आत्माके सूक्ष्म विकल्प है परन्तु उसे स्वतःको उसकी खबर नही है । वह तो अपने स्वरूपमे ही लीन है । सातवी भूमिकामे मुनिको भी अनुभवके समय अबुद्धिपूर्वकके विकल्प आते अवश्य हैं परन्तु उन्हे वह पकड़ नही सकते, उन विकल्पोको पकडनेके लिए उपयोग सूक्ष्म होना चाहिये और यदि उपयोग इतना अधिक सूक्ष्म हो तो केवलज्ञान हो जाये । निर्विकल्प ध्यानके समय यदि अबुद्धिपूर्वक विकल्प न हो तो

कषाय न हो और कषाय न हो तो अपूर्ण ज्ञान न हो और अपूर्ण ज्ञान न हो तो सर्वज्ञ हो अर्थात् उससमय केवलज्ञानी हो जाये, परन्तु वैसा तो नही होता इससे अबुद्धिपूर्वक विकल्प है परन्तु उसकी स्वरूप-ध्यानीको खबर नही है, वह तो अपने स्वसंवेदनमे लीन है।

आचार्यदेवने केवली भगवानकी वातमे कहा है कि निरन्तर प्रकाशमान, सहज, विमल, सकल केवलज्ञानके द्वारा नयपक्षको ग्रहण नही करते। और यहाँ सम्यग्ज्ञानीकी वातमे कहा है कि तीक्ष्ण ज्ञानदृष्टिसे ग्रहण किया गया निर्मल, नित्य-उदित चैतन्य है उसमे प्रतिवद्धपने द्वारा नयपक्षको ग्रहण नही करता। इसप्रकार दोनोके विशेषणोमे अन्तर है, क्योकि केवलज्ञान पूर्ण ज्ञान है और श्रुतज्ञान अपूर्ण।

मैं परसे निराला, आनन्दमय, निर्मल आत्मा हूँ वैसी तीक्ष्ण सूक्ष्मदृष्टि द्वारा निर्मल, नित्य-उदित चैतन्यमें प्रतिवद्धपनेको प्राप्त हुआ है। निम्नदशामे पुरुषार्थ है इससे तीक्ष्ण-सूक्ष्मदृष्टि द्वारा निर्मल, नित्य उदित आत्मामे प्रतिवद्धपनेको प्राप्त हुआ है—वैसा कहा है।

नित्य-उदितका अर्थ है स्थायी उदित—ऐसे चैतन्यमे लीनता प्राप्त की है। केवलज्ञानीकी वातमें कहा है कि—सदा विज्ञानघन हुआ है और यहाँ सम्यग्ज्ञानीकी वातमे निर्विकल्प हुआ होनेसे जितने समय तक निर्विकल्प आनन्दमें रहे उतने समय तक स्वतः ही विज्ञानघन हुआ होनेसे आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसारको वेदता है—ऐसा कहा है।

केवलज्ञानीकी वातमे आचार्यदेवने कहा है श्रुतज्ञानकी भूमिकाके अतिक्रान्तपने द्वारा वे किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करते; और यहाँ सम्यग्ज्ञानीकी वातमे अन्तर्जल्प और वाह्यजल्परूप विकल्पोंकी भूमिकाके अतिक्रान्तपने द्वारा समस्त नयपक्षको ग्रहण नही करता।

केवलज्ञानमे किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करता और यहाँ निर्विकल्प उपयोगमे किसी भी नयपक्षको ग्रहण नही करता—वह वात दोनोंमे समानरूपसे ली है।

श्रुतज्ञानी निर्विकल्प उपयोगके समय साधकरूप है और केवलज्ञानी तो पूर्ण हो गये हैं परन्तु निर्विकल्प उपयोगके समय श्रुतज्ञानी भी केवलज्ञानी समान है।

सम्यग्ज्ञानीको निर्विकल्प उपयोगके समय सर्वथा ज्ञान नही जमा है, क्योकि जब निर्विकल्पतामेसे बाहर आता है तब पुन विकल्प उठते हैं। यदि निर्विकल्प उपयोगके समय ज्ञान बिल्कुल जम गया हो तो केवलज्ञान हो जाये, परन्तु वैसा नही होता, इसलिए निर्विकल्प उपयोगके समय अबुद्धिपूर्वक विकल्प होते हैं इससे उपयोग बाहर आनेसे बुद्धिपूर्वकके विकल्प आते हैं। उपयोग बाहर आये और विकल्प आये तब भी उसे ज्ञायकका भान रहता है, ज्ञायकका भिन्न परिणमन रहता है। पृथक् भान रहने पर भी घरके कामकाजके, व्यापार-धन्धेके, दया, दान, पूजा, भक्तिके विकल्प आते हैं, परन्तु उनकी यहाँ बात नही है, यहाँ तो निर्विकल्प अनुभवकी बात है।

आचार्यदेव कहते है कि—वास्तवमे वह श्रुतज्ञानी आत्मा निर्विकल्पताके समय समस्त पक्षोसे पर है, इससे परमात्मा है। देखो! यहाँ श्रुतज्ञानीको परमात्मा कहा है, श्रुतज्ञानीके अपूर्ण पर्याय है तथापि उस अपेक्षाको गौण करके जो आत्माकी उत्कृष्ट स्थिरता है उसके स्वानुभूतिरूपी मालका यह नमूना है, इससे उसे परमात्मा कहा है। यह किसकी बात हो रही है? यह चौथे गुणस्थानवालेकी बात है, चौथे गुणस्थानवालेको आचार्यदेवने परमात्मा कहा है।

स्वरूपमे लीन हुए श्रुतज्ञानी आत्माको आचार्यदेवने ज्ञानात्मा कहा है, स्वतः आत्मा तो है, परन्तु ज्ञान उपयोगको परोन्मुखतासे हटाकर अपने आत्मामे लीन किया है, इसलिए उसे ज्ञानात्मा कहा। स्वरूपमे लीन हुआ वहाँ प्रत्यग्ज्योति हुआ—निर्मल ज्योति हुआ, आत्माकी ख्याति हुई, ईश्वरके दर्शन हुए अपनी प्रसिद्धि हुई, आत्म-साक्षात्कार हुआ। ऐसा अनुभूति मात्र आत्मा साक्षात् समयसार हुआ।

वस्तुका ऐसा अचिंत्य और अद्भुत स्वभाव है। धर्म किसे कहा जाये—उसकी तो अभी खबर ही नही है तो खबरके बिना उस

ओरका प्रयत्न होगा कहाँसे ? यथार्थ श्रवण किए विना समझमे नहीं आता और समझे विना लक्ष्यमे नही आता। जिसे आत्माका कल्याण करना हो उसे वस्तुस्वरूप समझना ही होगा।

भावार्थः—जिसप्रकार केवली भगवान सदैव नयपक्षके स्वरूपके साक्षी हैं, उसीप्रकार श्रुतज्ञानी भी 'ऐसा हूँ और वैसा हूँ'—वैसे पक्षसे छूट जाते हैं तव विकल्पोंसे रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्र भावका अनुभव करते है, और समस्त नयपक्षोके स्वरूपके ज्ञाता-दृष्टा हो जाते हैं।

एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण करे कि रागी ही हूँ अथवा रागी नही हूँ; दोनोंमेंसे किसी भी एक पक्षका ग्रहण करे तो वह पक्षपात है और मिथ्यात्वसे मिला हुआ राग है। व्यवहारनयको जाने अवश्य परन्तु व्यवहारनयको आदरणीय माने तो वह पक्ष है और मिथ्यात्वके साथ मिला हुआ राग है। वन्धको जाने तो अवश्य परन्तु आदरणीय माने तो एकान्त पक्ष हुआ। अकेला शुद्धस्वभाव माने और वन्धको न माने तो वह भी एकान्त पक्ष है, मिथ्यात्वके साथ मिला हुआ राग है।

यदि आत्मा अवस्थामें भी पूर्ण हो गया हो तो विकल्प कैसे उठे ? विकल्प उठता है वह असद्भूतव्यवहार है। विकल्परूप अशुद्ध अवस्था है वह व्यवहार है और आत्माका शुद्धस्वरूप है वह निश्चय है। भेद है वह व्यवहार है और अभेद है वह निश्चय है। उन दोनोंको मुख्य-गौण रूपसे जानना वह नय है। शुद्धद्रव्यकी प्रतीतिके विषयका वल और द्रव्यदृष्टिका ज्ञान तथा पर्यायका ज्ञान हो तो स्वभावकी साधनाका पुरुषार्थ जागृत होता है, द्रव्यदृष्टिके विषयके वल विना द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि—दोनो नयोका ज्ञान सच्चा नही होता और दोनों नयोंके ज्ञान विना द्रव्यदृष्टिके विषयका वल यथार्थ नही होता, इसलिए दोनोंमेंसे यदि कोई भी एक न हो तो पुरुषार्थ जागृत नही होता।

निमित्तको न जाने तो ज्ञान मिथ्या है, और निमित्त तथा मैं दोनो एक हैं—वैसा माने तो श्रद्धा मिथ्या। एक कहे कि आत्मामे मलिन पर्याय ही नही है, आत्मा बिल्कुल शुद्ध ही है—इसप्रकार पर्याय रहित वस्तुको माने तो ज्ञान मिथ्या है, और अकेला व्यवहार अर्थात् पर्याय ही माने, निश्चय वस्तुको न माने तो वस्तुके विना निर्मल पर्याय होगी कहाँसे ? इसलिए मात्र पर्यायको माननेवालेका ज्ञान भी मिथ्या है। ज्ञान दोनो पक्षोका होना चाहिए, यदि दोनो पक्षोका ज्ञान हो तो हेय और उपादेयको जानकर स्वसन्मुख हो।

व्यवहार जानने योग्य है, परन्तु आदरणीय एक निश्चय वस्तु ही है। यदि व्यवहारसे लाभ माने तो व्यवहार स्वत ही निश्चय हो गया। व्यवहारके आश्रयसे सम्यग्दर्शनादि नही होते, क्योंकि व्यवहार पराश्रय है; पराश्रयसे स्वाश्रय कैसे प्रगट होगा ? गुण-पर्यायके भेदरूप व्यवहारके आश्रयसे भी निर्मल पर्याय कैसे प्रगट हो ? अभेदके आश्रयसे स्वभाव पर्याय प्रगट होती है परन्तु भेदके आश्रयसे स्वभावपर्याय प्रगट नही होती। स्वाश्रय सो निश्चय स्वभाव है इसलिए स्वाश्रयसे स्वभावपर्याय प्रगट होती है—वह वास्तविक स्थिति है।

ज्ञानी स्वभावदृष्टिसे रागादिका कर्ता नही है, तथापि पुरुषार्थकी अशक्तिसे राग होता है उसे जानना वह व्यवहारनय है। झुकना चाहिये अपने पूर्ण स्वभावकी ओर और ज्ञान करना चाहिए द्रव्य पर्याय दोनोका। जो अवस्थामे राग न हो तो फिर वहाँसे पीछे हटना क्या ? और स्वभाव अविकारी न हो तो फिर सन्मुख होना किसमे ? स्वभाव अविकारी है उस ओर उन्मुख होता है और पर्यायमे विकार है उस ओरसे विमुख होता है, इसलिये निश्चयनयका विषय ध्रुवस्वभाव है और व्यवहारनयका विषय पर्याय—वे दोनो नय ज्ञान करने योग्य हैं और आदरणीय एक निश्चयनय ही है।

कोई ऐसा माने कि मैं मात्र शुद्ध हूँ, अवस्थामे न राग है और न विकल्प हैं—वैसा एकान्त माने वह भी मिथ्यात्व है, और जो द्रव्य स्वभावको न समझे और मात्र व्यवहार-व्यवहार करता रहे उसे

सच्चे व्यवहारका ज्ञान होगा ही कहाँसे ? इसलिए व्यवहारकी पकड़-वाला भी मिथ्यात्वी है।

अपने आप समयसार बाँचे तो समझेगा क्या ? व्यवहार और निश्चयका स्वरूप क्या है वह तो समझ नही सकता और कहता है कि इसमें तो दोनो नय आते हैं; परन्तु उस बातके लिये अस्वीकार कौन करता है ? ज्ञान तो दोनोका करने योग्य है परन्तु उनमें आदरणीय कौन सा है ? भेद या अभेद ? व्यवहारकी ओर लक्ष्य करनेसे विकल्प होता है, राग होता है, भेद पडता है, भंग पड़ते हैं; परन्तु निर्मल अभेद शुद्धस्वभाव है उस पर लक्ष्य करनेसे—उस ओर उन्मुख होनेसे पर्याय निर्मल होती है, शुद्धता बढ़ती है, राग दूर होता है, विकल्प छूटते हैं, इसलिये आदरणीय तो एक निश्चयनय है, उन्मुख होने योग्य निश्चयनय है और ज्ञान करने योग्य व्यवहार–निश्चय दोनों हैं।

एक पक्षको सर्वथा ग्रहण करे कि आत्मामें राग नही है, द्वेष नही है—इत्यादि कोई भी मलिनता नही है, तो आचार्यदेव कहते है कि—ऐसी झूठी बात तू लाया कहाँसे ? तेरी पर्यायमे मलिनता वर्तमान हो रही है, मलिनतामे निमित्त भी सम्मुख हैं उनका ज्ञान तो कर·· ·· अवस्थामे जो मलिनता है उसे जानकर छोड़, निश्चय एकरूप शुद्ध स्वभाव है उसे जान करके आदर, मलिनताको जाने विना मलिनताको दूर करनेका पुरुषार्थ नही होगा; दोनो पक्ष समझे बिना जो एक ही ओर खीचातानी करे वह मिथ्यादृष्टिका राग है।

एक नयका सर्वथा पक्ष ग्रहण करे तो वह मिथ्यात्वके साथ मिला हुआ राग है और प्रयोजनके वश एक नयको प्रधान करके उसका ग्रहण करे तो मिथ्यात्वके अतिरिक्त मात्र चारित्रमोहनीयका राग है।

प्रयोजनवशका अर्थ है आवश्यकताके कारण। जैसे कि कोई कर्मको न मानता हो तो उससे कहते हैं कि भाई! यह विकार होता कहाँसे है ? इत्यादि अशुद्ध पर्यायके ओरकी, बात की उससमय रागको स्थापित करते है और वस्तुस्वभावको गौण करते हैं। और कोई

द्रव्यस्वभावको न माने, मात्र पर्यायको ही माने, निमित्तको ही माने तव उससे कहते हैं कि द्रव्यस्वभाव ही मूल वस्तु है, द्रव्यस्वभावके विना निर्मल पर्याय कहाँसे आयेगी ? निमित्तका और पर्यायका तो ज्ञान करने योग्य है—इसप्रकार एक नयको मुख्य करके प्रयोजनवश कहे तो मिथ्यात्व नही परन्तु चारित्रमोहका राग है।

निगोदका आत्मा सिद्ध समान है तथापि निगोदमे और सिद्धमे जो अन्तर है वह पर्यायका है, निगोदसे लेकर सिद्ध तक वीचमे जितनी न्यूनाधिक विकासकी अवस्था वह सव व्यवहार है।

पहला पक्ष तो सर्वथा एक नयको ग्रहण करके एकान्त मानता है, इसलिये मिथ्यात्व है और दूसरा पक्ष प्रयोजनवश व्यवहार या निश्चयको मुख्य-गौण करता है—वह मिथ्यात्वरहित चारित्रमोहनीयका राग है। तीसरे पक्षमे, स्वरूपमें स्थिर हो तव राग नही है—वीतराग जैसा ही है, जव नयपक्षको छोडकर वस्तुस्वरूपको मात्र जाने ही—तव उससमय श्रुतज्ञानी भी केवलीकी भाँति वीतराग जैसा ही होता है—ऐसा जानना चाहिए। चौथे, पाँचवें और सातवें गुणस्थानमे आत्मानुभवके समय नयके रागको छोडकर श्रुतज्ञानी भी वीतराग जैसा ही होता है; वीतराग नही परन्तु वीतराग जैसा ही—ऐसा कहा है। भावार्थमे भी टीका जैसी सधि की है, अत्यन्त स्पष्टीकरण किया है। यदि वरावर ध्यान पूर्वक पढे तो सब समाधान हो जाये—ऐसा है। ऐसी उच्च वस्तु महा भाग्य विना सुननेको नही मिलती।

वह आत्मा ऐसा अनुभव करता है—वह कलशमे कहते हैं:—

(स्वागता)

चित्स्वभावभरभावितभावा-
भावभावपरमार्थतयैकम्
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां
चेतये समयसारमपारम् ॥९२॥

अर्थः—चित्स्वभावके पुंज द्वारा ही अपने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अनुभवमे आते हैं (किये जाते हैं)—ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप होनेसे जो एक है—ऐसे अपार समयसारको मैं, समस्त बन्ध पद्धतिको दूर करके अर्थात् कर्मके सम्पर्कसे होनेवाले सर्व भावोंको छोड़कर अनुभव करता हूँ।

चित्स्वभावके पुंज द्वारा अपने उत्पाद, व्यय और ध्रुव अनुभवमे आते हैं। अहो ! उत्पाद, व्यय और ध्रुवस्वरूप आत्माका अनुभव हो ऐसा आचार्यदेव बतलाते हैं। इसमे अचित्य स्वरूप द्रव्य है वह आचार्यदेवने बताया है। ज्ञानस्वभावके पुंज द्वारा अर्थात् ज्ञानस्वभावके समूह द्वारा अपने उत्पाद, व्यय और ध्रुवभाव अनुभवमें आते हैं। उत्पाद निर्मल है, व्यय भी निर्मल और ध्रुव भी निर्मल है—तीनों निर्मल हैं। ऐसा जिसका परमार्थ स्वरूप निर्मल होनेसे जो एक है; उत्पाद, व्यय और ध्रुव तीन प्रकारसे होने पर भी जो एक है, अपार है, असीम है;—ऐसे असीम सामर्थ्यवाले अपार समयसारका मैं अनुभव करता हूँ; कर्मके उत्पाद—व्ययसे होनेवाले सर्व भावोको छोड़कर मैं अनुभव करता हूँ। जब लिखनेकी ओर लक्ष्य हो तब आत्मा अनुभवमें नही आता, परन्तु जब आत्मामे स्थिर होता है तब आत्मा अनुभवमें आता है।

निर्विकल्प अनुभव होनेसे, जिसके केवलज्ञानादि गुणोंका पार नही है—ऐसे समयसाररूपी परमात्माका अनुभव ही वर्त रहा है, 'मैं अनुभव करता हूँ'—ऐसा विकल्प भी जहाँ नही होता।

जिसके अनन्तानन्त गुणोका पार नही है, ऐसे समयसाररूपी परमात्माका अनुभव जब वर्तता है तब, मैं अनुभव करता हूँ—एकाग्र हुआ हूँ—ऐसा विकल्प भी नही होता। ज्ञान वर्त रहा है, वेदन वर्त रहा है परन्तु विकल्प वहाँ नही है,—ऐसा पक्षातिक्रान्तका स्वरूप है। अब कर्ताकर्मकी अतिम गाथा रही है। जो पक्षातिक्रान्त है वही समयसार है—ऐसा अब कहेगे।

क्रमबद्ध पर्यायमें स्वसन्मुखतारूप पुरुषार्थ आदि पांच समवाय

पक्षातिक्रान्त ही नियमसे समयसार है । सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान ही समयसार है । सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनो पुरुषार्थसे प्रगट होते हैं । चैतन्यके एक क्षणके पुरुषार्थकी उग्रतामे पुरुषार्थ, स्वभाव, काल, नियति और कर्म पांचो समवाय आ जाते हैं । वस्तुके ऊपर यथार्थ दृष्टि हुई वह पुरुषार्थ द्वारा हुई वह पुरुषार्थ । १ । उस पुरुषार्थके द्वारा जो स्वभाव था उसमेसे पर्याय प्रगट हुई—वह स्वभाव । २ । जिस समय पर्याय प्रगट हुई वह स्वकाल अर्थात् काल । ३ । और पुरुषार्थ द्वारा जो पर्याय क्रमबद्ध होने की थी वह हुई वह नियत । ४ । और पुरुषार्थसे स्वभाव प्रगट होनेके समय जो कर्मका अभाव हुआ वह कर्म । ५ । चार समवाय अस्तिरूपसे चैतन्यमे आ जाते है और अन्तिम कर्मका अभाव वह नास्तिपरिणमनरूपसे चैतन्यमे आ जाता है ।

आत्माकी पर्याय प्रगट होनेमे पाँचो कारण होते हैं, उन सवमे पुरुषार्थ मुख्य है । जैसी वीर्यकी उग्रता या मदता होती है उसी प्रकार कार्य आता है । जो पुरुषार्थ करे उसे दूसरे चारो कारण आ जाते हैं । जो पुरुषार्थको स्वीकार नही करता उसे एक भी कारण लागू नही पडता । सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र, सव पुरुषार्थसे ही प्रगट होते है ।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ही समयसार है, उसके साथ आशिक, चारित्र होता है, परन्तु मुख्यतया तो यहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान की ही वात ली है । उनके साथ आशिक चारित्र होता है और पश्चात् क्रमशः पूर्ण चारित्र प्रगट होता है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विना चारित्र प्रगट ही नही होता, इसलिये यहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी वात मुख्यतया ली है ।

पक्षातिक्रान्त ही समयसार है—ऐसा नियमसे सिद्ध होता है—ऐसा अव कहते हैं—

सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदित्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ।१४४।

सम्यक्त्व और सुज्ञान की, जिस एकको संज्ञा मिले।
नयपक्ष सकल विहीन भाषित, वो समयका सार है ॥१४४॥

अर्थः—जो सर्व नयपक्षोंसे रहित कहा गया है वह समयसार है; इसीको–(समयसारको ही) केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान–ऐसी संज्ञा (नाम) मिलती है। (नाम पृथक् होने पर भी वस्तु एक ही है।)

यह गाथा वहुत उच्च है। यह गाथा तो कर्ता कर्मकी वहुत–वहुत वात करते–करते और परके और रागादिकके साथ कर्ता कर्म भावको छोड़ना कहते–कहते आई है। परन्तु लोग कहते हैं कि हमें यह समझमे नही आता इसलिये दूसरा कुछ करनेके लिए कहो। परन्तु भाई! पाप करना तो कोई कहता ही नही, अशुभ भावकी अपेक्षा शुभभावोंमें रुके वह ठीक है, परन्तु प्रथम स्वभावको समझना चाहिये; क्योकि स्वभावके भान द्वारा विकारका अन्त आता है। शुभभाव विकार है, विकारसे स्वभाव समझमें नही आता किन्तु ज्ञान द्वारा समझमें आता है। शुभभावसे पुण्यवन्ध होता है परन्तु भवका अंत नही आता। शरीरकी क्रिया मैं कर सकता हूँ, विकारकी क्रिया मैं कर सकता हूँ—वह वात तो दूर रही, परन्तु यह तो आँगनमे आकर मैं शुद्ध हूँ और मैं शुद्ध नहीं हूँ—ऐसे दो पक्षोंके रागमे रुकेगा वहाँ तक विकार दूर नही होगा और जिसमे राग विल्कुल नहीं है उसको ग्रहण किये विना निर्विकल्प स्वभावकी प्राप्ति नही होगी; सहज स्वभावकी प्राप्तिके विना वीतराग नही होगा और वीतरागताके विना मुक्ति नही होगी। प्रथम सहज ज्ञान स्वरूपका निर्णय करनेके लिये मैं वद्ध हूँ और मैं अवद्ध हूँ—ऐसे विचार आते अवश्य हैं, निर्णय करनेके लिए विचारोंका मंथन आता अवश्य है, और वैसा करनेसे वह प्रतीति हो वह तो ज्ञानकी पर्याय है परन्तु साथमे जो राग है वह विकार है। अपूर्ण ज्ञानमे विचार होता है और विचारके साथ राग होता है, इसलिये उस अपूर्ण ज्ञानकी पर्याय जितना आत्माका अखण्ड स्वरूप नही है; आत्मा तो परिपूर्ण ज्ञानसामर्थ्यसे भरपूर है; वर्तमान समयमे ही अपार सामर्थ्यसे परिपूर्ण–ऐसे आत्मा पर

लक्ष्य करनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है। आत्माकी परिपूर्ण दृष्टिमे अपूर्ण पर्याय आदरणीय नही है। स्वरूपमे स्थिर होनेसे रागमिश्रित विचार छूट जाते है, जबतक राग मिश्रित विचारोमे रुकता है तब तक स्वरूपका स्वाद नही ले सकता। साधक-दशामें रागमिश्रित विचार आते अवश्य हैं, परन्तु स्वरूपका अनुभव करते समय वे विचार छूट जाते हैं। अशुभ परिणामोसे बचनेके लिये रागमिश्रित शुभ विचारोमे रुकता अवश्य है, परन्तु स्वरूपके अनुभवके समय वे विचार भी छूट जाते हैं।

कोई कहेगा कि हमे सच्चा वस्तु स्वरूप समझनेका क्या काम है ? हम तो व्यवहार-शुभभाव करते रहेगे। परन्तु भाई ! शुभभावोसे पुण्य होगा-सयोग मिलते हैं परन्तु वे संयोग और शुभभाव तो अजागृत भाव हैं वे मरणके समय जागृति किसप्रकार रखायेंगे ?

मरते समय कुछ भी भान नही रहेगा, असाध्य हो जायेगा। नित्य जागृत स्वभावका भान नही है, शुद्ध धर्मकी खबर नही है— उसका फल तो मूढता ही आयेगा न ? शुभाशुभ भाव करे उसके फलमे सयोग मिलते हैं अर्थात् बाह्य सयोग मिलते हैं, परन्तु उसके फलमे आत्माकी जागृति नही मिलती, क्योकि शुभभाव तो विकार है, और विकारका फल सयोग मिलता है, परन्तु यदि आत्माके शुद्ध स्वभावका भान किया हो तो आत्मामेसे आत्माकी जागृति रहे। सारे जीवनभर शुभभाव किए हो परन्तु मरण समय असाध्य हो जाता है क्योकि देहसे आत्माको पृथक् स्वीकार नही किया है, देहाध्यास नही तोडा है, शुभराग करने योग्य मानता है शुभाशुभ परिणामोंसे भिन्न आत्माको स्वीकार नही किया है, परके साथ एकत्व बुद्धि है इससे मूढ हो जाता है। परसे भिन्न आत्माका यदि भान हो तो परसे पृथक् रहकर आत्माकी जागृति रख सकता है। जिसे भिन्न चिदानन्द आत्मा-का भान नही है वह जीवित होते हुए भी असाध्य है और मरते समय भी असाध्य हो जाता है। मैं चिदानन्द आत्मा ज्ञानस्वभावी हूँ, मैं शरीररूप नही हूँ, वचनरूप, मनरूप, शुभाशुभ विकाररूप मैं नहीं हूँ—ऐसा

पृथक् आत्माका जिन्हें भान नहीं है वे सब असाध्य हैं। इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि—यह जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहलाता है—उसका भान कर, उसे प्रगट कर! और वे कहते हैं कि जो सर्व नयपक्षोंसे रहित कहा गया है वही समयसार है, और इसी समयसारको केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। नाम भिन्न हैं तथापि वस्तु एक है।

आत्मा परसे भिन्न, शुद्ध–पवित्र, ज्ञानमूर्ति है—ऐसा निर्णय करके उसमें स्थिर हुआ उसीको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान कहते हैं। नाम भिन्न हैं तथापि वस्तु एक ही है। मैं शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ, वद्ध हूँ या अवद्ध हूँ—वैसे पक्षोंमें लगा रहे, तथापि उन पक्षोंके छूट जानेसे, अनन्त गुण–पर्यायकी मूर्ति चैतन्य स्वरूपमें स्थिर होनेसे मात्र अकेला आत्मा रह जाये वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

जो वास्तवमें समस्त नयपक्षों द्वारा खण्डित न होनेसे जिसका समस्त विकल्पोंका व्यापार रुक गया है–ऐसा है—वह समयसार है। वास्तवमें इस एकको ही केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका नाम मिलता है। (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान समयसारसे भिन्न नहीं—एक ही हैं।)

जो समस्त नयपक्षों द्वारा खण्डित होता था,—मैं शुद्ध हूँ, मैं एक हूँ; और गुणसे तथा पर्यायसे अनेक भी हूँ—ऐसे विकल्पोंसे खण्डित होता था, राग मिश्रित पक्षसे स्वरूपका भंग हो जाता था,—वह जव समस्त नयपक्षोंके विकल्पोंको पुरुषार्थसे रोक देनेसे खण्डित नहीं हुआ–तव अखण्डित हुआ। समस्त विकल्पोंका व्यापार रुक गया है और अपने अखण्डित स्वरूपका अनुभव करता है वही समयसार है, वही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, समयसारसे पृथक् नहीं हैं।

यह केवलज्ञानीकी वात नहीं परन्तु चौथे गुणस्थानकी वात है, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्ज्ञानीकी वात है।

रागके विकल्पसे खण्डित होता था वह स्वरूपका निर्णय करके स्वरूपमे स्थित हुआ–वहाँ जो खण्ड होता था वह रुक गया और मात्र आत्मा अनन्त गुणोसे भरपूर आनन्द स्वरूप रह गया। मैं शुद्ध हूँ, मैं अशुद्ध हूँ, मैं बद्ध हूँ और मैं अबद्ध हूँ—ऐसे विकल्पोसे छूट गया और अकेला आत्मतत्त्व रह गया—उसका नाम सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है, और वही समयसार है। समयसार यह पृष्ठ नही है, अक्षर नही है, यह पन्ने तो जड हैं। आत्माके आनन्दमे लीनता वह ही समयसार है। स्वरूपका बरावर निर्णय करके विकल्प छूट जायें, पश्चात् अनन्त गुण सामर्थ्यसे भरपूर मात्र आत्मतत्त्व रहा वही समयसार है।

कोई कहेगा कि यह तो आप परमात्माकी बात करते हो; केवलज्ञानीकी बात करते हो। परन्तु भाई! यह तो एक अशकी बात है, मात्र बानगीकी बात है, अभी पूरा करना तो शेष रहा है, इससे अनन्त गुना पुरुषार्थ शेष रहा है। अभी पूर्ण स्थिरता प्रगट नही हुई है, पूर्ण वीतरागरूप स्थिरता तो आशिक स्थिरतामे वृद्धि करते–करते होती है। यह तो मात्र अंश प्रगट हुआ है, अभी श्रावकत्वकी स्थिरता, मुनित्वकी स्थिरता, केवलज्ञानकी स्थिरता–वह सव शेष है। यह तो मात्र चौथी भूमिकाकी बात है। ऐसा निर्विकल्प अनुभव होनेके पश्चात् राजपाट करे, गृहस्थाश्रममे हो तथापि परसे निराले आत्माका भान उसके वर्तता रहता है इससे वह ज्ञाता रहता है, इसलिए वह आत्मामे रहा है परन्तु गृहस्थाश्रममे नही रहा है। निर्विकल्प अनुभव सदैव नही रहता, अतर्मुहूर्त रहता है, पश्चात् राज्य, व्यापारादि विकल्प उठते हैं परन्तु उनका वह कर्ता नही होता, स्वरूपका पृथक् भान रहता है। व्यापार, धन्धा, राजपाट करते समय भी किसी २ समय स्वरूपमे उपयोग स्थिर भी होता है परन्तु चौथा गुणस्थान है इसलिये विशेष स्थिरता नही होती।

स्वयं जातिसे वणिक हो, परन्तु जव बालक हो तव किसानके भी यहाँ जाये और वह खाने–पीनेको दे तो खाता–पीता है, क्योकि उसे खवर नही होती कि मैं वणिक हूँ। और जब बड़ा हुआ तव खबर

हुई कि मैं वणिक हूँ, मुझे किसानके यहाँ नही खाना–पीना चाहिये यदि वह पानी पियु तो अपवित्र हो जाऊँ—ऐसा बड़े होने पर ध्यान आता है और वृद्ध होने पर तो सभी प्रकारका बाह्यका बहुत ध्यान आ जाता है। उसी प्रकार अनादि अज्ञानसे मैं कौन हूँ और पर कौन है—इसकी खबर न होनेसे परका अभिमान करता है, पर मेरा है और मैं परका हूँ, पर मेरा कर सकता है और मैं परका कर सकता हूँ—इसप्रकार बाल भावसे अज्ञानका भोजन–पान करता है, परन्तु जहाँ भान हुआ कि मैं परसे निराला, निर्विकल्प चैतन्यज्योति आत्मा हूँ, मैं परका कुछ नही कर सकता और न पर मेरा ही कुछ कर सकता है—ऐसा भान हुआ कि वहाँ जवान हुआ—वह जवानीकी चाल है। यह चौथी भूमिकाकी बात है, सम्यग्दर्शनकी बात है, यह आत्म जागृतिकी बात है; अभी स्थिरता शेष है, अशतः स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ है, परन्तु अभी पाँचवी और छठवी–सातवी भूमिकाकी स्थिरता प्रगट नही हुई है अर्थात् अभी चारित्र प्रगट नही हुआ है, क्रमानुसार पाँचवी–छठवी–सातवी भूमिकाकी स्थिरता प्रगट करके आगे बढ़कर वीतराग हो–केवलज्ञान प्रगट करे वह वृद्धपना है। इस १४४ वी गाथामे तो सम्यग्दर्शनकी बात है, आत्माके अनुभवकी बात है, पूर्ण स्थिरताकी बात नही है।

सम्यग्दर्शन प्रगट करनेके लिये—आत्माका अनुभव करनेके लिये प्रथम क्या करना चाहिये वह आचार्यदेव कहते हैं। प्रथम श्रुत-ज्ञानके अवलम्बनसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिये।

प्रथम क्या करना चाहिए वह आचार्यदेवने कहा है। प्रत्येक जीव सुखकी इच्छा करता है, किन्तु पूर्ण सुख किसने प्रगट किया है? वैसा पूर्ण पुरुष कौन है? उसकी पहिचान करना चाहिये, और उस पूर्ण पुरुषने सुखका स्वरूप क्या कहा है—उसे जानना चाहिए। उस सर्वज्ञ पुरुषके कहे हुए वाक्य—वह आगम है। इसलिए प्रथम आगममें सुखका स्वरूप क्या कहा है उसे जानकर उसका अवलम्बन करके, ज्ञानस्वभाव आत्माका निर्णय करना चाहिये, निर्णय है वह पात्रता है और आत्मा-

का अनुभव उसका फल है। इस गाथामे पात्रता और उसका फल-दोनो बताए हैं। ऐसा निर्णय करनेकी जहाँ रुचि हुई वहाँ अन्तरमे कषायका रस मद पड ही जाता है। तत्त्व विचार द्वारा कषायका रस मद पडे विना इस निर्णय पर नही पहुँचा जा सकता। प्रथम श्रुत-ज्ञानका अवलम्बन करना—ऐसा कहकर आचार्यदेवने सच्चा आगम क्या है ? उसका कहनेवाला पुरुष कौन है ? इत्यादि सभी निर्णय करनेको कह दिया है, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र कौन हैं ? उन सबका निर्णय आ जाता है। ज्ञानस्वरूप आत्माका निर्णय करनेमे सच्चे देव-गुरु-शास्त्रका निर्णय करना आदि सब एक साथ आ जाता है।

प्रथम श्रुतज्ञानका अवलम्बन करना कहकर आचार्यदेवने उसमे बहुत-बहुत समाविष्ट किया है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और मिथ्या देव-गुरु-शास्त्रको पहिचानकर उनका निर्णय करना कि यह सच्चे हैं और यह मिथ्या हैं। जिस आगममे एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ भी कर सकता है—ऐसा कहा हो वह आगम सच्चा नही कहलाता, उसे कहनेवाला गुरु भी सच्चा नही है, ऐसा बतानेवाला देव भी सच्चा नही है, लेकिन दोनो तत्त्व भिन्न हैं, प्रत्येक तत्त्व स्वाधीन है, कोई तत्त्व किसी तत्त्वके आधारसे नही है, कोई तत्त्व किसी तत्त्वका कुछ भी करे तो तत्त्व पराधीन हो जाये परन्तु ऐसा तो बनता नही है। प्रत्येक तत्त्व स्वाधीन है। एक तत्त्व दूसरे तत्त्वका कुछ नही कर सकता—ऐसा वस्तुका स्वरूप बतानेवाला देव भी सच्चा है, गुरु भी सच्चा है और शास्त्र भी सच्चा है—ऐसी पहचान करके देव-गुरु-शास्त्र कथित, जो आत्माका स्वरूप है उसका विचार करके अपने द्वारा, श्रुतज्ञानके अवलम्बन द्वारा ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करना चाहिए। वह निश्चय ऐसा अपूर्व करना कि जिस निश्चयके फलमे आत्माका अनुभव हो, केवलज्ञान हो केवलदर्शन हो और अनन्त गुण प्रगट हो। आगम द्वारा, सद्गुरु द्वारा निर्णय करना उस निर्णय करनेमे रागका अंशतः अभाव होकर निर्णय होता है, परन्तु निर्णयके समय बुद्धिपूर्वकके सर्व विकल्प नही छूट जाते, स्वभावमे स्थिर नही हो जाता, परन्तु जब

निर्णय करता है उस समय भी आत्मासे आत्माका निर्णय करता है। मन और रागकी गौणता करता है; आत्माको अधिक करता है और रागको गौण करता है—अर्थात् अंशतः रागसे मुक्त होकर स्वतः अधिक होकर आत्मासे आत्माका निर्णय करता है। परन्तु जब स्वरूपमें स्थिर हो जाता है तब बुद्धिपूर्वकके विकल्प छूट जाते हैं—बुद्धिपूर्वकका मनका निमित्त छूट जाता है और चिद्रूप–चिदानन्दमें उपयोग लीन होता है।

जो आगम आत्माका ज्ञानलक्षण न बताये किन्तु विकारलक्षण बताए, पराधीनलक्षण बताए–वह आगम मिथ्या है, निमित्त ही उपादान है—ऐसा बताये वह आगम मिथ्या है। यदि निमित्त कार्य कर देता हो तो निमित्त निमित्तरूप नहीं रहा परन्तु उपादान हो गया, निमित्त मात्र उपस्थितिरूप हो तो निमित्त निमित्त कहलाये। यदि निमित्त, उपादानका कार्य कर देता हो तो वह (निमित्त) उपादान हो गया, परन्तु निमित्तरूप नही रहा। सूर्य कमलको नही खिला देता, परन्तु जब कमल खिले तब सूर्यकी उपस्थिति होती ही है—ऐसा सम्बन्ध है। जो शास्त्र आत्माका स्वाधीन लक्षण बताए वह शास्त्र सच्चा है, वह स्वाधीन स्वरूप बतानेवाला देव भी सच्चा है और वैसा स्वाधीन स्वरूप बतानेवाला गुरु भी सच्चा है।

आचार्यदेव कहते हैं कि प्रथम श्रुतज्ञानका अवलम्बन लेना, श्रवण करना–मनन करना और सत्समागम करना। आगमके आधारसे ज्ञानस्वभाव आत्माका निश्चय करना। जीवोको रुचि नही है, यदि रुचि हो तो पुरुषार्थ किए बिना नही रहे। अरे भाई! आत्माकी रुचि कर! मरण समय कौन शरण होगा? भेड़–बकरीकी तरह मरण हो वह कही मरण कहलाता है? लक्षाधीश या करोड़ाधीश हो, सैकड़ों आदमी खड़े हों फिर भी चला जाता है, वहां कौन शरण है? घोर वेदनामे असाध्य होकर चला जाता है उसमय कौन शरण है? यदि आत्माकी जागृति की होगी तो वह साथ आयेगा। प्रथम आत्माकी सच्ची जिज्ञासा करे, सत्य कहाँ है उसे खोजे, सच्चा देव कौन है? सच्चा गुरु

कौन है ? सच्चा शास्त्र कौन है ? उन्हे शोधे, और वे जो बता रहे है उसका निर्णय करनेके लिये समय निकाले, फिर निर्णय करे कि मैं परसे निराला, स्व–परका ज्ञाता, अनन्त गुण मूर्ति आत्मा हूँ । यह राग द्वेष मेरा स्वभाव नही है, परका अच्छा–बुरा करना मेरा स्वभाव नही है, परका कर्ता होना मेरा स्वभाव नही है, परका स्वामित्व रखना मेरा स्वभाव नही है, मैं तो 'ज्ञान स्वभावी आत्मा हूँ', स्व–परका ज्ञायक हूँ, किन्तु किसी भी प्रकार परका कर्ता नही हूँ—ऐसा निर्णय प्रथम श्रुत-ज्ञानसे करना चाहिए ।

प्रथम सच्चा निर्णय किए विना निर्विकल्प अनुभव नही होता । सत् स्वरूप प्रगट करनेमे सच्चे देव, गुरु और शास्त्रका निमित्त आया । सच्चे पुरुषार्थसे सच्चे निर्णयका निमित्त भी आया, वह अन्तरका निमित्त हुआ, सच्चानिर्णय कारण हुआ और पश्चात् अनुभव आया । सच्चा निश्चय करनेके पश्चात् भी आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिये, आत्मा-की शाति और आनन्दके वेदनके लिए अन्तरोन्मुख किसप्रकार होता है—वह आचार्यदेव कहते हैं । इस टीकाका भाव वहुत ऊँचा है । जव आत्माकी प्रगट प्रसिद्धि करना हो तब परकी प्रसिद्धि छोडना चाहिये । आत्माके अनुभवके उपभोगके लिए सच्चा निर्णय करनेके पश्चात् स्वोन्मुख किस प्रकार होता है—वह आचार्यदेव कहते हैं ।

सच्चा निश्चय करनेके पश्चात्, आत्माकी प्रगट प्रसिद्धिके लिए, पर प्रसिद्धिके कारणो जो इन्द्रिय द्वारा और मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धियाँ हैं उन्हे मर्यादामे लाकर जिसने मतिज्ञान–तत्त्वको (मतिज्ञानके स्वरूपको) आत्म सम्मुख किया है—ऐसा, तथा नानाप्रकारके नय-पक्षोके आलम्वनसे होने वाले अनेक विकल्पो द्वारा आकुलता उत्पन्न करने वाली श्रुतज्ञानकी बुद्धिओको भी मर्यादामे लाकर श्रुतज्ञान तत्त्वको भी आत्मसम्मुख करता हुआ, अत्यन्त विकल्प रहित होकर, तत्काल निजरससे ही प्रगट होने वाला, आदि–मध्य–अन्त रहित, अनाकुल, केवल, एक सम्पूर्ण विश्वके ऊपर मानो तैरता हो—उसप्रकारके

अखण्ड प्रतिभा-समय, अनन्त, विज्ञानघन, परमात्मारूप समयसारका जब आत्मा अनुभवन करता है उसीसमय वह सम्यक्-रूप दिखाई देता है (श्रद्धामें आता है) और ज्ञात होता है, इससे समयसार ही सम्यग्-दर्शन और सम्यग्ज्ञान है।

आत्मा आनन्द मूर्त्ति-आनन्दका रसकंद है, इन्द्रियाँ और मन द्वारा प्रवर्तमान बुद्धि-वह परकी प्रसिद्धिका कारण है-परकी प्रसिद्धि करने वाले हैं; इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तित जो बुद्धि है वह परके ऊपर लक्ष्य करने वाली है; पर लक्ष्यमें स्त्री, कुटुम्ब, देव, गुरु, शास्त्र-सब आ जाते है, वह सब परकी प्रसिद्धि है। पाँचों इन्द्रियो और मनकी ओर प्रवर्तित जो बुद्धि है, उसे पर लक्ष्यमें जानेसे रोके और आनन्द सागर आत्माकी ओर उन्मुख करे वह आत्मारूपी आनन्दके हिमालयमे प्रविष्ट होनेकी सीढियोंपर चढ रहा है।

परपदार्थोंकी प्रसिद्धिके कारण इन्द्रियाँ और मन हैं, उनसे प्रवर्तित जो बुद्धि है उसे स्वोन्मुख करके मतिज्ञानको अर्थात् मतिज्ञानके व्यापारको आत्मसन्मुख किया है। कैसी अद्भुत सरस बात ली है! किसी बलवान योगमे अद्भुत शैलीसे अद्भुत गाथाकी रचना हुई है कितना उत्तम सिद्धान्त दिया है! कि मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ—ऐसा निश्चय करके प्रगट पर्यायमें आनन्द लानेके लिये, परकी ओर—पाँच इन्द्रियो और मनकी ओर झुकते हुए भावको स्वभावोन्मुख किया है। उपयोग परोन्मुख होता है उसे स्वोन्मुख कर लेना,—इसप्रकार मतिज्ञानके व्यापारको आत्मसन्मुख किया।

उपयोग मन और इन्द्रियकी ओर युक्त हो तब मन दिखाई नही देता, परन्तु उससमय बाह्य पदार्थ लक्ष्यमे आते हैं, इससे समझ लेना चाहिये कि अभी उपयोगकी लीनता परकी ओर है, मतिज्ञानके व्यापारका योग परकी ओरसे छूटकर आत्मस्वभावमे हो तब आत्म-स्वभाव लक्ष्यमें आता है। मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ—ऐसा निर्णय करके उपयोग परकी ओरसे छूटकर स्वभावोन्मुख होता है और आत्मामे लीन होता है, तब आत्माका अनुभव होता है।

अब श्रुतज्ञानको आत्मसन्मुख करते हैं। अनेक प्रकारके नयपक्षके अवलम्बनसे होनेवाले अनेक प्रकारके विकल्प, जो कि—बद्ध, अबद्ध, शुद्ध, अशुद्ध, एक, अनेक इत्यादि नयपक्ष हैं, जो आकुलताको उत्पन्न करनेवाले हैं, उनमे प्रवर्तित जो ज्ञानका व्यापार है उसे रोककर श्रुतज्ञानके व्यापारको स्वोन्मुख करता है। यहाँ आत्माके आनन्दकी बात लेना है, इससे आकुलताको उत्पन्न करनेवाले नयपक्ष—ऐसा कहा है। मतिज्ञानका व्यापार परकी ओर भी सामान्य है और स्वकी ओर भी श्रुतज्ञानकी अपेक्षासे सामान्य है, श्रुतज्ञानके व्यापारमें अनेक तर्कणाये होती हैं—इससे यदि श्रुतज्ञानका व्यापार परकी ओर जाये तो विकल्पके भग-भेद आते हैं, शुद्ध, अशुद्ध, बद्ध, अबद्ध, इत्यादि नयपक्षके विकल्प होते हैं और वे आकुलताको उत्पन्न करनेवाले हैं, और उस श्रुतज्ञानका व्यापार यदि अन्तरस्वभावोन्मुख हो तो विकल्पतरग टूटकर आनन्दतरग उठती है, शातिके झरने झरते हैं, समाधिका स्वाद आता है।

मैं आत्मा शुद्ध हूँ, अशुद्ध हूँ, बद्ध हूँ, मुक्त हूँ, नित्य हूँ, अनित्य हूँ, एक हूँ, अनेक हूँ—वैसी रागकी वृत्ति भी दुःखदायक है, आकुलता रूप है,—वैसे अनेक प्रकारके श्रुतज्ञानके भावोको मर्यादामे लाकर, मैं ऐसा हूँ और वैसा हूँ—वैसे विचारोको पुरुषार्थ द्वारा रोककर, परोन्मुख होते उपयोगको स्वोन्मुख करके, नयपक्षके रागके भगको आत्माके स्वभाव रसके भान द्वारा दूर करके, श्रुतज्ञानको भी आत्मसन्मुख करता है उससमय अत्यन्त विकल्प रहित होकर तत्काल निजरससे प्रगट होनेवाले आदि-मध्य-अन्त रहित आत्माके परम आनन्द अमृतरसका वेदन करता है। आदि-मध्य-अन्त रहित अर्थात् आत्माका प्रारम्भ नही है इससे अन्त भी नही है, तब फिर जिसे प्रारम्भ और अन्त न हो उसका मध्य क्या होगा? आत्मा अनादिसे वहीका वही है, अखण्डानन्द, अनतगुणोका पिण्ड, आदि-मध्य-अन्त रहित आत्मवस्तु है।

प्रथम, आत्माका यथार्थ निर्णय करके पश्चात् पर प्रसिद्धिका जो कारण है—ऐसी इन्द्रिय और मन द्वारा प्रवर्तती बुद्धि, उसे मर्यादामे

लाता है। पश्चात् उस मतिज्ञानके व्यापाररूप बुद्धिको अर्थात् मतिज्ञानके व्यापारको आत्मसन्मुख करता है और अनेक प्रकारके नयपक्षके अवलम्बनसे—अनेक प्रकारके विकल्पोंसे आकुलता उत्पन्न होती है—ऐसी श्रुतज्ञानकी बुद्धिको भी मर्यादामे लाकर श्रुतज्ञानको भी आत्म-सन्मुख करता है। इसप्रकार दोनों ज्ञानके व्यापारको आत्मसन्मुख करके अत्यन्त विकल्परहित होता है। उसी क्षण आत्मस्वभाव निजरससे प्रगट होता है, आदि–मध्य और अंत रहित आत्माका अनुभव करता है, अनाकुल–निराकुल आनन्दरूप आत्माका अनुभव करता है, विकल्पोकी अनेकता छूट जानेसे केवल एकरूप, सम्पूर्ण विश्वके ऊपर मानों तैरता हो—ऐसा आत्माका अनुभव करता है। तैरता अर्थात् विश्वके ऊपर मानो अलग–असग होकर तैरता हो ऐसा अखण्ड प्रतिभा-समय आत्माका अनुभव करता है विकल्पमे रुकता था वहाँ खण्ड पड़ता था, वह छूट जानेसे अखण्ड प्रतिभासमय आत्माका अनुभव करता है। अनन्त गुणोकी पर्यायें जिसमे एक साथ उछल रही हैं—ऐसे अनन्त गुण स्वरूप आत्माका अनुभव करता है, विज्ञानघन–स्वभाव आत्माका अनुभव करता है। विकल्पकी ओर ज्ञान जुडता था तब अस्थिर होता था, अब ज्ञान जम गया। जिसमे विकल्प प्रविष्ट नही हो सकता—ऐसे निबिड ज्ञानरूप अर्थात् विज्ञानघनरूप आत्माका अनुभव करता है। ऐसे परमात्मारूप समयसारका आत्मा जब अनुभव करता है, उसीसमय आत्मा सम्यक्त्वरूप दिखाई देता है (श्रद्धामे आता है।) वह समयसार ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है। वही भगवानके दर्शन हैं वही ईश्वरके दर्शन है—वही परमात्माके दर्शन हैं। उसीसमय आत्माके यथार्थ दर्शन होते हैं और यथार्थ श्रद्धामे आता है।

अनन्त गुण–पर्यायसे परिपूर्ण जो तत्त्व है उसे अपूर्ण विकारी और पूर्ण पर्यायकी अपेक्षाके बिना लक्ष्यमे लेना वह द्रव्यदृष्टि है, वही यथार्थदृष्टि है। उस दृष्टिपूर्वक मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके व्यापारको आत्मसन्मुख किया वह व्यवहार है, प्रयत्न करना वह व्यवहार है, स्वोन्मुख होना वह व्यवहार है। इन्द्रियाँ और मनकी ओर रुकनेवाला

ज्ञान, अल्प विकसित ज्ञान, उस ज्ञानके व्यापारको स्वोन्मुख करना वह व्यवहार है। सहज शुद्धपारिणामिकस्वभाव एकरूप है। परिपूर्ण तत्त्वमें साध्य साधकके भंग नहीं पड़ते। तत्त्व यदि अपूर्ण हो तो साध्य साधकके भंग पड़ते हैं, परन्तु तत्त्व तो परिपूर्ण है, तथापि पर्यायमें अपूर्णता है। विकार है इसलिये प्रयास करना रहता है, साधक अवस्था रहती है। पर्यायदृष्टिसे साध्य–साधकके भी भंग पड़ते हैं। परिपूर्ण तत्त्वदृष्टि होने पर भी पर्यायमें अपूर्णता होनेसे बीचमें साधक अवस्था आये बिना नहीं रहती। पर्यायदृष्टिसे अपूर्णता है, विकार है; उसे तत्त्व दृष्टिके बल पूर्वक दूर करके निर्मल करता है और अनुक्रमसे पूर्ण निर्मलता प्रगट करता है। यथार्थदृष्टि होनेके पश्चात् साधक अवस्था बीचमें आये बिना नहीं रहती। आत्माका भान करके स्वभावमें एकाग्र होता है तभी परमात्मारूप समयसारका अनुभव करता है, आत्माके अपूर्व आनन्दका अनुभव करता है, आनन्दके झरने झरते हैं।

कोई कहे कि—ऐसा आनन्द हो तो बाहरसे उछल पड़े न? अरे भाई! यह कहीं संसारके हर्षकी बात नहीं है। यह तो अकषाय, निराकुल आनन्दकी बात है। हर्ष करना तो आकुलता है। यह तो सहज आनन्दकी बात है, आत्माके सहज आत्मस्वभावकी बात है। आनन्दकी बात आये वहाँ लोगोंको ऐसा लगता है कि कुछ बाहरसे उछलना तो चाहिए न? परन्तु अरे भाई! आनन्दका वेदन करता हूँ—ऐसा विकल्प भी राग है, आकुलता है। आनन्दका तो सहज वेदन होता है और जागृत स्वरूप ज्ञानमें ज्ञात होता है। जागृत आत्मा उसे जानता है—उसका वेदन करता है। आत्माका सुख अन्तरमें है, वह बाह्यमें रूपी पदार्थमें, इन्द्रियोंमें, या शरीरमें नहीं उछल पड़ता। आत्माके आनन्दका वेदन आत्मामें होता है, बाहर उछलकर नहीं आता।

आत्मा ज्ञानघन है, जबतक उसका निश्चय न हो तबतक श्रुतज्ञानका अभ्यास करना, और निश्चय होनेके पश्चात् एकाग्रताका

अभ्यास करना,—इसप्रकार प्रबल प्रयत्न करनेसे परमात्मारूप समयसारके दर्शन होते हैं।

सच्चे देव गुरु शास्त्रका निर्णय करके, आत्मा क्या है उसका निर्णय करना चाहिए। मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके पर्यायके भेद जितना आत्मा नही है, परन्तु सामान्य ज्ञानमात्र—अखण्ड ज्ञानमात्र आत्मा है। ज्ञातारूपसे जानना ही आत्माका स्वरूप है, परका कुछ भी करना आत्माका स्वरूप ही नही है। जिसने परका कर्तृत्व स्वीकार किया है उसने आत्मस्वभावका सच्चा निर्णय नही किया है। परका अकर्ता, स्वभावका कर्ता, स्व-पर ज्ञायक—ऐसे आत्माका यथार्थ निर्णय करनेके पश्चात् आगे बढा जा सकता है। देवको जाने, गुरुको जाने, धर्मको जाने, पुण्य—पापके भावोको जाने, नव तत्त्वोमेसे अकेले पृथक् आत्माको जो जाने उसने आत्माका सच्चा निश्चय किया है। ऐसा निश्चय करनेके पश्चात् प्रगट अनुभव करनेके लिये इन्द्रियो और मनमे प्रवर्तमान बुद्धिको मर्यादामे लाकर फिर आत्मसन्मुख करना चाहिए। खेद इत्यादिके जो भाव होते हों उन्हे प्रथम मर्यादामें लाये और पश्चात् ज्ञानको आत्म-सन्मुख करे। मैं शुद्ध हूँ, मैं अशुद्ध हूँ, मैं बद्ध हूँ, मैं अबद्ध हूँ—ऐसे विकल्पोंको छोड़कर मात्र एक आनन्दमूर्ति आत्मा रह गया, उसका अनुभव करे वह परमात्माके दर्शन है, वही सम्यग्दर्शन है। यह बारहवें गुणस्थानकी बात नही है। आचार्यदेवने टीकामे 'सम्यग्दृश्यते'—ऐसा शब्द रखा है, इसलिए श्रद्धाकी बात है, चौथे गुणस्थानकी बात है। जब परमात्मारूप समयसारका आत्मा अनुभव करता है, उसीसमय श्रद्धामे आता है। पश्चात् बाह्यमे लक्ष्य आये तब विकल्प आते है, परसे भिन्न ज्ञायकका भान रहता है, श्रद्धा रहती है परन्तु उपयोग बिल्कुल आत्मामे जमा हुआ नही होता। जब आत्माके स्वभावमे स्थिर होता है तब परमात्मारूप आत्माका साक्षात् अनुभव करता है। यह सम्य-ग्दर्शन आत्माका है, शुभरागका नही—घर, वस्त्रादिका नही है। जिसे सच्ची जिज्ञासा जागृत हुई हो और जो पुरुषार्थ करे—वह प्रगट कर सकता है।

जिसे आत्माका हित करना हो उसे प्रथम आगमका अभ्यास करके आत्मस्वभावका सच्चा निर्णय करना चाहिए। सर्वज्ञ परमात्मा कौन हैं ? उनकी वाणी कैसी है ?—उसका निर्णय करना चाहिये। सच्चे गुरु कैसे होते हैं ? सच्चे शास्त्र कैसे होते हैं ?—उसका निर्णय करना चाहिये और देव गुरु शास्त्र द्वारा कहे गये आत्मस्वभावका निर्णय करना चाहिए। ससारमे भी पहले तो परीक्षा ही करते हैं न ? चाहे जिस वस्तुको लेने जाये वहाँ परीक्षा करके माल लेते हैं। उसी प्रकार आत्मस्वभावका भी यथार्थ निर्णय करना पडेगा। आत्मा ज्ञान स्वरूप है—ऐसा कहनेमे आनन्द, बल, स्थिरता आदि सभी गुण आ जाते हैं। ज्ञान गुण और आत्माकी अर्थात् गुण-गुणीकी अभेददृष्टिसे देखो तो ज्ञानमात्र आत्मा कहनेमें समस्त गुण आ जाते हैं।

मैं ज्ञानमात्र आत्मा हूँ—ऐसा निश्चय करके पश्चात् स्वोन्मुख होता है। पाँच इन्द्रियाँ और मनकी ओर जो मतिज्ञानका व्यापार प्रवर्तित होता था उसे ज्ञानमात्रमे मिला देता है। पाँच इन्द्रियाँ और मन जबतक बाह्यमे काम करते है तबतक राग है। कान द्वारा शास्त्रके शब्द सुने, आँख द्वारा प्रतिमाजीके दर्शन करे—वह सब इन्द्रियोका विषय है, वह सब राग है। निर्विकल्प अनुभवके समय वह राग छूट जाता है। बाह्य पदार्थोमे जो लक्ष्य है उसे छोडकर आत्मोन्मुख होना, ज्ञान, शब्द, रस, रूप इत्यादिको ज्ञेय करते हुए उसे स्व-ज्ञेयोन्मुख करना, इन्द्रियोसे जो बोध होता है—उसे स्वभावोन्मुख करना, इन्द्रियोंसे जो ज्ञान होता है उसे ज्ञानमात्रमे मिलाना, अकेले ज्ञान स्वभावमे लीन करना चाहिए। उसीप्रकार श्रुतज्ञानको भी स्वभावसन्मुख करना चाहिए। मैं बद्ध हूँ या अबद्ध हूँ, शुद्ध हूँ या अशुद्ध हूँ—ऐसे विकल्पोमे रुकना वह राग है, यह विकल्प मिटाकर श्रुतज्ञानको स्वोन्मुख करना, स्वमे लीन होना। स्वमे लीन होनेसे समस्त विकल्प छूट जाते हैं और अखण्ड प्रतिभासमय आत्माका अनुभव होता है, निर्विकल्प आनन्दका अनुभव होता है। यह धर्म है, धर्मका उपाय है। इसके अतिरिक्त जो व्रत और चारित्र हैं वे सभी बालव्रत, बालतप और बालचारित्र हैं।

संसारमें जीव दुःखका वेदन कर रहे हैं। यदि सुख हो तो परपदार्थकी इच्छा मात्र न हो। यदि आनन्द प्रगट हो तो परकी इच्छा ही न हो; सुखकी इच्छा होती है इसलिए वह दुःखी है। वास्तविक सुख आत्मामे है, उसके प्रगट होने पर दुःख दूर होते हैं। प्रथम आत्मस्वभावका निर्णय करके पश्चात् उसमे लीन हो तो आत्माके अपूर्व आनन्दका अनुभव हो। इसलिये यदि सुखकी आवश्यकता हो तो पुरुषार्थ करके, विकल्प तोड़कर आत्मामे लीन होना—उससे अपूर्व आनन्दका अनुभव होगा। वही सम्यग्दर्शन है, वही सम्यग्ज्ञान है और वही समयसार है। सम्यग्दर्शन गुण (—सम्यक्त्व) आत्माका ही है इसलिए आत्मामे होता है, बाहर नही। सम्यग्दर्शन घर तथा वस्त्रादिमे नही किन्तु आत्मामे है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पृथक् वस्तुएँ नही हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन प्रगट करनेका कितना अच्छा उपाय बतलाया है! यही प्रथम उपाय है।

आबाल, युवक या वृद्ध—सभीको करने योग्य तो यही है। सत्यशरण यही है, अन्य कोई शरण नही है। मैं ज्ञानस्वभाव हूँ—ऐसा निर्णय करके, उसमे स्थिर होना, स्थिर होकर आत्माका अनुभव करना ही मोक्षका उपाय है, दूसरा कोई मोक्षका उपाय नही है। इतनी भक्ति करना या इतनी दया करना—वह मोक्षका उपाय है—ऐसा आचार्यदेवने नही कहा है, परन्तु सच्ची प्रतीति करके उसमे स्थिर होना, उसे आचार्यदेवने मोक्षका उपाय कहा है। सच्चा समझनेके पश्चात्, सम्यग्भान होनेके पश्चात्, जबतक अपूर्ण है तबतक शुभपरिणाम आयेंगे, वह भक्ति भी करेगा दया, दान, पूजा, भक्तिके परिणाम आयेंगे, परन्तु वह मोक्षका उपाय नही है। बीचमे आता अवश्य है, परन्तु वह आगे जानेका मार्ग नही है। सच्चे ज्ञानके बिना आत्मा उत्तर नही देता। सच्चा स्वरूप समझे बिना भव बन्धनकी बेड़ी नही टूटती। कदाचित् पुण्य परिणाम करेगा तो करोड़ाधिपतिके घरमे जन्म लेगा; परन्तु उससे क्या हुआ? वह सब तो धूलके समान है। उससे कही भवबन्धनका अभाव नही हुआ। भव बन्धनका अभाव तो सच्चे स्वरूपकी प्रतीति

करके उसमें स्थिरता करनेसे ही होती है, और वही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान है। इनके अतिरिक्त अन्य कोई सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं है।

अब इस अर्थका कलशरूप काव्य कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किंचनैकोऽप्ययम् ॥९३॥

अर्थ:—नयोंके पक्षोंसे रहित, अचल निर्विकल्प भावको प्राप्त करता जो समयका (आत्माका) सार प्रकाशित करता है—वह यह समयसार (शुद्ध आत्मा)-जो कि निभृत (निश्चल, आत्मलीन) पुरुषों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है (स्वाद लिया जाता है, अनुभवन किया जाता है) वह—विज्ञान ही जिसका एक रस है—ऐसा भगवान है, पवित्र पुराण पुरुष है। ज्ञान कहो या दर्शन—वह यही (समयसार) है; अधिक क्या कहा जाये? जो कुछ है वह यह एक ही है—(मात्र पृथक्-पृथक् नामोंसे कहा जाता है)।

देखो तो! यह कलश कितना ऊँचा है! कितना सरस है! यह तो अभी निम्नदशाकी बात है, धर्मके प्रारम्भवालेकी यह बात है, चतुर्थ भूमिकावालेकी यह बात है। जिन लोगोंने यथार्थ तत्त्व न सुना हो उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो बहुत उच्च कक्षाकी बात है; परन्तु भाई! तुझे अपनी महिमा नहीं जमी है, अपना माहात्म्य तुझे नहीं आया है, इससे ऐसा लगता है।

प्रश्न:—अपना माहात्म्य स्वयं करता है या भगवानका?

उत्तर:—वास्तवमें स्वयं अपने स्वभावका माहात्म्य करता है। भगवानका माहात्म्य करता है—वैसा कहना वह व्यवहार है।

शुभराग आता है इससे सामनेवाले निमित्त पर आरोप करके माहात्म्य करता है, इसलिये ऐसा कहा जाता है कि भगवानका माहात्म्य करता है; परन्तु जिसे आत्माका माहात्म्य हो उसीको सच्चा भगवानका माहात्म्य आता है। अपने आत्माका माहात्म्य–महिमाकी जिसे प्रतीति हुई है और आत्माकी पूर्णताकी तीव्र आकांक्षा जिसे जागृत हुई है— उसीको पूर्ण सर्वज्ञ वीतरागके प्रति सच्ची भक्ति आती है, बहुमान और अन्तरसे उत्साह उसीको आता है।

जीवोको अपना माहात्म्य ही नही आता; अपना मकान यदि अच्छा बना हो तो उसका माहात्म्य आता है, दूसरोको भी वह मकान माहात्म्यसे दिखाता है, घरमे कोई अच्छी वस्तु हो तो दूसरोको वतलाता है। अरे भाई! उस धूलके चित्रका तो तुझे माहात्म्य है, परन्तु तेरा चित्र अन्दर कैसा है उसका कुछ माहात्म्य है या नही ? अपने चैतन्य भगवानका अपनेको जबतक माहात्म्य न आये तबतक किसी प्रकार कल्याण नही हो सकता।

यहाँ इस कलशमे कहते हैं कि शुद्ध, अशुद्ध, वद्ध, अबद्ध, निर्मल, समल इत्यादि नयोके विकल्प आते हैं, उनसे रहित, अचल, असख्य प्रदेशी, चैतन्यमूर्ति आनन्दघन आत्मा, निर्विकल्प भावको प्राप्त होता हुआ जो समयका सार है उसे प्रकाशित करता है। राग–द्वेषके जो विकल्प हैं वह आत्माका सार नही है। शुभाशुभ विकल्पोसे रहित, आकुलता रहित, निर्विकल्प स्वरूप, अमृत आनन्दमय आत्माका अनुभवन करना वह समयका सार प्रकाशित होता है। वह समयका सार कैसे पुरुषो द्वारा आस्वाद्यमान है ? निश्चल, आत्मलीन पुरुषो द्वारा आस्वाद्यमान है, अचञ्चल पुरुषो द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है, धीर पुरुषो द्वारा वह आस्वाद्यमान है। वह अनुभव किसके वशसे होता है ? जो स्वरूपमे स्थिर हैं और धीर है–वैसे पुरुषोके वशसे आत्मस्वरूप आस्वाद्यमान है।

जैसे किसी लम्बे सूतमे गाँठ लग गई हो, तो उस गांठको निकालनेके लिए कितना धीर होना चाहिये; उसीप्रकार अनन्तकालकी भ्रान्तिकी गाँठ निकालनेके लिए तो भारी धैर्य होना चाहिए। अनन्त

गुण-पर्यायका पिण्ड आत्मा धीर पुरुषो द्वारा अनुभवमे आता है। जिसप्रकार मणिदीप चाहे जैसे पवनके झोकोसे भी नही हिलता, उसीप्रकार चाहे जैसे बाह्य सयोगोमे भी न डिगें—ऐसे अचल, आत्मलीन पुरुषो द्वारा आत्मरस आस्वाद्यमान है। यह विज्ञान ही एक जिसका रस है, अचिंत्य और अपूर्व जिसका आत्मरस है—ऐसा भगवान आत्मा है, वह पुराण पुरुष है, प्राचीनसे प्राचीन है—नवीन प्रगट नही होता, उसे ज्ञान कहो, दर्शन कहो, चारित्र कहो, सत् कहो, शान्ति कहो, आनन्द कहो वह यह समयसार ही है। जैसे सोनेको पीला-कहो, चिकना कहो, भारी कहो—जो कुछ कहो वह सोना ही है, उसीप्रकार आत्माके सवेदनमे आचार्यपद कहो, उपाध्यायपद कहो, मुनिपद या सम्यक्पद—जो कुछ वह यह एक ही है, चारित्र, आराधना, समाधिमरण, वीर्य, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, सिद्ध और अरिहन्तपद भी यही है।

विकल्पको पद नही कहा जाता। विकल्पको अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय नही कहा जाता। विकल्पको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नही कहा जाता। स्वरूपानुभवमे ही यह समस्त पद आते हैं। अनुभवके अतिरिक्त यह पद क्या कही बाहर होगा? बाहरसे पद दिया जाता है वह व्यवहार है, परमार्थसे इसीमे समस्तपद आ जाते हैं। अनुभव अशत पूर्णता तक बढता अवश्य है, लेकिन सभी पदोमे अनुभव तो यही है। अधिक क्या कहे? जो कुछ है वह यही है, उसे स्वभाव कहो, अनुभव कहो, साक्षात्कार कहो या साक्षात् प्रभुके दर्शन कहो—जो कुछ कहो वह सब यही है। अधिक क्या कहे? जो कुछ कहो वह यह एक ही है, मात्र पृथक्-पृथक् नामसे कहा जाता है।

अब विशेष कहते हैं कि प्राप्तकी प्राप्ति है, कही अप्राप्तकी प्राप्ति नही है। सत् तो है ही परन्तु उसका लक्ष्य छूट गया था, स्वभावमेसे च्युत हो गया था, मान्यतामे फेर आ गया था—वह ज्ञानमे आ मिलता है, भूल हुई थी उसे टालकर उपयोग आत्माके साथ मिल जाता है। वस्तु तो जैसी ही है वैसी है, परन्तु पर्याय स्वभावमे आ मिलती है।

यह आत्मा ज्ञानसे च्युत हुआ था, वह ज्ञानमे ही आ मिलता है—ऐसा अब कहते हैं:—

(शार्दूलविक्रीडित)

दूरंभूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात् ।
विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥९४॥

अर्थ:—जिसप्रकार पानी अपने समूहसे च्युत हुआ दूर गहनवनमे वह रहा हो उसे दूरसे ही ढालवाले मार्ग द्वारा अपने समूहकी ओर बल पूर्वक ढाला जाता है। पश्चात् वह पानी, पानीको पानीके समूहकी ओर खीचता हुआ प्रवाहरूप होकर अपने समूहमे आ मिलता है; उसीप्रकार यह आत्मा अपने विज्ञानघन स्वभावसे च्युत होकर प्रचुर विकल्पजालके गहनवनमे दूर भ्रमण करता था उसे दूरसे ही विवेकरूपी ढालवाले मार्ग द्वारा अपने विज्ञानघन स्वभावकी ओर बल-पूर्वक मोड़ा गया। केवल विज्ञानघनके ही रसिक पुरुषोको जो एक विज्ञानरसवाला ही अनुभवमे आता है—ऐसा वह आत्मा, आत्माको आत्मामे खीचता हुआ (ज्ञान ज्ञानको खीचता हुआ प्रवाहरूप होकर) सदैव विज्ञानघन स्वभावमे आ मिलता है।

आचार्यदेव अब दृष्टान्त देते हैं—जैसे पानी अपने समूहसे च्युत हुआ अर्थात् पानीके प्रवाहकी धारा कही उल्टी-सीधी निकल गई, फिर वह गहनवनमे फिरता रहता है और यदि ढालू मार्ग मिल जाये तो ढालवाले मार्गमे चला जाता है और पानीमें मिल जाता है। दूरसे ही ढालू मार्गमे बल पूर्वक ही मोडा जाये अर्थात् ढालू मार्ग हो उसमे थोड़ी लकीर बनाये, तो पानी, पानीमे जाये, पानी पानीके बलसे, पानीको, पानीके समूहकी ओर खीचता हुआ पानीमे जाकर मिलता है। ढालू मार्गमें पानी ढले और फिर पीछेका पानी वेग देता है अर्थात् ढकेलता है इससे पानी प्रवाहरूप होकर पानीमे जाकर मिल जाता है।

इसीप्रकार आत्मा विज्ञानघनसे च्युत हुआ है और विकल्प जालके गहनवनमे भ्रमण करता है,—ऐसा कहकर आचार्यदेव यह कहते हैं कि—आत्मा विल्कुल शुद्ध नही है, अवस्थामे भूल है। यदि अवस्थामे भूल न हो तो यह ससार किसका ? यदि अवस्थामे भूल न हो तो अवस्थामे मलिनता होगी ही कैसे ? इसलिए आत्माने भूल की थी, उससे विमुख होता है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञान–आनन्दका कन्द है, विकल्पजाल आत्माका स्वभाव नही है, आत्मा विज्ञानघन, अरूपी ज्ञान–आनन्दकी मूर्ति है। ऐसे स्वभावसे च्युत होकर भ्रांतिमे और राग–द्वेपकी वृत्तिओंमे भ्रमण करता है, शरीर, इन्द्रियाँ, शुभाशुभ-विकल्प–यह सब मैं ही हूँ—इसप्रकार भ्रान्ति द्वारा विकल्पजालके गहनवनमे फिरता रहता है, प्रचुर विकल्पजालमे फँसा रहता है।

स्त्री-पुत्र, कुटुम्वादिके लिए कुछ करदूँ—ऐसा अज्ञानी मानता है, परन्तु परका कुछ नही कर सकता और व्यर्थका अभिमान करता रहता है, चाहे जितने धक्के खाए लेकिन विकल्पजालमेसे नही हटता। मकडी जिसप्रकार जालमे फँसती है उसीप्रकार यह तृष्णाके जालमें उलझता है। अपने विज्ञानघनस्वभावसे च्युत हुआ प्रचुर विकल्प-जालके गहनवनमे दूर भ्रमण करता था। जिसप्रकार पानी अपने क्षेत्रको छोडकर दूर गया था उसीप्रकार आत्मा अपना क्षेत्र छोडकर दूर नही गया है परन्तु स्वभावसे दूर गया है, नयके विकल्पमे, पुण्य–पापके विकल्प जालमें दूर भ्रमण करता है। अनन्तभव कीडे–मकोडे-नारकी-देव इत्यादिके किए तथापि विकल्पजालका अन्त नही आया। मनुष्य भवमे आया परन्तु यदि आत्माका भान नही किया तो पूरी आयु वीत जाने पर भी विकल्पोका अन्त नही आता, विकल्पजाल नही टूटता, परन्तु जहाँ स्व-परका विवेक किया कि, वहाँ स्वरूपमे जा मिलता है और विकल्पजाल टूट जाता है।

दूरसे ही विवेक किया अर्थात् विकल्पोमे नही मिला; विकल्प हैं अवश्य परन्तु स्वसे पर ऐसे विकल्पोका भेदज्ञान करके विकल्पोको गौण किया। मैं शुद्ध हूँ, ज्ञायक हूँ, आनन्दघन हूँ,—इसप्रकार स्व–

परका विवेक करके स्वोन्मुख हुआ, विकल्पोंसे दूरसे ही विमुख हुआ ।

विवेक किया अर्थात् अपनेको पकड़ा; परन्तु अभी स्थिरता नही हुई, सम्यग्ज्ञान हुआ है । प्रारम्भमें आगमका ज्ञान करता था तभी-से विवेक प्रगट करनेका प्रयत्न करने लगा है । प्रथमसे ही विवेक प्रगट करनेका प्रयत्न करना वह मार्ग है । प्रयत्न द्वारा यथार्थ विवेक प्रगट करके विकल्पोंके गहनवनमे रुका था उसे, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, परसे पृथक् हूँ—इसप्रकार पर पृथक् करनेके, ढालू मार्गकी ओर मोड़ते हैं, बलसे अपनेमे विवेक करके मोड़ते हैं । 'बलसे'—ऐसा कहनेसे आचार्य-देवका तात्पर्य यह है कि तेरे पुरुषार्थसे कार्य होता है ।

यहाँ पानीका दृष्टान्त लागू होता है । पानी पत्थरोंको तोड़ डालता है, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञान भावकर्म और द्रव्यकर्मरूपी पत्थरोंको तोड़ डालता है । जैसा पानीका प्रवाह है वैसा ही ज्ञानका प्रवाह है, जो ज्ञान परसन्मुख दूर होता था वह स्वसन्मुखतासे स्वरूपमें नजदीक प्रवाहित किया जा सकता है ।

विज्ञानघन स्वभावकी ओर बलपूर्वक मोड़नेमें आया अर्थात् अपने पुरुषार्थसे तू ज्ञानस्वभावकी ओर उन्मुख हुआ, ज्ञानस्वभावरूप हुआ । तेरे पुरुषार्थके विना कोई भी ऐसा नही है जो तुझे विज्ञानघन स्वभावका स्वाद दे, यदि ज्ञानकी दिशा अपने स्वभाव सन्मुख कर तो तेरा स्वाद तुझे अनुभवमे आयेगा ।

विज्ञानघनके रसिकको विज्ञानघनमें ही शांति है, उसीमें रस है, उसीमे लीन होता है; वह उसीका अनुभव करता है और प्रयत्न भी उसीका करता है । ऐसा आत्मा आत्माको आत्मामें खीचता हुआ (ज्ञान ज्ञानको खीचता हुआ प्रवाहरूप होकर) सदैव विज्ञानघन स्वभावमें आ मिलता है ।

जिसके पास पूंजी नही होती वह प्रथम तो मिट्टीकी कुन्डियोमें चने मूँगफली आदि थोड़ीसी चीजे रखकर उनका व्यापार करता है; ऐसा व्यापार करते-करते एक वर्षमे दो सौ रुपये वढ़ते हैं, थोड़ी पूंजी हो जाती है, और फिर वह पूंजी वढ़ाता रहता है; इसीप्रकार प्रथम

आगम द्वारा और श्री गुरुके उपदेश द्वारा विवेक प्रगट करनेका प्रयत्न करे, प्रयत्न करते-करते विवेक प्रगट होता है। विवेक प्रगट होने पर ज्ञान, विकल्प और मैं दोनो पृथक् हैं—ऐसा भेदज्ञान करके, विकल्पोको गौण करके, यह मेरा नही है, मेरा नही है—इसप्रकार परभावोका अस्वीकार करते हुए बलसे ज्ञान उपयोगको स्वोन्मुख करता है। प्रथम तो पुरुषार्थ करके बलसे स्वोन्मुख करता है, और फिर तो वेग आत्माकी ओर जमा कि आत्मा आत्माको आत्मामें खीचता हुआ आत्मामे आकर मिल जाता है, फिर तो पूंजी पूंजीको बढाती है, उसीप्रकार आत्मामे जमा कि वहाँ निजस्वरूपका उपभोग करता है और बुद्धि पूर्वकके विकल्प छूट जाते हैं। इसप्रकार साधकदशामें वृद्धि होते-होते वीतराग होने तक स्थिरता बढती जाती है, और फिर पूंजी पूंजीको बढाती है।

प्रारम्भमे छोटा व्यापार करे अर्थात् आगम द्वारा और श्री-गुरुके उपदेश द्वारा विवेक प्रगट करनेका प्रयत्न करे और विवेक प्रगट होनेके पश्चात् तो पूंजीसे पूंजी बढती जाती है।

पुरुषार्थ द्वारा यथार्थ विवेक, यथार्थ प्रतीति प्रगट करके जो यह सत्, यह अस्ति, यह ज्ञान है सो मैं हूँ, यह विकल्प–राग मैं नही हूँ, यह आकुलता मैं नही हूँ—इसप्रकार अस्वीकार करता, ध्रुवस्वभावमे परकी नास्ति स्वीकार करता और अपने सत् स्वरूपमे अपनी अस्ति स्वीकार करता हुआ ढालवाले मार्गमे ज्ञान ज्ञानको खीचता हुआ ज्ञानमे आ मिलता है।

जिसप्रकार पानीको ढाल मिला कि वह दौड़ता है, आगेका पानी खीचता है और पीछेका पानी उसे ढकेलता है इसप्रकार जाकर पानी, पानीमे मिल जाता है; इसीप्रकार आत्मामे ढालवाला मार्ग (नीचा नही किन्तु ढाल अर्थात् सीधा रास्ता, विवेकरूपी ढाल) अर्थात् विवेकका सीधा मार्ग हो गया, विवेकी ज्ञान स्थिर होता हुआ अर्थात् ज्ञान ज्ञानको खीचता हुआ प्रवाहरूप होकर सदैव विज्ञानघन स्वभावमे आ मिलता है।

स्वभावकी ओर झुकता हुआ, स्वभावका बहुमान करता हुआ, स्वभावोन्मुख होता हुआ, परसे भेदज्ञान करता हुआ, स्व-परका विवेक करता हुआ,—स्व-परको पृथक् करता हुआ ज्ञान उपयोग भगवान आत्मामे मिल जाता है, बढते-बढते सदैव विज्ञानघनस्वभावमे पूर्ण होता है।

आचार्यदेवने यहाँ किसी ऐसी शैलीसे रचना की है कि—प्रथम आगमज्ञान कर, पश्चात् मैं ज्ञानस्वभावी आत्मा हूँ—ऐसा निश्चय कर, पश्चात् अनुभव कर—ऐसा क्रम इसमें दिया है। देखो, इसमे 'काल या कर्म बाधा देते हैं'—आदि कुछ नही आया मात्र पुरुषार्थ ही आया है।

आत्मा परके माहात्म्यसे मिथ्यात्वके मार्गसे स्वभावसे बाहर निकल कर, विकल्पोंके मार्गमे भ्रमण करता था, उसे वहाँसे पृथक् करनेके विवेकवाले मार्ग द्वारा स्वयं अपनेको खींचता हुआ, रागका संगठन तोड़ता, स्वय ही अपने स्वभाव द्वारा स्वभावमे स्थिरता करता हुआ विज्ञानघन स्वभावमे आ मिलता है, स्वय विज्ञानघन होता है वहाँ विकल्प छूट जाते हैं।

अब कर्ताकर्म अधिकारका उपसंहार करते हुए, कुछ कलश-रूप काव्य कहते हैं, उनमे प्रथम कलशमे कर्ता और कर्मका संक्षिप्त स्वरूप कहते हैं—

(अनुष्टुप्)

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

अर्थः—विकल्प करनेवाला ही केवल कर्ता है और विकल्प ही केवल कर्म है (अन्य कोई कर्ता-कर्म नही है;) जो जीव विकल्प सहित है उसका कर्ता-कर्मपना कभी नाशको प्राप्त नही होता।

इस शरीरकी, वाणीकी, क्रिया मुझसे होती है, शुभाशुभ विकल्पका कर्ता मैं हूँ—ऐसा जो मानता है वही कर्ता है, वही उसका

कर्ता होता है और जो शुभाशुभ वृत्ति हुई वह उसका कर्म है। वही कर्ता-कर्मपना है, दूसरा कोई कर्ता–कर्मपना नही है।

कर्ताका अर्थ है होनेवाला, और जो हुआ वह उसका कर्म है। राग–द्वेष मेरा कर्तव्य है—ऐसा मानकर जो रुकता है वह उसका होनेवाला होता है अर्थात् कर्ता होता है और राग–द्वेष उसका कर्तव्य होता है, उसमेसे उसे चौरासीके अवतार फलते हैं परन्तु धर्म नही फलता।

अज्ञानी कहता है कि मैं शरीरको अच्छा कर देता हूँ, शरीरको रखता हूँ। अरे! ऐसा किया होता तो बहुत अच्छा हो जाता, तुमने मेरा कहना माना होता तो बढ जाते, परन्तु भाई! तू चाहे जितना कर, तो भी जिसे बढना होगा वह बढ जायेगा, वह तेरे हाथकी बात नही है। किसीसे किसी दूसरेका कुछ हो सकता है—वैसा माननेवाला अज्ञानी है। जिस परमाणुकी जिससमय जो अवस्था होना है वह हुए बिना नही रहेगी, परन्तु अज्ञानी मानता है कि यह मुझसे होती है।

विकल्पका कर्ता अज्ञानी होता है और विकल्प उसका कार्य होता है। शरीरका, इज्जतका, पैसेका, मकानका—किसी भी पर द्रव्यका आत्मा कुछ नही कर सकता। अज्ञानी विपरीत मान्यतासे अहकार करता है कि मैं परका कर सकता हूँ—ऐसा माननेवालेका जीवन व्यर्थ है। आत्माका तो ज्ञाता–दृष्टा स्वभाव है। अकेले ज्ञानस्वभावमे, करना, छोडना–ऐसा कोई कर्तव्य नही आता, अकेले साक्षी स्वभावमें क्या आये ? कुछ नही आता, मात्र साक्षीपना ही आता है। अज्ञानी ऐसा मानता है कि अमुकका ऐसा किया होता तो ऐसा हो जाता, दो दिन पहले और आ जाता तो तुझे एक हजार रुपया दिला देता, लेकिन किसी की हिंमत है कि किसीको एक पाई भी दिला दे! इसलिये कोई किसी अन्यका कुछ नही कर सकता। पाठमें कहा है कि जहाँ तक

विकल्प भाव है वहाँ तक कर्ता–कर्म भाव है, वह विकल्प अज्ञानभाव-सहितका लेना चाहिए।

जो करता है वह करता ही है, और जो जानता है वह जानता ही है—ऐसा अब कहते हैं:—

(रथोद्धता)

यः करोति स करोति केवलं
यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्
यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

अर्थः—जो करता है वह केवल करता ही है, और जो जानता है वह केवल जानता ही है; जो करता है वह कभी जानता नही है और जो जानता है वह कभी करता नही है।

करै करम सोई करतारा, जो जानै सो जानन हारा;
जो करता नहिं जानै सोई, जानै सो करता नहिं होई ॥

(समयसार नाटक कर्ताकर्म क्रिया द्वार ३३)

अज्ञानभावसे आत्मा कर्ता होता है और ज्ञानभावसे जानता है। जो करनेवाला है वह ज्ञाता नही है, और जो ज्ञाता है वह करनेवाला नही है। शरीर, कुटुम्ब, मकान इत्यादिका मैं कर देता हूँ—ऐसा माननेवाला कर्ता ही है और वह अकेला अज्ञानभाव है, ज्ञानीको अल्प राग–द्वेष होता है तथापि वह ज्ञाता ही है, कर्ता नही है। द्रव्य-दृष्टिके विषयमें कर्तापना है ही नहीं, अल्प राग–द्वेष होते हैं, तथापि वह कर्ता नहीं है मात्र ज्ञाता ही है।

ज्ञानीने किंचित् मात्र भी शरीरादि जड़का और राग–द्वेषादि-का नहीं किया है, मात्र ज्ञाता ही रहता है। किंचित्मात्र भी परका कर्ता हो तो वह जानता नही है और ज्ञाता है वह एक अंश भी परका

कर्ता नही होता, मात्र ज्ञाता ही रहता है। एक अश भी परका कर्ता होनेवाला मात्र कर्ता ही है, क्योकि ज्ञाता पृथक् नही रहता। कभी भी मुझसे जड़की क्रिया हुई—ऐसा ज्ञानीको कभी भी भासित नही होता। ज्ञानी रागका कर्ता नही होता परन्तु पुरुषार्थकी मन्दतासे अस्थिरता हो जाती है, विकारमे युक्तता हो जाती है, लेकिन ज्ञानी तो ज्ञानका ही कर्ता है, विकारका कर्ता तो कभी भी होता ही नही।

जो करता है उसे कर्ता ही भासित होता है, परन्तु मैं पृथक् हूँ—वैसा भासित नही होता। चलनेकी, बोलनेकी, काम करने आदि परपदार्थकी क्रियाएँ मुझसे होती हैं—ऐसा माने वह कर्ता है, क्योकि परपदार्थकी क्रिया कोई तीनकाल-तीनलोकमे कर ही नही सकता। जो कर्ता है वह कर्ता ही है, जो ज्ञाता है उसे करनेका कुछ भी अभिप्राय नही है, वह तो सभी प्रसगोमे मात्र ज्ञाता ही रहता है।

इसीप्रकार करनेरूप क्रिया और जाननेरूप क्रिया-दोनो भिन्न हैं—ऐसा कहते हैं:—

(इन्द्रवज्रा)

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः
ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने
ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥९७॥

अर्थः—करनेरूप क्रियाके अन्दर जाननेरूप क्रिया भासित नही होती और जाननेरूप क्रियाके अन्दर करनेरूप क्रिया भासित नही होती, इसलिये ज्ञप्तिक्रिया और 'करोति' क्रिया दोनो भिन्न हैं,—इससे ऐसा सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नही है।

करनेरूप क्रियाके अन्दर जाननेकी क्रिया भासित नही होती। और जाननेरूप क्रियाके अन्दर करनेरूप क्रिया भासित नही होती। अज्ञानभावमे मैं परका करता हूँ—वैसा भासित होता है, परन्तु मैं ज्ञाता

हूँ, कर्ता नही हूँ—वैसा भिन्नत्व नहीं रहता और इसीसे भिन्नत्व भासित भी नही होता। करनेरूप क्रियामें जहाँ हो वहाँ कर्मपना ही भासित होता है। पुण्यकी–पापकी, हिंसा–दयाकी जितनी वृत्तियाँ उठती हैं उन सवका मैं कर्ता हूँ और वह मेरा कार्य है—ऐसा अज्ञानीको भासित होता है, अपने ज्ञाता स्वभावकी खवर नहीं है, इससे करनेरूप क्रियामें एकमेक होनेसे उसे ज्ञातारूप क्रिया भासित नही होती। ज्ञानीको शरीरकी क्रिया, रागकी क्रिया होती अवश्य है, परन्तु मैं उससे पृथक् ज्ञाता हूँ—वैसा पृथक्त्वका उसे भान रहता है इससे वह ज्ञाता है, परन्तु कर्ता नही है। जिस क्षण रागकी और शरीरादिकी क्रिया होती है उसी क्षण पृथक् रहता है, ज्ञाता रहता है किन्तु कर्ता नहीं होता।

ज्ञाता, ज्ञातामें एकाग्र हुआ वह उसकी ज्ञप्तिक्रिया है। मैं शुद्ध चिदानन्द आत्मा हूँ—वैसी प्रतीति की और उसका ज्ञान करके उसमें एकाग्र हुआ वह ज्ञानक्रिया है—ज्ञप्तिक्रिया है। उस ज्ञप्तिक्रियामें—मैंने पूजा की, भक्ति की, व्रत किये—वैसा कर्तृत्व भासित नहीं होता। ज्ञानका ज्ञान किया अर्थात् ज्ञाताका ज्ञान किया, पूजा–भक्तिका, व्रतादिका जो–जो विकल्प आता है उन ज्ञेयोंका ज्ञान किया। पूजा–भक्तिका जो–जो निमित्त आता है उसका संवंध–ज्ञान किया,—इसप्रकार सवका ज्ञान किया; परन्तु निमित्तका कुछ कर सकता हूँ—वैसा भासित नही होता, मात्र ज्ञानकी ही क्रिया भासित होती है।

जाननेकी क्रियामें, परका मैं कर सकता हूँ—वैसा भासित नहीं होता। जड़का तो कर ही नहीं सकता, परन्तु रागका भी नहीं कर सकता। जड़का तो मैं कभी नहीं कर सकता परन्तु रागका कर सकता हूँ—ऐसा ज्ञानीको भासित नहीं होता। जड़का तो नही कर सकता, लेकिन रागका भी नहीं कर सकता—ऐसा ज्ञानीको भासित होता है। यह धर्मी और अधर्मीकी क्रियाकी वात है। धर्मीकी ज्ञप्तिक्रिया है और अधर्मीकी करोति-

क्रिया है, दोनो भिन्न हैं। अज्ञानीके परका मैं कर सकता हूँ—ऐसी करोतिक्रिया है। उस करोतिक्रियामे ज्ञान क्रिया भासित नहीं होती और ज्ञानीको ज्ञानकी एकाग्र क्रियामें—ज्ञप्ति क्रियामे करोतिक्रिया भासित नही होती। "ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः"—कहा जाता है वहाँ ज्ञान अन्तरका और क्रिया बाहरकी–ऐसा नही समझना चाहिये, किन्तु ज्ञान अन्तरका तो शान्तिरूप क्रिया भी अन्तरकी ही होती है—यह "ज्ञानक्रियाभ्याम्" का अर्थ है।

'मैं पर द्रव्यको करता हूँ'—ऐसा जब आत्मा परिणमित होता है तब तो कर्ताभावरूप परिणमन क्रिया करता होनेसे अर्थात् 'करोति'क्रिया करता होनेसे कर्ता ही है, और जब 'मैं पर द्रव्यको जानता हूँ'—ऐसा परिणमित होता है तब ज्ञाताभावरूप परिणमित होनेसे अर्थात् ज्ञप्तिक्रिया करता होनेसे ज्ञाता ही है। यह अन्तर परिणमनकी बात है। जब कर्तापनेका परिणमन हो तब ज्ञातापना भासित नही होता और जब ज्ञातापनेका परिणमन हो तब कर्तापना भासित नही होता। शरीरकी, रागकी, वाणीकी अवस्था मैं करता हूँ, मैं बोलता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ—ऐसा अन्तरमे भासित होता है तब मैं जानता हूँ, जानता हूँ—ऐसा भासित नही होता—वह अज्ञानीकी करोतिक्रिया है। पुण्य–पाप रहित ज्ञातामे एकाग्र हो, ज्ञातामे निर्मल परिणति हो, ज्ञाताकी ज्ञातामे निर्मल परिणति हो तब वह ज्ञप्तिक्रिया है। यह साधककी बात है, केवलीकी बात नही है। मैं जानता हूँ, जानता हूँ—ऐसा परिणमन होता है—वह ज्ञप्तिक्रिया है, और अज्ञानी मैं करता हूँ, मैं करता हूँ—ऐसा परिणमित होता है—वह करोतिक्रिया है।

यहाँ कोई पूछता है कि अविरति सम्यग्दृष्टि आदिको जहाँ तक चारित्रमें पुरुषार्थकी कमजोरी है वहाँ तक वह कषायरूप परिणमित होता है तो उसे कर्ता कहा जाता है या नही ?

समाधानः—अविरत सम्यग्दृष्टि आदिको श्रद्धा–ज्ञानमे पर

द्रव्यके स्वामित्वरूप कर्तृत्वका अभिप्राय नही है। चारित्रमें च्युतिके अनुसार कषायरूप परिणमन है वह उदयकी बलजोरीसे है; उसके वे ज्ञाता हैं, इससे अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व उनके नही है। निमित्तकी बलजोरीसे होनेवाले परिणमनका फल किंचित् होता है वह संसारका कारण नही है। जिसप्रकार वृक्षकी जड़ काट देनेके पश्चात् वह वृक्ष कुछ समय रहे या न रहे—प्रतिक्षण उसका नाश ही होता जाता है—वैसा यहाँ समझना चाहिये। ज्ञातास्वभावके सम्वन्धसे तो रागादि होते नही किन्तु पर द्रव्यके साथ सम्बन्ध करता है उतना विभावके बलको हटानेके लिये परका जोर कह दिया है।

चौथे गुणस्थानमें आत्माकी पहिचान तो है, ज्ञायक स्वरूपकी निःशंक प्रतीतिके साथ अनन्तानुबंधीके राग-द्वेष छूटकर स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ है परन्तु अप्रत्याख्यानावरणीय और प्रत्याख्यानावरणीयके राग-द्वेषकी निवृत्ति नही हुई है, स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट हुआ है परन्तु अभी अस्थिरता वनी है, उस अस्थिरताका निमित्त चारित्रमोह है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि—पाडव, रामचन्द्र, भरत चक्रवर्ति आदि संसारमे थे तव उन्हें अल्प राग तो था, तथापि उस रागके वे कर्ता थे या नही ?

उत्तरः—अविरत सम्यग्दृष्टिको राग है परन्तु उसका स्वामित्व नही है। स्वतः परके अधिकारमे नही हो जाता और ऐसा भी नहीं मानता कि पर मेरे अधिकारमे हो जाता है। परका ज्ञाता रहता है। पुरुषार्थकी मन्दतासे अस्थिरता होती है उसका ज्ञाता रहता है।

चौथी भूमिकामे राजपाट, स्त्री, कुटुम्ब सब कुछ होता है; ज्ञानी उनका स्वामी नही होता। वह मेरे आश्रित वस्तु है इसलिए जैसा उसे चलाऊँगा वैसी चलेगी—वैसी मान्यता ज्ञानीके नही होती। कषायरूप अल्प परिणमन है; यदि वह न हो तो केवलज्ञान हो जाये। उस अल्प कषायके परिणमनको—'उदयकी बलजोरी' कहा है।

प्रश्नः—उदयकी बलजोरी क्यो ली है ?

उत्तरः—दृष्टिका बल अखण्ड, शुद्ध, चिदानन्द पर है—उस दृष्टिके कथनसे 'उदयकी बलजोरी' ली है। पुरुषार्थ हीन है वह बात यहाँ नही लेना है, क्योकि पुरुषार्थ हीन है वह पर्याय है, दृष्टिके विषयमे अखण्ड शुद्ध द्रव्य है, पुरुषार्थकी हीनतारूप पर्याय उसके विषयमें नही है, इससे वह बात यहाँ नही ली है। क्रोध–मानादि अल्प कषायकी अवस्था होती तो आत्मामे है, परन्तु वह उदयकी बलजोरीसे है—वैसा कहा है, क्योकि श्रद्धाके विषयमे अखण्ड पूर्णता है, क्षणिक विभाव पर्याय उस श्रद्धाका विषय नही है इससे उदयकी बलजोरी कही है। ज्ञानीको श्रद्धा–ज्ञानमे परका स्वामित्व, संबंधत्व नही है परन्तु अवस्थामे कषायका संबध है, लेकिन अवस्था दृष्टिका ध्येय नही है, दृष्टिका विषय नही है। एकरूप शुद्ध अखण्ड द्रव्य है वह दृष्टिका विषय है। पर्यायके भग, रागके भंग दृष्टिमे नही है, दृष्टिके साथ जो ज्ञान है वह ज्ञान अखण्ड और खण्ड, अभग और भग–दोनोको जाननेका कार्य करता है।

पुरुषार्थकी अशक्ति, राग, और रागके निमित्त बाह्य सयोग, वह सब दृष्टिका विषय नही है, इसलिए वे सब परके हैं—ऐसा कहकर उदयकी बलजोरी कही है।

ज्ञान दो कार्य करता है, दर्शनके विषयको भी ज्ञान जानता है और अवस्थाको भी ज्ञान जानता है। ज्ञानमे वस्तुदृष्टिकी मुख्यता करके, अवस्थादृष्टिको गौण करके उस अपेक्षासे यहाँ उदयकी बलजोरी कही है। वस्तुदृष्टिमे पर्यायका विषय नही है तथापि पुरुषार्थकी अशक्तिसे युक्तता हो जाती है, परन्तु युक्त होनेकी भावना नही है। इसी क्षण यदि वीतराग हुआ जाता हो तो यह कुछ भी नही चाहिए–भावना तो वैसी ही रहती है, स्वरूपमें लीन होनेकी ही भावना रहती है।

चौथे पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानवालेको ज्ञाता कहा है, रागादिक कर्त्ता नही कहा, ज्ञाता ही कहा है। ज्ञानीके अल्प कषाय होती है परन्तु उसका वह ज्ञाता ही रहता है। ज्ञानी स्वभाव और

परभावको जानता है, उसके परद्रव्यका स्वामित्व नही है इसलिए वह कर्ता नही है—ज्ञाता है। मलिन अवस्थाकी भावना नही है इसलिए भी कर्ता नही है—ज्ञाता है। ज्ञानी मानता है कि मेरी शान्ति और आनन्द मुझमे हैं, पुण्य-पापके जो विकल्प उठते हैं वे मेरे अमृत-आनन्दकी हत्या करते ; इसलिये ज्ञानीको उन पुण्य-पापके विकल्पोकी भावना नहीं होती परन्तु आत्माके अमृत आनन्दकी भावना होती है।

एक मनुष्य पचास चमारोंके बीच बैठा हो और चमार उसे बुरी-बुरी गालियाँ दे रहे हो, तब कोई उससे कहे कि—क्यो भाई! तुझे यह गालियाँ अच्छी लग रही हैं, इसीसे तू इनके बीचमें बैठकर सुन रहा है! तब वह मनुष्य कहे कि अरे! भाई ऐसी गालियाँ कैसे अच्छी लगेंगी? बिल्कुल अच्छी नही लगती, लेकिन क्या करूँ? मेरी निर्बलता है, यहाँसे उठकर जानेकी मेरी शक्ति नही है, इसलिये विवश हूँ, यदि लब्धि प्रगट हुई होती तो उड़ जाता; इसीप्रकार ज्ञानीको कषायकी अल्प परिणति होती है परन्तु उसे वह गालीके समान मानता है, पुरुषार्थकी निर्बलताके कारण राग-द्वेष होता है। अल्प राग-द्वेष होता है इससे ऐसा नही समझना कि राग-द्वेष अच्छा लगता है, परन्तु निर्बलता है इससे होता है। ज्ञानी समझते हैं कि जितने अंशमे यह कषायकी परिणति होती है उतना ही मेरा अमृत स्वरूप लुटता है, मेरे स्वरूपकी हानि होती है। यह राग-द्वेषरूप परिणति मेरे स्वरूप-को कलकरूप है। चौथे गुणस्थानमें तीन कषायोंकी चौकड़ी है, पाँचवें गुणस्थानमे दो कषायें हैं, छट्ठे में एक कषाय है। चौथेमें भले ही तीन कषायें होती हैं तथापि उनसे भव (संसार) नही बढ़ते और न भव बिगड़ते ही हैं। सम्यक्त्वीको जिस परिणाममें आयुष्यका बंध हो उससे वैमानिक देवका भव बाँधता है, और यदि देवमें हो तो ऊँचा मनुष्य होता है। ज्ञानीके एक-दो भव हों वे भी अच्छे ही होते हैं, इसलिये चौथे, पाँचवें, छट्ठे गुणस्थानमे अल्पकषाय हो उससे अल्प बन्धन होता है, परन्तु उससे भव बढे या बिगड़ें—वैसा बंधन नही होता।

श्रेणिक राजाको सम्यक्त्वी होनेसे पूर्व आयुष्य बँधा हुआ था, इससे वे नरकमे गये हैं, लेकिन सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् तो नरकका आयुष्य बँधता ही नही। सम्यग्दर्शन होनेके पश्चात् तो श्रेणिक राजाको इसप्रकारके शुभ परिणाम आये कि जिनसे तीर्थंकर गोत्रका बंध हुआ, —इससे अगले भवमे तीर्थंकर होना है।

जिसप्रकार वृक्षकी जड काट देनेके पश्चात् कुछ वृक्ष थोडे समय हरे रहते हैं और फिर सूखते हैं और कुछ तो तुरन्त ही सूख जाते हैं। कई वृक्ष ऐसे देखनेमे आते हैं कि गिरे और तुरन्त सूख जाते हैं और कई वृक्ष ऐसे भी होते हैं कि जड कटने पर अमुक काल तक हरे रहते हैं लेकिन वे प्रतिक्षण सूखते ही रहते हैं। ताड वृक्षका स्वभाव ऐसा होता है कि उसे अमुक स्थान पर सुई चुभी तो पूरा वृक्ष तुरन्त सूख जाता है, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीवको मिथ्यात्वका मूल नाश हुआ होनेसे किसीको एकाध–दो भव होते हैं और किसीको तो मिथ्यात्व दूर हुआ कि उसी भवमे केवलज्ञान होता है। जिसे एकाध–दो भव शेष रहते हैं उसे सम्यग्दर्शन हुआ तबसे क्षण–प्रतिक्षण मलिन पर्यायोका नाश होता जाता है और क्षण–प्रतिक्षण निर्मल पर्यायकी उत्पत्ति होती जाती है तथा दृष्टि ध्रुवस्वभाव पर है। यह सम्यग्दर्शनकी महिमा है।

जिसकी दृष्टि परके ऊपर है वह अज्ञानी है, उसके निर्मल पर्यायका नाश है और मलिन पर्यायकी क्षण–क्षण उत्पत्ति है। ध्रुव-स्वभाव तो अन्दर पडा है, वह नाश नही हो सकता ? परन्तु उस पर दृष्टि नही है, दृष्टि परके ऊपर ही है इसलिये वह अज्ञानी है। ज्ञानीको चिदानन्द, चैतन्यमूर्ति आत्माका भान होनेसे वह राजपाट, स्त्री, कुटुम्बादिमे बना हो तथापि परका स्वामी नही होता, अन्तरसे उदास है, वैरागी है, परमेसे अनन्त रस कम हो गया है, स्वमे अनन्त रस बढ गया है, अनन्त रुचि बढ गई है, पूर्ण स्वभावकी बात सुनते ही रोम–रोम उल्लसित हो जाता है, पूर्ण स्वभावको साध लिया है—ऐसे १८ दोष रहित सर्वज्ञदेव और पूर्ण स्वभावके साधक गुरुके प्रति उसे

अनहद भक्ति उछलती है। पुरुषार्थकी निर्बलताके कारण अल्पकषाय है इससे अल्प शुभाशुभ भाव होते हैं परन्तु उन भावोसे भव बढते नही और भव बिगड़ते नही हैं, किंचित् बधन होता है, प्रतिक्षण निर्मल पर्याय बढती जाती है, बढते–बढते अनुक्रमसे अल्पकालमें केवल-ज्ञान प्राप्त करके सिद्धदशाका वरण करता है। यह सर्व सम्यग्दर्शनकी बात है।

पुनः इसी बातको दृढ करते हैं:—

(शार्दूल विक्रीडित)

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि
द्वंद्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाप्येष किम् ॥९८॥

अर्थः—कर्ता निश्चित कर्ममे नही है, और कर्म भी निश्चित कर्तामे नही है—इसप्रकार यदि दोनोका परस्पर निषेध किया जाता है तो कर्ता–कर्मकी स्थिति क्या ? (जीव–पुद्गलके कर्ता–कर्मपना नही ही हो सकता)। इसप्रकार ज्ञाता सदा ज्ञातामे ही है और कर्म सदा कर्ममे ही है—ऐसी वस्तु स्थिति प्रगट है तथापि अरे !! नेपथ्यमे यह मोह क्यो अत्यन्त जोरसे नच रहा है ? (इसप्रकार आचार्यको खेद और आश्चर्य होता है।)

कर्ता निश्चित कर्ममें नही है। भगवान आत्मा जड़में प्रविष्ट नही हो जाता। भगवान आत्मा अरूपी है वह बदलकर रूपी नही होता, उसी प्रकार कर्म अरूपी भगवान आत्मामे नही है, कर्म बदलकर भगवान आत्मामे प्रविष्ट नही हो जाते, इसप्रकार दोनोंका परस्पर निषेध किया जाता है।

कोई कहे कि आत्मा, आत्माका करे और परका न करे तब तो एकान्त हो जाये ? परन्तु भाई ! आत्मा, आत्माका करे और परका

भी करे तो दोनो द्रव्य एक हो गये वही एकान्त है, और आत्मा, आत्माका करे तथा परका कुछ भी न करे—वही सच्चा अनेकान्त है। "एक वस्तुमे वस्तुपनेकी उत्पन्न करनेवाली प्रसिद्ध करनेवाली परस्पर दो विरुद्ध शक्तियोका प्रकाशन करना–उसका नाम अनेकान्त है।" आत्मा, आत्माका करे और परका कुछ भी न करे–उसमें परस्पर दो विरुद्ध शक्तियोका प्रकाशन करना है, उसका नाम अनेकान्त है। अनेकान्तमे अस्ति–नास्ति दो धर्म है। आत्माके अस्ति–नास्ति धर्म आत्मामे हैं और जडके अस्ति–नास्ति धर्म जडमे हैं। आत्मा अपना करे वह अस्ति और परका कुछ भी न करे वह नास्ति,–वही सच्चा अनेकान्त है। आत्मा अपना भी करे और परका भी करे तब तो स्वय और पर दोनो एक हो गये, इसलिये वह तो एकान्त है। अपना करे और परका न करे—उसीमे परस्पर विरुद्ध शक्तियोका प्रकाशन है—वही सच्चा अनेकान्त है।

यदि कर्ता और कर्म पृथक् हैं तो फिर उनकी स्थिति क्या है ? यदि दोनोका परस्पर निषेध किया जाता है तो ज्ञाता सदा ज्ञातामे ही है और कर्म सदा कर्ममे ही है—ऐसी स्थिति प्रगट है—त्रिकाल प्रगट है, और जो समझे उसे प्रगट होती है। जिसे पृथक्त्वका भान हुआ उसे परका स्वामित्व नही है, परका कर्तृत्व नही है। उदय उदयमे है और आत्मा आत्मामे है, राग रागमे है और आत्मा, आत्मामे है—ऐसी पृथक्–पृथक् वस्तु है, तथापि नेपथ्यमे मोह क्यो नच रहा है ? वस्तुमे त्रिकाल कर्ताकर्मपना नही है तथापि अज्ञानी कर्ताकर्मपना क्यो मान रहे हैं ? विपरीत मान्यता और मोह क्यो जोरसे नच रहे हैं ?—उसका आचार्यदेवको खेद और आश्चर्य है। अरे प्रभु ! तू परमे नही है और पर तुझमे नही है ! भाई ! तुझे यह क्या हुआ ? माता–पिता, लडकेसे कहते हैं कि भाई ! तुझे यह परका सग कहाँसे लग गया है ? उसीप्रकार आचार्यदेव कहते है कि भाई ! तुझे यह क्या हो गया है ? जागृतस्वरूप चैतन्यमे यह मोह क्यो नच रहा है ? ज्ञान,

ज्ञानमे है, ज्ञानमे राग-द्वेष नही आते और राग-द्वेषमे ज्ञान नही आता। भगवान आत्मा जड़रूप नही होता और जड़ भगवान आत्मारूप नही होता। फिर भी यह मोह क्यो नाच रहा है? इसप्रकार आचार्यदेवको खेद और आश्चर्य होता है।

आठ कर्मोको आत्मा करता है—वह घीका घडा जैसी बोलनेकी रीति है। घीका घड़ा कभी नही होता; घड़ा तो मिट्टीका है। घी घीमे है और घडा घड़ेमे है; एक-दूसरेके एक क्षेत्रावगाह संबन्धसे उपचारसे घीका घड़ा कहा जाता है। उसीप्रकार ज्ञानावरणीय कर्मने ज्ञानको रोका है–वैसा कहना भी मात्र उपचार है। अपनी परिणमनशक्ति हीन हुई तब ज्ञानावरणीयको निमित्त कहा जाता है। जीव पुद्गलमे नही है और पुद्गल जीवमे नही है—दोनो द्रव्य पृथक् है तब फिर उन्हे कर्ताकर्मपना कैसे हो सकता है? तीनकाल और तीनलोकमें आत्मा कर्ममे नही है और कर्म आत्मामे नही है। शरीर और आत्मा एक नही हैं, किन्तु दोनो पृथक् हैं। यदि दोनो एक हो तो कभी पृथक् नही हो। दोनो एक क्षेत्रमे स्थित हैं इससे उपचारसे कहा जाता है कि शरीरमें आत्मा है, परन्तु आत्मा, आत्मामे है और शरीर, शरीरमे है—दोनो पृथक् हैं। इससे एक-दूसरेके कर्ता-कर्मपना नही है, तथापि अज्ञानीके मोह नाच रहा है।

आत्मामे कर्म नही है और कर्ममे आत्मा नही है। जड, जड़मे है और आत्मा, आत्मामे है। जड़का कर्ता आत्मा नही है, और जड़ आत्माका कर्म नही है, तब फिर यह मोह क्यो नच रहा है? इसका आचार्यदेवको खेद और आश्चर्य होता है।

जड़ आत्माका कुछ नही कर सकता। यदि कर सकता हो तो जहाँ पर सिद्ध भगवान विराजमान हैं वहाँ भी जड़ है, इससे उन्हें भी बन्ध होना चाहिए? लेकिन ऐसा नही है; स्वय विपरीत मान्यतासे मानता है कि मैं जडका कर सकता हूँ और जड़ मेरा कर सकता है,—वह मान्यता बन्धका कारण है। आत्मा जडका कर्ता नही है और जड आत्माका कर्म नही है—तब फिर यह मोह क्यों नाच रहा है?

और यदि मोह नाचता है तो भले नाचे, तथापि वस्तुस्वरूप तो जैसा है वैसा ही है—ऐसा कहते हैं —

(मन्दाक्रान्ता)

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमंतस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यंतगंभीरमेतत् ॥९९॥

अर्थः—अचल, व्यक्त और चित्शक्तियोके (ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोके) समूहके भारसे अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञानज्योति अंतरंगमे उग्ररूपसे इसप्रकार जाज्वल्यमान हुई कि—आत्मा अज्ञानमे कर्ता होता था वह अब कर्ता नही होता और अज्ञानके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप होता था वह कर्मरूप नही होता । और ज्ञान, ज्ञानरूप ही रहता है और पुद्गल, पुद्गलरूप ही रहता है ।

आत्मा अचल है । मैं जडका कर्ता और जड मेरा कर्म—ऐसा अज्ञानी मानता था परन्तु वस्तुस्थिति जैसी है वैसी है, उल्टा माने तो उससे कही वस्तुमे बिगाड नही होता । मात्र पर्यायमे बिगाड है । शरीरकी अंगुलीमे बिगाड हो, सड जाये तो वह सडा हुआ भाग आगे बढता जाता है, उसीप्रकार आत्माकी पर्यायमे क्षणिक बिगाड़ हुआ है वह बिगाड आत्मामे आगे बढता जाये वैसा नही है । आत्मा तो आनन्दघन, निर्मलस्वभावी है उसे राग-द्वेष और मिथ्यात्व मोहकी पर्याय नही हिला सकती । आत्मा अचल है उसे मिथ्यात्व मोहकी पर्याय नही हिला सकती । आत्मा द्रव्यसे तो अचल है ही, परन्तु जबसे सम्यग्ज्ञान हुआ तबसे पर्यायसे भी वह अचल है ।

आत्मा द्रव्यसे तो व्यक्त है ही, परन्तु आत्माका भान हुआ तबसे वह पर्यायसे भी व्यक्त हुआ । जहाँ भान हुआ वहाँ वस्तु तो ऐसी की ऐसी ही है—ऐसा ज्ञात हुआ । वस्तु तो जैसी की वैसी ही है,

पर्याय व्यक्त हुई वहाँ ज्ञात हुआ कि अहो ! मैं तो जैसा हूँ वैसा ही हूँ। इसप्रकार अनन्त गुणपिण्ड आत्माका अनुभव हुआ। चित्शक्तिओंके समूहके भारसे अत्यन्त गम्भीर यह ज्ञानज्योति अन्तरङ्गमे उग्ररूपसे इसप्रकार जाज्वल्यमान हुई कि अज्ञान अवस्थामें परका कर्ता होता था वह रुक गया; मिथ्यात्वमोहके विकारके कारण नवीन कर्म बँधते थे वे रुक गये। मैं मन नही, वाणी नही, शरीर नही, विकार नही, कोई पर नही हूँ—ऐसा जहाँ भान हुआ वहाँ ज्ञान तो ज्ञान ही रह गया, ज्ञान तो ज्ञानकी अवस्थारूप हो गया और पुद्गल, पुद्गलरूपमे रह गया। अज्ञानके निमित्तसे पुद्गलकर्मरूप होता था वह अब नही होता। अज्ञान अवस्थामे कर्ममें निमित्तरूपसे कर्ता होता था वह अब कर्ता नही होता। अज्ञान अवस्थामे निमित्तनैमित्तिकरूपसे कर्तृत्व मानता था वह ज्ञान अवस्था होनेसे छूट गया, मिथ्यात्वमोह छूट जानेसे उसके कारण—उसके निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धसे जो कर्म बँधते थे वे रुक गये। यहाँ चारित्रमोहकी बात गौण है। अज्ञान अवस्थाके कारण विकार होता था और उसके निमित्तसे पुद्गलकर्मरूप होता था, उस कर्मका उदय आनेसे आत्मा उसमे विपरीत पुरुषार्थ द्वारा युक्त होता था इससे नवीन कर्म बँधते थे, इसप्रकारका निमित्तनैमित्तिक भाव होता था वह सम्यग्भान होनेसे रुक गया।

आत्मा अजीवका कर्ता है और अजीव उसका कर्म है—ऐसा अज्ञानी मानता था। जीव और अजीव दोनों कर्ता–कर्मका वेश धारण करके एक होकर रङ्ग भूमिमे उपस्थित हुए थे, उन्हें सम्यग्ज्ञानने यथार्थ पहिचान लिया। दोनो एक वेश धारण करके रङ्गभूमिमे आये थे उन्हे सम्यग्ज्ञानने लक्षणसे यथार्थ पहिचान लिया। प्रज्ञाछैनी द्वारा छेदकर पृथक् किया। मैं तो आत्मा हूँ, और यह जड़ है—ऐसा भान होने पर दोनो पृथक् हो गये। सम्यग्ज्ञानने जाना कि यह एक नही किन्तु दो हैं—ऐसी पहिचान होनेसे वे वेश छोडकर रङ्गभूमिसे वाहर निकल गये। जिसप्रकार वहुरूपियेको जवतक कोई न पहिचान ले तवतक वह

चेष्टाएँ करता रहता है, परन्तु जहाँ पहिचान हुई कि–अरे ! यह तो अपने ही गाँवका भाड है ! ऐसा जान लिया कि वहाँ वह हँसकर अपना रूप प्रगट कर देता है और चेष्टाएँ छोड़कर चल देता है। उसीप्रकार जहाँ आत्माका भान हुआ वहाँ ज्ञान ज्ञानरूपसे रहता है और पुद्गल कर्म पुद्गलरूप हो जाता है, तथा कर्ताकर्मपना छूट जाता है। १४४।

जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वणै करता सो,
ताकरि बंधन आन तणूं फल ले सुख दुःख भवाश्रमवासो;
ज्ञान भये करता न बने तब बंध न होय खुलै परपासो,
आतममाँहिं सदा सुविलास करै सिव पाय रहै नित थासो।

जीव अनादिसे स्वरूपका अज्ञान और राग–द्वेषका विकार उत्पन्न करके कर्ता होता था इससे बन्धन होता था और उसके कारण चौरासीके आश्रममे बसकर सुख–दुःख भोगता था। जब आत्माका भान होता है तब परका कर्ता नही होता परन्तु मात्र ज्ञाता ही रहता है, इससे बन्धन नही होता, परकी पाँस (बन्धन) छूट जाती है और अपने आनन्दमे सदा विलास करता है एव मोक्षमे जाता है। मोक्षपर्याय प्रगट होनेके पश्चात् अनन्तकाल तक स्वरूप सुखमे स्थित रहता है। जैसा स्वभाव प्रगट हुआ वैसा स्थायी रहता है—नित्य रहता है।

यह कर्ताकर्मकी रचना कुन्दकुन्दाचार्यदेवके द्वारा किसी अद्भुत प्रकारसे हुई है। सम्पूर्ण भरतक्षेत्रमे समयसारके इस कर्ताकर्म अधिकार जैसा अधिकार अन्यत्र कही नही है। और फिर उसमे अमृतचन्द्राचार्यदेवने टीका करके तो 'सोनेमे सुगन्ध' जैसा कार्य कर दिया है। सोना और सुगन्ध एकमेक हो गये हो वहाँ फिर क्या कमी होगी ? जो आत्मजिज्ञासु होगे वे इस अमूल्य वाणीको समझेंगे, और उनका कल्याण हुए बिना नही रहेगा।

[इसप्रकार इस समयसार शास्त्र पर परमपूज्य श्री कानजी स्वामीके प्रवचनोका दूसरा कर्ताकर्म अधिकार पूर्ण हुआ]।

★

शास्त्रों का अर्थ करने की पद्धति

व्यवहारनय स्वद्रव्य–परद्रव्यको तथा उनके भावोंको तथा कारण–कार्यादिकको किसीके किसीमें मिलाकर निरूपण करता है, और ऐसे ही श्रद्धानसे मिथ्यात्व है, इसलिये उसका त्याग करना चाहिये। और निश्चयनय उन्हीका यथावत् निरूपण करता है तथा किसीको किसीमे नही मिलाता, और ऐसे ही श्रद्धानसे सम्यक्त्व होता है, इसलिये उसका श्रद्धान करना चाहिये।

प्रश्नः—यदि ऐसा है तो जिनमार्गमें दोनों नयोंका ग्रहण करना कहा है, उसका क्या कारण ?

उत्तरः—जिनमार्गमे कहीं तो निश्चयनयकी मुख्यता सहित व्याख्यान है, उसे तो "सत्यार्थ ऐसा ही है"—ऐसा जानना, तथा कहीं व्यवहारनयकी मुख्यतासे व्याख्यान है उसे "ऐसा नहीं है किन्तु निमित्तादिकी अपेक्षासे यह उपचार किया है"—ऐसा जानना, और इसप्रकार जाननेका नाम ही दोनो नयोंका ग्रहण है। किन्तु दोनों नयोके व्याख्यानको समान सत्यार्थ जानकर "इस अनुसार भी है और इस अनुसार भी है"—ऐसे भ्रमरूप प्रवर्तनसे तो दोनों नयोंको ग्रहण करना नही कहा है।

प्रश्नः—यदि व्यवहारनय असत्यार्थ है तो जिनमार्गमे उसका उपदेश किसलिये दिया गया ? एक निश्चयका ही निरूपण करना था ?

उत्तरः—ऐसा ही तर्क श्री समयसारमे किया है। वहाँ यह उत्तर दिया है कि—जिसप्रकार किसी अनार्य–मलेच्छको मलेच्छभाषा विना अर्थ ग्रहण करानेके लिये कोई समर्थ नही है, उसीप्रकार व्यवहारके विना परमार्थका उपदेश असम्भव है, इसलिये व्यवहारका उपदेश है। और उसी सूत्रकी व्याख्यामे ऐसा कहा है कि—इसप्रकार निश्चयको अंगीकार करानेके लिये व्यवहार द्वारा उपदेश देते हैं, किन्तु व्यवहारनय है वह अंगीकार करने योग्य नहीं है।

(—श्री मोक्षमार्ग प्रकाशक)